प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन

हिन्दी समिति
सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश,
लखनऊ

प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन

हिन्दी समिति ग्रन्थमाला-संख्या—१२१

प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन

लेखक

डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर

हिन्दी समिति, सूचना विभाग

उत्तर प्रदेश, लखनऊ

प्रथम संस्करण
१९६५

मूल्य
छः रुपये, पचास पैसे
६.५०

मुद्रक
वीरेन्द्रनाथ घोष
माया प्रेस प्रा० लिमिटेड, इलाहाबाद–३

प्रकाशकीय

मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का विकास किस प्रकार करना चाहिए कि उसे अपना अन्तिम लक्ष्य प्राप्त करना सुविधाजनक हो सके तथा इस दिशा में राज्य एवं समाज में किन अनुकूल परिस्थितियों का समावेश होना चाहिए, इन समस्त बातों का प्रतिपादन स्मृतियों में उपलब्ध है। प्राचीन भारत में चारों पुरुषार्थों—धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष—में से प्रथम तीन पुरुषार्थ साधन तथा मोक्ष को साध्य एवं अन्तिम लक्ष्य माना जाता था। व्यक्ति, समाज और राज्य तीनों ही इस अन्तिम लक्ष्य की सम्प्राप्ति हेतु सतत प्रयत्नशील रहते थे। स्मृतियाँ इसके लिये उन्हें मार्गदर्शन कराती थीं। अतएव उनमें समाविष्ट सामाजिक, राजनीतिक एवं विधि-सम्बन्धी विचार-धाराओं के सम्यक् अध्ययन से एतद्विषयक विस्तृत जानकारी होती है। प्रस्तुत पुस्तक में चार प्रमुख स्मृतियों—मनु, याज्ञवल्क्य, नारद तथा पराशर—का अध्ययन प्रस्तुत करते समय उनके निर्माण-काल की विवेचना के साथ-साथ उनमें निहित धर्म-कर्म के सिद्धान्तों, वर्ण-व्यवस्था, राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त, राजा की योग्यताओं एवं कर्तव्यों, मंत्रिपरिषद् की रचना, राष्ट्र तथा प्रशासन, व्यूह-रचना, युद्ध की नीतियों, न्याय-व्यवस्था आदि पर सम्यक् रूप से प्रकाश डाला गया है जो नितान्त मौलिक है। आशा है, यह पुस्तक पाठकों को रुचिकर लगेगी और इसके अध्ययन से वे लाभान्वित होंगे।

सुरेन्द्र तिवारी

सचिव, हिन्दी समिति
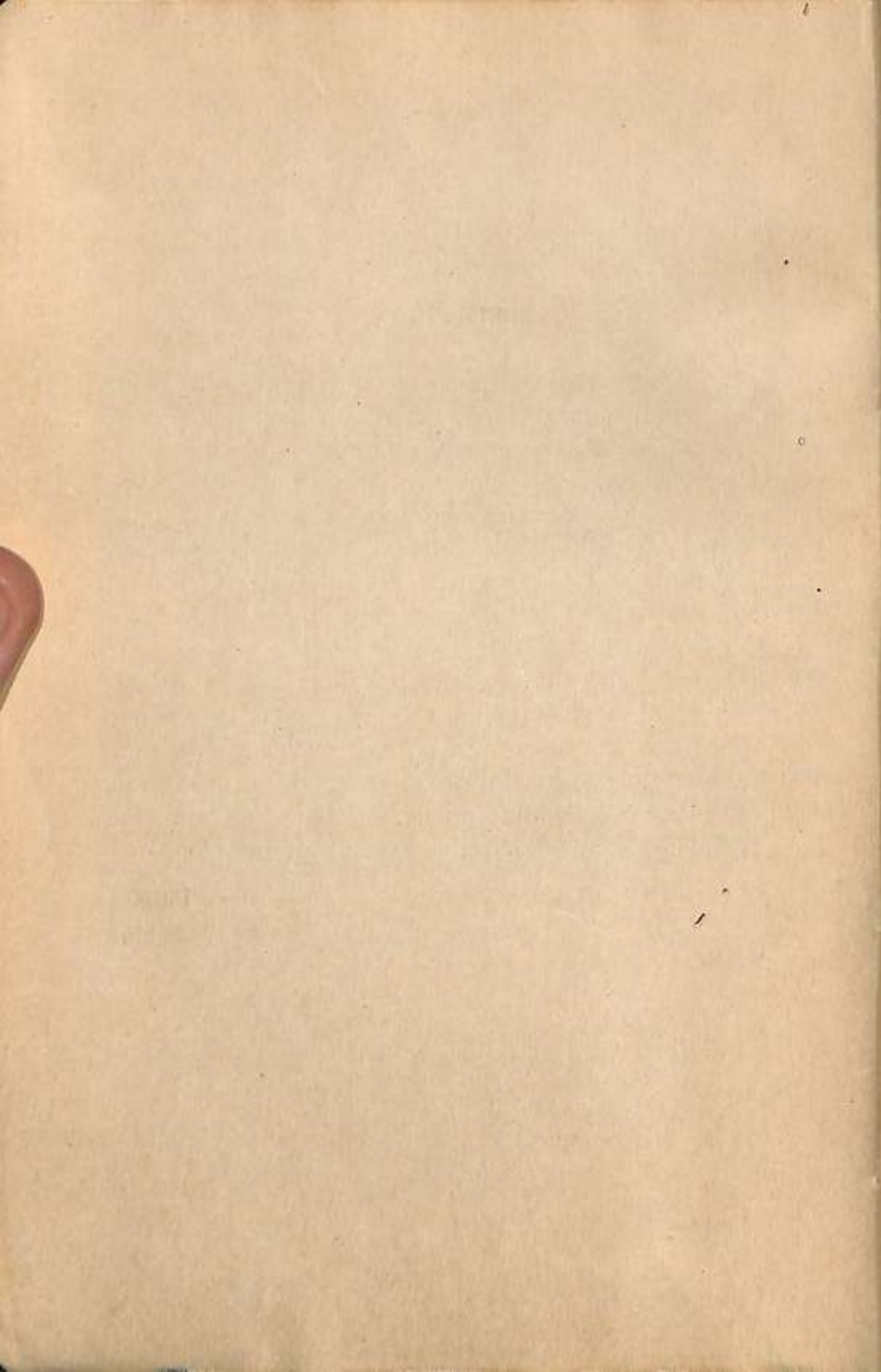
प्राक्कथन

प्राचीन भारत में राज्य का लक्ष्य चारों पुरुषार्थों में सहायक होना था। पुरुषार्थों में प्रथम तीन (धर्म, अर्थ तथा काम) साधन मात्र थे तथा मोह ही साध्य था। इसी अंतिम लक्ष्य की पूर्ति के लिये व्यक्ति, समाज तथा राज्य प्रयत्नशील रहते थे। धर्मशास्त्र इसी को दृष्टि में रखकर ऐसे नियमों का निर्माण करते थे जिनसे व्यक्ति का जीवन अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अनुकूल हो सके। स्मृतियाँ इन्हीं नियमों को प्रतिपादित करती हैं। प्रस्तुत पुस्तक में चार प्रमुख स्मृतियों—मनु, याज्ञवल्क्य, नारद तथा पाराशर—में पाई जाने वाली सामाजिक राजनीतिक तथा विधिसंबंधी विचार-धाराओं की विस्तृत विवेचना की गई है। प्रमुख स्मृतियों में उक्त चार स्मृतियों को रखने का कारण इनकी अपनी महत्ता है। मनुस्मृति का महत्व अन्य स्मृतियों की अपेक्षा सर्वाधिक है क्योंकि यह वेद का बहुत अधिक अनुकरण करती है।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति के गौरव का कारण "याज्ञवल्क्य" की प्राचीनता है, याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना कर, शुक्ल यजुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था तथा ये शतपथब्राह्मण के प्रणेता माने जाते हैं, परन्तु इस स्मृति को देखने पर उस प्रतिभा का परिचय नहीं मिलता, तथापि मनुस्मृति के बाद इसी का महत्व माना जाता है। पाराशर स्मृति को ग्रहण करने का कारण उसका कलियुग के लिये प्रधान होने की उक्ति है।[2] नारद स्मृति अपनी विधि संबंधी विचारधारा के लिये महत्व रखती है।

पुस्तक में आठ अध्याय तथा दो परिशिष्ट हैं। प्रथम अध्याय मनु, याज्ञवल्क्य, पराशर तथा नारद स्मृति के रचना-काल पर प्रकाश डालता है। इस अध्याय में उक्त स्मृतियों का अंतिम संक्षिप्त परिचय भी दिया गया है। द्वितीय अध्याय में धर्म, कर्म तथा पुनर्जन्म आदि विषयों की समालोचनात्मक व्याख्या की गई है। धर्म तथा कर्म का भारतीय संस्कृति से अटूट संबंध है। इसलिये इस अध्याय में धर्म और कर्म के व्यापक अर्थ की विवेचना आवश्यक समझी गई है। तृतीय अध्याय का वर्ण्य विषय वर्ण-व्यवस्था है। यह व्यवस्था समाज को चार भागों में विभाजित करती है। इसी लिये इसको चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था की भी संज्ञा प्रदान की गई है। समाज का यह विभाजन अन्योन्याश्रित है

---

१. वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं तु मनोः स्मृतम् ॥

२. कलौ तु पाराशरी स्मृतिः।

तथा यह गुणों के (सत्व, रजस् तथा तमस्) तारतम्य के अनुसार ही है। इस अध्याय में यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया है कि चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था केवल मानव समाज में ही उपलब्ध नहीं होती प्रत्युत इसकी स्थिति प्रकृति में भी है तथा यह सामाजिक चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था प्रकृति में व्याप्त चातुर्वर्ण्य व्यवस्था का एक प्रकार से अनुकरण मात्र है। वर्ण-व्यवस्था परक कतिपय भ्रांतियों का समाधान भी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। चतुर्थ अध्याय आश्रम व्यवस्था का है। आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के जीवन को चार भागों में विभाजित करती है। इन चारों अवस्थाओं से होता हुआ व्यक्ति अंतिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। यह व्यवस्था व्यक्ति को उसके ऋणत्रय से मुक्ति तथा सामाजिक उत्तरदायित्वों के पूर्ति की योग्यता प्रदान करती है। इस अध्याय को तीन भागों में विभाजित किया गया है, प्रथम भाग आश्रम-व्यवस्था की सामान्य विवेचना करता है, द्वितीय तथा तृतीय भाग क्रमशः "शिक्षा" और "विवाह" विषयक स्मृति-सामग्रियों का अनुशीलन करते हैं। पाँचवाँ अध्याय राजा तथा उसके अधिकार और कर्त्तव्यों से संबंधित है। इस अध्याय में राजा के देवत्व तथा उसके असीमित अधिकार संबंधी कतिपय भ्रांतियों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है। छठा अध्याय मंत्रि-परिषद, उसकी रचना, उसके अधिकार तथा कर्तव्यों की विवेचना प्रस्तुत करता है। सातवाँ अध्याय राष्ट्र तथा प्रशासन सबंधी सिद्धान्तों का अध्ययन करता है। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि स्मृतियों की अनुसार किस प्रकार ग्राम को प्रशासन की इकाई मान कर राजा तक प्रशासकीय पदाधिकारियों की शृंखला का निर्माण होता था। इसके अतिरिक्त व्यूह रचना तथा युद्ध की नीतियों (उपाय तथा षाड्गुण मंत्र) आदि की भी विवेचना की गई है। आठवाँ अध्याय अंतिम अध्याय है। यह न्यायिक पद्धति का अनुशीलन करता है। इस अध्याय में न्याय कार्य किस प्रकार से होना चाहिये, उसके लिये किस प्रकार का संगठन होना चाहिये तथा व्यवहार में किस प्रकार से सत्यासत्य का निर्णय होना चाहिये आदि की विवेचना की गई है। इसके अतिरिक्त नारद स्मृति में होने वाले एक श्लोक[1] का जिसके अर्थ को लेकर अनेक प्रकार की असंबद्धता परिलक्षित होनी है, समीचीन अर्थ प्रस्तुत कर भ्रांतियों का निराकरण करने का प्रयत्न किया गया है। प्रथम परिशिष्ट में मनुस्मृति के विषय विवेचन की शैली का अनुशीलन किया गया है, मनुस्मृति में अनेक ऐसी अभिव्यक्तियाँ प्राप्त होती हैं

---

१. धनश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् ।
 चतुष्पाद् व्यवहारोयम् उत्तरः पूर्वबाधकः ॥

जिनमें असंबद्धता परिलक्षित होती है परन्तु ये वेद का निकट से अनुकरण करने के कारण हैं; वस्तुत: इनका अर्थ वेद की शैली के अनुसार ही लिये जाने से इन असंबद्धताओं का समाहार हो जाता है ।

मनु, याज्ञवल्क्य, नारद तथा पराशर स्मृतियों का इस प्रकार के अध्ययन का प्रयास मौलिक है। मौलिकता को सुरक्षित रखने के लिये यथासंभव मूलग्रंथों का ही आश्रय लिया गया है, परन्तु नारदस्मृति मूलरूप में उपलब्ध न होने के कारण जाली द्वारा अंग्रेजी में अनूदित नारद स्मृति को ही आधार बनाया गया है। जाली के इस अनुवाद को नारद स्मृति के वीरमित्रोदय, व्यवहार मयूख, पाराशर-माधवीय तथा याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा टीका, आदि में बिकीर्ण उद्धरणों से मिलाने का प्रयत्न किया गया है, अनेक स्थल में जाली के अनुवाद से अंतर रखने वाले उद्धरण भी उपलब्ध हुये हैं, इनका उल्लेख यथासंभव कर दिया गया है ।

अन्त में, मैं उन विद्वानों के प्रति सम्मानपूर्वक आभार प्रकाशित करता हूँ जिनकी रचनाओं से मुझे प्रेरणा मिली है तथा इस पुस्तक का कलेवर निर्मित हुआ है। मैं उन सभी विद्वानों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी रचनाओं से मैंने लाभ उठाया है ।

—लक्ष्मीदत्त ठाकुर

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

स्मृतियों का निर्माण काल

पुस्तक का प्रतिपाद्य विषय मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, नारदस्मृति तथा पाराशरस्मृति तक ही सीमित है। इस अध्याय में इन स्मृतियों के रचना काल के विषय में विचार-विमर्श किया गया है।

मनुस्मृति के आधार से यह सिद्ध होता है कि इस शास्त्र का निर्माण मनु स्वायंभुव ने किया था। वर्ण और आश्रमों के धर्म जानने की इच्छा से ऋषिगण एकाग्र बैठे हुए स्वायंभुव मनु के पास उपस्थित हुए तथा उचित अभिवादन के बाद उन्होंने उनसे धर्म सम्बन्धी प्रश्न किया। कुछ थोड़ा-सा उपदेश देने के बाद मनु ने कहा कि हमने यह ज्ञान ब्रह्मा से प्राप्त किया था और उसके बाद मरीचि आदि मुनियों को हमने यह शास्त्र यथावत् पढ़ा दिया है। ये भृगु (जो वहाँ उपस्थित थे) हमसे सब विषय अच्छी तरह से पढ़ चुके हैं और अब ये आप लोगों को सविस्तार उपदेश देंगे। इसके बाद उनका निर्देश पाकर भृगु ने अपना व्याख्यान प्रारम्भ किया। मनु की उपस्थिति में तथा उन्हीं के बताए हुए विषय का प्राय: उन्हीं के शब्दों में भृगु ने उपदेश दिया। इसलिए सम्पूर्ण उपदेश मनु के नाम से ही माने गए और ग्रन्थ का नाम मनुसंहिता रखा गया। भृगु उनके मुखस्वरूप थे इसलिए उसका भृगु-संहिता यह नामकरण उचित नहीं समझा गया। उन समस्त विचारों के सम्बन्ध में पूर्णदायित्व मनु का ही था। मनु सर्वज्ञ माने गए हैं और इस बात को परवर्त्ती धर्म-शास्त्रकार तथा टीकाकारों ने भी मान लिया है। सर्वज्ञ होने के नाते उन्हें भूत, भविष्यत् का भी ज्ञात प्राप्त था। अत: भविष्य की बातों का उल्लेख जो इस ग्रन्थ में पाया जाता है उससे इस ग्रन्थ की प्राचीनता में बाधा नहीं आती। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं में यह दृढ़ विश्वास परम्परा से चला आ रहा है कि अतीत कल्प में जो बातें घटित हुई वे युगानुसार भविष्यत् कल्प में भी उसी प्रकार होंगी। उसके लिए यह वैदिक प्रमाण भी है **"धाता यथापूर्वमकल्पयत्"**, अर्थात् विधाता ने पूर्व के अनुसार नई रचना की। सर्वज्ञ होने के कारण उन्हें यह ज्ञात था कि

पूर्व परम्परा के अनुसार बाद में क्या घटनाएं होंगी और उसके अनुसार भविष्य की बातों का उल्लेख ठीक समझा जा सकता है। मनु ने धर्म का मूल स्रोत वेदों को माना है और यह स्पष्ट घोषणा है कि इसमें जो कुछ भी धर्म है वह सब वेद में कहा गया है।[1]

चारों वेद, ब्राह्मण भाग तथा उपनिषद् ये सब वेद ही माने गए हैं, "मंत्र ब्राह्मणयोर्वेद शब्द:" यह लक्षण किया गया है। मनुस्मृति में वर्णित बहुत विषयों का स्पष्ट उल्लेख उपलब्ध वेदों में मिल जाता है परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि यावन्मात्र विषयों का स्पष्ट उल्लेख इन वेदों में मिल जाय। जहाँ प्रत्यक्ष श्रुति से विरोध नहीं मिलता वहाँ मूल वैदिक आधार का अनुमान कर लिया जाता है क्योंकि यह भी भारतीय विश्वास है कि उपलब्ध वेद ही सम्पूर्ण वेद नहीं हैं। **अनन्ता वै वेदाः** वेद अनन्त हैं, इसका उल्लेख ब्राह्मणों में मिलता है।[2] प्रथम मनु (स्वायंभुव) का शास्त्र इस वर्तमान वैवस्वत (सातवें) मनवन्तर में भी अव्यहृत रूप से प्रमाण माना जाता है। यद्यपि ये सब नियम वर्तमान मनवन्तर के लिए उपयुक्त हैं तथापि उसे स्वायंभुव कृत माना गया है। स्वायंभुव की प्रामाणिकता के प्रमाण में उन्हें सर्वज्ञ तो माना ही गया है (मनु ११.७), उन्हें इन्द्र, वायु तथा शाश्वत ब्रह्म के रूप में भी माना गया है (मनु १२. १२५)। परन्तु साथ ही उनके कथन की मुख्य प्रामाणिकता इसमें है कि वह वेद मूलक है। उसका मूल आधार वेद है। बृहस्पति अपने धर्मशास्त्र में लिखते हैं कि मनु के धर्म शास्त्र की मुख्य मान्यता इसमें है कि वह सर्वथा वेद के आधार पर लिखी गई है अतः जो स्मृति मनु के अर्थ के विपरीत हो वह ग्राह्य नहीं हो सकती।[3]

मनु का नामोल्लेख वेदों में अनेक स्थलों में आया है।[4] तैत्तिरीय संहिता

---

१. यः कश्चित् कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः ॥ मनु २, ७

२. तै० ब्रा० ३, १०

३. वेदार्थो पनिबद्धत्वात् प्राधान्यं तु मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते ॥ बृ० स्मृ० संस्कार—१३

४. ऋ० वे० १,८०,१६ यामथर्वा मनुष्पिता दध्यङ् धियमत्नत।
तस्मिन् ब्रह्माणि पूर्वथेन्द्र उक्था समग्मतार्चन्ननु स्वराज्यम्।
ऋ० वे० १-११२-१६ याभिर्नरा शयवे याभिरत्रये याभिः परा मनवे गातुमीषथुः
याभिः शारीराजतं स्यूम रश्मये ताभिरषु ऊतिभिरश्विनागत।

(१.९४) में मिलता है—**मनुः पुत्रेभ्यो दायं व्यभजत्।** अर्थात् मनु ने अपने पुत्रों को अपनी सम्पत्ति दी। भगवद्गीता (४, १) में वैवस्वत मनु तथा उनके पुत्र इक्ष्वाकु का नामोल्लेख है।[1] यास्क ने भी निरुक्त में उल्लेख किया है।[2] गौतम ने अपने धर्मसूत्रों में मनु के मत का निर्देश किया है—"**त्रीणि प्रथमानि अनिर्देश्यानि मनुः**(गो० ध० सू० २१,८)। इस प्रकार मनु की सत्ता के सम्बन्ध में तो कोई प्रश्न नहीं हो सकता। यह भी सिद्ध हो जाता है कि मनु धर्म प्रवर्तक थे और उनके मत को प्रायः सभी परवर्ती धर्मप्रवक्ताओं ने मान्यता दी है। परन्तु उन प्राचीन मनु के द्वारा प्रणीत धर्मशास्त्र, जो पूर्ववर्ती आचार्यों को प्राप्त था, इस समय उपलब्ध नहीं है। यह सिद्ध करना तो संभव नहीं हो सकता कि वर्तमान मनुस्मृति को जो स्वरूप इस समय मिल रहा है वह अविच्छिन्न रूप से मनुवैवस्वत के समय से अब तक चला आ रहा है। तब यह अवश्य है कि वर्तमान मनुस्मृति का स्वरूप प्राचीन परम्परा के आधार पर स्थित है और स्वायंभुव मनु के द्वारा प्रतिपादित नियमों का यह संग्रह है। इस वर्तमान मनुस्मृति का वास्तविक आधार क्या था[3] इसपर अनेक विद्वानों ने अपना-अपना अनुमान लगाया है। जर्मन विद्वान व्यूलर ने मनुस्मृति का गंभीर अध्ययन किया तथा अत्यन्त परिश्रम के साथ गवेषणा करके यह निष्कर्ष निकाला कि इस मनुस्मृति का मुख्य आधार मानव धर्मसूत्र थे जो इस समय उपलब्ध नहीं हो रहे हैं। श्रीयुत् काने महोदय, व्यूलर के इस मत का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि आगे चल कर व्यूलर स्वयम् स्पष्ट शब्दों में स्वीकार करते हैं मानव सूत्र के लेखों के आविष्कार के बाद उसमें मनुस्मृति और मानवसूत्रों के परस्पर संबंधित होने के मत में कोई सहायता मिलनी

---

१. भगवद्गीता ४–१ **इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।**
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

२. यास्क-निरुक्त **अविशेषेण मिथुनाः दायद इति। तदेतदृश्लोकाभ्यामुक्तम्। अंगादंगात्संभवसि हृदयादधिजायसे। आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतमिति अविशेषेण पुत्राणां दायो भवति धर्मतः मिथुनानां विसंगादो मनुः स्वायंभुवोऽब्रवीत्।**
निरुक्त ३, ४ पृ० २५१

३. Buhler following Maxmuller (S. B. E. Vol. 25) says that the Manusmriti is based on or is a recast of an ancient Dharmsutra viz. that of Manava-Charana. History of Dharmashastra Vol. I P. V. Kane.

तो दूर रही प्रयुक्त कठिनाई और बढ़ गई क्योंकि मानवगृह्य सूत्र के सिद्धान्त में तथा मनुस्मृति में उल्लिखित सिद्धान्त में अत्यन्त विरोध है।[1]

ब्यूलर, मैक्समूलर प्रभृति पाश्चात्य पण्डितों ने जो गवेषणा की है वह प्रशंसनीय होते हुए भी अनेक अंशों में त्रुटिपूर्ण मानी गई हैं उसका प्रधान कारण यह है कि उन लोगों को भारतीय ग्रन्थ निर्माण शैली का पूर्ण ज्ञान न था। परम्परा से उनका परिचय न था। अतः भारतीय दृष्टिकोण को ठीक समझने के लिए जो साधन-सामग्री अपेक्षित है उसका अभाव था। व्याकरण और कोष के सहारे ही धर्मशास्त्र के विषयों के मर्म तक पहुँचना संभव नहीं है। न्याय और मीमांसा आदि के नियमों का ज्ञान आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। श्रीयुत आयंगर ने इस सम्बन्ध में जो मत प्रकट किया है वह वास्तव में मार्मिक है।[2] तत्रापि यह मानना पड़ेगा कि पाश्चात्य पंडितों ने जो अध्यवसाय किया है उससे परवर्ती लेखकों को केवल आधार ही नहीं मिला है, प्रोत्साहन भी मिला है तथा कुछ थोड़े हेर-फेर के बाद उन पाश्चात्य पंडितों के मत का महत्व मान लिया गया है। ब्यूलर ने वर्तमान मनुस्मृति के बहुत अंशों को प्रक्षिप्त (बाद का जोड़ा हुआ) माना है तथा समय निर्धारण करते हुए दूसरी शताब्दी ई० पूर्व को पूर्वीय सीमा तथा द्वितीय शताब्दी ई० को पश्चिमी सीमा माना है। ब्यूलर के मत से मनुस्मृति का वर्तमान स्वरूप अनेक बार संशोधन के बाद स्थिर हुआ है। परन्तु श्रीयुत् काने महोदय ने यह प्रतिपादन किया है कि संशोधन एक ही बार हुआ है और उस संशोधन का समय २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० तक हो सकता है। परन्तु जायसवाल जी ब्यूलर की पूर्वीय सीमा को तो मानते हैं परन्तु पश्चिमीय सीमा को संकुचित करके ईसवीय संवत् के प्रारंभ से अव्यवहित पूर्व मानते हैं। पूर्वीय सीमा के निर्धारण करने में प्रायः सभी विद्वानों ने यह तर्क स्वीकृत किया है कि मनुस्मृति कौटिल्य के बाद लिखी गई है। ग्रीक विद्वानों के लेखों के आधार पर चन्द्रगुप्त मौर्य का समय ३२७ ई० पू०

---

१. Buhler himself candidly admits. (S. B. E. Vol. 25) that the recovery of the writings of the M. G. S. has not only furnished any facts in support of the alleged relations between the M. G. Sutra and the Manusmriti but on the contrary has raised difficulties as the doctrines of M.G. Sutra differ very considerably from those of the Manusmriti. Ibid.

२. Aiyangar : Aspects of the Social and Political System of Manusmriti, Preface-P/IX.

मान लिया गया है। चन्द्रगुप्त मौर्य तथा कौटिल्य का पारस्परिक सम्बन्ध अब ऐतिहासिक सत्य मान लिया गया है। यद्यपि जाली इस मत को नहीं मानते थे परन्तु जायसवाल ने अपनी अकाट्य युक्तियों से यह सिद्ध कर दिया है कि चाणक्य और कौटिल्य एक थे तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के ही समकालीन थे। मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र की परस्पर तुलना करके तथा मनुस्मृति में ब्राह्मण के असाधारण प्रभुत्व आदि को देख कर जायसवाल जी ने यह निष्कर्ष निकाला है कि ब्राह्मण राजा पुष्पमित्र के समय में अथवा उनके वंशजों के समय में मनुस्मृति का निर्माण हुआ है। साथ ही वे यह भी लिखते हैं कि मनुस्मृति पर कौटिल्य का प्रभाव प्रत्यक्ष है तथा इसमें कौटिल्य के मत का खंडन किया गया है।[1] श्रीयुत् आयंगर ने इस मत का खंडन किया है तथा यह भी दिखाया है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र और मनुस्मृति में परस्पर तुलना करने पर मतैक्य ही अधिक मिलता है।

उनके इस प्रतिपादन से यह ध्वनि निकलती हैं कि कौटिल्य और मनुस्मृति में पूर्वापर सम्बन्ध निर्धारित करना युक्तियुक्त नहीं है। इतना ही नहीं, उन्होंने यह भी सयुक्तिक सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि जिन सूत्र ग्रन्थों को मनुस्मृति से पूर्ववर्ती माना गया है वे भी निश्चित रूप से पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। मनुस्मृति में जिन विषयों का विस्तृत विवेचन मिलता है उनका सूत्र ग्रन्थों में संकेत रूप से उल्लेख देखकर उन्हें पूर्ववर्ती मान लिया गया है। परन्तु यह प्रतिपादन करते हैं कि सूत्र ग्रन्थों का संक्षिप्त विवेचन पूर्ववर्ती होने का प्रमाण नहीं हो सकता। उनके संक्षित होने का कारण यह है कि ये सूत्र छात्रों के उपदेश के लिये सिलेबस के रूप में थे तथा उनकी विस्तृत व्याख्या मौखिक उपदेशों के द्वारा होती थी।[2] इस प्रकार मनुस्मृति के वर्तमान स्वरूप के समय के सम्बन्ध में विचार करने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि सर्वप्रथम (१) पुष्यमित्र और मनुस्मृति के सम्बन्ध का विवेचन किया जाय। (२) मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के परस्पर सम्बन्ध तथा पौर्वापर्य का विवेचन तथा (३) सूत्र ग्रन्थों और मनुस्मृति के सम्बन्ध में विवेचन हो।

वैदेशिक विद्वानों ने मनुस्मृति तथा महाभारत में वर्णित राजधर्म की तुलना करके यह सिद्धान्त स्थिर किया है कि महाभारत के ये अंश मनुस्मृति से पूर्व के हैं। अनेक भारतीय विद्वानों ने भी इसी मत को मान्यता दी है। परन्तु भारत के सुप्रसिद्ध

---

१. K. P. Jayaswal—Manu and Yajna. Introduction: XIX.

२. Aiyangar, P. 18.

विद्वान श्रीयुत् काने महोदय ने अपने ग्रन्थ में यह अच्छी तरह सिद्ध कर दिया है कि वर्तमान मनुस्मृति वर्तमान महाभारत से पूर्व की लिखी हुई है। काने महोदय लिखते हैं कि वर्तमान मनुस्मृति के लेखक के सम्बन्ध में एक बात यह भी विचारणीय है कि महाभारत ने स्वयंभू मनु और प्राचेतस मनु दो भिन्न व्यक्ति माने हैं इनमें स्वायंभू धर्म के तथा प्राचेतस अर्थशास्त्र के प्रवर्तक माने गए हैं। यह संभव है कि प्रारंभ में दोनों शास्त्र पृथक रहे हों और बाद में किसी ने (वह कोई भी हो) दोनों को मिला कर वर्तमान स्वरूप दे दिया। यह भी कहा जा सकता है कि यह नवीन संस्करण कौटिल्य के अर्थशास्त्र के समय या तो सम्पन्न न हुआ था अथवा उसी समय के लगभग हुआ था। एक दूसरे स्थल में (महाभारत में) जो वर्णन है वह कुछ भिन्न है और वहाँ मनु का उल्लेख नहीं है। शांतिपर्व (५९ अ०) में मिलता है मनु का एक मौलिक ग्रन्थ था जिसमें से महाभारत के प्राथमिक पर्व तथा मनुस्मृति दोनों ने अपना-अपना विषय लिया था अतः मनुस्मृति और महाभारत में जहाँ पर विषय की समानता है वह एक दूसरे के ऊपर निर्भर न होकर एक स्रोत से प्राप्त थे।[1]

मनु में यद्यपि बहुवचन में इतिहास शब्द प्रयुक्त हुआ है परन्तु महाभारत का कहीं भी नामनिर्देश नहीं है। (३–२३२) मनु० में अनेक ऐतिहासिक तथा आख्यानिक व्यक्तियों का उल्लेख है जिसके सम्बन्ध में महाभारत में भी उसी प्रकार के कथानक हैं। उदाहरण के लिये—अंगिरस्, अगस्त्य, नहुष, सुदास आदि। इनमें से अनेक नाम वैदिक काल तक पाए जाते हैं। मनुस्मृति में यह नहीं मिलता कि ये कथानक महाभारत से लिए गए हैं। महाभारत में भी ये कथानक मौलिक नहीं है क्योंकि वह (महाभारत) उन कथानकों का संग्रह मात्र है जो प्राचीन भारत में परम्परा से प्रचिलित थे। प्रत्युय महाभारत में ऐसे अनेकों स्थल हैं—प्रायः प्रत्येक पर्व में—जहाँ "मनुप्रब्रवीत्" (मनु ने कहा;) मनु के राजधर्म, मनु का शास्त्र आदि नामतः निर्दिष्ट है। इसके अतिरिक्त महाभारत में सैकड़ों श्लोक ऐसे मिलते हैं जो मनुस्मृति के समान ही हैं यद्यपि वहाँ मनु का नामोल्लेख नहीं है। ब्यूलर लिखते हैं कि वन, शान्ति और अनुशासन इन तीन पर्वों में ही मनु के २६० ऐसे श्लोक हैं जो या तो पूरे पूरे अथवा अंशतः मनुस्मृति के हैं। काने महोदय लिखते हैं कि इससे आपाततः यह सिद्ध होता है कि प्राचीनता में महाभारत की अपेक्षा मनुस्मृति का पक्ष प्रबल है।[2] हापकिंस भी यह मानते हैं कि अवश्य ही अनुशासन पर्व के लेखक को वर्तमान

---

१. P. V. Kane: History of Dharmashastra Vol. I P. 139.
२. There is one circumstance about the authorship of

मनुस्मृति का ज्ञान था। ब्यूलर कुछ सतर्कता से लिखते हैं कि शांति पर्व और अनुशासन पर्व के लेखकों को उस मानव धर्मशास्त्र का ज्ञान था जो वर्तमान मनुस्मृति से समीपी सम्बन्ध रखता था यद्यपि बिलकुल समान न था। दोनों ही (हापकिंस और ब्यूलर) इसमें एक मत हैं कि प्राचीन ग्रन्थों में जहां मनु का उल्लेख है वह या तो मानवधर्म सूत्र के लिए था अथवा यत्र-तत्र विकीर्ण श्लोकों का था, वर्तमान मनुस्मृति का नहीं। हापकिंस और ब्यूलर के मतों का खंडन करते हुए काने महोदय यह निर्णय करते हैं कि मनु का या मनु के नाम पर बनाया हुआ कोई ग्रन्थ शताब्दी ई० पू० से भी बहुत पहिले से था और संभवतः वह पद्य में था। इसी प्रकार का दूसरा ग्रन्थ राजधर्म पर था जो प्राचेतस मनु के नाम से प्रचलित था वह भी ई० पू० चौथी शताब्दी से पहिले था।[१] यह भी संभव है कि इस प्रकार के दो पृथक ग्रन्थ न हो कर एक ही बड़ा ग्रन्थ रहा हो जिसके धर्म और राजनीति दो भाग रहे हों; यही ग्रन्थ वर्तमान मनुस्मृति का मूल आधार था। फिर दूसरी शताब्दी ई० पू० और दूसरी शताब्दी ई० के बीच के किसी समय में उसका अंतिम संशोधित स्वरूप हुआ; संभवतः भृगु के द्वारा। इस ग्रन्थ ने कुछ अंशों को पुराने ग्रन्थ में से संक्षिप्त किया होगा तथा कुछ अंशों में बढ़ाया होगा। उनका यह स्पष्ट मत है कि वर्तमान महाभारत वर्तमान मनुस्मृति के बाद का है।

---

the Manusmriti that deserves to be noted. The Mahabharata seems to distinguish between Swayambhu manu and Prachetas Manu. The former is said to be the promulgator of Dharmashastra and the latter of Arthashastra. It is not unlikely that originally there were two distinct works one on Dharmashastra and the other on Arthashastra attributed to Manu. One may...the conjecture that the author of the Manus-mriti, whoever the might have been combined in his work the information contained in the two works on Dharmashastra and Arthashastra and supplanted both earlier works and that this result had not either been accomplished at the time when Kautilya Arthashastra was composed or was then quite recent ......
P. V. Kane. History of Dharmashastra, Vol. I Page 139--140.

१. Ibid. Page 139—145

सुंग शासक और मनुस्मृति का सम्बन्ध श्रीयुत् काशीप्रसाद जायसवाल प्राच्य शास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान थे। उनके अनेक ग्रन्थ गवेषणापूर्ण माने जाते हैं। विद्वानों ने उनका उल्लेख किया है अतः इस सम्बन्ध में उनके विचार संक्षिप्त रूप से उपस्थित किए जाते हैं। उनका निश्चित सिद्धान्त यह है कि मनुस्मृति का निर्माण सुंग शासक ब्राह्मण पुष्यमित्र अथवा उनके उत्तराधिकारियों के शासन काल में हुआ है। पुष्यमित्र ब्राह्मण थे। मनुस्मृति में पद-पद पर ब्राह्मणों का उत्कर्ष दिखाया गया है। यह निर्विवाद रूप से ब्राह्मण राजाओं के आश्रय में उनके गुणगान करने के लिए लिखी गई है। नीचे उनके मत का संक्षिप्त आशय दिया जाता है और उसके बाद उसकी समीक्षा होगी।

पतंजलि ने व्याकरण महाभाष्य लिखा है। इसमें इन्होंने एक स्थल में, उदाहरण के प्रसंग में उल्लेख किया है—**इह पुष्यमित्रं याजयामः** (यहां हम पुष्यमित्र को यज्ञ कराते हैं)। इस वर्तमान काल के निर्देश से सिद्ध होता है कि पतंजलि और पुष्यमित्र समकालीन थे। पतंजलि ने धर्मसूत्रों का उल्लेख किया है। परन्तु मनुस्मृति का कहीं नाम नहीं है। मनुस्मृति का निर्माण उससे पूर्व हुआ होता तो इसका भी निर्देश होता। पतंजलि ने अपना ग्रन्थ लगभग १८८ ई० पू० लिखा होगा क्योंकि पुष्यमित्र के राजसूय यज्ञ का यही समय हो सकता है। महाभाष्य में पतंजलि ने **मनुस्मृति** का निर्देश नहीं किया है इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वह (मनुस्मृति) महाभाष्य के बाद ही लिखी गई है।[१] आगे वे लिखते हैं कि यह काल ब्राह्मणत्व के पुनरुत्थान का था और उस समय वास्तव में ब्राह्मण शासन था क्योंकि सुंग तथा उनके परवर्ती काण्वायन ब्राह्मण राजा थे।[२] वे यह भी लिखते हैं कि इस कोड में ऐसे वाक्य मिलते हैं जिनसे उस समय के शासन सम्बन्ध में प्रकाश पड़ता है। मनु का यह श्लोक है **"सेनापत्यं च राज्यं च सर्वं वेदाविद र्हति"**—अर्थात् वेदवित् (वेद का विद्वान् ब्राह्मण) सेनापतित्व तथा राज्य सब कुछ पा सकता है। यह सेनापति पुष्यमित्र की राज्यप्राप्ति को लक्ष्य करता है। यह भी वे लिखते हैं कि ग्रन्थ भर में आक्रमणकारी पुरानी कट्टरता द्योतित होती है। धर्मविरोधी

---

१. K. P. Jayaswal : Manu and Yaj. P. 27.
२. This is the period of Brahminical revival and actual Brahminical political rule in India. The Sungas and their successors Kanvayanas were Brahmins, Ibid, Page 29.

अर्थात् बौद्ध और जैन लोगों को पुर से निर्वासन करने का विधान है। मनु (९–२२५–२६) में धर्मविरोधी का निर्देश बौद्ध और जैनों को लक्ष्य करता है।[१]

इस प्रकार मानव कोड राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक पक्षपात से भरा है। कोड होने के साथ ही साथ वह विवादपूर्ण भी है। सुंगकालीन मनु ने शूद्र और विधर्मी राजा के लिए अपनी घृणा को धर्म नियम में समाविष्ट कर दिया। क्योंकि जिस प्रकार गौ पंक में फंस कर अवसाद को प्राप्त होती है उसी प्रकार राष्ट्र भी (अंतिम मौर्य शासन काल में) नष्ट हो रहा था। मनुस्मृति का ब्राह्मणों का अनुचित अधिकार समर्थन उस समय इसलिए मान्य हो गया कि वह वास्तविक तथ्य पर आधारित था। वास्तव में उस समय ब्राह्मण प्रत्येक वस्तु का स्वामी था।[२]

इस मत का निष्कर्ष यह निकलता है कि ब्राह्मणों का अनुचित पक्षपात करने के कारण मनुस्मृति उस समय लिखी गई होगी जब ब्राह्मणों का राज्य तथा पूर्ण आधिपत्य तथा उत्कर्ष था और बौद्ध राजाओं की दुर्बलता के कारण राजाश्रय के अभाव से बौद्ध, जैन, धर्म ह्रास पर था। अतः ब्राह्मण पक्षपाती मनु ने (जो कोई

---

१. The code is marked throughout with an aggressive orthodoxy. The heretics e.g. Buddhists and Jainas were to be banished from the capital. Manu XII-95. The reference is to modern system of Buddhism and Jainism. Ibid. Page 38.

२. The Manava Code thus suffers from its political, social and sacerdotal prejudices. It is a code as well as a controversy. The Sungan Manu translated into terms of Dharma-law the contempt for the Sudra and heterodox ruler before whose very eyes the Kingdom was sinking like a cow in the mire and the exaltation of the Brahmin or orthodoxy over its achievements.

His absurd claims for Brahminism were admitted at the time for they were based on facts of the time. The Brahmin infact was the lord of everything at the moment; Ibid Page 42-43.

लेखक रहा हो) बौद्ध और जैन धर्मावलंबियों को पुर से निकाल देने का विधान किया है।

जयासवाल जी मनुस्मृति और पुष्यमित्र के सम्बन्ध को प्रमाणित करने के लिए एक और तर्क उपस्थित करते हैं वे लिखते हैं। कि पुष्यमित्र की राजसत्ता को सुदृढ़ बनाने के उद्देश्य से ही मनु ने राजा को इन्द्र, वरुण आदि बना दिया। अभिप्राय यह था कि इस प्रकार देवत्व के आरोप होने से उनके शासन को आस्तिक लोग आँख बंद करके स्वीकार कर लेंगे। ब्राह्मण के शासक होने के कारण ब्राह्मणत्व का महत्व स्वतः बढ़ जायगा; राज्याश्रय तो था ही। जितना अधिक राजा का महत्व माना जायगा उतना ही अधिक ब्राह्मणत्व का प्रभाव बढ़ेगा। परन्तु इसके लिखने के बाद ही मनुस्मृति के लेखक की आँख खुली। उन्होंने यह देखा कि इस प्रकार राजा मात्र को इन्द्र, वरुण बना देने से पुष्यमित्र की सत्ता अवश्य दृढ़ होती है परन्तु इस सिद्धान्त के अनुसार पुष्यमित्र ने जिस राजा को पदच्युत करके राजसत्ता हस्तगत की उसमें भी वही इन्द्रत्व, वरुणत्व था, उसे पदच्युत करने का औचित्य नहीं रह जाता। अतः इस अनुपपत्ति को दूर करने के अभिप्राय से वे तुरन्त ही बदल गए और दंड की नवीन कल्पना कर उसे दंड (दंड को) राजा का भी राजा बना दिया।[१] श्री जायसवाल जी के अनुसार लेखक (मनुस्मृतिकार) अपने स्वार्थवश अपनी पूर्व योजना पर (राजा के देवत्व सिद्धान्त पर) न चलकर असंबद्ध प्रलाप करता है।

श्रीयुत् अजित कुमार सेन महोदय का भी तर्क कुछ इसी प्रकार है। ये लिखते हैं कि राज्याश्रय की सहायता से बौद्धों के द्वारा प्रचारित हिन्दू धर्म-विरुद्ध प्रथाओं का मूलोच्छेद करने के लिए राजा को सर्वोच्च शक्ति वाला (धर्म नियम बनाने वाला) घोषित किया गया। परन्तु जब उन्होंने देखा कि इससे उलटा अनर्थ हो सकता है तब उसका संशोधन कर दिया, मनुस्मृतिकार का उक्त संशोधन परिस्थिति देखते हुये महत्वपूर्ण था।[२]

---

१. Jayaswal : Hindu Polity pp. 235–239.

२. So it would not be wrong if we presume that Manu deliberately made the king a law making soverign in order to root out Un-Hindu customs introduced by the Bhuddhists with the aid of royal decrees. It was a remarkable innovation, justified, no doubt, by the exigencies of the times. But probably Manu

इन दोनों विद्वानों के विचार प्रायः एक से हैं, अन्तर इतना है कि जायसवाल जी के मत से मनु के दोनों मत परस्पर विरुद्ध हैं तथा दूसरे मत के द्वारा प्रथम मत का खंडन कर दिया गया है। सेन के मत से यह खंडन नहीं है संशोधन है और वह समय की परिस्थिति के अनुसार उत्कृष्ट कल्पना है तथा धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों के सिद्धान्तों का समन्वय है। परन्तु तत्वतः दोनों एक ही हैं।

इन मतों से यह निष्कर्ष निकालना असंगत नहीं है कि मनुस्मृति की रचना धार्मिक दृष्टि से न होकर केवल राजनैतिक दृष्टि से हुई थी और समय की स्थिति को देख कर लोकप्रियता को लक्ष्य में रख कर नए सिद्धान्तों का उसमें खंडन-मंडन किया गया है। वह केवल व्यावहारिक ग्रन्थ है और उसे प्रामाणिकता देने के उद्देश्य से ही उसे धार्मिक रूप दे दिया गया है।

उक्त तर्कों की समीक्षा—मनुस्मृति महाभाष्य (व्याकरण) के बाद लिखी गई है क्योंकि महाभाष्य में मनुस्मृति का कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। जायसवाल जी का यह मत काल्पनिक है। पतंजलि का महाभाष्य व्याकरण विषय पर लिखा गया था। वह इतिहास का ग्रन्थ नहीं है। उदाहरणों के प्रसंगों में यदि सूत्र ग्रन्थ की चर्चा आ गई तो इससे यह अर्थ निकलना कि पतंजलि को सूत्र ग्रन्थों का परिज्ञान था मनुस्मृति का न था यह केवल कल्पना है। न महाभाष्य में मनुस्मृति का उल्लेख है और न मनुस्मृति में ही महाभाष्य का कोई प्रसंग है। अतः पूर्वापर सम्बन्ध उन दोनों में मानने के लिए कोई आधार नहीं है। जिस तर्क के द्वारा उन्होंने मनुस्मृति को बाद की लिखी हुई माना है उसी तर्क से वह (मनुस्मृति) महाभाष्य के पूर्व की मानी जा सकती है।

मनुस्मृति को शुंगकालीन मानने में जायसवाल जी ने जो मुख्य आधार माना

---

himself was taken aback at the right of the great demon he had helped to create. He immediately sought to modify the theory not as Jayaswal has explained by bringing the king under law-this is not modification but cullification, but by conceiving law as composed of sacred and secular law and herein we see another skilful blending of Arthashastra and Dharmashastra thought. A. K. Sen : Studies in Hindu Political Thought. Page 129.

है वह है मनुस्मृति में वर्णित ब्राह्मणत्व का उत्कर्ष। वास्तव में इसी एक सिद्धान्त को इन्होंने अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। जायसवाल जी का यह तर्क है कि पुष्यमित्र की राजसत्ता को सुदृढ़ बनाने के अभिप्राय से राजा में इन्द्र,वरुण आदि देवों का आरोप किया गया तथा बाद में उसका खंडन कर दिया गया। इन्द्र, वरुण आदि देव क्या थे किस प्रकार राजा में उनका अंश व्याप्त था इत्यादि का विशेष विवेचन राजा के देवत्व के प्रकरण में विशेष रूप से किया गया है वह वहीं द्रष्टव्य है। राजा को देवत्व प्रदान करने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह असीमित शक्ति सम्पन्न है और न ही दंड की व्यवस्था-धर्म की परिकल्पना—देवत्व से किसी प्रकार का विरोध ही रखती है। जहाँ मनु ने राजा में देवत्व का सन्निवेश किया है वहीं उसे अपने देवत्व के अनुरूप ही कार्य करने का आदेश दिया है। यदि राजा अपने देवत्व को अपनी स्वेच्छा-चारिता अथवा असीमित शक्तिमत्ता का स्रोत समझ कर मनमाना करता है वहाँ मनु ने स्पष्ट रूप से वेन आदि ऐतिहासिक राजाओं का उदाहरण देकर यह दिखलाया है कि ऐसा करने पर वह पदच्युत भी किया जा सकता है; राजा की असीमित शक्ति उसके देवत्व के कारण नहीं प्राप्त होतीं, वरन् उसका देवत्व ही उसके लिए सबसे सुदृढ़ सीमा प्रस्तुत करता है। देवत्व के साथ असीमित शक्ति को मनुस्मृति के अनुसार सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। उक्त भ्रान्ति पाश्चात्य देशीय राजा के देवत्व के सिद्धान्त के अनुसार मनुस्मृति में प्रतिपादित देवत्व को देखने पर ही संभाव्य है, अन्यथा नहीं। अतएव जब देवत्व ही राजा की एक सीमा है, तब यह प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है कि दंड की कल्पना राजा के देवत्व को सीमित रखने के लिए की गई है तथा जहाँ दंड को राजा का भी राजा कहा गया है वहाँ यह केवल राजशक्ति की ही महत्ता प्रदर्शित करने के लिए है। जब राजा भी दंड और धर्म के आधीन है तब साधारण व्यक्ति की क्या स्थिति हो सकती है।

इसी प्रकार वेद बाह्य स्मृतियों से जायसवाल जी बौद्ध और जैन ग्रन्थों का तथा नास्तिक तथा पाखंडी शब्दों से उन धर्मों के मानने वालों का निर्देश मानते हैं। यह भी युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता है। पुष्यमित्र के बाद बौद्ध और जैन धर्म नष्ट प्राय थे; ऐसी दशा में उनका छिपे हुए शब्दों में निर्देश करने की कोई आवश्यकता न थी। जिस प्रकार बौद्धों ने ब्राह्मण धर्म पर प्रकाश रूप से आक्रमण किया था उसी प्रकार मनुस्मृतिकार को लिखने में किसी प्रकार की आपत्ति ही नहीं हो सकती थी। जायसवाल जी तथा सेन दोनों ही के अनुसार उस समय तो ब्राह्मणत्व का ही साम्राज्य था फिर प्रच्छन्न शब्दों में निर्देश करने में कोई लाभ न था। अतः बौद्धों की ओर ही संकेत था यह कथन प्रमाणित नहीं है।

जायसवाल जी राज्याभिषेक में राजा की प्रतिज्ञा का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि राजा का मानुष-मूल के अतिरिक्त दूसरा (दैविक) मूल मानना असंभव है। अन्य विद्वानों ने भी इसे राजा की शपथ के रूप में माना है और मनुस्मृति में दिए हुए दैविक मूल का खंडन किया है। जायसवाल जी ने यह भी तर्क उपस्थित किया है कि मनुस्मृति राज्य क्रांतिकारी ब्राह्मण पुष्यमित्र के राजत्वकाल में लिखी गई थी इसीलिए ब्राह्मण राजा की स्थिति को अक्षुण्ण बनाने के लिए यह मिथ्या प्रशंसा की गई है।[1] यहां यह निवेदन है कि राजा का अभिषेक होता है अथवा साधारण व्यक्ति मात्र अभिषिक्त होने से और प्रतिज्ञा करने से राजा हो सकता है। जायसवाल जी यह स्वीकार करते हैं कि समिति पहिले जिस व्यक्ति को चुन लेती है अभिषेक होने पर उसी व्यक्ति से शपथ कराई जाती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि वह शपथ के द्वारा राजा नहीं होता। राजा वह पहिले हो जाता है चाहे वह समिति के द्वारा चुनाव से हो अथवा पैतृक दाय ग्रहण के रूप में। राजा हो जाने से ही राजा के कर्तव्यों का भार उस पर आ जाता है उसी का अभिषेक के समय दृढ़ीकरण होता है। उसमें राजत्व की प्राप्ति पहिले से हो चुकी है संस्कार के द्वारा उसका परिमार्जन होता है। यह उसी प्रकार है जैसे क्षत्रियवंश में प्रसूत होने के बाद उसे क्षत्रियोचित संस्कार के द्वारा द्विज कोटि में प्रविष्ट कराया जाता है। संस्कार नई वस्तु उत्पन्न नहीं करता। संस्कार के द्वारा उस वस्तु का वास्तविक स्वरूप निखरता है। मणि खान से निकलने पर संस्कारयुक्त होती है तब उसमें जो अन्य विजातीय पदार्थ आ गए थे संस्कार के कारण वे दूर किये जाते हैं और मणि अपने वास्तविक स्वरूप में चमकने लगती है। परन्तु साधारण पत्थर के वही संस्कार कर दिए जाँय तो वह मणि का स्वरूप प्राप्त न कर सकेगा। अतः अभिषेक का उल्लेख राजत्व प्रथा के दैवीपन या मनुषीपन का द्योतक नहीं है।

अब दूसरी बात भी विचारणीय है। पुष्यमित्र ब्राह्मण थे तथा राजा थे इसलिए उनके शासन को दृढ़ करने के लिए उनके राज पंडित ने राजा को इन्द्र, वरुण, कुबेर और अग्नि आदि देवों में परिणित कर दिया।[2] जायसवाल जी विद्वानों में परिगणित थे। उनका संस्कृत भाषा का अध्ययन भी उच्च कोटि का था यह उनके ग्रन्थों से स्पष्ट प्रतीत होता है। परन्तु उन्होंने यहां अक्षरार्थ और अर्थवाद का विचार नहीं किया। अक्षरार्थ लेने से तो यह भी मानना पड़ेगा कि मनुस्मृति जब बनी थी तब कोई बालक राजा था तभी तो मनुस्मृति में लिखा है—"**बालोऽपि नावमंतव्यो मनुष्य इति भूमिपः।**

---

१. **मनु० ९–३०३ से ३११ तक—इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च इत्यादि**
२. Hindu Polity : K. P. Jayaswal, 233–239.

इस श्लोक को उन्होंने उद्‌धृत अवश्य किया है पर यह नहीं लिखा कि मनुस्मृति के समय का राजा बालक था। वास्तव में इस स्थल में जो राजा की प्रशंसा की गई है वह राजा मात्र की प्रशंसा में है और ब्राह्मण अथवा पुष्यमित्र से कोई सम्बन्ध नहीं है। यहाँ जो राजा को महती देवता कहा है वह उन्हें देव नहीं बना देता, वह केवल उनके महत्व का द्योतक है। इसी का स्पष्टीकरण आगे चल कर मनुस्मृति में नवम अध्याय में किया गया है कि राजा इन्द्र, सूर्य, वायु, यम, वरुण आदि के वृतों का आचरण करें वहीं पर इन्द्र आदि से किन-किन गुणों में समता रखें इसका भी स्पष्ट उल्लेख है। ये दोनों प्रकरण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। यहाँ जो संक्षेप में कहा गया है आगे उसका स्पष्टीकरण है। इनमें परस्पर विरोध नहीं है सामंजस्य है। परन्तु जायसवाल जी इनको भी एक दूसरे के विरुद्ध मान कर असम्बद्ध कथन का मनुस्मृति पर आरोप करते हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि वह परमेश्वर नहीं था। इन्द्र आदि देव राजा के शरीर में किस प्रकार स्वाभाविक रूप में हैं इसका उल्लेख अन्यत्र किया गया है। ये देवगण स्वयं स्वतंत्र नहीं हैं। पहिले जायसवाल जी यह कल्पना कर लेते हैं कि मनुस्मृति ने ब्राह्मणों का अनुचित पक्षपात किया है और तब इसका कारण पुष्यमित्र ब्राह्मण को मानते हैं। परन्तु उनकी यह कल्पना ही ग्राह्य कोटि में नहीं आती है। ब्राह्मणों की महत्ता का वर्णन यदि मनुस्मृतिकार का नया आविष्कार होता तो यह आरोप कुछ उचित भी समझा जाता। ब्राह्मणों की महत्ता की उद्‌घोषणा बुद्ध के समय से बहुत पूर्व ही हो चुकी थी। मनुस्मृति का आधार वेद है यह उसकी स्वयं घोषणा है तथा उसके परवर्ती धर्मशास्त्र के आचार्यों ने भी उसका अनुमोदन किया है। वेदों में पुरुषसूक्त में ब्राह्मण को विराट् पुरुष का मुख स्थानीय मान कर मुख्य (मुख्य शब्द का मूल मुख) माना गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसके उल्लेख अनेक स्थलों में है। सूत्र (धर्म) ग्रन्थों में भी है। वर्णाश्रम व्यवस्था जिन लोगों ने मानी है उन सब की दृष्टि से ब्राह्मण मुख माना गया है। जायसवाल जी ने जिन कौटिल्य को सर्वथा धर्म-निरपेक्ष माना है वे भी वर्णाश्रम व्यवस्था के पक्षपाती थे ?[1] ब्राह्मण प्रशंसापरक विचारों में ऐसी मौलिकता नहीं है कि उसे

---

१. Aiyangar—p. 8.

It will be seen that the description of Kautilya as a seculiarist is incorrect. This evidence is but negative. Positive evidence will consist of proof of his orthodoxy. Kautilya is confirmed believer in the traditional System of Varna and Ashrama. He npholds it and

पुष्यमित्र का समर्थक समझा जा सके। मनु ने ब्राह्मणों की इतनी अधिक प्रशंसा की है, उन्हें सर्वोच्च माना है, उन्हें राजदण्ड की सीमा से बाहर रखा है। जहाँ उन्हें सेनापति होने, दंड नेतृत्व करने तथा सर्व लोकाधिपत्य[1] के अधिकारी होने की घोषणा की है वहीं उन्हें सेवा की वृत्ति से विमुख रहने आ आदेश किया है। मनु के इस श्लोक का अर्थ जायसवाल जी ने यह लिखा है कि यह श्लोक पुष्यमित्र के लिए स्पष्ट रूप से लिखा गया है क्योंकि वे पहिले सेनापति थे तथा बाद में राजा हो गए। परन्तु इस श्लोक के पूर्व और पश्चात् के प्रकरण पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि इससे और पुष्यमित्र से कोई सम्बन्ध नहीं सिद्ध होता। वेद के विद्वान की प्रशंसा का प्रकरण चल रहा है और उसकी महत्ता प्रतिपादन करने का उद्देश्य है। वेदवित् का स्थान इतना उच्च है कि ब्रह्मत्व प्राप्ति (**ब्राह्मभूयाय कल्पते–१;–१०२**) तो होती ही है, सांसारिक यावन्मात्र पद भी उसके आगे तुच्छ है। पुष्यमित्र की प्रशंसा में ग्रन्थ निर्माण करना अभीष्ट होता तो स्पष्ट शब्दों में उल्लेख करने में उस समय क्या रुकावट थी। मनुस्मृति में सेवा श्व वृति है यह कर उसका परिहार कर दिया है। ब्राह्मणों के लिए विशेष अधिकार लेने की इच्छा होती, धनी बनने की अभिलाषा होती तो उस समय राज्याश्रय के कारण ब्राह्मण को सांसारिक सब प्रकार की सुविधा सरल हो सकती थी। धन संचय और वैभव की ओर दृष्टिपात करने की अपेक्षा मनुस्मृति ने त्याग का ही उपदेश किया है। ब्राह्मण के लिए ज्ञान रूपी तप को ही श्रेयस्कर माना है।[2] धन संग्रह के तारतम्य से ब्राह्मण को चार भागों विभक्त किया गया है—(१) जिनके पास कुटुम्ब

---

declares that the world goes right only when the king does his duty and upholds it.

The king is the appointed guardian of the system (III—I) and attains heaven when he rules according to Dharma (p. 165). Improper miscegenation (Pratilomya) is the effect of regal failure to maintain Dharma. His attitude to Varnasankara is identical with that of Manu (VII–172) who promises heaven to the ruler who prevents it.

१. मनु० सेनापत्यं च राज्यं दंडनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १२।१००

२. मनु० ११–२३५

पोषण के लिए धान्य का संग्रह तीन वर्ष के लिए पर्याप्त हो, (२) जिनके पास एक वर्ष के लिए हो, (३) जिनके पास तीन दिन के लिए और (४) जिनके पास दूसरे दिन के लिए भी प्रवन्ध न हो अर्थात् अश्वस्तनिक हों। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि जैसे आजकल योग्यता और महत्ता का मापदंड धन का आधिक्य माना जाता है वैसा मनु ने ब्राह्मणों के लिए नहीं माना है। इनमें उत्तरोत्तर को महत्व दिया है अर्थात् जिसके पास दूसरे दिन के भोजन के लिए अन्न न हो जो अश्वस्तनिक हो वह सबसे श्रेष्ठ माना गया है।[१] प्रजा की रक्षा का भार ब्राह्मण पर नहीं छोड़ा गया है यह कार्य क्षत्रिय के लिए ही सुरक्षित है।[२] गुरुतल्प के अपराध का प्रायश्चित दिया गया है कि लोहे की प्रज्वलित संतप्त जिसमें से ज्वाला निकल रही हो ऐसी स्त्री की प्रतिकृति का आलिंगन करके प्राण त्याग कर दे तब इस प्रकार की मृत्यु से शुद्धि मानी गई है।[३] ब्राह्मण सम्मान से दूर रहे उससे घबराता रहे जैसे वह विष हो तथा अमृत के समान अपमान की आकांक्षा करे।[४] ब्राह्मण की जीविका चलाने के लिए मनु ने तीन साधन बताए हैं उनमें एक प्रतिग्रह–दान लेना है। वहाँ भी यह विवेक किया गया है कि यह प्रतिग्रह किस प्रकार के व्यक्तियों से लिया जाय। उन निषिद्ध प्रतिग्रहों के सम्बन्ध में यह स्पष्ट लेख है कि ब्राह्मण उस राजा से प्रतिग्रह न ले जो क्षत्रिय की सन्तान न हो।[५] इतना ही नहीं। इसी प्रकरण में इस प्रकार के प्रतिग्रह को भयावह बताया है[६]। जायसवाल जी के आधार पर ही पुष्यमित्र, उनके वंशज अक्षत्रिय राजा थे; ब्राह्मण थे। अतः उनका प्रतिग्रह सर्वथा निन्दित था। उनका वेतन भोगी राज पंडित अपने ग्रन्थ में इन बातों के लिखने का कहाँ तक साहस कर सकेगा यह विचारणीय है। इन्हीं सब बातों पर विचार करके श्रीयुत् वरदाचार्य ने यह कहा है कि मनुस्मृति सुंग राज्य के समय में लिखी गई थी इसमें सब विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है।[७]

---

१. मनु० ४–७
२. मनु० ७–२
३. मनु० ११–१०४
४. मनु० २–१६२
५. मनु० ४–८४
६. मनु० ४–८४
७. Further in respect of the present text of the Manusmriti, scholars are not, by any means, agreed that it belongs to the period of the Sunga Kings. The

मनु और कौटिल्य—जायसवाल जी कौटिल्य के अर्थशास्त्र को चन्द्रगुप्त मौर्य के समय का मानते हैं। डा० जाली ने उसे ईसवी चौथी शताब्दी का बताया है परन्तु जायसवालजी ने युक्ति और प्रमाणता से जाली के मत का खंडन कर दिया है। अब अन्य विद्वान् भी कौटिल्य और चन्द्रगुप्त मौर्य के समकालीन होने का मत मानने लगे हैं। जायसवाल जी यह भी सिद्ध करने का प्रयास करते हैं कि मनुस्मृति का समय कौटिल्य के लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद स्थिर होता है। कौटिल्य का बहुत बड़ा तथा तत्कालीन प्रभाव मनुस्मृति पर झलकता है। मानव धर्मशास्त्र अनेक स्थलों में कौटिल्य के विरुद्ध मत का प्रतिपादन करता है जब कि याज्ञवल्क्य कौटिल्य के अर्थशास्त्र से बहुत सा विषय ज्यों का त्यों उद्धृत करते हैं। वे यह भी लिखते हैं कि कौटिल्य का अर्थशास्त्र संसार के प्राचीनतम कोडों में से है और उनमें वह अधिकांश की अपेक्षा अत्यधिक परिमार्जित है।[१]

इस मत का कितना महत्व है यह आगे के विवेचन से स्पष्ट होगा। श्रीयुत वरदाचार्य जी जायसवाल जी के मत का खंडन करते हुए लिखते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं कि मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में किसी विषय में वास्तविक मतभेद है पर यह जायसवाल जी के मत को पुष्ट करने के लिए पर्याप्त नहीं है। अर्थशास्त्र ने ही जहाँ-तहाँ मानव धर्मशास्त्र के मत का उल्लेख किया है और उसका विरोध किया है। इससे स्वभावतः यह ध्वनि निकलती है कि मानव धर्मशास्त्र कौटिल्य से पूर्व का

---

so called Brahmin ascendancy (if any) did not begin with the advent of the Sunga Kings.—S. Varadacharya, Hindi Judicial System; Page 41.

१. It (Kautilya) precedes the Manava Dharmashastra by about a century and a half and there are clear traces of its great and immediate influence on the Manava Code. The latter combats the former's view in many places while Yajanvalkya borrows bodily from the Arthashastra. The "Dharmasthiyam" in Artha-shastra is a unique code in legal history. It is one of the earliest Codes of law in the world and in quality it is far superior to most of the early codes.—Jayswal.

२. There are, no doubt material differences on some

भी हो सकता है। श्रीयुत आयंगर इससे अधिक स्पष्ट हैं। इनका मत यह है कि मनुस्मृति और अर्थशास्त्र में मतैक्य ही अधिकतर पाया जाता है। अर्थशास्त्र ने अधिकांश में मनु के मत को ही प्रमाणित किया है। छोटी-छोटी बातों में जहां कहीं मतभेद है वह व्यावहारिक दृष्टि से है और नगण्य है।[1] जायसवाल जी का यह प्रबल आक्षेप है कि मनु ने ही ब्राह्मणों की अनुचित महत्ता दिखाई है और वह ब्राह्मण राज्य में ब्राह्मणों के आधिपत्य में लिखी गई थी। परन्तु ब्राह्मणों का महत्व प्राचीनकाल से अविच्छिन्न रूप से चला आ रहा था। जिन कौटिल्य को जायसवाल जी धर्म निरपेक्ष मानते हैं उन्होंने भी वर्णाश्रम व्यवस्था का अनुमोदन किया है। अतः वर्णाश्रम व्यवस्था मानने के कारण ही ब्राह्मणों की महत्ता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इसके अतिरिक्त तथाकथित निरपेक्ष कौटिल्य में भी स्मृतियों के समान ही ब्राह्मणों के विशेषाधिकार का उल्लेख है, गो, देवता पूजन आदि के लिए भी विशेष व्यवस्था की गई है—**देवपितृपूजा दानार्थं गवार्थं वा परिहरेयुः।**[2]

ऐसे और भी अनेक उदाहरण हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि कौटिल्य का ग्रन्थ प्राचीन पद्धति के सर्वथा अनुकूल था। गौण नियमों में भेद अवश्य था परन्तु धर्म में उसमें भी नवीन मत की कोई छाप नहीं है। स्मृतियों के आधार पर तो उसका समन्वय हो ही जाता है मनुस्मृति के और उसके मत में भी बहुत कम अन्तर है। समानता ही अधिक है। अतः जायसवाल जी का यह कथन कट जाता है कि कौटिल्य का बहुत बड़ा निश्चित प्रभाव मनुस्मृति पर स्पष्ट दीखता है कि तथा मनुस्मृति अनेक स्थलों में कौटिल्य के मत का विरोध करती है। आयंगर महोदय ने जो तुलना की है उससे स्पष्ट हो जाता है कि मनु और कौटिल्य में मुख्य धर्म के सम्बन्ध में भेद नहीं है। भेद यदि है तो गौण नियमों के सम्बन्ध में है। वह भी भेद नहीं कहा जा सकता क्योंकि मनुस्मृति में गौण नियमों

---

points between the Manusmriti and the Arthashastra of Kautilya, but this, by itself, will not help to establish Mr. Jayaswal's proposition. The Arthashastra, itself, refers here and there to the views of the Manava School and indicates the author's dissent. Varadacharya : Hindu Judicial System, P. 42.

१. Aiyangar : Aspects of social and Political Systems in Manusmriti, Page, 173.

२. Aiyangar : Page 240.

का केवल संक्षिप्त विवेचन है और कौटिल्य में वह विस्तार के साथ लिखा गया है। तब प्रश्न यहाँ भी उठ सकता है कि मनुस्मृति पहिले लिखी गई अथवा कौटिल्य का अर्थशास्त्र पहिले लिखा गया। जायसवाल जी ने मनुस्मृति को सुंग शासन-काल की मान कर तर्क किया है। उनके अनुसार अवश्य ही कौटिल्य का ग्रन्थ पूर्व का ही हो सकता है। परन्तु सुंगकाल वाला मत यदि असिद्ध हो जाता है तो इन दोनों के पूर्वापर सम्बन्ध में नए तर्क आवश्यक होंगे। श्रीयुत् आयंगर ने अत्यन्त अकाट्य युक्ति और प्रमाणों से यह सिद्ध किया है कि मनु और कौटिल्य में समानता अधिक है उसके आगे वे यह तर्क करते हैं कि यदि हम व्यूलर का यह मत मान लें कि मनुस्मृति से उस समय की स्थिति ज्ञात होती है जब कानून का नियमित विवेचन केवल प्रारंभ ही हुआ था परन्तु विस्तार को प्राप्त न हुआ था तो यही तर्क मनुस्मृति को कौटिल्य से पूर्व की लिखी मानने में लग सकता है।[1] केवल व्यूलर ही नहीं अन्य विद्वान् भी इस सम्बन्ध में सहमत हैं कि मनु की अपेक्षा कौटिल्य का विवेचन अधिक विस्तृत तथा वैज्ञानिक है। ऐसी स्थिति में अवश्य ही कौटिल्य को बाद का माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त मनु ने कौटिल्य का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है परन्तु कौटिल्य ने एक नहीं अनेकों स्थलों में **"मानवाः"** कह कर मनु के मत का उल्लेख किया है। यदि मनु की स्थिति बाद की सिद्ध हो जाती तब तो मानवाः पद से मनुस्मृति से भिन्न ग्रन्थ की कल्पना उचित है। जब यह साध्य है सिद्ध हुआ नही है, उस दशा में मानवाः से मनुस्मृति ही क्यों न मानी जाय। कुछ भी हो यह सिद्ध हो ही जाता है कि यह विषय सरल और निस्संदिग्ध नहीं है जैसा मान लिया गया है और विद्वानों को अपना दृष्टिकोण बदल कर फिर से पूर्वापर सम्बन्ध की विवेचना करनी पड़ेगी।

सूत्र ग्रन्थ—जर्मन विद्वान् व्यूलर ने मनुस्मृति का आधार मानव गृह्यसूत्र को माना था परन्तु बाद में उन्होंने स्वयम् स्वीकार कर लिया कि उनका यह कथन संदिग्ध हो जाता है क्योंकि जिस ग्रन्थ के आधार होने की उन्होंने कल्पना की थी उसका आविष्कार हो जाने पर उसमें और वर्तमान मनुस्मृति में समानता नहीं है प्रत्युत परस्पर विरोध है। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। सूत्र ग्रन्थों की प्राचीनता सभी विद्वानों ने मानी है यद्यपि उनके पूर्वापर के सम्बन्ध में विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। उनके समय के

---

१. If we accept Buhlers' dictum that Manusmriti shows a period in which the systematic treatment of law had begun but had not advanced, the argument can be used for putting Manusmriti before Kautilya.

सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के भिन्न-भिन्न मत हैं। सूत्रग्रन्थों से तुलना करने पर वर्तमान मनुस्मृति अधिक स्पष्ट, सुलझी हुई तथा विशद है। इसमें जिन विषयों का विवेचन है उनमें से कुछ तो संक्षिप्त रूप से सूत्र ग्रन्थों में पाये जाते हैं परन्तु सृष्टि प्रकरण आदि अनेक विषय मनुस्मृति में ऐसे हैं जिनकी चर्चा सूत्र ग्रन्थों में नहीं है। इन सब बातों को देख कर विद्वानों ने (अर्वाचीन) यह निर्धारित किया कि सूत्र ग्रन्थों की रचना के बहुत बाद मनुस्मृति की रचना हुई। श्रीयुत् आयंगर महोदय इससे सहमत नहीं है।[1] अतः सूत्र ग्रन्थों के सम्बन्ध में इन्होंने गंभीर गवेषणा की है। उनका मत है यह कि सूत्रों के विषय विवेचन में जो न्यूनता दिखाई देती है उसका कारण यह नहीं है कि उन सूत्रकारो के सम्प्रदाय में उनमें वर्णित विषयों के अतिरिक्त विषयों का ज्ञान न था। ये सूत्र प्रत्येक स्कूल के पाठ्यक्रम के सिलेबस के रूप में थे और उनके स्कूल में जिन विषयों पर विशेष महत्व देना रहता था उनका सन्निवेश सूत्रों में कर दिया गया था जो अध्यापक के लिए तो उपयोगी थे ही, छात्र लोग भी उन्हें सरलता से कण्ठ कर लेते थे। अतः उनके पथ-प्रदर्शन में भी सहायता मिलती थी। इनसे अतिरिक्त अनेक अवान्तर विषय जिनका ज्ञान आवश्यक था सूत्रों के व्याख्यान के सम्बन्ध में मौखिक रूप से बताए जाते थे। उनका ज्ञान इस प्रकार एक देशीय (?) न था। उस परिपाटी में एक छात्र अनेकों स्कूलों में भटकता नहीं फिरता था। उसी एक स्कूल में उसकी सम्पूर्ण शिक्षा-दीक्षा का प्रबन्ध था। वहीं का पाठ्क्रम समाप्त करके कृतविद्य होकर वह छात्र स्नातक होता था और गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने का अधिकारी होता था। रघुवंश काव्य में वर्णन मिलता है कि वरतन्त के शिष्य कौत्स ने उनसे चतुर्दश विद्यायों का अध्ययन किया था। वहाँ की शिक्षा समाप्ति के बाद ही वह रघु के समान प्रतापी राजा का सम्मान-भाजन बन सका। इस अवनति के समय में भी जिन्हें प्राचीन गुरुओं के चरणों में अध्ययन करने का अथवा वहाँ का अध्ययन-अध्यापन देखने का भी अवसर प्राप्त हुआ है वे जानते हैं कि केवल काव्य के अध्यय। के द्वारा कोष, व्याकरण, छन्द साहित्य के लक्षणग्रन्थ, धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र ज्योतिषशास्त्र आदि में पारगमिता करा दी जाती थी। कहने के लिए केवल काव्य ग्रन्थ का पाठ था परन्तु इन विषयों के यथावत् ज्ञान के बिना काव्य का मर्म ही हृदयंगम नहीं हो सकता था। इसी प्रकार ये सूत्र केवल पाठ्यक्रम के द्योतक थे इससे यह अर्थ निकालना कि यहीं तक उनका पठन-पाठन सीमित था भूल है। ये ग्रन्थ इसी उद्देश्य से लिखे भी गए थे और उनकी संक्षिप्तता ही उनका यथार्थ गुण था।

श्रीयुत् आयंगर स्पष्ट करते हैं कि धर्मसूत्रों में केवल उस थोड़े से अंश का वर्णन

---

१. Aiyangar : pp. 16–23.

है जो ब्रह्मचारी की शिक्षा के अंग थे। शेष कल्प, साधारण ज्ञान की बातें तथा धार्मिक या आध्यात्मिक विषय मौखिक रूप से पढ़ाए जाते थे। इन बातों का ज्ञान तो मौखिक था। इन धार्मिक और आध्यात्मिक ज्ञान के बिना समाज में अशुद्धता तथा नास्तिकता का भय था। इसी से बचाने के लिए मनु ने, जिससे श्रद्धा और विश्वास में व्याघात न हो, हेतु-शास्त्र (यहाँ कुतर्क से अभिप्राय है) का आश्रय लेने वाले की निन्दा की है—
"योऽवमन्येत ते मूले हेतुशास्त्राश्रयाद् द्विजः। स साधुभिर्बहिष्कार्यो नास्तिको वेदनिंदकः"
इसे देखकर कुछ लोगों ने यह आक्षेप किया है कि मनु हेतु शास्त्र के विरोधी थे और केवल अंधपरम्परा के पक्षपाती थे। परन्तु वे यह भूल जाते हैं कि इन्हीं मनु ने परिषद् में हेतुशास्त्र को स्थान दिया है (१२–३), न्यायशास्त्र के प्रत्यक्षादि प्रमाणों को भी माना है (१२–१०५)। सूत्र मनुष्य रचित पाठ्य ग्रन्थ थे। परन्तु मनु का दावा है कि उनका ग्रन्थ ईश्वरीय प्रमाण पर आधारित है अतः उसकी नींव धार्मिक तथा आध्यात्मिक है। सूत्रकारों का क्षेत्र उनके छात्रों तक सीमित था और अतः वे अपने मौखिक उपदेशों के द्वारा कमी को पूरी कर सकते थे, परन्तु मनुस्मृति का क्षेत्र विस्तृत था। वह सर्व-साधारण के लिए थी और उन लोगों के लिए भी उपयोगी थी जिन्हें किसी अध्यापक का सहारा प्राप्त न हो। अतः उसमें विस्तृत रूप से धार्मिक और आध्यात्मिक उपदेश होना सर्वथा समीचीन था। सर हेनरी मेन ने मनुस्मृति को पहिले कोड मान लिया और उस पर यह दोषारोपण किया कि कानून के साथ धर्म को मिलाकर मनु ने अनुचित किया परन्तु बाद में जब वे इसकी शैली से परिचित हुए तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अपनी भूल मान ली और यह लिखा कि मनुस्मृति के सदृश प्राचीन ग्रन्थ श्रद्धालुओं के पथ-प्रदर्शन के लिए लिखे गए हैं जिसमें उन्हें जन्म से लेकर मरण पर्यन्त—जीवन भर के लिए—पूरे उपदेश मिल सकें। श्रीयुत् वरदाचार्य ने इसका उल्लेख किया है।[1] सर हेनरी मेन ने भारतीय धर्मशास्त्रों को

---

१. Sir Henry Maine chose to describe the Manusmriti as a 'Code of Law' and then criticized it for Mixing law and religion. Later (in Early Law custom) he himself recognised the mistake and observed that the Manusmriti must have been compared to Levitieus.' These Ancient books, he said, are intended to guide the faithful from birth to death and give him full direction for living. Varadacharya : Page 29—In Ancient Law.

सर्वदा द्वेष दृष्टि से देखा है; इन ग्रन्थों की वास्तविक महत्ता को सहानुभूति से समझने के लिए उन्होंने कभी चेष्टा नहीं की। उनका गंभीर अध्ययन केवल कड़वी आलोचना के लिए था जैसा कि वरदाचार्य ने उदाहरण के रूप में उद्धृत किया है।[1] ऐसी दशा में मेन का उपरिलिखित उद्‌गार मनुस्मृति के पक्ष में महत्व नहीं रखता। सूत्र ग्रन्थों के तथा मनुस्मृति के उद्देश्यों में भिन्नता थी अतः दोनों वर्ग के विषय विभाग में उनकी विवेचन शैली में विषय सन्निवेश आदि का वैषम्य होना सर्वथा स्वाभाविक है।

आयंगर महोदय लिखते हैं कि संहिता ग्रन्थों में सूत्र ग्रन्थों की अपेक्षा जो पूर्णता दिखाई देती है उसका यह मतलब नहीं है कि संहिता ग्रन्थों में उन नए विषयों को महत्व दिया गया है जो मौखिक शिक्षा देने वाले आचार्यों को अथवा गृह्यसूत्रों को अज्ञात थे। श्लोकबद्ध संहिताओं में भी परस्पर अन्तर मिलता है। किसी में एक विषय को अधिक स्थान दिया गया है उसका विशेष रूप से विवेचन किया गया है किसी में दूसरे विषय का विशेष प्रतिपादन है; क्योंकि बाद में ये ग्रन्थ भी मौखिक उपदेश के रूप में एक दूसरे की कमी को पूरी करते हैं और फिर बाद में उन्हीं मौखिक उपदेशों के द्वारा उन पर भाष्यों का निर्माण होता है। अन्यान्य सूत्र ग्रन्थों के विषय में भाष्य इस समय भी उपलब्ध होते हैं। धर्म ग्रन्थों पर यद्यपि भाष्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हो रहे हैं तथापि यह अनुमान करना असंगत न होगा कि इन पर भी भाष्य ग्रन्थों का निर्माण अवश्य हुआ होगा। कालक्रम में तथा विदेशी आक्रमणों के कारण भारत के ग्रन्थों का किस निर्दयता से नाश किया गया है इसका यहाँ उल्लेख अनावश्यक है। जो विषय मौखिक रूप से उपदेशों के द्वारा प्राप्त होते थे उनका सन्निवेश करके नए ग्रन्थ की रचना होती थी और उससे पूर्व के ग्रन्थ से इसी में नए ग्रन्थ की विशेषता मानी जाती थी। प्राचीन ग्रन्थ में जिस विषय की कमी प्रतीत होती थी उसका विषय का--मौखिक उपदेश--सम्मिलित करना ही नए ग्रन्थ का कार्य था। वह नई बात अपनी बुद्धि से निकाल कर नहीं रखता था। संहिताओं में ही मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य में योग का विषय अधिक विस्तारपूर्वक वर्णित है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनु का योग विषयक ज्ञान अधूरा था।

---

१. The following observation of Sir Henry Maine is much too biased to be accepted as correct. He says the impression left on my mind by the study of these books is that a more awful tyranny never existed than this which proceeded from the union of physical and intellectual and spiritual ascendancy. Ibid, Page 20.

यह धारणा आजकल प्रचलित हो रही है कि समयानुसार कानूनी विचार विस्तार को प्राप्त होते रहते हैं। अतः तदनुसार उनमें उत्तरोत्तर, लक्षण, विषय विभाग, विस्तार आदि देखे जाते हैं उदाहरणार्थ, मनुस्मृति और विष्णुस्मृति की अपेक्षा बृहस्पति, नारद और कात्यायन में कानूनी विषय विशेष विस्तार से वर्णित हैं। परन्तु इसका अधिक स्वाभाविक समाधान यह है कि बाद की स्मृति में जो नए विषय आते हैं वे लेखक के अनुभव अथवा स्फूर्ति के परिणाम नहीं हैं परन्तु उनसे पूर्व के समय में धर्म के अनुसार जो विचारधारा परम्परा से प्रचलित हो रही थी उसे सम्मिलित करके नए ग्रन्थ में प्राचीन ग्रन्थ की त्रुटिपूर्ति की जाती थी। कौटिल्य और उनके बहुत बाद के लेखक याज्ञवल्क्य के ग्रन्थों की तुलना करने से यह पता लगाना कठिन पड़ेगा कि कानूनी और नैतिक विचारों के विकास में समय के कारण कोई अन्तर पड़ सकता है। सिविल लॉ (दीवानी कानून) का वर्णन कात्यायन में नारद की अपेक्षा अधिक निश्चित है; तथा संभवतः याज्ञवल्क्य की अपेक्षा भी। इस बात को देखने से यह निर्णय हो सकता है कि कात्यायन का समय नारद के बाद है परन्तु आयंगर ने सप्रमाण यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि बृहस्पति और कात्यायन नारद से पूर्ववर्ती थे।

ऐतिहासिक लेखक, जो किसी विशेष समय की सामाजिक परिस्थिति की कल्पना करते हैं वे उन स्मतियों के निर्माण के आधार पर करते हैं जिन्हें वे अनुमान से उस समय की बनी हुई मान लेते हैं। साथ ही वे यह भी मान लेते हैं कि उस ग्रन्थ में जो विचार मिलते हैं वे लेखक के व्यक्तिगत हैं। परन्तु वे यह ध्यान नहीं देते कि वे विचार व्यक्तिगत नहीं है बलिक वे उन सिद्धान्तों के परिणाम स्वरूप हैं, उसके प्रभाव से हैं जो सदियों के अध्ययन तथा धर्मशास्त्र के अनुसार आचरण करने से परम्परा से चले आ रहे हैं। धर्मशास्त्र के सभी ग्रन्थों का मूल सिद्धान्त समन्वय है, विरोध नहीं है। यह केवल कानूनी कल्पना नहीं है यह वे भूल जाते हैं।

इस प्रकार सूत्र ग्रन्थों में समन्वय दिखाने का आयंगर महोदय का प्रयास स्तुत्य है। इससे यह भी ध्वनि निकल सकती है कि मनुसंहिता में वर्णित विषयों की विस्तृत विवेचना होने के कारण यह सिद्धान्त निकालना असंगत है कि मनुस्मति का निर्माण सूत्र ग्रन्थों के बाद हुआ। इनमें पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित करने के लिए कोई आधार नहीं है। सूत्र ग्रन्थों में भी यत्र-तत्र श्लोक ही मिलते हैं फिर भी यदि मनुस्मृति सम्पूर्ण ही पद्यबद्ध लिखी गई होती इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सूत्र ग्रन्थों से पूर्व भी पद्य ग्रन्थ की रचना की परम्परा चली आती है। ऋग्वेद तो समस्त पद्यबद्ध है ही। यजुर्वेद में तथा ब्राह्मणों में भी पद्यों का सन्निदेश मिलता है। अनेक प्रामाणिक उपनिषदों में पद्यों का सन्निवेश है। अतः पद्य में लिखी जाने के कारण मनुस्मृति को अर्वाचीन कहने का कोई कारण नहीं है। सूत्र

ग्रन्थों में कण्ठ करने की सुविधा के लिए संक्षिप्त में सूत्र रूप का आश्रय लिया गया है। कुछ लोग यह भी अर्थ निकालते हैं कि प्राचीन समय में भारतीय आर्य लेखन कला से अनभिज्ञ थे अतः परम्परया सुनकर स्मरण रखते थे इसी से वेदों को श्रुति कहा गया है। सूत्र काल में भी लेखन कला अज्ञात थी। परन्तु ये सब निराधार है। यहाँ उसका उल्लेख अप्रासंगिक है। अनेक भारतीय विद्वानों ने सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि वैदिक काल में भी लेखन कला का पूर्ण ज्ञान था। सूत्रों के संक्षिप्त होने का कारण लेखन कला की अनभिज्ञता नहीं है। जैसा आयंगर महोदय ने प्रतिपादन किया है उसका कारण दूसरा ही था। इस तरह मनुस्मृति और सूत्र ग्रन्थों में परस्पर पूर्वापर सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता यह भी संभव हो सकता है कि वर्तमान मनुस्मृति का निर्माण इस समय उपलब्ध सूत्रग्रन्थों से पूर्व का ही अथवा इनमें से किसी का समकालिक हो। यह तो वर्तमान मनुस्मृति के स्वरूप के सम्बन्ध में है परन्तु उसमें उल्लिखित जो विचारधाराएं हैं वे परम्परा से चली आ रही हैं इसमें संदेह नहीं है। यह भी असंभव नहीं कहा जा सकता कि जैसा मनुस्मृति का दावा है, यह परम्परा आदि पुरुष स्वयंभू तक पहुँच जाय। जो हो, इसके अत्यन्त प्राचीन होने में तो संदेह नहीं है। इस बात को लक्ष्य में रख कर श्रीयुत आयंगर महोदय ने उसकी प्राचीनता सिद्ध करने के लिए इतना प्रयास किया है। परन्तु वर्तमान मनुस्मृति में कुछ अर्वाचीन बातों का सन्निवेश उन्हें खटकता है। अतः वे उन बातों को प्रक्षिप्त मानने को तैयार हैं। आगे हम यह दिखाने का प्रयत्न करेंगे कि इन अंशों को प्रक्षिप्त मानना आवश्यक नहीं है और जिन बातों का इसमें सन्निवेश है वे प्राचीन परम्परा के अनुरूप है। वैसे आयंगर महोदय ने एक स्थल में भी यह लिखा है कि सर्वज्ञ होने की प्रतिज्ञा के अनुसार मनु का भविष्य की बातों का उल्लेख असंगत नहीं माना जा सकता।

अथवा "**धाता यथापूर्वमकल्पयत्**" (विधाता ने पूर्व के अनुसार ही नई सृष्टि की रचना की) इस वैदिक सिद्धान्त के अनुसार पूर्व परम्परा को देख कर तदनुसार ही आगे की घटनाएं होंगी इस आधार पर मनु का भविष्य वर्णन सही हो सकता है। परन्तु इस सर्वज्ञता के सिद्धान्त से आधुनिक युक्तिवादी समालोचक को संतोष होना संभव नहीं है। ऐसा समझ कर ही आयंगर महोदय उन अंशों को प्रक्षिप्त मानने को तैयार हो गए और अन्त में यह लिख दिया कि यदि प्रक्षिप्त मानने में आपत्ति हो तो कम से कम दो हजार वर्ष से तो (जैसा कि ब्यूलर, काने, जायसवाल प्रभृति ने पूर्वीय सीमा द्वितीय शताब्दी पूर्व मानी है) यह मनुस्मृति अविछिन्न इसी रूप में चली आ रही है।[1]

ब्यूलर तथा काने महोदय वर्तमान मनुस्मृति के समय के सम्बन्ध में

---

१. Aiyangar–P. 58.

अधिक से अधिक द्वितीय शताब्दी ईसा से पूर्व मानते हैं। ब्यूलर ने २०० ई० पू० से लेकर २०० ई० पश्चात् तक का लगभग चार सौ वर्ष का समय माना है कि इसी के बीच में किसी समय मनुस्मृति का वर्तमान रूप स्थिर हुआ। काने महोदय ने भी इस अवधि का अनुमोदन दिया है। श्रीयुत् आयंगर महोदय ने इसे और अधिक पूर्व माना है। यह भी उन्होंने उल्लेख किया है कि मेकस डंकर साहब ने ६०० ई० पू० के अव्यवहित पश्चात का ही समय माना है और यह उपपत्ति दी है कि मनुस्मृति में दक्षिण हिन्दुस्तान का कोई उल्लेख नहीं है यद्यपि ५०० ई० पू० ही वह हिन्दुस्तान के द्वारा ले लिया गया था। शिव आदि पौराणिक देवों की उपासना का इसमें कोई उल्लेख नहीं है (यद्यपि इनका उल्लेख प्रारंभिक बौद्ध साहित्य में आ गया है)। षड्दर्शन का अपूर्ण ज्ञान है तथा महाभारत और रामायण वीरकाव्यों के किसी नायक का नाम नहीं है।[1]

यहाँ पर एक और भारतीय विद्वान् के मत का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा। श्रीयुत भगवददत्त जी बार्हस्पत्य अर्थसूत्र की भूमिका में लिखते हैं कि धम्मपद लगभग चौथी शताब्दी ई० पू० में लिखा गया था उसमें दो श्लोक थोड़े से परिवर्तन के साथ मनुस्मृति के श्लोकों के अनुसार ही हैं।[2]

वे लिखते हैं कि श्रीयुत डी० आर० भण्डारकर ने अपने व्याख्यान में कौटिल्य के दो श्लोकों को मनुस्मृति के दो श्लोकों से मिलान किया है।[3] उनका कथन है कि प्रोफेसर

---

१. Aiyangar. P. 59.

२. Barhaspatya Sutras, Edited by Dr. F. W. Thomas, The Devanagari Text prepared from his Edition (in Roman Script), 1921. Intro. P.5

मनुस्मृति	धम्मपद
अभिवादन शीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः।	अभिवादसीलस्य निच्चं वदाढ्यायिनो
चत्वारि तस्य वर्धन्त आयुर्विद्या यशोबलम्।।	चत्तारो धम्मा वड्ढन्ति आयु वर्णो
२–१२१	सुखं बलं ।।८।
न तेन वृद्धो भवति येनास्य पलितं शिरः।	न तेन थेरो हेति येन स्स फलितं सिरो
यो वे युवाप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः।।	परिपक्को वयोजस्स मोघं जिण्णोति
२–१५६	वुच्चति ।। १७।५

३.

मनुस्मृति	कौटिल्य
नास्य च्छिद्रं परो विद्याद्विद्याच्छिद्रं परस्यतु।	नास्य गुहयं परे विद्युच्छिद्रं विद्यात्परस्य चः
गूहेत्कूर्म इवांगानि रक्षेद् विवरमात्मनः ।।	गूहेत् कूर्म इवांगानि यत्स्याद्विवृतमात्मनः ।।
७–१०५	पृ० २९

भण्डारकर ने ब्यूलर का अनुकरण करते हुए यह कहा है कि कौटिल्य के ये श्लोक उनकी रचना न थे। परन्तु उनसे पूर्व प्रचलित मनु के थे और वे वर्तमान मनु में भी बाद में जोड़ दिए गए हैं। श्री भगवद्दत्त जी कहते हैं कि मनुस्मृति को बाद की सिद्ध करने के लिए यह केवल अनुचित पक्षपात है। पहिले यह सिद्धान्त स्थिर कर लिया जाता है कि मनुस्मृति बहुत बाद में लिखी गई थी और जब उसके प्राचीन काल के होने का प्रमाण मिलता है तब यह कह दिया जाता है कि वह (प्राचीन प्रमाण) दोनों (मनु और कौटिल्य) का समान आधार था। परन्तु यह निर्णय हृदयंगम नहीं है।[1]

श्रीयुत् भगवद्दत्त जी वाल्मीकि रामायण से उद्धरण देते हुए यह सिद्ध करते

सवंत्सरेण पतति पतितेन सहाचरन्। संवत्सरेण पतति पतितेन समाचरन्।।
याजनाध्यापनाद्यौनान्न तु यानासनाशनात्। याजनाध्यापनाद्योनात्तेश्चान्योपि समाचरन्।।
११–८० पृ० ३१९

१. Here professor D. R. Bhandarkar following the lead of Buhler arrives at the result that the verses (above quoted) were not composed by Kautilya but were utilized by him from some work which was in existence long before he wrote or the (metrical) Manusmriti was compiled. This is nothing but a prejudice in order to bring down the date of Manusmriti. First a theory is started, Manusmriti is accepted to belong to a later date-and then if any work anterior to the date is found containing the verses of Manusmriti (although not mentioning this fact but still indicating that the verses are not his own) it is said that the work in question and the Manusmriti both utilised a material of very old period. Both this assumption and conclusion do not seem to be convincing. Introduction to Barhaspatya Arthashastra. P. 6.

हैं कि मनु के दो श्लोक रामायण में ज्यों के त्यों पाए जाते हैं जिससे यह परिणाम निकलता है कि मनु का वर्तमान स्वरूप जो पद्यबद्ध है वही पहिले भी था।[1]
इस सबसे यह निष्कर्ष निकलता है :—

(१) वर्तमान मनुस्मृति का स्वरूप ई० द्वितीय शताब्दी पूर्व तक का हो सकता है इसे अब प्रायः सभी विशिष्ट विद्वानों ने मान लिया है। ब्यूलर तथा काने भी इस सीमा को मानते हैं परन्तु वे यह भी उल्लेख करते हैं कि उसके बाद की हद* सीमा ई० सन् के प्रारम्भ तक जा सकती है।

(२) श्रीयुत् जायसवाल जी ने यह सिद्ध कर दिया है कि उसकी सीमा ईसवी सन् से पूर्व ही है।

(३) श्रीयुत् जायसवाल जी ने उसे पुष्यमित्र आदि सुंगवंशीय राजाओं के काल में सिद्ध किया है परन्तु इस मत का सप्रमाण खण्डन कर दिया गया है।

---

१. Bhagawaddatta—Introduction of Barhaspatya Arthashastra pp-6-7.

Last of all we may refer to two verses, to be found in the 18th Sarga of Valmiki Ramayana. where the author of that work explicitly says that the following Shlokas were sung by Manu :

श्रूयते मनुना गीतौ श्लोकौ चारित्रवत्सले ।
गृहीतो धर्मकुशलैस्तत्तथा चरितं हवे ॥३१॥
राजभिधृतदंडास्तु कृत्वा पापानि मानवाः ॥
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा ॥३२॥
शासनाद्वा विमोक्षाद्वा स्तेनः स्तेयाद् विमुच्यते ॥
राजा त्वशासनादस्य तदवाप्नोति किल्बिषम् ॥३३॥

The verse 32nd is Manusmriti VIII—38 and verse 33rd is Manu VIII-316.

It may, therefore, after this brief discussion, be safely concluded that the original Smriti of Manu was like the present one composed in verse.

Note : VIII-38 seems to be misprint as referred to above by Bhagwaddatta. It should be VIII-318.

(४) श्रीयुत् आयंगर जी उसे कौटिल्य से पूर्व की सिद्ध करते हैं परन्तु यह लिखते हैं कि कम से कम द्वितीय ईसवी शताब्दी से पूर्व की होना निर्विवाद है।

(५) श्रीयुत् भगवद्दत्त जी ने निश्चित तिथि नहीं दी है परन्तु वे उसे कौटिल्य से तथा धम्मपद से पूर्व की मानते हैं। धम्मपद की रचना वे लगभग चौथी शताब्दी ई० पू० मानते हैं। अतः इनके मत से मनुस्मृति का समय उससे भी पूर्व का सिद्ध होता है।

(६) श्रीयुत् मेक्स डंकर ने प्रमाण सहित सिद्ध किया है कि वह ६०० ई० पू० के लगभग लिखी गई थी।

(७) श्रीयुत् आयंगर जी ने सप्रमाण यह सिद्ध कर दिया है कि मनुस्मृति तथा धर्म-सूत्रों में पूर्व और पश्चात् होने का प्रश्न नहीं उठता। सूत्र ग्रन्थों में जहाँ किसी विषय का संक्षिप्त वर्णन मिलता है उसका यह अर्थ नहीं है कि वे ग्रन्थ पूर्व में ही लिखे गए थे। सूत्रकारों को धर्मशास्त्रों का सर्वांगीण ज्ञान था जिसका उपदेश मौखिक किया जाता था। सूत्र ग्रन्थ सिलेबस की तरह विशेष बात पर जोर देकर तैयार किए गए थे परन्तु मनुस्मृति में वर्णित सिद्धान्तों का प्रचार उनके समय में भी था।

उपर्युक्त विचार विमर्श से मनुस्मृति की रचना काल के विषय में संदेह ही अधिक बढ़ता है उसका समाधान कम ही होता है। परन्तु ये तर्क (उपर्युक्त) अंतिम तर्क नहीं कहे जा सकते हैं; संभव है मनुस्मृति ६०० ई० के भी और बहुत पहिले की हो। इस नवीन शंका के समाधान के लिए नवीन तर्कों की आवश्यकता है।

महाभारत और बाल्मीकि रामायण, इन दोनों में मनुस्मृति के उद्धरण मिलते हैं, इस कारण मनुस्मृति की रचना इन दोनों ग्रन्थों से पूर्व की है यह उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है। महाभारत तथा रामायण की रचना काल पर भी विद्वानों का ऐकमत्य नहीं है तथापि यहाँ पर श्री मैकडानल के मत का उल्लेख सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। रामायण के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि रामायण में बुद्ध का उल्लेख केवल एक स्थल पर आया है; वह प्रत्यक्ष रूप से प्रक्षिप्त जान पड़ता है। अतः बौद्धमत के तारतम्य को देखते हुए रामायण के बौद्धकाल से पूर्व होने के अधिक प्रमाण मिलते हैं।[१] इसी प्रकार

---

१. The only mention of Buddha in the Ramayan occurs in a passage which is evidently interpolated. Hence the balance of the evidence in relation to Buddhism seems to favour the Pre-Buddhistic origin of Ramayan. Macdonnel, History of Sanskrit Literature. Page-307.

महाभारत के सम्बन्ध में वे लिखते हैं कि हम प्रायः यह मान सकते हैं कि हमारे वीरकाव्य का मूलरूप लगभग पाँचवीं सदी ई० पू० में आ चुका था। किसी रूप में सबसे प्राचीन साक्ष्य आश्वलायन गृह्यसूत्र में मिलता है जहाँ भारत तथा महाभारत का निर्देश है। इससे भी प्रायः पाँचवीं शताब्दी ई० पू० ही ज्ञात होता है ।[1]

मैकडानल महोदय ने अपने ग्रन्थ में उक्त निर्णय पर पहुँचने के लिए अनेक प्रमाण दिये हैं जिन्हें विस्तार भय से यहाँ उद्धृत करना संभव नहीं है। श्री जायसवाल जी ने भी महाभारत की रचना मनुस्मृति के बाद ही मानी है। इसी प्रकार श्री भगवद्दत्त जी ने मनुस्मृति की रचना रामायण से पूर्व मानी है। ऐसी स्थिति में अनायास ही मनुस्मृति की रचना काल ई० छठी या पाँचवीं शताब्दी पूर्व हो जाता है। यही मत मैक्सडंकर महोदय का मनुस्मृति की रचना का काल इससे भी पूर्व हो सकता है। मनुस्मृति ने यास्क का उल्लेख नहीं किया है परन्तु यास्क ने मनु का उल्लेख किया है। श्री काने महोदय के अनुसार यास्क का काल लगभग ८०० ई० पू० के है। भंडारकर महोदय के अनुसार ७५० ई० पू० तथा श्री आयंगर के अनुसार ६५० ई० पू० है। यास्क ने मनु का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। यास्क ने पुत्र के दाय ग्रहण के संबंध में **"मनुः स्वायंभुवेऽब्रवीत्"** कहकर मनु का स्पष्ट उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु के धर्मशास्त्र की स्थिति यास्क के पूर्व थी। **परन्तु प्रश्न यह होता है कि यास्क के पूर्व मनुस्मृति थी,** दोनों की विषय-प्रतिपादन शैली पर ध्यान देना आवश्यक है। यास्क ने वेदों के वैज्ञानिक विवेचन पर पर्याप्त प्रकाश डाला। बहुत से मंत्रों का वैज्ञानिक अर्थ भी उन्होंने दिया है। यास्क लिखते हैं कि ऋषि लोग साक्षात्कृत धर्मी थे अर्थात् उन्होंने पदार्थ के धर्मों का साक्षात्कार किया था, योग दृष्टि से उनका प्रत्यक्ष किया था। उन्होंने अवर (निम्नश्रेणी) लोगों को, जिन्होंने धर्मों का स्वयं साक्षात्कार नहीं किया था, उपदेश के द्वारा मंत्रों का सम्प्रदान किया। और भी आगे वाले उपदेश में भी ग्लानि का अनुभव करते हुए, खंडशः ग्रहण करने के लिए इन ग्रन्थों की–उनके व्याख्या विषयभूत निघंटु तथा वेद वेदांगों का संग्रह

---

१. We may, then perhaps assume that the original form of our epic came into being about the fifth century B. C. The oldest evidence in some shape or the other is to be found in as G. S. where a Bharat and Mahabharat are mentioned. This would also point to about fifth century B. C. Ibid. Page, 285.

किया।[१] यास्क के समय बहुत से वैदिक पारिभाषिक शब्द, प्रचार के ह्रास के कारण, व्याख्यागम्य हो गए थे। अतः उन पर व्याख्या ग्रन्थों की आवश्यकता हुई। परन्तु यास्क की शैली भी संक्षिप्त रूप से, संकेत से ही व्याख्या करने की थी। यास्क ही एक प्रकार से अन्तिम वैज्ञानिक विवेचक थे। मनुस्मृति के समय में वैदिक विज्ञान की परिभाषाओं का प्रचार यास्क के समय की अपेक्षा अधिक था। अतः मनुस्मृति में बहुत अधिक स्थल ऐसे हैं जो सिद्ध रूप से वैज्ञानिक अर्थ को प्रधानतः लक्ष्य करते हैं। यहाँ मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले वैदिक विज्ञान को सिद्धरूप में देने वाले कुछ उदाहरणों को देना अप्रसांगिक न होगा।

मनु १–८ में लिखते हैं कि स्वयंभू ने अपने शरीर से सबसे आदि में जल की सृष्टि की। मनु १–७५ से ७८ तक में जो महाभूतों का क्रम दिया गया है वहाँ आकाश उससे वायु, वायु से तेज और तेज से जल की सृष्टि की गई है। इन दो परस्पर विरोधी वाक्यों का समन्वय साधारण शब्दार्थ से नहीं होता। मनु० ३–२०१ में लिखते हैं कि ऋषियों से पितर उत्पन्न हुए, पितरों से देव और दानव हुए और फिर देवों से (देव और दानवों से) समस्त जगत् उत्पन्न हुआ।

मनु० १–२३ में लिखते हैं कि प्रजापति ने अग्नि, वायु और रवि से यज्ञ की सिद्धि के लिए सनातन त्रय ब्रह्म, यजुः और साम को दुहकर निकाला। यहाँ ये तीनों वेद किस प्रकार अग्नि आदि से निकाले गए यह व्याख्या गम्य है। मनु १२–९८ में मिलता है—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और पंचम गंध, ये प्रसूतिगुण के धर्म से वेद से ही उत्पन्न होते हैं। शब्दात्मक ग्रन्थ रूप इन वेदों से रूप, रस, गंध कैसे उत्पन्न होते हैं यह साधारण व्याख्या से समझ में नहीं आता। मनु० ११-२६६ में लिखते हैं आद्य (सर्व प्रथम) जो तीन अक्षर वाला ब्रह्म है, जिस पर वेदत्रयी प्रतिष्ठित है वह अन्य त्रिवृत् गुह्यवेद है जो उसे जानता है वह वेदवित है।[२]

इस प्रकार के और अन्य उदाहरण मनु में भरे पड़े हैं जिससे पता चलता है कि एक सर्वसाधारण के लिए उपयोगी धार्मिक ग्रन्थ में पहेली रखने की आवश्यकता न थी। स्मृति की रचना काल में ये पारिभाषिक वैदिक शब्द समाज में प्रचलित थे अतः उनके

---

१. यास्क–निरुक्त–साक्षात्कृतधर्माण ऋषयोबभूवुः। ते अवरेभ्यो ऽसाक्षात्कृत धर्मोभ्य उपदेशेन मंत्रान् सम्प्रादुः। उपदेशाय ग्लायन्तोऽवरे बिल्मग्रहणायेमं ग्रन्थं समा-समाम्नासिषुः—वेदं च वेदांगानि च।

२. यहाँ पर मनु की वैज्ञानिकता के विषय में सूत्र रूप से ही कहा गया है ; उक्त वैज्ञा-निकता का विशेष विवेचन मनुस्मृति की वैज्ञानिकता के प्रसंग में किया गया है।

समझाने के लिए पृथक् व्याख्या अपेक्षित न थी। यह समय अवश्य ही यास्क से पूर्व का था। परन्तु कितने पूर्व था यह कहना कठिन है। यास्क के समय तक कम से कम दो सौ वर्ष तो लग ही गए होंगे। ऐसी स्थिति में मनुस्मृति की रचना का काल एक सहस्र ई० पू० अनायास सिद्ध होता है। उससे पूर्व भी संभव है परन्तु इसमें अभी यह आपत्ति उठाई जा सकती है कि अनेक पाश्चात्य और प्रायः तदनुयायी भारतीय विद्वान भी वेदों की रचना को ही एक हजार और पन्द्रह सौ ई० पू० में मानने का आग्रह करते हैं। ब्राह्मण, उपनिषद् आदि की रचना अवश्य ही मंत्रों के बाद ही हुई है। मनुस्मृति भी निर्विवाद ही ब्राह्मणों के निर्माण के बाद ही लिखी गई है। परन्तु वेद मंत्रों का यह समय निर्धारण अभी तक निस्संदिग्ध रूप से सर्वमान्य नहीं हुआ है। प्रत्युत इस खंडन में प्रमाण उपस्थित करने की प्रवृत्ति विद्वानों में प्रारम्भ हो गई है। यहाँ उसका विवेचन अप्रासंगिक होगा। कालान्तर में इस जटिल प्रश्न के समाधान होने पर उसका प्रभाव भी मनुस्मृति की रचना काल के निर्णय पर भी अवश्य पड़ेगा।

याज्ञवल्क्य स्मृति—याज्ञवल्क्य स्मृति के रचनाकाल के विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है परन्तु मनु और याज्ञवल्क्य स्मृतियों में पूर्वापर का सम्बन्ध सुगमता से निकाला जा सकता है। मनुस्मृति की रचना के विषय में पहिले विवेचन किया जा चुका है; याज्ञवल्क्य स्मृति अनेक स्थानों पर मनुस्मृति का अनुसरण है। अतएव इस स्मृति के रचना काल की एक सीमा (संभाव्य) मनुस्मृति की रचना काल हो जाती है, इसी प्रकार से दूसरी सीमा को भी निर्धारित किया जा सकता है। याज्ञवल्क्य स्मृति के ऊपर प्रारंभिक टीका विश्वरूप की उपलब्ध होती है। अतएव इसकी दूसरी सीमा नवीं शताब्दी कही जा सकती है क्योंकि इसी शताब्दी का पूर्वार्ध विश्वरूप की टीका का काल समझा जाता है।[१] इस तरह से याज्ञवल्क्य स्मृति को स्थूल रूप से आठ सौ ई० पू० से नौ सौ ई० में रखा जा सकता है।

विश्वरूप की याज्ञवल्क्य की टीका से ऐसा आभास मिलता है कि वह याज्ञवल्क्य की रचना के बहुत बाद में लिखी गई है। विश्वरूप की टीका में अनेक स्थलों पर ऐसी अभिव्यक्ति होती है जिससे यह आभास मिलता है कि उसके पूर्व भी याज्ञवल्क्य स्मृति पर अन्य टीकायें लिखी जा चुकी थीं।[२] इससे यह निष्कर्ष निकलता है विश्वरूप के समय के भी बहुत पूर्व याज्ञवल्क्य स्मृति का वर्तमान स्वरूप स्थिर हो चुका था।

डाक्टर जाली याज्ञवल्क्य स्मृति को कुमारिल से तीन चार शताब्दी पूर्व रखने

---

१. P. V. Kane. History of Dharmashastra. Page–183.
२. Ibid Page–183.

के पक्ष में हैं।[1]इसी प्रकार से इस स्मृति की नारदस्मृति से तुलना करने पर यह प्रतीत होता है कि याज्ञवल्क्य स्मृति की अपेक्षा नारद स्मृति में व्यवहार के सिद्धान्तों में भी अधिक प्रगतिशीलता का परिचय है ; नारद का यह विस्तृत विवेचन यह सिद्ध कर सकता है कि वह याज्ञवल्क्य स्मृति के पश्चात् की रचना हो।[2] श्री काने महोदय याज्ञवल्क्य स्मृति को प्रथम शताब्दी ई० पू० से तृतीय शताब्दी ई० तक मानते हैं।[3] इनके विचार से यह सीमा तृतीय शताब्दी ई० से भी पहिले की भी हो सकती है।

अब तक के विचार-विमर्श से याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना काल की एक सीमा कुछ निश्चित हो जाती है (तृतीय शताब्दी अथवा द्वितीय शताब्दी ई०) श्री काने महोदय ने याज्ञवल्क्य स्मृति की पूर्वीय सीमा (प्रथम शताब्दी ई० पू०) का आधार इसकी कौटिल्य के साथ प्राप्त होने वाली समता के ऊपर आधारित किया है; उनके मत से याज्ञवल्क्य ने ही कौटिल्य का अनुकरण किया होगा।[4] इस निश्चय का आधार कौटिल्य का पूर्ववर्ती होना ही है। यदि कौटिल्य को पहिले किसी काल विशेष में न रखा जाय और तब देखा जाय कि किसने किसका अनुकरण किया तो संभवतः निष्कर्ष में अधिक निष्पक्षता हो सकती है। एक ज्ञातव्य है कि मनुस्मृति कौटिल्य तथा याज्ञवल्क्य स्मृति के पूर्व की कृति है। ऐसे अनेक स्थल हैं जिनमें याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति के साथ समता रखती है। परन्तु ऐसे स्थल बहुत हैं जहाँ याज्ञवल्क्य मनुस्मृति से भिन्नता रखते हैं। याज्ञवल्क्य का मनुस्मृति से यह मतवैभिन्य उसकी प्रगतिशीलता तथा मनु से बहुत बाद की होने के ही कारण है।

याज्ञवल्क्य स्मृति मनु से अनेक स्थलों में भिन्नता प्रदर्शित करके उसकी (मनु-स्मृति की) अपेक्षा प्रगतिशीलता का परिचय देती है, परन्तु कौटिल्य में इससे भी अधिक

---

१. P. V. Kane. History of Dharmashastra. Page--184.
२. नारदस्मृति की रचना काल के विषय में अन्यत्र विचार-विमर्श किया गया है।
३. We shall not be, therefore, far from the truth if we place his Smriti somewhere between the first century B. C. and the third century of the Christian era.
P. V. Kane. History of Dharmashastra. Vol.I P-184
४. ......There is close correspondence between the Kautilya and Yaj. If there is any borrowing at all, it must follow from the date first assigned to Kautilya that it is Yaj who borrows. Ibid. Page-180.

प्रगतिशीलता दिखलाई पड़ती है। कौटिल्य के साथ तुलना करने पर याज्ञवल्क्य स्मृति ही पुरातनवादी प्रवृत्ति को प्रदर्शित करती हुई ज्ञात होती है ? इसके अतिरिक्त विषय प्रतिपादन की शैली की दृष्टि से भी याज्ञवल्क्य पूर्ववर्ती ज्ञात होते हैं। कौटिल्य ने राजकीय विषयों को अधिक महत्व प्रदान किया है; इसका यह अर्थ नहीं है कि उसने अन्य विषयों का विवेचन ही नहीं किया है, महत्व की दृष्टि से कौटिल्य के लिए शासन, राजा, राज्य आदि ही अधिक महत्व रखते हैं। विषय प्रतिपादन की इस प्रकार की प्रवृत्ति अवश्य ही प्रगतिशील कही जायगी; इसमें विषय विशेष को ही पूर्णता के साथ चित्रित करने की योजना का आभास मिलता है; अपने ग्रन्थ में सभी विषयों पर अन्तिम रूप से निर्णय देने की अपेक्षा उन्होंने एक ही विषय को सीमा तक पहुँचाने का प्रयत्न किया है। यह एक प्रकार की विचारधारा ही कही जायगी। इस विचारधारा के उदाहरण बाद के अन्य मनीषियों में भी उपलब्ध होते हैं—उदाहरण के लिए नारदस्मृति को लिया जा सकता है। नारद अपने को व्यवहार तक ही सीमित रखते हैं; तथा व्यवहार के ही प्रसंग में वे वर्ण व्यवस्था आदि पर भी विचार प्रकट करते हैं (परन्तु वे मुख्यतः व्यवहार को ही लेते हैं)। इसी प्रकार बृहस्पति तथा शुक्र आदि आते हैं जो एक ही विषय को लेकर चलते हैं। परन्तु याज्ञवल्क्य स्मृति में यह विचारधारा उपलब्ध नहीं होती है।

याज्ञवल्क्यस्मृति अपने विषय प्रतिपादन की शैली में उक्त नवीन विचारधारा का किंचिन्मात्र परिचय भी नहीं देती है। इस दृष्टि से भी याज्ञवल्क्य मनुस्मृति का ही अनुसरण करती है। जिस प्रकार मनुस्मृति में आचार, प्रायश्चित, राजधर्म, व्यवहार आदि सभी विषयों पर सिद्धान्त निरूपित किये गये हैं उसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी आचार, राजधर्म, व्यवहार, प्रायश्चित आदि का वर्णन प्राप्त होता है। इस दृष्टि से वह पुराने परिपाटी के ही अनुरूप चलती है। परन्तु कौटिल्य इस पुरानी परिपाटी का अवलम्बन नहीं करते हैं। जब शैली की दृष्टि से याज्ञवल्क्य कौटिल्य के पूर्ववर्ती जान पड़ते हैं तब ऐसा कोई कारण नहीं जान पड़ता है कि उसे कौटिल्य का पूर्ववर्ती न माना जाय। अतएव यह स्मृति कौटिल्य के पूर्व किसी समय लिखी गई होगी ऐसा माना जा सकता है।

पाराशरस्मृति—पाराशरस्मृति की रचना के विषय में भी अनेक भ्रांतियाँ हैं, इसका प्रमुख कारण पाराशर ऋषि का एक ऐतिहासिक पुरुष होना ही कहा जा सकता है। पाराशर ऋषि व्यास के पिता थे तथा व्यास महाभारत के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस ऐतिहासिक आधार पर पाराशर का अस्तित्व महाभारत के पूर्व माना जाता है। परन्तु इन पाराशर में और पाराशरस्मृति (वर्तमान) में कहाँ तक रचयिता और रचना का सम्बन्ध है यह निर्धारित करना बहुत कठिन कार्य है। उपलब्ध पाराशरस्मृति में यह कथा मिलती है कि ऋषियों ने व्यास से धर्म के विषय में प्रश्न किया; व्यास स्वयं उनका

उत्तर देने की अपेक्षा, उनको अपने पिता पाराशर के समीप ले गये, वहां पाराशर ऋषि ने उक्त स्मृति का उपदेश प्रदान किया। इससे तो यह निष्कर्ष निकलता कि यह घटना उस समय की रही होगी जब व्यास अपने ज्ञान में (जिस ज्ञान का परिचय उन्होंने महाभारत की रचना करके दिया है) अद्वितीय नहीं हो पाये होंगे, यही तर्क इस स्मृति को महाभारत की रचना से पूर्व की सिद्ध करता है। परन्तु यह निष्कर्ष तर्क पर ही आधारित है; संभव है इसका वास्तविकता से कोई सम्बन्ध न हो।

पाराशर ऋषि को स्मृतिकार के रूप में याज्ञवल्क्य ने उल्लेख किया है। परन्तु पाराशर स्मृति भी याज्ञवल्क्य को स्मृतिकारों के रूप में उल्लेख करती है। इन दोनों ही स्मृतिकारों का एक दूसरे का उल्लेख करना उनमें पूर्वापर की कल्पना को कोई स्थान नहीं देता है। यह नहीं कहा जा सकता है कि पाराशर पहिले हुए थे अथवा याज्ञवल्क्य, दोनों का एक दूसरे का उल्लेख करना उसके समकालीन होने का परिचायक हो सकता है। दोनों ही स्मृतिकारों ने एक दूसरे का उल्लेख भूतकाल में करके वर्तमान काल में ही किया है—यह भी उनके समकालीन होने का ही प्रमाण कहा जा सकता है। इस दृष्टि से पराशरस्मृति भी कौटिल्य के पूर्व की हो जाती है।

कौटिल्य ने पाराशर का उल्लेख किया है परन्तु यह उल्लेख राजधर्म के प्रसंग में है।[१]; परन्तु वर्तमान पाराशर स्मृति केवल आचार और प्रायश्चित तक ही सीमित है, संभव है कि कौटिल्य का उल्लेख पाराशर की अन्य रचना, जो कि राजधर्म तथा व्यवहार से सम्बन्ध रखती हो, के लिए हो। परन्तु पाराशर की ऐसी कोई रचना उपलब्ध नहीं हैं। यहां इस समस्या का समाधान केवल एक ही प्रकार से किया जा सकता है—याज्ञवल्क्य का समय निर्धारित करते समय उसकी विषय प्रतिपादन की शैली को विशेष आधार पर मानकर यह दिखलाने का प्रयत्न किया गया था कि वह अपनी रुढ़िवादी शैली के कारण मनुस्मृति से अधिक समता रखती है, तथा बाद में कौटिल्य ने नवीन शैली का परिचय अर्थशास्त्र के रूप में दिया। यह बहुत संभव है कि कौटिल्य ने जिस शैली को अपनाया है उसके उदाहरण उसके (कौटिल्य) के सामने रहे हों तथा इन्हीं उदाहरणों से

---

१. Kautilya mentions six times the views of Parashar or the Parasharas on various aspects of Politics and State administration. Therefore. it appears, that there was a work of Parashar in Politics in which it is possible that Parashar also dealt with. Page-191. P. V. Kane. History of Dharma, Vol. I

उसने प्रेरणा ग्रहण की हो; संभव हो पाराशर ने अपनी शैली में दोनों ही शैलियों का समिश्रण रखने का प्रयत्न किया हो और इसी कारण आचार और प्रायश्चित पर एक रचना, तथा राजधर्म अथवा व्यवहार पर दूसरी रचना की हो; इस प्रकार से पाराशर ने मनुस्मृति की पूर्णता को सुरक्षित रखते हुए नवीन शैली का भी परिचय दिया; एक ही रचना में आचार, प्रायश्चित, व्यवहार तथा राजधर्म को रखने की अपेक्षा दो रचनाओं में इन सब विषयों को रखा। यदि यह तर्क के लिए मान लिया जाय तो पाराशर की अन्य रचना के लुप्त होने का भी कारण दृष्टिगत हो सकता हो। राजधर्म तथा व्यवहार के लुप्त हो जाने का प्रमुख कारण कौटिल्य का अर्थशास्त्र हो सकता है, अतएव अपनी व्यावहारिक उपादेयता से पाराशर के राजधर्म सम्बन्धी विचारों को उसने महत्वहीन कर दिया हो; महत्व के अभाव में उसका कालान्तर में लुप्त हो जाना अस्वाभाविक नहीं कहा जायगा। यहाँ यह शंका उठ सकती है कि अन्य स्मृतियों (उदाहरण के लिए मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति) के राजधर्म अथवा व्यवहार संबंधी अंश क्यों लुप्त नहीं हो गये— परन्तु यहाँ यह ज्ञातव्य है कि उक्त स्मृतियाँ इस कारण अपने व्यवहार के अथवा राजधर्म के अंश को सुरक्षित रखने में समर्थ नहीं हुईं कि उनके व्यवहार संबंधी विचार बहुत अधिक व्यावहारिक थे; इनके व्यवहार के अंश इसलिए सुरक्षित रह सके कि ये आचार तथा प्रायश्चित के साथ संलग्न थे। आचार तथा प्रायश्चित ने ही उनके व्यवहार के अंशों को भी सुरक्षित रखा। याज्ञवल्क्य में भी व्यवहार एक ही रचना के खंड के रूप में है इसी तरह मनुस्मृति में भी है। इस प्रकार पाराशर स्मृति भी कौटिल्य के पूर्व की सिद्ध हो जाती है। श्री काने महोदय पाराशर स्मृति को प्रथम शताब्दी से पाँचवीं शताब्दी ई० तक मानते हैं।[1] यह निष्कर्श विश्वरूप (याज्ञवल्क्य स्मृति के टीकाकार—९वीं शताब्दी ई०) के पाराशर के श्लोकों के आधार पर है; परन्तु यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ पर पूर्वापर का निश्चित सम्बन्ध होते हुए भी उल्लेख नहीं किया जाता है। अत: इस स्मृति की रचना के विषय में निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

---

१. Therefore, in the first half of the 9th century the ParasharSmriti that we have now was considered to be an authoritative and the work of an ancient sage...... Therefore, it must be assigned to some period between the first and the 5th century of era. Ibid. Page-195.
सायण माधवाचार्य के भाष्य में यह श्लोक ६१वाँ है।

पाराशरस्मृति का विषय बहुत ही सीमित है। इस स्मृति में पाप, पातक तथा उनके प्रायश्चित का ही वर्णन किया गया है। महान् विद्वान आचार्य सायन माधव ने इस स्मृति की टीका में उन सभी विषयों का समावेश किया है जिनका स्मृतियों में उल्लेख रहता है—उदाहरण के लिए, जिस प्रकार मनुस्मृति व्यवहार, राजधर्म, पातक, प्रायश्चित आदि का वर्णन करती है उसी प्रकार सायनमाधवाचार्य ने अपनी टीका में उक्त विषयों का समावेश करके पाराशर स्मृति के सीमित क्षेत्र को अत्यधिक विस्तृत कर दिया है। इस विस्तार का एक बहुत ही उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है—पाराशर स्मृति १–६६ में कहा गया है कि शस्त्र हाथ में लिये हुये प्रजा की रक्षा करें, दंड भली भाँति दे, शत्रु सैन्यों को पराजित कर के धर्मपूर्वक पृथ्वी का पालन करे। सायन माधवाचार्य ने इस श्लोक के दो भाग कर दिये; प्रथम, (शस्त्रपाणिः......प्रदंडवान्) में उन्होंने सम्पूर्ण राजधर्म की समीक्षा कर दी है तथा द्वितीय में (धर्मेण क्षिति पालयेत्) व्यवहार की विस्तृत समीक्षा की है।[1] पाराशरस्मृति में राजधर्म तथा व्यवहार का वर्णन विषय के रूप में नहीं किया गया है; उसमें राजा से संबंधित तीन चार ही श्लोक उपलब्ध होते हैं तथा व्यवहार का वर्णन इतना भी नहीं है। परन्तु आचार्य ने पाराशर के इस सांकेतिक उल्लेख को पूर्णता तक पहुँचा दिया है। राजधर्म तथा व्यवहार के अतिरिक्त अन्य विषयों की भी व्याख्या धर्मशास्त्रीय दृष्टिकोण से की गई है। वे अपनी व्याख्या में पाराशर स्मृति तक ही सीमित नहीं हैं।

नारदस्मृति—नारदस्मृति का प्रतिपाद्य विषय व्यवहार है। व्यवहार के संग में मनुस्मृति प्रारम्भिक रचना समझी जाती है परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मनुस्मृति केवल व्यवहार की ही विवेचना प्रस्तुत नहीं करती है, उसमें व्यवहार के अतिरिक्त धर्म, वर्ण-व्यवस्था, **आश्रम-व्यवस्था** तथा आचार, प्रायश्चित आदि का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य स्मृति में भी उक्त विषयों का प्रतिपादन उपलब्ध होता है, परन्तु नारदस्मृति को देखने से यह आभास मिलता है कि उसका विषय व्यवहार ही है। मनु तथा याज्ञवल्क्य की तुलना में नारद में "व्यवहार" की समीक्षा अधिक परिपक्व प्रतीत होती है।

मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृतियों के रचनाकाल के विषय में निःसंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि मनुस्मृति ही अधिक प्राचीन है, अतः नारदस्मृति की तुलना याज्ञवल्क्य-स्मृति से करने पर यह निश्चित हो सकता है कि दोनों में कौन अधिक प्राचीन है। याज्ञ-

---

१. सायण माधवाचार्य का भाष्य, पृष्ठ–205.

वल्क्य की अपेक्षा नारद में "दिव्य" का प्रकरण अधिक विस्तृत है, इसी प्रकार नारद में व्यवहार पद्धति के ऊपर यथा व्यवहार पदों के वर्णन में अधिक संगठित नियम उपलब्ध होते हैं, इनके अतिरिक्त स्त्रियों के विषय में भी नारद और याज्ञवल्क्य में अंतर है। जाली महोदय नारद की अपेक्षा याज्ञवल्क्य को ही अधिक प्राचीन मानते हैं। जाली महोदय के अनुसार याज्ञवल्क्य स्मृति की स्थिति मनु और नारद के मध्य में आती है परन्तु काने महोदय उक्त अंतर को मानते हुये भी दोनों को समकालीन अथवा नारद को कुछ बाद का मानते हैं।[1] नारद स्मृति की रचनाकाल के विषय में मतैक्य नहीं मिलता है। जाली के अनुसार इसका समय ३०० ई० के बाद का स्थिर होना चाहिये; परन्तु काने महोदय के अनुसार नारदस्मृति की रचना प्रथम शताब्दी ई० से ३०० ई० में हुई होगी।[2]

उक्त विद्वानों के अनुसार नारदस्मृति की रचना काल इस प्रकार से निर्धारित करने में, उसके द्वारा याज्ञवल्क्यस्मृति की रचना काल के विषय में किये गये निर्णय का विशेष महत्व है। याज्ञवल्क्यस्मृति के रचना काल को निश्चित करते समय उसके विषय प्रतिपादन की शैली को विशेष रूप से आधार माना गया था; वही आधार नारदस्मृति के लिये भी उपयुक्त होता है। नारदस्मृति केवल व्यवहार की ही समीक्षा प्रस्तुत करती है, अन्य विषयों पर उपलब्ध होने वाले विचार प्रासंगिक ही कहे जायेंगे। मनुस्मृति के समान याज्ञवल्क्य भी आचार, व्यवहार आदि सभी विषयों पर अपने विचार प्रस्तुत करते हैं परन्तु कुछ अंतर के साथ। याज्ञवल्क्य सर्वप्रथम अपनी कृति को तीन भागों में विभाजित करते हैं तदुपरांत उन्हीं विभागों को लेकर सभी विषयों की विवेचना करते हैं, यह कहा जा चुका है कि यह धर्मशास्त्रों की एक नवीन शैली की परिचायक है कि विषय विभाग के साथ विवेचना की जाय, मनुस्मृति से यह शैली भिन्न होने के ही कारण यह नवीन शैली कही गई है। विषय विभाजन की इस शैली के अनुरूप ही नारदस्मृति है। सम्भव है कि नारद में केवल व्यवहार तक इसलिये सीमित रखा गया है कि एक विषय को इस

---

१. It becomes, indeed, apparent, from amere general survey of the latter code, (Yajnavalkya) that it must be younger than Manu's, but earlier than, Narada's...

२. J.Jolly's translation of Naradsmriti preface XVII–XVIII. 'Narad is probably later than Yajnavalkya'. P. V. Kane. History of Dharmashastra, Vol.1 Page–202, and also..That Narada flourished nearly at the same time as or somewhat later than Yajnavalkya–page–203.

प्रकार से रखा जाय कि उसकी समीक्षा ठीक प्रकार से हो जाय, जहाँ याज्ञवल्क्य पुरानी शैली (मनुस्मृति को) अधिक न छोड़कर सम्पूर्ण कृति को तीन भागों में विभाजित करके ही उसका परिचय देते हैं वहाँ नारदस्मृति केवल व्यवहार तक अपने को सीमित रखकर नवीन शैली की पूर्ण छाप दिखलाती है। अतएव यह एक प्रकार से निश्चित हो जाता है कि नारद की स्मृति याज्ञवल्क्य के बाद की ही कृति है। याज्ञवल्क्य स्मृति की रचना संभवतः कौटिल्य के पूर्व हुई होगी। अतएव नारद और कौटिल्य संभव है समकालीन हों। अतएव सारांश रूप में यह कहा जा सकता है कि नारदस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति के पश्चात किसी समय लिखी गई होगी। पराशरस्मृति में नारदस्मृति का उल्लेख न होना तथा कुछ स्थलों पर उसके विरोध होना भी यह सूचित करता है कि यह पराशरस्मृति के बाद की ही हो।

द्वितीय अध्याय

धर्म तथा कर्म का सिद्धान्त

चारों स्मृतियों का प्रतिपाद्य विषय धर्म है। धर्म की व्याख्या करने के कारण ही इन्हें धर्मशास्त्र कहा गया है। इन चारों स्मृतियों में मनुस्मति का महत्व सर्वाधिक है। मनुस्मृति वेद के अर्थों को उपनिबद्ध करती हैं, अर्थात् मनुस्मृति वेद के अत्यधिक सन्निकट है। अन्य स्मृतियों के लिए कहा जाता है कि यदि वे मनुस्मृति के विपरीत होंगी तो प्रशस्त अथवा मान्य नहीं समझी जायेंगी।[1] अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि अन्य स्मृतियां (अथवा धर्मशास्त्र) मनुस्मृति के अनुकूल ही रहेंगी और स्वयं मनुस्मृति वेद के ही अर्थों का स्पष्टीकरण है। वेद ही सभी विद्याओं, विज्ञानों और कलाओं का स्रोत है। संपूर्ण धार्मिक व्यवस्था, धर्म और धर्मग्रन्थ वेद के ही द्वारा निकले हैं।[2] इसीलिए वेदों को आगम कहा जाता है। अब यहां पर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यह धर्म क्या है? क्या यह अंग्रेजी शब्द रिलिजन का पर्यायवाची है?

"धर्म" अंग्रेजी के "रिलिजन" का पर्यायवाची नहीं है। "धर्म" बहुत ही व्यापक अर्थ का सूचक है। "धर्म" के अनेकार्थों में से एक अर्थ "रिलीजन" का पर्यायवाची हो सकता है, परन्तु वह (रिलिजन शब्द) धर्म की पूर्ण अभिव्यक्ति कथमपि नहीं कर सकता है। मनुस्मृति में प्रथम अध्याय के द्वितीय श्लोक में महर्षिगण भी मनु से यही प्रश्न करते हैं, और इसी प्रश्न के उत्तर में संपूर्ण मनुस्मृति विरचित हुई। धर्म की व्याख्या में स्मृति के सभी विषय आ जाते हैं। स्थूल रूप से इस तथ्य को देखने से ज्ञात होता है कि मानव जीवन के सभी अंगों को नियमित करने वाले सिद्धान्त धर्म की व्याख्या के विषय बन जाते हैं, मनुष्य समाज का सदस्य है, इस

---

१. मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते। बृह० स्मृति—संस्कार १३

२. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु० २, ६.

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः:

स सर्वोभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु २, ८.

सदस्यता के कारण उसके ऊपर अनेक उत्तरदायित्व आ जाते हैं, इन्हीं उत्तरदायित्वों को सम्यक् रूप से निभाने की योग्यता प्राप्त करना तथा उसे इसके साधनों से अवगत करना धर्म का सर्वांगीण स्वरूप कहा जायगा।[1] उसका इस प्रकार से क्रमिक विकास ही जिससे मनुष्य जीवन के अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति संभव हो सके। धर्म शब्द का प्रयोग बहुत व्यापक अर्थ में किया गया है।

संस्कृत साहित्य में धर्म शब्द उक्त व्यापकता के साथ ही प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द "धृ" धातु से निर्मित है (धृ धारणे)। "धृ" धातु का अर्थ धारण शक्ति है; इस प्रकार से किसी भी वस्तु की धारणा शक्ति को ही धर्म कहा जायगा। धारण शक्ति का अभिप्राय वस्तु के उस गुण से है जो वस्तु को अपने स्वरूप में स्थिर रखती हैं, जिसके न रहने पर वस्तु अपने स्वरूप से च्युत हो जाती है। इसी भाव को व्यक्त करते हुए महाभारत में कहा गया है "धारण करने के कारण धर्म कहलाता है धर्म प्रजा को धारण करता है; जो धारण संयुक्त है वह धर्म है यह निश्चय है।[2] धर्म की इस प्रकार की विवेचना का निष्कर्ष यह निकलता है कि जो वस्तु के स्वरूप को धारण करता है, उसे नष्ट नहीं होने देता वह धर्म कहलाता है। अथवा जो वस्तु के द्वारा धारण किया जाता है वह धर्म कहलाता है। इसका अर्थ यह है कि यावन्मात्र

---

१. The writers on Dharmashastras meant by Dharma not a creed or relegion but a mode of life or a code of conduct, which regulates a man's work and activities as a member of society and as an individual and was intended to bring about the gradual development of a man to enable him to reach what was deemed to be the goal of human existence. P. V. Kane. History of Dharma. Vol 2 pt. I P.2.

२. धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयति प्रजाः।
यत् स्यात् धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः॥ —महा० कर्ण० ६९,५८

Also see–Rabindranath Tagore: Religion of man. P. 143–44. In the Sanskrit langauage Religion goes by the name Dharma, which in the derivative meaning implies the principle of relationship that holds us firm, and in its technical sense means the virtue of a thing, the essential quality of it.

द्रव्य धर्मों का समुदाय है। उस समुदाय के द्वारा ये धर्म धारण किये जाते हैं। अतः इन्हीं धर्मों के कारण उस द्रव्यों की सत्ता स्थिर रहती है। एक अन्य विवेचन भी मिलता है '**यो धृतः सन्धारयते स धर्मः**'। एक प्रकार से ये सब परिभाषायें एक ही अर्थ को द्योतित करतीं हैं। इस अंतिम परिभाषा का अर्थ यह है कि जो धारण किया जाता है अथवा जो वस्तु के स्वरूप को धारण करता है अर्थात् उसे नष्ट होने से बचाता है वह धर्म है। कोई भी पदार्थ धर्मों का समुदाय ही कहा जायगा; सब धर्मों के समुदाय में एकात्म्य रहता है, वही मुख्य है अतः उसे धर्म कहते हैं। इस समुदाय के मुख्य होने के कारण भिन्न-भिन्न धर्म गुण भी कहलाते हैं। पदार्थों में जो गुण (धर्म) हैं उन्हीं से पदार्थों की सत्ता स्थिर रहती है। उस पदार्थ से वे गुण हट जायं तो उस पदार्थ का स्वरूप नष्ट हो जाता है। इस विषय में यह उदाहरण है—अग्नि में जलाने का और प्रकाश करने का मुख्य गुण है। यदि अग्नि से उसकी दाहिका शक्ति और प्रकाशकत्व हटा दिया जाय (अर्थात् वे गुण (धर्म) जिनसे अग्नि का अग्नित्व स्थिर रहता है) तो वह अग्नि नहीं रह जायगी। अग्नि शब्द से उसका व्यवहार न हो सकेगा। वह राख आदि शब्दों से संबोधित की जा सकेगी। चुंबक में लोहे को आकर्षित करने का गुण होता है यदि उसका यह गुण (धर्म) हटा दिया जाय तो वह भी चुंबक नहीं रह जायगा। यहां पर अग्नि का अग्नित्व और चुंबक का चुंबकत्व ही उनके धर्म हैं। इस प्रकार वस्तु के स्वरूप का संपादन करने वाली जो शक्तियां हैं, जिन शक्तियों के कारण उन वस्तुओं का स्वरूप स्थिर रहता है उन्हें धर्म कहा जाता है। इस धर्म के दो मुख्य भेद हैं, एक सांसिद्धिक और दूसरा नैमित्तिक। सांसिद्धिक वह है जो वस्तु के स्वरूप के साथ सर्वथा संसिद्ध रहता है, जिसके अभाव में उस वस्तु का स्वरूप नष्ट हो जाता है। इसका उदाहरण ऊपर आ चुका है। नैमित्तिक धर्म वह है जो किसी दूसरे निमित्त के कारण उस वस्तु के स्वरूप में प्रविष्ट हो जाता है, जैसे जल में शैत्य धर्म है परन्तु अग्नि के सम्पर्क में आने पर उसमे उष्णता तथा अधिक संसर्ग से दाहकत्व भी आ जाता है। परन्तु इन आने वाले धर्मों के कारण जब तक आने वाला धर्म अत्यन्त विरोधी न हो उस वस्तु का स्वरूप एकदम नष्ट नहीं होता। यह आने वाला धर्म प्रतिकूल और अनुकूल दो प्रकार का होता है, अनुकूल धर्म उस वस्तु में विशेषता उत्पन्न करता हुआ उसके स्वरूप की रक्षा करता है। जैसे जल में सुगंधित पदार्थों का संयोग, तथा प्रतिकूल धर्म के अधिक मात्रा में मिलने से स्वरूप की हानि होती है जैसे **अधिक ताप** के योग से जल का भाप्य में परिणत हो जाना। इन दोनों (सांसिद्धिक और नैमित्तिक) धर्मों के अनेक भेदोपभेद हैं।

धर्म का उपर्युक्त वैज्ञानिक विवेचन यह सिद्ध करता है कि वस्तु के स्वरूप

निर्माण करने वाले गुणों को धर्म कहेंगे। इसी प्रकार आत्मा के उपकारण गुण भी धर्म हैं। आत्मा को गिराने वाले गुण अधर्म कहलायेंगे। यह ज्ञातव्य है कि यह अधर्म, धर्म का अभाव मात्र नहीं है, वह भी भाव है। भेद यही है कि जो गुण आत्मा का अभ्युदय(अभि+उत्+अय—ऊपर वाले उठाने)करने वाले हैं वे धर्म कहे जाते हैं, जो इसे गिराने वाले हैं, इसका पतन करने वाले हैं वे पातक कहे जाते हैं अतः अधर्म हैं। अच्छी व खराब, सब वस्तु यावन्मात्र परमेश्वर द्वारा सृष्ट हैं। इसीलिये मनु कहते हैं कि हिंसा करने वाले (व्याघ्रादि) न हिंसा करने वाले (मृगादि) मृदु, क्रूर, धर्म अधर्म, सत्य, असत्य, इन सब का विधान भी परमेश्वर द्वारा हुआ।[1] इस प्रकार संसार की आत्मा के उत्थान (अभ्युदय) करने वाले धर्म तथा उसे गिराने वाले धर्म अधर्म कहे गये हैं। परमात्मा एक है उसी का अंश जीवात्मा है। अंश में (जीवात्मा) और अंशों में अभेद होने के कारण वह अच्छेद्य है, अभेद्य है, नित्य है, व्यापक है।[2] अतः उस आत्मा का अभ्युदय या पतन कहना उचित नहीं है। विशुद्ध जीवात्मा और परमात्मा में कोई भेद नहीं माना जा सकता है। परन्तु वही जीवात्मा जब आवरण में आकर संसारी होता है तब ही उसके अभ्युदय या पतन का प्रश्न उपस्थित होता है और इसी आवरण को हटा कर उसे अपने स्वरूप में स्थित करना मोक्ष है। मोक्ष ही भारतीय शास्त्रों में परम पुरुषार्थ माना गया है। उसीकी सिद्धि के लिये अनेक प्रकार के साधन स्थिर किये गये हैं। यह प्रत्यक्ष है कि विशुद्ध आत्मा में जो आवरण आए हैं और जिनके कारण इसकी पृथक सत्ता मानी गई है वह अनादि परम्परा प्राप्त कर्म ही है। कर्म ही के द्वारा उसे (संसारी को) प्रारब्ध की प्राप्ति होती है। हिन्दू मान्यता पुनर्जन्म में विश्वास करती है। इस विचारधारा के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों के ही अनुसार विभिन्न योनि अथवा विभिन्न अवस्थाओं और परिस्थितियों को प्राप्त करता है। कर्म के ही द्वारा संसारी अपने बंधनों की गांठ खोलता हुआ मोक्ष को प्राप्त करता है और कर्म ही उसके बंधनों को सुदढ़ करते हैं। यहां पर धर्म ही उसको (संसारी को) मोक्ष की ओर प्रवृत करते हुये कर्म करने का मार्ग बतलाता है। महर्षि व्यास्क ने निरुक्त में "धर्म" का पर्यायवाची "नियम" बतलाया है। अतः धर्म (वे नियम समूह जो आत्मा को ऊपर उठाकर परमात्मा के साथ सारूप्य स्थापित करने का मार्ग बतलाते हैं मानव गुणों को अक्षुराण रखते हुये उसे मोक्षत्व की ओर ले जाता है। इसी अर्थ के अनुकूल महर्षि कणाद ने धर्म को स्पष्ट करते हुये कहा

---

१. मनु—१—२९
२. भगवद्गीता—अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयम—२—२४

था कि "**यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**" अर्थात् जिसके द्वारा लौकिक सुख और "अंतिम लक्ष्य" की सिद्धि हो सके वही धर्म है।

मनु और याज्ञवल्क्य भी इसी अर्थ में धर्म को लेते हैं। ये दोनों ही स्मृतिकार धर्म के लक्षणों को और उसके स्थानों को भी बतलाते हैं।[1] स्मृतियों में धर्म का एक और विभाजन मिलता है, प्रथम सर्वसाधारण के द्वारा व्यवहार में लाये जाने वाले नियमों को बतलाता है। द्वितीय विशेष धर्म है, इसी को वर्णधर्म, आश्रमधर्म आदि से अभिहित किया गया है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी न करना) पवित्रता, इंद्रिय निग्रह, दान, संयम, धैर्य आदि सर्वसाधारण के लिये सभी वर्णों के लिए धर्म हैं।[2] विशेष धर्म में हम ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यासियों के अपने-अपने पृथक् कर्मों के लिए नियमों का विधान पाते हैं। इसी प्रकार चारों वर्णों के अपने अपने अलग नियम-विधान हैं। ये नियम (धर्म-नियम) व्यष्टि और समष्टि का ध्यान रखते हुये ही हैं। ये नियम मानव के मानवोचित गुणों को अक्षुण्ण रखते हैं, वे उसे मनुष्यत्व से गिरने से बचाते हैं साथ ही साथ भौतिक बंधन से क्रमशः मुक्त करते हुये उसे (संसारी को) मोक्ष का अधिकारी बनाते हैं। यहां पर एक प्रश्न उठ सकता है कि जब मानव का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति है फिर सभी प्राणियों के लिए एक ही प्रकार के नियम होने चाहिये थे? उनके लिए पृथक्-पृथक् नियम निर्माण करने की आवश्यकता ही नहीं होनी चाहिये? वैदिक धर्म अपनी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि में इन प्रश्नों का समाधान भी रखता है। सृष्टि के तीन गुण माने गये हैं; सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण। इन्हीं सात्विक, राजस और तामस गुण युक्त कर्मों के प्रभाव से उसके फलस्वरूप भिन्न-भिन्न योनियों में जन्म होना मनुस्मृति में विस्तारपूर्वक कहा गया है। इसके अतिरिक्त सत्वगुण धर्म का द्योतक है रजोगुण काम का तथा तमोगुण अर्थ का द्योतक है। वर्णों के संबंध में, प्रथम वर्ण (ब्राह्मण) पुराकृत सत्वगुण का परिचायक है; तथा

---

१. **वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः**
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥ अ २ श्लो० १२ मनु
याज्ञवल्क्य, आचाराध्याय, श्लोक ७

२. **अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रहः।**
एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वण्येऽब्रवीन्मनुः ॥६३॥ अ. १० मनुस्मृति
अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः
दानं दमो दया क्षान्तिः सर्वेषां धर्मसाधनम् ॥१२२॥ गृहस्थधर्मप्रकरण ५
याज्ञवल्क्य।

उस वर्ण के व्यक्ति प्रारंभिक सत्वगुण की वासना से युक्त होकर जन्म लेते हैं। द्वितीय और तृतीय (क्षत्रिय और वैश्य) वर्ण पूर्वकृत रजोगुण के तारतम्य से शरीर धारण करते हैं तथा अंतिम शूद्र वर्ण तमोगुण के कारण तदनुरूप शरीर प्राप्त करता है।[१] अतएव वर्ण विशेष में गुणों का पार्थक्य रहता है। इन्हीं गुणों के तारतम्य के अनुसार वर्णों में आत्मतत्व के समझने की सामर्थ्य रहती है। इसी सामर्थ्य को दृष्टि में रख कर सामान्य और विशेष धर्मों का वर्गीकरण किया जाता है। यही तर्क आश्रम धर्म के पृथक्तत्व के लिए भी प्रयुक्त होता है। छांदोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि धर्म के तीन स्कंध (आधारस्तंभ अथवा विभाग) हैं। यज्ञ, अध्ययन, दान—पहला स्कंध है। तप ही दूसरा स्कंध है। आचार्यकुलवासी ब्रह्मचारी जो, आचार्यकुल में अपने को अत्यन्त समर्पित कर लेता है, यह तीसरा स्कंध है। ये सभी पुण्यलोक भागी होते हैं। ब्रह्म में भलीभांति संस्थिर हो अमृतत्व को प्राप्त होते हैं।[२] इसके अतिरिक्त आश्रम व्यवस्था व्यक्ति के अपने जीवन की तीन सीढ़ियां हैं, जिनसे

---

१. It will be noticed that Gunas correspond to the triple division of primary appetites or ends of existence. Purushartha, Satvaguna corresponds to Dharma, Rajoguna to Artha, and Tamguna to Kama (mere desire), translated into 'varnas' the first varna is the consequence of past Satvaguna and its members start with an initial vasana of satva, the second and the third are the embodiments of the drive of the Rajoguna from the past birth; and the last of Tamoguna. Page–99. K. V. Rangaswami Aiyengar : "Aspects of the Social and Political system of Manusmriti.

२. त्रयो धर्मस्कंधा यज्ञोऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव
द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासी तृतीयोत्यन्तमात्मानमा—
चार्यकुलेऽवसादयन सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति
ब्रह्म-संस्थोऽमृतत्वमेति। छा २।२३।१
यहां पर चतुर्थ आश्रम सन्यास को परोक्ष रूप से बतलाया गया है। अमृतत्व की प्राप्ति के पूर्व की स्थिति सन्यास आश्रम को ही बतलाती है।

होता हुआ वह परमपुरुषार्थ को प्राप्त करता है। इन्हीं तीन सीढ़ियों के ही माध्यम से व्यक्ति अपने पितृऋण, देवऋण और ऋषिऋण को चुकाता हुआ आगे बढ़ता है। अत: यह आवश्यक हो जाता है कि वह अपने वर्णधर्म के (इसमें व्यक्ति समाज से अभिन्न रहता है) साथ-साथ अपने विभिन्न आधारस्तंभों के विषय में भी ज्ञान प्राप्त करे। इसीलिये आश्रम धर्म भी विशेष धर्म की कोटि में आते हैं।

सामान्य और विशेष धर्म, दोनों का एक ही उद्देश्य है, परमपुरुषार्थ की प्राप्ति। पुरुषार्थ चार प्रकार के माने गये हैं;धर्म, अर्थ, काम और अंतिम मोक्ष। त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) मोक्ष प्राप्ति के तीन साधन हैं । ये एक दूसरे के विरोधी नहीं है, केवल प्रधानता के कारण संज्ञा का भेद मात्र हैं। महाभारत में महर्षि व्यास जी कहते हैं कि धर्म से अर्थ और काम दोनों ही प्राप्त होते हैं फिर क्या उसकी सेवा नहीं की जाती है।[1] धर्म के वैज्ञानिक विवेचन को दृष्टि में रखते हुये यह कहा जा सकता है कि धर्म की प्रधानता को अस्वीकार करते हुये कोई भी शास्त्र—चाहे वे अर्थशास्त्र हों अथवा कामशास्त्र हों—अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकते हैं। तब इतना अंतर अवश्य आ जाता है कि अर्थशास्त्र और कामशास्त्र धर्मशास्त्रों की अनुकूलता प्राप्त करते हुये लौकिक तुष्टि के माध्यम से पारलौकिक सुख परमात्मतत्व की प्राप्ति की कामना करता है। धर्म शास्त्र लौकिक और पारलौकिक सुख में तारतम्य बनाये रखते हुये, उन्हें एक साथ लेकर चलता है। मनुस्मृति में भी त्रिवर्ग के उपभोग का समर्थन मिलता है।[2] वात्सायन (कामसूत्र के रचयिता) और कौटिल्य (अर्थशास्त्र के प्रणेता) भी त्रिवर्ग के महत्व को स्वीकार करते हैं। ये धर्म का विरोध करते हुये अपने सिद्धान्तों को प्रतिपादित नहीं करते हैं। अर्थ और काम के साथ ही साथ धर्म की महत्ता भी इन्हें स्वीकार थी। दूसरे शब्दों में ये धर्म के अनुकूल रह कर ही अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते हैं।[1] मनु और याज्ञवल्क्य त्रिवर्ग का समर्थन करते हुये धर्म, अर्थ और काम

---

१. ऊर्ध्वबाहुर्विरोम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते।।

महाभारत स्वर्गारोहण ७. ८७

२. धर्मार्थाविच्यते श्रेयः कामार्थौ धर्म एव च।
अर्थ एवेह वा श्रेयस्त्रिवर्ग इति तु स्थितिः ।।मनु० २. २२४

१. तदेतत्कुशलो विद्वान् धर्मार्थाववलोकयन्।
नातिरागात्मकः कामी प्रयुंजानः प्रसिध्यति।। कामसूत्र, ८,५९

का विरोध होने पर धर्म की ही प्रमुखता प्रतिपादित करते हैं अर्थात् अर्थ और काम यदि धर्म के प्रतिकूल हैं तो वे त्याज्य होंगे।[1]

अतएव धर्म की ही अनुकूलता प्राप्त करके संसारी अपने बंधनों को हटाकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है। स्मृतियों में वर्णित जो भी साधारण और विशेष धर्म हैं उनका सबका एक यही आदर्श है। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करती हैं कि इनमें (इन स्मतियों में) कहे गये संपूर्ण धर्म, चारों वर्णों के कर्म और गुण-दोष तथा आचार शाश्वत हैं (परम्परा से चले आते हैं)। आचार ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। आचार व्यवहार के ही द्वारा मानव अपने सद्गुणों को विकसित करता हुआ अनेक श्रेयस्कर नियमों को अपना सकता है। आचार के ही द्वारा व्यक्ति का अन्य व्यक्तियों के साथ का संबंध आदर्श हो सकेगा और तभी सामाजिक, धार्मिक तथा राजनैतिक व्यवस्था और शांति बनी रहेगी। इसके (आचार के) इतना महत्वपूर्ण होने के ही कारण इसे धर्म का मूल कहा गया है तथा सभी व्यक्तियों को इससे युक्त रहने के लिए कहा गया है। आचार विहीन व्यक्ति वैदिक फल प्राप्ति नहीं कर सकते परन्तु उससे पुनः संयुक्त होने पर वे संपूर्ण फल प्राप्ति के अधिकारी हो जाते हैं। सदाचार के ही द्वारा मनुष्य भौतिक सुख, समृद्धि, ऐश्वर्य आदि प्राप्त करता है। केवल अपने सदाचार के ही द्वारा वह (व्यक्ति) शतायु होता है, चाहे शतायु होने के अन्य लक्षण विद्यमान न हों।[3] दुराचार का प्रभाव इसके विपरीत होगा; निन्दा, दुखः, व्याधि आदि दुराचार के ही परिणाम होते हैं।[4] याज्ञवल्क्य भी साक्षात् धर्म

धर्मार्थाविविरोधेन कामं सेवेत न निःसुखः स्यात्। समं
वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धनम्। एकोऽत्यासेवितो
धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति।

कौटिल्य--अर्थशास्त्र १, ८, पृ० १२

१. परित्यजेदर्थकामौ यौ स्यातां धर्मवर्जितौ॥ मनु ४, १७६

२. आचारः परमो धर्मः .... मनु १. १०८
आचाराद्विच्युतो विप्रो .... मनु १. [१०९
तथा १. १०७. ११०

चतुर्णामपि वर्णनामाचारो धर्मपालकः।
पाराशर स्मृति अध्याय १, श्लोक ३७

३. मनुस्मृति अध्याय ४, श्लोक १५५, १५६, १५८

४. मनुस्मृति अध्याय ४, श्लोक १५७

के चार लक्षणों में सदाचार को भी समान स्थान प्रदान करते हैं।[1] शिष्ट आचरण ही सदाचार है। दैनिक जीवन में शिष्टाचार का विशेष महत्व है। आचरण ही शुद्धता मानसिक, वाचिक और कायिक होनी चाहिये; क्योंकि कोई भी कर्म अपना फल दिये बिना नहीं रह सकता है; इसके फल शुभ और अशुभ की दृष्टि से उत्तम, मध्यम और अधम होते हैं। कर्म का प्रवाह अनंत है और जब एक बार कर्मचक्र प्रारंभ हो जाता है तब उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप संभव नहीं रहता, अतः मानसिक, कायिक और वाचिक कर्मों में भी अशुभ कर्मों से सावधान रहकर ही कार्य करना चाहिये; अन्यथा कर्म बंधन दृढ़तर होता जायगा। अतएव मनु मानसिक और वाचिक आचार के संबंध में कहते हैं कि "वही बोलना चाहिये जो सत्य से पूत हो अर्थात् शुद्ध किया गया है, और वही आचरण करना चाहिये जो मन को शुद्ध मालूम हो—"**सत्यपूतां वदेद्वाचं मनःपूतं समाचरेत्**" (६. ४६) कायिक कर्मों के विषय में मनु तथा याज्ञ-वल्क्य ने विशद वर्णन किया है।

कर्म का सिद्धान्त

कर्म और उसके परिणाम का सिद्धान्त हिन्दू धर्म की विशेषता है। कोई भी कर्म कभी भी व्यर्थ नहीं जाता है; चाहे वह शारीरिक हो चाहे वाचिक अथवा मानसिक हो, उसका अच्छा या खराब फल—उसका परिणाम—अवश्य ही मिलता है।[3] उससे किसी भी प्रकार बचत नहीं है। इसीलिए हिन्दू धर्मशास्त्रों में अच्छे परिणाम के लिए सत् कर्म पर जोर दिया गया है और असत् कर्म से बचने का आदेश दिया गया है। परन्तु यथार्थ में मनुष्य योनि ही ऐसी है जिसे बुद्धि—विवेक पूर्वक कार्य करने की सुविधा है और अपने सत् कर्म अथवा असत् कर्म के द्वारा अपने भावी जीवन को वह बना अथवा बिगाड़ सकता है। परमेश्वर की सृष्टि में मनुष्य का स्थान मध्य में आता है। उससे नीचे की रचनाओं में सबसे निम्नस्तर धातु वर्ग का है और क्रमशः ऊपर चलते हुये उद्भिज तथा पशु-पक्षी आदि हैं। उसके बाद मनुष्य का स्थान आता है। मनुष्य कोटि से नीचे के स्तर में जो कर्म होते हैं वे स्वभावतः होते हैं। उनके कार्य उनकी योनि के स्वभाव के कारण होते हैं।[4] इसलिये उन्हें उस योनि के भोग भोगने के पश्चात्

---

१. मनु० २—१२
२. मनुस्मृति अध्याय १२—५,७
३. नत्वेव तु कृतोधर्मः कर्तुर्भवति निष्फलः।
मनु० ४. १७३
४. K. V. R. Aiyangar, Page 68–69

स्वतः छुटकारा मिल जाता है। इसी प्रकार मनुष्य योनि से ऊपर की देव योनियां केवल पूर्वकृत पुण्य के परिणाम को भोगने के ही लिए हैं। उनके भोग पूरे होने पर उन्हें वहाँ से गिरना पड़ता है।[1] मनुष्य योनि ही बुद्धिपूर्वक कार्य के द्वारा अपना भविष्य निर्माण करने में समर्थ होती है। अतः उसके लिए ही कर्त्तव्य क्या है तथा वर्ज्य क्या है इसे स्पष्ट करने के अभिप्राय से परम दयालु महर्षियों ने नियमों का उपदेश किया है; क्योंकि कर्म गति भी बहुत जटिल है (**गहना कर्मणो गतिः**) तथा कर्म बंधन भी बहुत जटिल हैं। इसीलिये महर्षियों के द्वारा बतलाये गये कर्म विपाक का इतना अधिक महत्व है। महाभारत में मिलता है कि मनुष्यलोक कर्म भूमि है। स्वर्ग भोग भूमि है। यहाँ पर (मनुष्यलोक में) पुण्य कार्य करने वाले निश्चय ही स्वर्ग लोक में जाते हैं, तथा पाप करने वाले निर्दय व्यक्ति नरक को प्राप्त होते हैं।[2] गीता का तो सार ही कर्मयोग है। जनक आदि राजर्षियों के बारे में गीता में मिलता है कि इन लोगों ने कर्म के ही द्वारा संसिद्धि प्राप्ति की थी।[3] मनु, याज्ञवल्क्य प्रभृति विद्वानों ने कर्म का महत्व कितना अधिक माना है यह उनके कर्म विपाक के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है।

कर्म भेद

हिन्दू शास्त्रों में ईश्वर का स्वरूप ज्ञान-कर्ममय माना गया है। ज्ञान के आधार पर कर्म के प्रभाव के कारण ही समस्त सृष्टि का सृजन माना जाता है। ज्ञान प्रकाशमय है, एक है और अखंड है। कर्म अनेक हैं, असंख्य हैं। ज्ञान असीम है कर्म सीमा सहित (ससीम)। ज्ञान के असीम होने पर भी कर्म की सीमा के कारण ज्ञान भी सीमित प्राय हो जाता है। ईश्वर में ज्ञान और कर्म सहचर भाव से रहते हुये एक दूसरे को बाधा नहीं पहुँचाते। परन्तु संसार में कर्म की अधिकता होने पर ज्ञान उससे आवृत हो जाता है। कर्म प्राणी के आवरण का हेतु हो जाता है, और इसी आवरण का दूर हो जाना ही मोक्ष है। यह ज्ञान के द्वारा संभव होता है। इसीलिए महाभारत में कहा गया है कि प्राणी कर्म से बांधा जाता है और विद्या से छुटकारा मिलता है।[4]

---

१. क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। गीता ९. २१
२. कर्मभूमिस्तु मानुष्य भोगभूमिस्त्रिविष्टपम्। इह पुण्य—
कृतो यान्ति स्वर्ग लोकं न संशयः। इह लोके
दुष्कृतिनो नरकं यान्ति निर्घृणाः (महाभारत आदि पर्व ६४. ३८. ४०)
३. कर्मणैव संसिद्धिमास्थिता जनकादयः। गीता—३. २०
४. (अ) कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया तु प्रमुच्यते। महाभारत शा० पर्व २४०. ७
(ब) ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेर्जुन। गीता ४. ३७

यह श्रुति वाक्य **"ऋतेज्ञानान्त मुक्तिः"** (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं है) का ही स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि समस्त संसार कर्म के कारण ही अपना अस्तित्व रखता है। गीता में कृष्णजी भी (अपने परमात्म स्वरूप से) कहते हैं कि यदि मैं कर्म न करूँ तो ये सब लोक उत्सन्न हो जाय, नष्ट हो जाय।[1] जीव में जीवत्व भी कर्म के कारण ही हुआ है। कर्म के प्रभाव से ही जीव बद्ध होकर सुख, दुखः का भोग करता है। यह सिद्धान्त वैदिक काल से लेकर वर्तमान समय तक अविच्छिन्न रूप से भारतीयों में चला आ रहा है। तुलसीदास जी भी इसी को दृष्टि में रखकर लिखते हैं—**"कर्म प्रधान विश्व करि राखा" जो जस करे सो तस फल चाखा।"** इसी कर्म को भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न संज्ञा पाई जाती है। यही कर्म आधिदैविक अर्थ में "दैव" शब्द से अभिहित होता है। आध्यात्मिक अर्थ में वही प्राण कहलाता है तथा अधिभौतिक अर्थ में वही "भूत" हो जाता है। "भूत" भी प्राणों का (शक्तियों का) समूह है; जो भूत के अतिरिक्त बंधन में रहते हुये भी भूत के निर्माण करने में अपना स्वरूप नष्ट नहीं करते वे प्राण ही रहते हैं, परन्तु जो प्राण परस्पर के प्रतिघात से मूछित हो जाते हैं वे ही भूत कहलाते हैं। जिस प्रकार कोई रस्सा दो विपरीत दिशाओं में समान बल से खींचा जाय तो एक ही स्थान में स्थिर रहेगा। उसकी दोनों शक्तियाँ एक दूसरे से कुंठित कर दी जायेंगी, परन्तु शक्तियों का अस्तित्व रहता ही है, वह नष्ट नहीं हो जाता है; तथा समानता में थोड़ा अंतर आने से प्रबल शक्ति का प्रभाव प्रत्यक्ष हो जाता है। भौतिक परिमाणुओं की जो शक्तियाँ कुंठित रहती हैं उन्हें उन्मुक्त करने से वह शक्ति-पुंज स्वतंत्र होकर प्रत्यक्ष हो जाता है। यह क्रिया शक्ति का ही परिणाम है। यही कर्म, पूर्वजन्मकृत दैव कहलाता है तथा वर्तमान में किया गया पुरुकार शब्द से कहा जाता है। वास्तव में दैव और पुरुषकार कर्म ही हैं। भूतकाल का पुरुषकार (कर्म) वर्तमान का "दैव" (भाग्य) होता है उसी तरह से वर्तमान का पुरुषकार (कर्म) भविष्य में "दैव" (भाग्य) बनेगा। इस तरह से दैव और पुरुषकार एक ही कर्म के दो पहलू मात्र हैं। जीवन में दैव और पुरुषकार दोनों, का ही सामान महत्व है। इन दोनों का (दैव और पुरुषकार का) सहयोग ही अपेक्षित है। उत्तम से उत्तम भूमि भी फलहीन रहेगी, यदि उसमें बीज बपन न किया जाय। इसी प्रकार से पुरुषकार के सहयोग से ही दैव सिद्ध (फलप्रद) होता है।[2] गाड़ी केवल एक चक्र से नहीं चल सकती इसी

१. **उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्॥**

२. **यथा बीजं बिना क्षोत्रमुप्तं निष्फलम्**
तथा पुरुषकारेण बिना दैवं न सिद्धयति। महाभारत अनु० ९. ९

तरह दैव भी पुरुषकार के बिना निष्फल रहेगा।[1] भाग्य और कुछ नहीं है, वह भूतकाल के कर्मों का प्रभाव मात्र है; यदि व्यक्ति अपने उद्योग से सफलता की योग्यता प्राप्त करता है तो वह उसी में (सफलता में) व्यवस्थित हो जाता है।

कर्मों का विभाजन दो अन्य प्रकार से भी किया जाता है, यह उनके (कर्मों के) समय (काल) के औचित्य के तथा उनके उद्देश्य के आधार पर किया जाता है। प्रथम दृष्टिकोण से इनका पुनः विभाजन तीन प्रकार से किया जाता है; उनको संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण संज्ञा दी जाती है। पहले का संचित हुआ कर्म, जो अभी फल नहीं दे रहा है, संचित कहलाता है। पुरस्कृत संचय में जिसने फल देना प्रारंभ कर दिया है वह प्रारब्ध कर्म कहलाता है; इसे ही दैव कहते हैं। वर्तमान समय में जो कर्म किया जा रहा है, जिसका फल आगे होगा अथवा अत्युग्र होने से तुरन्त ही अथवा कुछ समय बाद इसी जन्म में दे सकता है वह क्रियमाण कर्म कहा जाता है। संचित कर्मों के दो रूप दिखते हैं, प्रथम अनारब्ध (जिसका भोगना प्रारम्भ नहीं हुआ है) द्वितीय प्रारब्ध (जिसका भोगना प्रारम्भ हो गया है)। अतः प्रारब्ध संचित कर्म का ही अंश है। संचित कर्म में जिनका भोग प्रारम्भ हो गया है, अर्थात् जो प्रारब्ध हैं, उनका क्षय (समाप्ति) केवल भोग के द्वारा ही होता है। **"प्रारब्धकर्मणां भोगा देव क्षयः।"** क्रियमाण कर्म भी संचित और प्रारब्ध हो जाता है, क्रियमाण कर्म का फल दैव कहलाता है। इस "दैव" (भाग्य) का भी भोग अवश्यंभावी और निश्चित है, इसलिए दैव भी संचित का अंश बन जाता है। जब इस "दैव' का जो संचित का अंग बन गया है, भोग प्रारम्भ हो जाता है तब वही प्रारब्ध (भाग्य) कहलाने लगता है।[2] इस तरह से संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्मों का चक्र निरंतर चलता रहता है। इन तीन प्रकार के कर्मों में केवल क्रियमाण कर्म ही व्यक्ति को करने की किंचित् स्वतंत्रता है, परन्तु वहाँ पर भी वासना-जन्य इच्छा अपना प्रभाव रखती है।

उद्देश्य की दृष्टि से कर्मों का विभाजन दो प्रकार से होता है। पहला सकाम

---

१. **यथाऽह्येकेन चक्रेण न रथस्यगतिभवेत्। एवं पुरुषकारेण बिना दैवं न सिद्धयति। याज्ञ० १३. ५।**
दैव पुरुषकारे च कर्म सिद्धिर्व्यवस्थिता।
यत्र दैवमभिव्यक्तं पौरुषं पौर्वदहिकम् ॥ याज्ञ० १. ३४९

२. **विशेष अध्ययन के लिए श्री बाल गंगाधर तिलक रचित "गीता रहस्य" अथवा "कर्मयोगशास्त्र" के २६० से ३०० पृष्ठ दर्शनीय हैं।**

(काम्य) और दूसरा निष्काम। अथवा ये मनुस्मृति की शब्दावली में प्रवृत्ति और निवृत्ति कर्म कहे जाते हैं। स्वर्गादि सुख की प्राप्ति के उद्देश्य से इस लोक में किये गये कर्म प्रवृत्ति कर्म कहलाते हैं तथा जिन कर्मों का मोक्ष ही केवल एक मात्र उद्देश्य रहता है वे निवृत्ति कर्म कहलाते हैं। इस तरह से यह वैदिक कर्म दो प्रकार का होता है।[1] प्रवृत्ति कर्म किसी विशेष कामना की पूर्ति को लेकर किये जाते हैं, यह कामना इस लोक के सुख को लेकर अथवा पारलौकिक सुख (स्वर्गादि) को दृष्टि में रखकर हो सकती है। उदाहरण के लिए जलवृष्टि के हेतु किये गये यज्ञ आदि कर्म इसी कोटि में आते हैं। दृष्ट और अदृष्ट फल की कामना से रहित होकर ब्रह्मज्ञान पूर्वक संसार से निवृत्ति प्राप्ति करने के लिए किये गये कर्म निवृत्ति कर्म कहलाते हैं।[2] अर्थात् कर्म-सन्यास धारण करके किये गये कर्म निवृत्ति कर्म कहलाते हैं। प्रवृत्ति कर्मों के अभ्यास करने से देवताओं के समान गति प्राप्त होती है; उसका फल कर्म के द्वारा प्राप्त होता है। निवृत्ति कर्म के अभ्यास करने से पंचतत्व (शरीर) का अतिक्रमण होता है अर्थात् सांसारिक बन्धनों से मुक्ति हो जाती है।[3] मोक्ष ही अंतिम ध्येय है परन्तु उसका सिद्ध होना उतना सरल नहीं है। अतः मनुष्य की व्यक्तिगत दुर्बलता के कारण उसे अपनी सिद्धि के लिए साधन और अभ्यास की अपेक्षा रहती है। संसार की ओर प्रवृत्त होना स्वाभाविक गति है। उसके प्रवाह के विरुद्ध जाने के लिए प्रबल प्रयास की अपेक्षा होती है। इसीलिये भारतीय आचार्यों ने प्रवृत्ति कर्म को भी इस प्रकार व्यवस्थित किया है कि वह कर्म शनैः शनैः अपने ध्येय की ओर भी चलता रहे। केवल निवृत्ति मार्ग का ही अवलंबन करने पर कर्म-संन्यासी के लिए अर्थ और काम का कोई महत्व ही नहीं रह जाता है। निष्काम दृष्टि से किया गया कर्म बंधन का कारण नहीं होता हैं, कर्मसंन्यास का यह अर्थ नहीं है कि सभी कर्मों का त्याग कर दिया जाय। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि कर्म किये बिना तो कोई भी प्राणी रह ही नहीं सकता है। कर्मचक्र तो निरंतर अबाध गति से चलता ही रहता है।[4] कर्म-संन्यास का यह अर्थ नहीं है कि कर्म स्वतः त्याज्य हैं, उस कर्म में जो कर्तृत्व का अभिमान है, फला-

---

१. सुखाभ्युदयिकं चैव नैःश्रेयसिकमेवच।
प्रवृत्तं चनिवृत्तं च द्विविधं कर्म वैदिकम्॥ मनु० १२. ८८

२. इह चामुत्र वा काम्यं प्रवृत्तं कर्म कीर्त्यते॥
निष्कामं ज्ञानपूर्वं तु निवृत्तमुपदिश्यते॥ मनु० १२. ८९

३. मनुस्मृति अध्याय १२. ९० तथा कुल्लूक भट्ट की इसी श्लोक की टीका।

४. नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्—गीता

शक्ति है वह वर्ज्य है। इस विषय में गीता रहस्य में लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने उचित विवेचना प्रस्तुत की है। कर्म स्वभावतः अंध, अचेतन व मृत होता है, वह न तो स्वयं किसी को पकड़ता है और न किसी को छोड़ता ही है, वह स्वयं न अच्छा है और न बुरा। मनुष्य अपने जीव को इन कर्मों में फंसा कर उन्हें अपनी आसक्ति से अच्छा या बुरा और शुभ या अशुभ बना लेता है। इसीलिये कहा जा सकता है कि इस ममत्व-युक्त आसक्ति के छूटने पर कर्म-बंधन आप ही टूट जाते हैं; फिर चाहे वे कर्म बने रहें या चले जांय। गीता में भी स्थान-स्थान पर यही उपदेश दिया गया है कि सच्चा नैष्कर्म इसी में है, कर्म का त्याग करने से नहीं है; तेरा अधिकार केवल कर्म करने का है, फल का मिलना न मिलना तेरे अधिकार की बात नहीं है (गीता २. ४७); "**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते**" फल की आशा न रख कर्मेन्द्रियों को कर्म करने दें, "**त्यक्त्वा कर्मफलासंगं**" (गीता ४. २०) कर्मफल का त्याग कर "**सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्व्वनपि न लिप्यते**" (गीता ५. ७) जिन पुरुषों की समस्त प्राणियों में समबुद्धि हो जाती है उनके किये हुये कर्म उनके बंधन का कारण नहीं हो सकते, "**सर्व कर्म फलत्यागं कुरु**" (गीता १२. ११) सब कर्म फलों का त्याग करें," **कार्यमित्येवं यकर्म नियतं क्रियते**" (गीता १८. ९) केवल कर्तव्य समझकर जो प्राप्त कर्म किया जाता है वही सात्विक है, "**चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य**" सब कर्मों को मुझे अर्पण करके बर्ताव कर।[1] सारांश में यह कहा जा सकता है कि फल की कामना न करके केवल कर्तव्य बुद्धि से अथवा ईश्वरार्पण के भाव से जो निष्काम कर्म किया जाता है वह आगे बंधन का कारण नहीं बनता, वह पहिले किये हुए कर्मों के बंधन को नाश करता है तथा साथ ही साथ स्वयं भी नष्ट हो जाता है। इसीलिये ज्ञान के द्वारा सभी भूतों में अपने ही आत्मतत्व को तथा अपने में सभी भूतों के आत्मतत्व को समान रूप से देखने पर सकाम कर्म के स्वार्थत्व का त्याग संभव होता है और सभी आत्मयाजी (परमात्मतत्व का आकांक्षी) स्वराज्य (ब्रह्मत्व, मोक्ष) को प्राप्त करता है।[2] यही भाव छान्दोग्य उपनिषद् तथा यजुर्वेद के मंत्रों में भी मिलता है। "यथा— **सर्व खल्विदं ब्रह्मतज्जलानिति शान्त उपासीत**" (छा. ३. १४. १) तथा यजुर्वेद का मंत्र "**यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति। सर्व-**

---

१. गीता रहस्य—पृष्ठ २८५ से २८६

२. सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
   समं पश्यन्नात्मयाजी स्वराज्यमधिगच्छति॥ मनु० १२. ९१

भूतेषु चात्मानं ततो न विजगुप्सते।[1] मनु ने इस प्रकार के कर्म का महत्व बतलाने के लिए बारहवें अध्याय के ९२ श्लोक में कहा है कि द्विज को शास्त्रोक्त कर्म (अग्निहोत्रादि कर्म) का त्याग कर वेद के अनुरूप आत्मज्ञान का प्रयत्न करना चाहिये।" [2]यहाँ, इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट जी कहते हैं कि शास्त्रोक्त कर्मों के त्याग का तात्पर्य केवल मोक्ष प्राप्ति के अंतरंग उपाय का प्रदर्शन करना मात्र है; अग्निहोत्रादि के परित्याग की बात नहीं कही गई है।[3] यहाँ पर ब्रह्म को समझकर निष्काम कर्म करना ही विहित है। ऋग्वेद में मिलता है—**"यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति"**—जो उस ब्रह्म को नहीं जानता है वह 'ऋचाओं से क्या करेगा'—अर्थात् वैदिक कर्म यज्ञ, अग्निहोत्रादि का भी महत्व ब्रह्म को समझते हुये कार्य करने पर ही है; केवल यंत्र की भांति अग्निहोत्र कार्य अथवा यज्ञ के संपादित करने में कोई लाभ नहीं है। समत्व दृष्टि रखते हुये निवृत्त मार्ग का अवलंबन करने वाला प्राणी जो भी कार्य करेगा उसमें ईश्वरार्पण की गहरी भावना निहित रहेगी और तब उसका प्रत्येक कार्य यज्ञ के ही समान महत्वपूर्ण होगा। मनुस्मृति इसी समत्व बुद्धि का ही प्रतिपादन करती हुई कहती है कि **"पंडिताः समदर्शिन"** पंडित (ज्ञानी) समदर्शी होते हैं, सभी में एक ही आत्म-तत्व का आभास करते हैं; तभी कर्म- सन्यास संभव है।

पुनर्जन्म

कर्म का चक्र यह स्पष्ट कर देता है कि उसका प्रभाव केवल वर्तमान जन्म तक ही सीमित नहीं है; उसका प्रभाव उसके कर्म फल के क्षीण हो जाने तक देही को किसी न किसी योनि में भोगना ही पड़ता है।जब तक इस प्रकार के कर्म करके नवीन कर्मफल की प्राप्ति न करते हुये पूर्वकृत कर्म फलों को (संचित तथा प्रारब्ध) प्राणी समाप्त नहीं कर लेता है तब तक तो उसे बारंबार जन्म-मरण की यातना सहन करनी पड़ेगी। नवीन जन्म में भी किस प्रकार का शरीर प्राप्त होगा, यह भी पूर्वकृत कर्म के ही ऊपर आधारित रहता है। प्राणी जिस भाव से जो कर्म करता है उसका

---

१. कुल्लूक भट्ट की १२. ९१ की टीका में उद्धृत

२. यथोक्तान्यपिकर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
   आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्।। मनु० १२. ९२

३. एतच्चवां मोक्षोपायान्तरंगोपत्व—
   प्रदर्शनार्थं न त्वग्निहोत्रादि परित्यागपरत्वमुक्तम्
   इसके अतिरिक्त—मनु० १२. ९३ ९४

फल उसी के समान शरीर के द्वारा प्राप्त करता है, अर्थात्, प्राणी में सत्व, रजस और तमस नामक तीन गुण होते हैं; उसके (प्राणी के) कार्यों में जिस गुण की प्रधानता से जो कर्म किया जायगा उसी के अनुरूप वह देह धारण करेगा और उसका उपभोग करेगा,।[1] जीव जिन-जिन पाप कर्मों के करने से जिस-जिस योनि में जाता है; उसका मनुस्मृति ने बहुत ही विस्तृत वर्णन दिया है। (१२. ५३)

उपर्युक्त तीन गुणों का (सत्व, रजस और तमस्) फल उत्तम. मध्यम और जघन्य, तीन प्रकार से होता है (१२. ३० मनु)। सात्विक कर्म करने से देवत्व, राजसिक कर्म करने से मनुष्यत्व और तामसिक कर्म करने से तिर्यक्(पक्षी आदि) योनि को प्राप्त करता है (१२. ४० मनु०)। सात्विक, राजसिक और तामसिक कर्मों का स्पष्टीकरण करते हुये मनु कहते हैं कि—वेदाभ्यास, तप-ज्ञान, पवित्रता, इन्द्रिय निग्रह, धर्म कार्य, आत्मचिन्ता. ये सात्विक कर्म कहे जाते हैं तथा किसी कार्य के प्रारंभ करने में रुचि होना (उत्साह), अधैर्य, असत् कार्य का स्वीकार करना, निरन्तर विषयों का (इन्द्रियों के योग्य पदार्थों को) सेवन ये रजोगुण के लक्षण हैं। लोभ, अधैर्य, क्रूरता, नास्तिकता, प्रमाद आदि तामसिक कार्य हैं। इसके अतिरिक्त भूत, वर्तमान और भविष्य के सभी कर्मों में इन तीनों ही गुणों का तारतम्य रहता है; जीव को योनि प्राप्त भी इसी तारतम्य के आधार पर ही निर्भर करती है। पुनः तामसिक कार्यों के लक्षणों को बतलाते हुये मनु कहते हैं कि जिस कार्य को कर चुकने पर, करते समय अथवा भविष्य में लज्जा का अनुभव हो उसे विद्वान् तामसिक कार्य कहते हैं। इसी तरह जिस कार्य के करने में इस लोक में महान् ख्याति प्राप्त करूँ यह भावना तो रहती है परन्तु पारमार्थिक चिंतन नहीं रहता वह राजसिक कार्य कहलाता है। तथा जिस कर्म को प्रकाश रूप में (सब लोगों की जानकारी में) करता है, जिसके करने से लज्जा न मालूम हो और जिससे आत्मतोष हो वह सात्विक कार्य कहलाता है। इन तीनों गुणों का एक अन्य लक्षण भी मनु बतलाते हैं—तमस् का काम, रजस् का अर्थ और सत्व धर्म का लक्षण है।[2] अतएव, याज्ञवल्क्य ऋषि कहते हैं कि यह "त्रिगुण

---

१. यादृशेनहि भावेन यद्यत्कर्म निषेवते।
तादृशेन शरीरेण तत्फलमुपाश्नुते॥ मनु० १२. ८१
तथा इसी की कुल्लूक भट्ट की टीका।

२. मनुस्मृति अध्याय १२ श्लोक ३०, ३१, ३२, ३३, ३४, ३५, ३६, ३७, ३८
तथा ४१
याज्ञवल्क्य—यतिधर्म प्रकरण—१३८,१३९,१४०

ईश्वर" के ही हैं और रजोगुण तथा तमोगुण से युक्त होकर चक्र के सदृश वही आत्मा इस संसार में घूमती रहती है। (याज्ञ० धर्म प्र० १८१. १८२)। त्रिगुण वास्तव में तिहरे गुण (तिहरी रस्सी) हैं; यह बंधन का कारण होती है। त्रिगुण के प्रभाव से जब कोई बच पाये तभी उसे मुक्ति मिल सकती है। त्रिगुण में भी रजोगुण और तमोगुण विशेष रूप से बंधन कारक होते हैं। यतिधर्म प्रकरण में याज्ञवल्क्य विस्तार के साथ इस विषय में उपदेश देते हैं। वे कहते हैं—"रजोगुण और तमोगुण का परित्याग, (प्राणायाम आदि से अंतःकरण की शुद्धि करना) विषयों में अभिलाषा न रखना और शम (संयम) रखना, इन सब उपायों से शुद्ध होकर जीव केवल सत्वगुण संपन्न होकर ब्रह्म की उपासना करने पर अमृतत्व को प्राप्त करता है, अर्थात् आवागमन के झंझट से मुक्ति मिल जाती है (या. १५९, १६०)। यही भाव गीता में भी मिलता है। कर्मयोगी कृष्ण अर्जुन को ऐसी स्थिति में पहुँचने का उपदेश देते हैं जहाँ इस त्रिगुण का प्रभाव न हो अर्थात् त्रिगुण से ऊपर उठकर ब्रह्म को समझते हुए निवृत्त मार्ग का अनुसरण करते हुये कार्य करना (निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन आदि) इस प्रकार निर्लिप्त भाव से (अहंकार आदि से रहित) त्रिगुण के प्रभाव में न आते हुये शरीर त्याग के उपरान्त यदि वह परमगति नहीं प्राप्त करता तो उसे पूर्व जन्म का स्मरण अगले जन्म में बना रहता है। (या. यति. ध. प्र. १६१)। गीता में ऐसे प्राणी के लिये "योगभ्रष्ट" शब्द व्यवहृत हुआ। योगभ्रष्ट वास्तव में पतित नहीं हैं, किन्हीं करणों से वह अपने लक्ष्य तक पहुँचने के पहिले ही फिसल गया है जैसे भरत मुनि के लिए कहा जाता है कि वे महान् तपस्वी अपने अंतिम समय में एक मृग के बच्चे की चिंता में पड़ गये थे इसलिए उन्हें मुक्ति न मिल सकी और वे मृग योनि में अवतरित हुये। अपने नवीन जन्म में वह प्राणी अपना योग वहीं से प्रारम्भ करता है जहाँ से वह भ्रष्ट हो गया था। इस तरह से अनेक जन्मों में पूर्ण सिद्धि हो जाती है एवं अंत में उसे मोक्ष प्राप्त हो जाता है (**अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्**। गीता ६. ४५)। कर्मयोग के महत्व का यह भी एक बहुत महत्वपूर्ण कारण है। कर्मयोग से यदि एक जन्म में मुक्ति न मिली तो अगले जन्म में मिलेगी क्योंकि अगले जन्म में प्राणी को एकदम प्रारम्भ से ही अपने भाग्य (प्रारब्ध संचित) के भंडार को समाप्त करना प्रारम्भ करना नहीं पड़ता है; उसका क्षय तो प्रारम्भ हो गया है। जिस जन्म में यह समाप्त हो जायगा, उस जन्म में ही उसे मुक्ति मिल जायगी। इस प्रकार के योग के द्वारा किये गये कर्म जीव के बंधन को शिथिल करते हैं। जन्म-जन्मांतर में जब जीव के सभी बंधन क्षीण हो जाते हैं तब वह मुक्त कहलाता है, अतः इस प्रकार से किया गया कर्मयोग का थोड़ा भी आचरण महान् फलदायक होता है। यही भाव मनु ने

"**नात्मानभवन्येत पूर्वाभिरस समृद्धिभि** (४. १३७) कह कर तथा कृष्ण ने गीता में "**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्**" (२.४०) कह कर अभिव्यक्त किया था। तात्पर्य यह है कि जब तक ज्ञान की (परमात्म) पूर्णता नहीं हो पायेगी तब तक जीव बंधन में ही रहेगा।[1]

पुनर्जन्म का सिद्धान्त भारतीय धर्मशास्त्रों तथा हिन्दू धर्म की आधारशिला के रूप में कहा जा सकता है। हिन्दू मान्यता पुनर्जन्म में विश्वास करती है। उसका लक्ष्य (हिन्दू मान्यता का) केवल लौकिक सुख, समद्धि, भौतिक ऐश्वर्य ही नहीं है : वह अत्यधिक दूरदर्शी है, वह न केवल इसी संसार को भूत, वर्तमान और भविष्य की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत करती है वरन् वह अपने क्षेत्र के अंतर्गत जन्म-जन्मान्तरों के पतन और उत्थान का लेखा-जोखा रखती है। इस जन्म में हमारे कौन कर्म हमें आगे चल कर लाभ पहुँचा सकेंगें और कौन हानि इसका कोष भारतीय धर्मशास्त्र ही हैं। परन्तु इस भारतीय संस्कृति की अद्वितीय देन को कुछ मान्यता प्राप्त विद्वान् असंगत और हानिकारक घोषित करते हैं। उनकी आलोचना ही यह सिद्ध करती है कि वे भ्रांति में हैं। किसी ग्रंथ को समझने के लिये उसकी लेखन शैली क्या है, इसका अध्ययन करना आवश्यक होता है। इस सम्बन्ध में श्रीयुत् आयंगर महोदय के विचार बहुत ही समीचीन जान पड़ते हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ की भूमिका में लिखा है कि धर्मशास्त्रों के ठीक-ठीक न समझ सकने के अनेक कारणों में से स्मृतियों की रचना की शैली से परिचय न होना भी एक कारण है।[2] अनेक परम्परायें ऐसी होती हैं, जो कालांतर में साहित्य में प्रविष्ट कर पाती हैं, अनेक स्थलों में वर्णनों की प्राचीन परिपाटी का भी व्यवहार होता है, जब तक इन सब का भलीभाँति ज्ञान न हो तब तक स्मृतियों अथवा किन्हीं भी ग्रंथों की आलोचना पक्षपात पूर्ण न होने का विश्वास नहीं दिला सकती है। अस्तु।

श्री पंदारी नाथ प्रभु अपनी पुस्तक "हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन" में मैकडोनाल और कीथ (दोनों ही संस्कृत के प्रकांड पंडित कहे जाते हैं, इन्होंने संस्कृत साहित्य की जितनी सेवा की है, उसके कारण ये हमेशा आदर और सम्मान की दृष्टि से देखे जायेंगे) महोदयों के विचारों को उल्लिखित किया है। मैकडोनल महोदय कहते हैं कि "पुनर्जन्म और कर्म के सम्मिलित सिद्धान्त का यह परिणाम अवश्य है कि इससे

---

१. **बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते (गीता ७. १९)**

२. Page VIII, IX "Aspects of Social and Political System of Manusmriti" K. V. R. Aiyanger.

व्यक्ति अपने भाग्य पर संतोष कर लेता है क्योंकि वह पूर्वजन्म में किए गए कर्म का फल है। परन्तु, इसके विपरीत इससे उसकी कर्मशक्ति कुंठित हो जाती है, उसे कर्म-सन्यास की ओर प्रेरित करती है तथा उसका कार्य अपने व्यक्तित्व तक ही सीमित रहता है। परिणाम यह होता है कि समष्टि के अन्य सद्गुणों के विकास का स्थान नहीं रहता है क्योंकि वह व्यक्ति अपने ही मोक्ष को लक्ष्य में रखता है।"[1]

संस्कृत साहित्य के दूसरे विद्वान इसे अत्यधिक भाग्यवादी कहते हैं।[2] इन दोनों ही लब्ध प्रतिष्ठ विद्वानों के विचार ठीक नहीं हैं। कर्म के सिद्धान्तों के विवेचन को तथा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि न तो भारतीय सिद्धान्त (कर्म और पुनर्जन्म) व्यक्ति को निष्क्रिय और अपने आपमें सीमित बनाता है और न वह उसे (व्यक्ति को) अत्यधिक भाग्यवादी ही बनाता है। दोनों ही क्षेत्रों में वह अति को बचाकर मध्यम मार्ग का अनुसरण करता है। स्मृतियाँ व्यक्ति के कार्यों पर नियंत्रण लगाकर (उसे नियमित करके) उसे (व्यक्ति को) समाज से अलग नहीं रखती हैं, बल्कि वे (स्मृतियाँ) व्यक्ति को एक सामाजिक प्राणी की स्थिति से ऊपर उठाकर उसे एक सुसंस्कृत सामाजिक प्राणी बनाती हैं।

मैकडोनल की दूसरी शंका[3] भी निर्मूल है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त सामने रहने पर प्राणी यह प्रयत्न करेगा कि उसका यह जन्म इस प्रकार से बीते कि आगे वाला

---

१. A result of the combined doctrine of transmigration and Karma is, it is true, to reconcile me to their fate as the just retribution for deeds done in a previous life, but on the other hand, it paralyzes action, drives to asceticism, and makes action self regarding, since it becomes the aim of everyman to win salvation for himself individually by acquiring the right knowledge. There is consequently little scope for the development of other regarding virtues as each individual is interested in gaining his own salvation. Macdonnel–Lectures on comperative religion, 1925, P 67 as cited by Prabu–P. 43–44.

२. And Sir A. B. Keith, another noted Sanskrit Scholar, calls Karma-theory "Essentially fatalistic." Ibid P. 44.

३. प्राणी निष्क्रिय हो जाता है।

जन्म भी सार्थक हो जाय।[1] उसे अपने जन्म के फल का इस प्रकार प्रतिकार करना है कि भविष्य का जन्म भी ठीक हो। याज्ञवल्क्य इसी को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि व्यक्ति जो भी धर्म और अधर्म का अनुसरण करता है वह उसके कर्म संग्रह का बीज बनता है। इसीलिये याज्ञवल्क्य कहते हैं, —"हमने यह बताने का प्रयत्न किया है कि वह उचित धर्म क्या है जिससे मोक्ष प्राप्त हो सके। व्यक्ति के निष्क्रिय होने की शंका कर्म-संन्यास के ही द्वारा होती हैं, परन्तु कर्म-सन्यास का वास्तविक रहस्य इसके प्रतिकूल हैं, यह सिद्धान्त व्यक्ति को ज्ञानमय सक्रियता प्रदान करता है; उसे (प्राणी को) अपने प्रत्येक कर्म के फलाफल की आसक्ति (ममत्व बुद्धि) का परित्याग करके प्रत्येक कर्म में ईश्वरार्पण की बुद्धि रखते हुये "कर्म" करना ही पड़ता है।" गीता में कृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि कोई भी बिना कर्म किये रह ही नहीं सकता है; कर्म तो होंगे ही, तब यदि उन कर्मों में इस बात का ध्यान रखा जाय कि वे नवीन प्रारब्ध का निर्माण न करें (ताकि पूर्व के प्रारब्ध का भोग समाप्त होकर मुक्ति मिल सके) यह उसकी क्रियाशीलता का चैतन्य स्वरूप ही कहा जायगा। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित कर्म का सिद्धान्त तथा पुनर्जन्म का सिद्धान्त व्यक्ति को किसी भी प्रकार निष्क्रिय नहीं बनाता है। कर्म के सिद्धान्त का वैज्ञानिक विवेचन (पिछले पृष्ठों में किया गया) इसी तथ्य का समर्थन करता है। कर्मयोग का प्रतिपादन संपूर्ण गीता में है। गीता का उपदेश कृष्ण ने अर्जुन को दिया था, यदि भारतीय कर्म सिद्धान्त प्राणी को निष्क्रिय बनाता है तब कर्मयोगी कृष्ण ने बहुत ही कुसमय में अर्जुन को उपदेश दिया था, परन्तु उस उपदेश का प्रभाव अर्जुन के कर्मठ बन जाने में ही सार्थक हुआ। अर्जुन, उपदेश के पहले मोहवश कर्म त्याग करने जा रहे थे परन्तु उपदेश के उपरांत क्या हुआ यह स्पष्ट ही है (महाभारत का युद्ध हुआ)। इस प्रकार महान् विद्वान मैकडोनल की शंका, भारतीय कर्म के सिद्धान्त को देखते हुये असंगत ज्ञात होती है।

कीथ महोदय के विचार में भारतीय कर्म का सिद्धान्त व्यक्ति को अत्यधिक भाग्यवादी बनाता है। यह भी निस्सार है। यह एकांगी तथा अपूर्ण आलोचना है। यह कर्म के सिद्धान्त का केवल दैवपथ पर ही आधारित जान पड़ता है। याज्ञवल्क्य ऋषि ने स्पष्ट शब्दों में कीथ महोदय का उत्तर रख दिया है। वे कहते हैं कि जिस

---

१. श्रेय और प्रेय, दो तरह के कार्य होते हैं, जो आरम्भ में अच्छे लगें और अंत में कष्टपूर्ण हों वे प्रेय कार्य कहलाते हैं और जो प्रारम्भ में कष्टकर हों और जिनका अंत सुखद हो, वे श्रेय कहलाते हैं।

प्रकार रथ की गति केवल एक चक्र के द्वारा संभव नहीं रहती उसी प्रकार कर्म-सिद्धि दैव (भाग्य) पुरुषकार पर ही व्यवस्थित हैं। यह स्पष्ट रूप से भाग्यवादिता के साथ ही साथ उद्योग (पुरुषकार) का समर्थन करता है तथा दोनों को समान महत्व प्रदान करता है। इस तरह से कीथ महोदय का विचार भी अपूर्ण ही सिद्ध होता है।

स्मृतियों के द्वारा अनुमोदित और समर्थित पुनर्जन्म का सिद्धान्त बहुत ही वैज्ञानिक है। स्मृतियां कहती हैं कि कोई भी कर्म अपना प्रभाव दिखलाये बिना नहीं रहता। उसका प्रभाव कर्म की उग्रता के आधार पर उसी समय प्राप्त हो, कुछ समय बाद प्राप्त हो, दूसरे जन्म में प्राप्त हो अथवा अनेक जन्मों में प्राप्त हो परन्तु प्राप्त अवश्य ही होगा, तथा यह संचित प्रारब्ध और क्रियमाण के चक्कर बनाता ही रहेगा (केवल कर्म सन्यास अथवा निवृत्त मार्ग का अनुसरण करने वाले कर्म इस चक्कर को नहीं बनाते) यही चक्कर जीव को चौरासी लाख योनियों में घुमाता रहता है। यदि क्रियमाण कर्म निवृत्त मार्ग का अनुसरण करके नहीं किये गये हैं अर्थात् फल की आकांक्षा से किये गये हैं अथवा पातक आदि के द्वारा (जिनको कि प्रायश्चित आदि के द्वारा शुद्ध नहीं किया गया है) वे प्रारब्ध का अंग बन जाते हैं और ये प्रारब्ध कर्म-सन्यास को धारण करके न किये गये तो दूसरे प्रारब्धों को जन्म देते हैं, पूर्व अर्जित प्रारब्ध का भोग क्षय न हो पाने पर और नवीन प्रारब्ध की उत्पत्ति हो जाने पर पूर्व के अर्जित प्रारब्ध संचित कर्म में मिल जाते हैं इस तरह से सावधानी से (स्मृति विहित कर्म-सन्यास के द्वारा) कर्मों के न करने पर प्राणी अपने बंधनों की गाँठ और अधिक दृढ़ करता चलता है, जिसका परिणाम यह होता है कि जीव अनेक जन्मों तक नाना योनियों में सुख-दुख के बीच परिभ्रमित होता रहता है। इसीलिए भारतीय मनीषियों ने मानवता के कल्याण के लिए कर्म के सिद्धान्त का विस्तृत रूप से प्रतिपादन किया है। विज्ञान का यह एक सुनिश्चित सिद्धान्त है कि भौतिक जगत् में कुछ भी व्यर्थ नहीं जाता है, हिन्दुओं के लिए प्रकृति का यह नियम नैतिक क्षेत्र में भी व्याप्त है। जैसा कि "भूत" पदार्थ के लिए है उसी तरह से मनुष्यों के लिए है क्योंकि दोनों ही प्रकृति के अंग हैं।[1]

यह सिद्धान्त भारतीय संस्कृति की अमूल्य निधि है। अनेक वर्षों से भारतीय

---

१. It is a well known law of science that nothing is lost in the material realm. For the Hindu this law of nature extends to the moral realm too; as with matter, so with men, since both are parts of nature... P. N. Prabhu "Hindu social Organisation" Page 49.

परम्परा इस सिद्धान्त को संजोये हुए अनेक प्राणियों को मार्ग प्रदर्शन करती चली आ रही है और आशा है कि भविष्य में भी इसी प्रकार की मान्यता प्राप्त होती रहेगी। भारतीयों के लिए तो यह गौरव का विषय है ही, साथ ही अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी इसके महत्व को स्वीकार करते हैं।[१] पुनर्जन्मवाद कर्म के सिद्धान्त का अभिन्न अंग है,

---

१. Sir Oliver Lodge, 'I am, for personal purposes convinced of the persistance of human existence beyond bodily death.'

(b) W. Tuder Jones, 'We conclude, then that our death is our birth to a life beyond'.

(c) E. D. Walker's Re-incarnation.

Re-incarnation teaches us that soul enters this life, not as a fresh creation but after a long course of previous existences on this earth and else-where. The ancient doctrine of transmigration seems the most rational and most consistent with God's wisdom and goodness.

(d) Hon. Ralph Shirley 'problem of rebirth.'

'It is not unreasonable conclusion to arrive at that the bodies which parents supply by their own sexual intercourse are tenanted in the first instance by spirits from another world, attracted to them by some form of spiritual sympathy and that accordingly the parents of the physical form cannot, strictly speaking, be regarded as the originators of the consciousness which in it inherits. The human germ-plasm is, even when under the microscope, hardly distinguishable from that of an animal. It is to be supposed that it contains within itself the underdeveloped powers of a man of genious or may not rather believe that the re-incarnating ego possessed these powers before his birth into this world as an inheritance from his past lives. The hypothesis is plausible because it and it alone meets the facts of the case in innumerable instances.

और ये दोनों ही परम पुरुषार्थ (मोक्ष, अंतिम पुरुषार्थ) तक पहुँचने के महत्वपूर्ण साधन हैं। साध्य (अन्तिम लक्ष्य) तो एक ही है, (मोक्ष)। इसके नीचे के सभी सिद्धान्त अथवा उपाय केवल साधन मात्र हैं। संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म एक ऐसी शृंखला है जो जीव को एक सूत्र में बाँधती है, इस शृंखला की एक बहुत ही महत्वपूर्ण कड़ी के रूप में कर्म का सिद्धान्त और पुनर्जन्म का सिद्धान्त आता है। यह भारतीय मस्तिष्क की उर्वरता का परिचायक है।

पातक-प्रायश्चित

नैतिक दृष्टिकोण से हीन समझे जाने वाले कार्य पातक कहे जाते हैं। जिस प्रकार आत्मा का अभ्युदय करने वाले कार्य धर्म की कोटि में आते हैं उसी प्रकार आत्मा के बंधनों को दृढ़ करने वाले कार्य (उसका पतन करने, नीचे गिराने वाले कार्य) अधर्म अथवा पातक कहे जाते हैं। "पातक" अपराधों का नैतिक दृष्टिकोण से किया गया नामकरण है। मनुष्य आचरण के द्वारा ऐसे अनेक कार्य करता रहता है है जो शास्त्रों की दृष्टि से वर्जित रहते हैं तथा वह ऐसे अनेक कार्यों को प्रमाद-वश (अथवा अन्य किसी कारण से) नहीं करता है, जिनको उसे शास्त्रों की आज्ञा मानकर उसे अवश्य ही करना चाहिये।[1] याज्ञवल्क्य **"पापेषु निरता नराः"** (या० स्मृ० ३. २२१) (मनुष्य पाप में निरत रहते हैं।) कह कर मनुष्यों का पाप की ओर स्वाभाविक झुकाव ही बतलाते हैं। जो नित्य या नैमित्तिक कर्म विहित है, उसके न करने से, निन्दित कर्म के करने से तथा इन्द्रियों का संयम न रखने से मनुष्य पतित होता है; इस पतन के प्रतिकार के लिए मनुष्य को प्रायश्चित करना चाहिये।[2]

---

१. उदाहरण के लिए—'यावज्जीव अग्निहोत्र" जुहुयात् (पा० माधवीय पृ० ७) इस बात को बतलाता है कि जब तक जीवित रहे तब तक अग्निहोत्र करते रहना चाहिये (यह ब्राह्मणादि के विशेष धर्म के अंतर्गत लिया जायगा)। यदि कोई ब्राह्मण ऐसा नहीं करता तो वह पाप का भागी होता है। इसी तरह से महाभारत में मिलता है—सर्वस्वेनापि कर्त्तव्यं श्राद्धं वे राहुदर्शने अकुर्वाणस्तु तत् श्राध्दं पंके गौरिवसीदति" यह श्राध्द करना आवश्यक बतलाता है, न करने पर कीचड़ में फंसी हुई गाय की स्थिति प्राप्त करता है अर्थात् पाप का भागी होता है। पृष्ठ ६ पा० माधवीय

२. विहितस्यान नुष्ठानान्निंदितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति ।। या० स्मृति प्रायश्चित प्रकरण श्लोक, २१९

याज्ञवल्क्य स्मृति के ये विचार मनुस्मृति के अक्षरशः अनुकूल हैं। मनु कहते हैं—"शास्त्रोक्त कर्म को न करता हुआ, शास्त्र द्वारा निंदित कर्म करता हुआ, तथा इन्द्रियों के विषयों में अत्यन्त आसक्त होता हुआ मनुष्य प्रायश्चित करने योग्य होता है।[१]

मनु और याज्ञवल्क्य पातकों को दो भागों में विभाजित करते हैं। प्रथम को वे महापातक कहते हैं और द्वितीय को वे उपपातक कहते हैं। मनुस्मृति के अनुसार महापातक पाँच प्रकार के होते हैं—(१) ब्रह्महत्या (२) मद्यपान (३) चोरी (४) गुरुतल्प (५) इन उपर्युक्त चार प्रकार के पातकियों के संसर्ग से भी पातक लगता है। मनु ने इन्हीं पाँच प्रकार के पातकों से अनेक प्रकार के पातकों की तुलना की है (वे भी इन्हीं पाँच प्रकार के पातकों के समान ही महापातक कहलाते हैं)।[२] याज्ञवल्क्य भी इन्हीं को महापातक मानते हैं।"[३] जिस प्रकार महापातकों के वर्णन में मनु और याज्ञवल्क्य के विचारों में अत्यधिक समता दिखलाई पड़ती है, उसी प्रकार पातकों के वर्णन में भी अत्यधिक समता दीखती है। दोनों ही स्मृतिकार उपपातकों की एक विस्तृत सूची प्रदान करते हैं।[४]

पाप कर्म चाहे अनजाने में किया गया हो, चाहे समझते हुये किया गया हो, उसका प्रायश्चित करना पड़ता है।[५] पाप की दो प्रकार की शक्ति (प्रभाव) होती

---

१. अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चितीयते नरः॥ मनु० अ० ११ श्लोक ४४

२. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः।
महान्ति पातकान्याहुः संसर्गश्चापि तैः सह ॥ मनु० ११. ५४ तथा—अध्याय ११, ५५, ५६, ५७, ५८।

३. ब्रह्महा मद्यपः स्तेनस्तथैव गुरुतल्पगः।
एते महापातकिनो यश्च तैः सह संवसेत् ॥ या० स्मृति, प्रा० प्रकरण, श्लोक २२७ तथा प्रकरण में श्लोक २२८,२२९, २३०, २३१, २३२—श्लोक पंच महापातकों की सूची देते हैं।

४. मनु० अ० ११ श्लोक—५८, ६०,६१,६२, ६३, ६४, ६५, ६६, ६८, ६९, ७०, ७१ या० स्मृति प्रा० प्रकरण श्लोक—२३४, २३५, २३६, २३७, २३८, २३९ २४०, २४१, २४२,

५. इस विषय में स्मृतियों में दो मत प्राप्त होते हैं, पहला मत यह कहता है कि केवल न चाहते हुये किये गये पापों का ही प्रायश्चित विधान है और दूसरा मत कहता है कि दोनों ही दशाओं में (जान और अनजान में)किये गये पापों में प्रायश्चित का

है। प्रथम नरक प्रदान करने वाला और दूसरा समाज में (पापी) व्यवहारों को सीमित करने वाला (उसके व्यवहारों का निरोधक) होता है। इसी आधार पर प्रायश्चित्त भी दो प्रकार के होते हैं। एक नरक से बचाने वाला और दूसरा व्यवहार को शुद्ध करने वाला। उपपातकों में प्रायश्चित के द्वारा निष्कृति हो जाती है (अर्थात् पापी नरकगमन की आशंका से भी मुक्त हो जाता है, तथा वह समाज में व्यवहार के योग्य भी माना जाने लगता है)। परन्तु ज्ञानपूर्वक किये गये महान् पातकों, जैसे ब्राह्मण की हत्या अथवा गोहत्या में प्रायश्चित्त के द्वारा व्यक्ति व्यवहार के योग्य तो हो जाता है परन्तु वह पाप का भागी बना ही रहता है (उसकी पूर्ण निष्कृति नहीं होती है)।[1]

मनु तथा याज्ञवल्क्य कामकृत और अकामकृत पापों का भी प्रायश्चित्त विधान करते हैं परन्तु (कामकृत) ब्रह्महत्या के पाप में वे दो प्रकार के प्रायश्चित्त बतलाते हैं, प्रथम के अनुसार ब्रह्महत्या करने वाला मनुष्य बारह वर्षों तक वन में कुटी बनाकर मृत ब्राह्मण के शिर को ध्वजा में अंकित करके, भिक्षा माँग कर रहे तो उसकी शुद्धि होती है।[2] दूसरे स्थान पर दोनों ही स्मृतिकार कहते हैं—ब्रह्महत्या करने वाला युद्धस्थल में शस्त्रधारियों का लक्ष्य बनें; यदि वह (ब्रह्मघाती) मर जाता है तो ब्रह्महत्या से मुक्त हो जाता है यदि मरने के समान हो घायल हो जाता है तो भी मुक्त हो जाता है। अथवा अग्नि को प्रज्वलित करके मुंह नीचा करके अपने आपको तीन बार इस प्रकार गिराये कि मर जाय तब पाप से निष्कृति मिलती है।[3] ब्रह्म-

---

विधान हैं। मनुस्मृति में एक स्थान में कहा गया है (११.४५) कि कुछ पंडित अज्ञान से किये गये पाप में प्रायश्चित करने का विधान बतलाते हैं, और कुछ श्रुति के आधार पर ज्ञान में किये गये पापों में भी प्रायश्चित का विधान का उल्लेख करते हैं।

१. यह मत बोधायन स्मृति का है—
अमत्या ब्राह्मणं हत्वा दुष्टो भवति धर्मतः।
ऋषयो निष्कार्ति तस्य वदन्त्यमतिपूर्वके।
मति पूर्वं हते तस्मिन् निष्कृतिर्नोपलभ्यते॥ बो० स्मृति २. १. १. ६

२. शिरः कपाली ध्वजवान्भिक्षाशी कर्मवेदयन्।
ब्रह्महा द्वादशाद्वानि मितभुक्शुद्धिमाप्नुयात्॥ याज्ञ० प्रा० प्र० २४८
ब्रह्महा द्वादश समाः कुटींकृत्वा वने वसेत्।
भैक्षाश्यात्मविशुध्यर्थं कृत्वा शवशिरोध्वजम॥ मनु० ११. ७२

३. लक्ष्यं शस्त्रभृतां वा स्याद्विदवामिच्छयात्मनः।
प्रास्य दात्मानमग्नौ वा सामद्ध त्रिरवाक्शिराः॥ मनु० ११. ७३

हत्या के पातक से शुद्धि होने के इन दो प्रकार के प्रायश्चितों के विधान का अर्थ यह है कि—प्रथम प्रायश्चित विधान के द्वारा पापी समाज में व्यवहार के योग्य हो जाता है परन्तु उसकी पूर्ण शुद्धि (नरक प्राप्ति से भी) सभी संभव होती है जब वह दूसरे प्रकार का भी प्रायश्चित करे।

अतः निष्कर्ष रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक महापातक (तथा कुछ अंशों में उपपातकी भी) का तीन प्रकार का प्रभाव होता है। (१) पहला नरक देने वाला (२) दूसरा समाज में व्यवहार के योग्य न होना[1] और (३) तीसरा राजा से दंड प्राप्त होना। पातक से निष्कृति के लिये यह आवश्यक होता है कि वह इन तीनों ही स्थितियों से गुजरे। अंतिम प्रकार (राजा के द्वारा दंड देना) न्याय और न्याय व्यवस्था के प्रसंग में लिया गया है।

पाप करने के बाद उसे छिपाना नहीं चाहिये; छिपाने से वह और अधिक बढ़ता है; उसे (पाप को) वेद, वेदांग तथा धर्मशास्त्र के जानने वाले ब्राह्मणों को (जो अपने कर्म में लगे हुये हैं, अर्थात् शास्त्रों के अनुसार अपना कार्य कर रहे हैं) बतलाना चाहिये! (थोड़ा या अधिक) पाप करने के बाद भोजन करने का भी निषेध है; यदि पाप करने की शंका भी हो गई हो तो भी भोजन नहीं करना चाहिये, (प्रमादवश भी नहीं करना चाहिये) क्योंकि भोजन करने से पाप बढ़ता है। जहां पर परिषद् (ब्राह्मणों की परिषद्) जो प्रायश्चित आदि देने का कार्य करती हैं,वहाँ पर भी तब तक भोजन नहीं करना चाहिये जब तक कि उपर्युक्त प्रकार के ब्राह्मणों को अपने पापों का निवेदन न कर दिया हो।[2] याज्ञवल्क्य स्मृति में परिषद के लिये कहा गया

संग्रामे वा हतो लक्ष्यमतः शुद्धिमवापुयात्
मृतकल्पः प्रहारार्तो जीवनैनपि विशुध्यति।। या स्मृति प्रा० प्र० २४८

१. महापातकों की संख्या गिनाते समय याज्ञवल्क्य और मनु ने पाँचवे महापातक के वर्णन में कहा है कि उपर्युक्त चार प्रकार के महापातक में से किसी एक को करने वाले के साथ जो व्यक्ति एक वर्ष तक रहता है (अर्थात् जिसका संबंध इनसे एक वर्ष तक रहता है) वे पांचवे प्रकार के महापातकी माने जाते हैं, यही कारण है कि पातकियों का, समाज एक प्रकार से बहिष्कार कर देता है ।

२. मनुस्मृति–अ० ११ श्लोक २२७
पाराशरस्मृति—मास्टर खिलाड़ी लाल एण्ड संस द्वारा प्रकाशित—१९५०
कृत्वा पापं न गूहेत गुह्यमानं विवर्द्धते।
स्वल्पं वाथ प्रभूतं वा धर्मवद्म निवेदयेत्।। पाराशर स्मृति अ० ८ श्लोक ६

है कि वेद, धर्म को जानने वाले चार मनुष्यों की (मिताक्षरा और याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार ब्राह्मण) परिषद् होती है, और ये धर्मज्ञ जो कहते हैं)जो प्रायश्चित विधान करते हैं) वही धर्म है। (या० स्मृति १. ९ तथा पाराशर स्मृति अ० ८ श्लोक १५) । पापी का पाप परिषद् के आदेश से, उसी प्रकार नष्ट हो जाता है जैसे पत्थर पर पड़ा हुआ जल वायु और सूर्य की किरण से शुद्ध हो जाता है; उस पाप का प्रभाव न तो कर्ता (पापी) के ही ऊपर पड़ता है और न परिषद् के ही ऊपर।[1] परन्तु यदि परिषद् ऐसे ब्राह्मणों की है जो केवल नामधारी ब्राह्मण हैं (केवल कहने के लिए ही ब्राह्मण हैं, आचरण योग्यता आदि से हीन अथवा गायत्री से विहीन हैं) और ये प्रायश्चित्त का विधान करते हैं तब सब के सब पापी ब्राह्मण नरक जाते हैं।[2] महापातकों के प्रायश्चित्त को बतलाने के लिए पाराशर स्मृति का मत है कि प्रायश्चित्त

वेदवेदांगविदुषां धर्मशास्त्रं विजानताम्।
स्वकर्मरतविप्राणां स्वकं पापं निवेदयेत्॥ अ० ८ श्लोक २
सद्यो निःसंशये पापे न भुंजीतानुपस्थितः।
भुंजानो वर्धयेत्पापं परिषद्यत्र न विद्यते॥ अ० ८ श्लोक ४
संशये तु न भोक्तव्यं यावत्कार्यविनिश्चयः।
प्रमादश्च न कर्तव्यो यथैवासंशयस्तथा। अ० ८ श्लोक ५

यहाँ श्लोक २ अ० ८ के अतिरिक्त अन्य तीनों श्लोक सायण माधव के भाष्य से युक्त वामनशास्त्री द्वारा संपादित पाराशर संहिता में पाराशर स्मृति के मूल के अंतर्गत नहीं दिये गये हैं। वहाँ पर सायण के भाष्य में अंगिरा ऋषि के नाम के साथ लिखे गये हैं। यहाँ परिषद् के विषय में पाराशर स्मृति में कुछ विस्तार मिलता है। अ० ८ के श्लोक १९, २०, २१, २२ के अनुसार एक, तीन, चार और पाँच धर्मज्ञ ब्राह्मण परिषद् कहला सकते हैं। इसी अध्याय का ३५वाँ श्लोक कहता है कि परिषद् दस या दस से अधिक व्यक्तियों की भी हो सकती है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि परिषद् के सदस्यों की संख्या निश्चित नहीं होती है; वह पापों की उग्रता के ऊपर निर्भर करती थी। परन्तु अनेक गुण वाला, केवल नामधारी ब्राह्मण परिषद् नहीं कहा जा सकेगा। [अ० ८ श्लोक २३]

१. पाराशर स्मृति, अ० ८ श्लोक १७, १८
२. प्रायश्चितं प्रयच्छन्ति ये द्विजा नामधारकाः।
ते द्विजाः पापकर्माणः समेता नरकं ययुः॥ पा० स्मृति, अ० ८ श्लोक २८

राजा की अनुमति (सहमति) में रह कर बतलाया जाय; छोटा प्रायश्चित्त अनुमति के बिना भी दिया जा सकता है; परन्तु ब्राह्मणों के (परिषद् के) द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त का अतिक्रमण करके यदि राजा स्वयं प्रायश्चित्त देने की इच्छा करता है तो वह पाप सौ गुना होकर राजा को लगता है।[1] गौतम धर्मसूत्र में प्रायश्चित्त प्रकरण में टीकाकार ने यह प्रश्न छोड़ दिया है कि पाप करने के बाद जो अकार्य हो चुका वह कैसे मिट सकता है। इस प्रश्न का उत्थान करके वे (टीकाकार) यह समाधान करते हैं कि वेदों में अवकीर्णी (जिस ब्रह्मचारी का व्रत खंडित हो जाय) को प्रायश्चित्त के द्वारा शुद्धि का विधान है। वेद का प्रमाण सर्वोपरि है अतः उसमें निर्देश मिलने पर अन्य युक्ति अनावश्यक हो जाती है। परन्तु साधारण दृष्टि से देखने पर यह समझ में नहीं आता। किसी गाय की या मनुष्य की हत्या कर दी गई। इस हत्या के समय यदि वध्य प्राणी का रुधिर आदि लग जाय तो साबुन आदि शोधक द्रव्यों के प्रयोग से वह अशुद्धि दूर हो जाती है। गाय के स्वामी को उस गाय का मूल्य देकर सन्तुष्ट करके समाज की अप्रसन्नता दूर की जाती है। शास्त्रों में अनेक प्रकार के पातकों का भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्तों का जो विधान मिलता है उसकी क्या उपपत्ति है? इस पर विचार करने से यह प्रतीत होता है कि बाह्य शरीर में रुधिर आदि के कारण अशुद्धि आ गई है वह तो साबुन आदि से दूर हो जाती है परन्तु बाह्य शरीर ही तो सब कुछ नहीं है। उसके अभ्यंतर में प्राणमय सूक्ष्म शरीर भी है। उसके भीतर कारण शरीर है। हत्या करने में प्राणशक्ति का मुख्य व्यापार है। अतः वह हत्या सूक्ष्म शरीर में अंकित होती है उसे कलुषित करती है। अतः जब तक उसकी कालिमा को दूर न किया जाय; निष्कृति नहीं हो सकती। शास्त्रोक्त प्रायश्चित्त उस सूक्ष्म शरीर की शुद्धि का प्रकार बताते हैं। यह प्रायः सभी वर्तमान वैज्ञानिक जानते हैं कि सब प्रकार की कालिख को दूर करने में एक ही शोधक काम नहीं देता। काजल की कालिमा को दूर करने का शोधक दूसरा होगा; गाड़ी के चक्कों में जो कालिमा होती है उसे दूर करने के लिए दूसरा शोधक होगा; चूना और कत्था का जो दाग होगा उसका दूसरा; रक्त आदि के दाग को मिटाने के लिए भिन्न प्रकार का शोधक होगा। जिस प्रकार वर्तमान वैज्ञानिकों ने भिन्न-

---

१. राज्ञश्चानुमते स्थित्वा प्रायश्चित्तं विनिर्दिशेत्।
स्वयमेव न कर्त्तव्यं कर्तव्या स्वल्पनिष्कृतिः॥ पा० अ० ८, श्लोक ३६
ब्राह्मणंस्ताननतिक्रम्य राजा कर्तुं यदिच्छति।
तत्पापं शतधा भूत्वा राजानमनुगच्छति॥ पा० अ० ८, श्लोक ३७

भिन्न प्रकार के दागों को मिटाने के लिए भिन्न प्रकार के शोधकों का आविष्कार किया है उसी प्रकार वैज्ञानिक महर्षियों ने भिन्न पातकों के परिहार के लिए भिन्न-भिन्न उपाय बताये हैं। संस्कृत में अय का अर्थ है शुभ विधि (अयः शुभावहोविधिः) वह प्र अर्थात् प्रणष्ट (विगत) हो गई उसकी फिर से चिति करना (चयन करना, प्रतिष्ठा करना) प्रायश्चित्त कहलाता है।

तृतीय अध्याय

वर्ण व्यवस्था

वर्ण व्यवस्था की कल्पना भारतीय मनीषियों के मस्तिष्क की उर्वरता की द्योतक है। वर्ण और आश्रम व्यवस्था के द्वारा समाज को संगठित करके अंतिम लक्ष्य प्राप्ति के लिए मार्ग प्रशस्त किया जाता है। प्रत्येक मनुष्य के व्यक्तित्व के दो स्वरूप होते हैं; एक अंतर्मुखी और दूसरा बहिर्मुखी। अपने अंतर्मुखी स्वरूप और गुण के अनुसार उसे विभिन्न वर्णों में रखा जाता है और अपने बहिर्मुखी स्वरूप में वह विभिन्न आश्रमों की सीढ़ियों पर चढ़ता हुआ परमात्मतत्व की कामना करता है। समुदाय में सभी एक ही समान गुण और शक्तियुक्त नहीं होते। कोई व्यक्ति अपने में मस्तिष्क का विकास अधिक पाता है तो अन्य व्यक्ति अपने में केवल शारीरिक शक्ति का ही प्राबल्य पाता है। इसी को प्रस्तुत ग्रंथों (स्मृतियों) की भाषा में कहा जा सकता है कि किसी व्यक्ति में सत्वगुण की अधिकता, किसी में रजोगुण की अधिकता और किसी में तमोगुण की अधिकता पाई जाती है। प्राणी इन्हीं तीन गुणों से प्रेरित होकर कर्म करता है; तथा इन्हीं गुणों के आधार पर ही उसका वर्ण निर्णीत होता है।

वर्ण व्यवस्था के संबंध में तीन मत प्रचलित हैं। प्रथम के अनुसार केवल जाति के (जन्म) ही द्वारा वर्ण माना जाता है। दूसरा मत जाति (जन्म) को महत्व नहीं प्रदान करता, इसके अनुसार जिस किसी व्यक्ति में जिस वर्ण के गुण–कर्म होंगे (अर्थात् कर्म के आधार पर) वह उसी वर्ण का माना जायगा। तीसरा मत दोनों स्थितियों को आवश्यक मानता है। इसके अनुसार जन्म भी उसी वर्ण में होना चाहिये तथा उसी के अनुरूप गुण और कर्म भी होने चाहिये। इस अंतिम मत के पक्ष और विपक्ष में पर्याप्त शास्त्रीय प्रमाण मिलते हैं। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति तथा अन्यान्य महत्वपूर्ण स्मृतियाँ वर्ण की उत्पत्ति ईश्वरीय मानती हैं। वेद में विराट् पुरुष के मुखबाहु आदि के द्वारा वर्णों के सृजन की कथा मिलती है; संपूर्ण सृष्टि की तुलना विश्व पुरुष से की गई है; उसी के विभिन्न अंगों से विभिन्न प्राणियों और द्रव्यों आदि की सृष्टि हुई है। ब्राह्मण उस विराट् पुरुष के मुख से उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय

उसके बाहुओं से, उरु से (जंघा) वैश्य और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये।[1] पुरुष सूक्त के इस प्रकरण में यह भी बतलाया गया है कि अन्य सृष्टि भी इसी विराट् पुरुष के द्वारा ही की गई है। वर्ण व्यवस्था की उत्पत्ति की यह कथा मनुस्मृति में भी मिलती है। मनु वर्णों की उत्पत्ति के प्रसंग में कहते हैं कि संसार की प्रगति और विकास के लिए मुख, बाहु, उरु और पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को बनाया।[2] परन्तु मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही पुनर्जन्म के प्रकरण में बहुत ही विस्तार के साथ वर्णों की उत्पत्ति पूर्वजन्म कृत कर्मों के ऊपर आधारित करते हैं। बारहवें अध्याय में मनु विस्तार के साथ कहते हैं कि सभी प्राणियों में सत्व, रजस् और तमस् गुण पाये जाते हैं तथा जिस गुण का अतिरेक हो उसी के अनुसार देही शरीर धारण करता है।[3] प्रायः यही भाव छांदोग्य उपनिषद् में भी मिलता है, जो रमणीय (शुभ) कर्म करने वाले हैं वे ब्राह्मणादि योनि में उत्पन्न होते हैं, जो पापाचरण करने वाले हैं वे कुत्ता, शूकर अथवा चांडाल की योनि में उत्पन्न होते हैं[4]। मनु स्पष्ट रूप से कहते हैं— ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, ये द्विजाति हैं तथा चतुर्थ शूद्र वर्ण है, इसके अतिरिक्त कोई पंचम वर्ण नहीं है। याज्ञवल्क्य भी इसी का अनुसरण करते हैं।[5]

यहाँ पर वर्ण शब्द के विशेष अर्थ का स्पष्टीकरण आवश्यक प्रतीत होता है। वर्ण शब्द व्युत्पत्ति की दृष्टि से "वृ" धातु से बना है। "वृ" धातु का प्रयोग वर्णन करने, वरण करने तथा वर्ण (रंग) के अर्थों में होता है; जीविका के अर्थ में भी वृ धातु का

---

१. ब्राह्मणोस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
उरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोअजायत।। ऋ० सं० पुरुष सूक्त, ८-४-१९

२. याज्ञवल्क्य, पाराशर और नारद वर्णों की उत्पत्ति के विषय में मौन हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य और पाराशर अपने पुनर्जन्म के प्रकरणों में शुभाशुभ कर्मों के अनुसार अगला जन्म बतलाते हैं, अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ये मनु का अनुसरण कर रहे हैं।

३. यो यदेषां गुणो देहे साकल्येनातिरिच्यते।
स तदा तद्गुणप्रायं तं करोति शरीरिणम्।। १२।१४ मनु०

४. तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां
योनिमापद्येरन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं
वाथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो हयत्त कपूयां योनिमापद्येरन्
श्वयोनिं वा शूकरयोनिं चंडालयोनिंवा।। छा० उपनिषद्, ५,१०,७

५. ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पंचमः।। मनु १०।४
ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रा वर्णास्त्वाद्यास्त्रयो द्विजाः।। या० स्मृति १-१०

प्रयोग होता है,[1] जैसे जीविका के लिए वरण करने वाला वर्ण कहलायेगा, इत्यादि। मनुस्मृति आदि में प्रयुक्त वर्ण भी अनेकार्थी है। परन्तु इनमें (स्मृतियों में) वर्ण अनेकार्थ में प्रयुक्त होने पर भी मूलगत एक ही अर्थ को लेकर चलता है। ब्राह्मणादि चारों वर्णों का वर्ण (रंग) क्रमशः श्वेत, रक्त पीत तथा कृष्ण माना गया है। इसी प्रकार सत्वगुण, रजोगुण तथा तमोगुण आदि का भी वर्ण (रंग पृथक्–पृथक् माना गया है और इन दोनों के रंगों का परस्पर समन्वय भी दिखलाया गया है। स्मृतिकारों के द्वारा किया गया वर्ण विभाजन भी इसी के अनुकूल है। ब्राह्मण का वर्ण श्वेत, क्षत्रिय का रक्त, वैश्य का पीला और शुद्र का कृष्ण; अथवा इन्हीं को गुणों की दृष्टि से विभाजित किया जाय तो—ब्राह्मण का सत्वगुण, क्षत्रिय का रजोगुण, वैश्य का रजोगुण और तमोगुण तथा शूद्र का तमोगुण माना जाता है।[2] समाज को चार वर्णों में विभाजित करने का आधार उनके अपने गुणों का तारतम्य ही था। अपने गुणों के अनुरूप ही रह कर व्यक्ति समाज के कार्य क्षेत्र में आगे बढ़ता था। ये गुण ही समाज को चार भागों में बाँटते तथा ये ही उनके प्रत्येक के गुण धर्म कहलाते थे। पिछले अध्याय में कर्म के सिद्धान्त के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि ब्राह्मणादि में जो गुण (सत्व आदि) हैं उन्हीं के अनुरूप उनके अपने-अपने गुण (विशेषतायें) भी हैं; उस अध्याय में यह बतलाया गया है कि किस प्रकार अपने अपने गुणों के अनुरुप ही चारों वर्णों के पुरुषार्थ में भी अंतर है— ब्राह्मण का धर्म, क्षत्रिय तथा वैश्य का अर्थ और काम तथा शूद्र का केवल काम (वासनापूर्ण) पुरुषार्थ है।[3] इन्हीं गुणों के अनुरूप ही वर्णों का कर्म होगा, तथा इन्हीं कर्मों के द्वारा ही वे चारों वर्णों में प्रतिष्ठित रह

---

१. वृ वरणे, वर्ण वर्णने, वृ आच्छादने। जीविकार्थं
   व्रियते इति वर्णः। वर्णयति वा पुरुषम् इति वर्णः।
   वस्त्रवदाच्छादयति, श्वेतः, रक्तः, पीतः, कृष्ण इति वर्णः।

२. 'Certain colours are associated with the four–white with Brahmins, red with the Kshatriyas, yellow with the Vaishyas and black with the Shudras; varna as has been stated means colour. It is possible that this colour distinction is in some way associated with race, as one is reminded of the ancient Egyption convention which showed Egyptions red, Asiatics yellow, Northerners white and Negroes black.

३. Aiyanger, K. V. R. 'Some Social and Political aspects of Manusmriti.' page 99.

सकेंगे। कर्म और ये गुण परस्पर भिन्न नहीं हैं, कर्म को ही मुख्य विभागों में विभाजित करके उनके गुणों के अनुसार संज्ञा की गई है। अतः उन्हें भिन्न-भिन्न समझ कर विरोध की धारणा करना उचित नहीं है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि इन्हीं कर्म और गुणों के तारतम्य से ब्राह्मणादि वर्णों का विवेक किया गया है। मनु,, याज्ञवल्क्यादि जहाँ पर यह कहते हैं कि कोई पंचम वर्ण नहीं है, (ब्राह्मण, क्षत्रियादि तो केवल स्थूल संज्ञा मात्र हैं, वस्तुतः चार वर्णों का निर्माण तो त्रिगुण और पुरुषार्थ के अनुसार ही किया गया है) ऐसा करने पर ही उनका यह कथन है कि इन चार वर्णों के अतिरिक्त कोई पंचम वर्ण नहीं है, सत्य जान पड़ता है। स्मृतिकारों के इन विचारों की पुष्टि आंतरिक रूप से स्मृतियों से ही नहीं हो पाती है, परन्तु ऐसे बहुत से बाह्य प्रमाण हैं जो उपरोक्त विचारों को सिद्ध कर देते हैं।

प्रकृति के तीन गुण होते हैं (जैसा कि पिछले पृष्ठों में कहा जा चुका है) इन तीनों में क्षोभ होने से परस्पर मिश्रण के तारतम्य से विभिन्न प्रकार की सृष्टि का सृजन माना गया है; प्रत्येक पदार्थ में तीनों गुणों की सत्ता मानी गई है, परन्तु उनके अनुपात में भेद है, उसी भेद के कारण ही पदार्थों में भिन्नता है; ब्राह्मणादि वर्ण भी एक प्रकार से मुख्य स्थूल विभाग हैं, इनका अस्तित्व प्रायः सर्वत्र माना गया है। दैव-योनि में भी ये ब्राह्मणादि विभाग माने गये हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है—"**ब्रह्म वे वृहस्पतिः क्षत्रं सोमः** (१०. ६) अर्थात् वृहस्पति ब्राह्मण हैं तथा सोम क्षात्र (क्षत्रिय) है। बृहदारण्यकोपनिषद् में मिलता है कि देवों में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान—ये क्षत्र (क्षित्रिय) हैं। गण देवता—वसु, रुद्र, आदित्य, विश्वेदेव और मारुत वैश्य कोटि में हैं। पूषा देवता शूद्र हैं।[1] निर्जीव पदार्थों में भी इसी प्रकार की व्यवस्था परिलक्षित होती है। आयुर्वेद शास्त्र में अभ्रक, हीरक आदि में इस व्यवस्था के अनुसार वर्गीकरण किया गया है। अभ्रक के ब्राह्मण, क्षत्रिय, विट् (वैश्य)। शूद्र के भेद से चार प्रकार होते हैं। क्रमशः ये वर्ण (रंग) के अनुसार शुक्ल, रक्त, पीत और कृष्ण होते हैं। हीरक का भी इसी प्रकार ब्राह्मणादि क्रम से विभाजन दिखलाया गया है; शुक्ल वर्ण का द्विज (यहाँ द्विज से ब्राह्मण का बोध होता है) रक्त का नाम क्षत्रिय, पीत का नाम वैश्य तथा कृष्ण शूद्र नाम का होता है। "विष" में भी इसी प्रकार का विभाजन दिखलाया गया है।[2] छंदः शास्त्र में भी इसी प्रकार वर्ण विभाग दृष्टिगोचर होता है। शतपथ

---

१. बृहदारण्यकोपनिषद्—१. ४, ११, १२, १३
ब्रह्मवा इदमग्र आसीदेकमेव........।
आयुर्वेद प्रकाश—उपाध्याय माधव–यादवजी त्रिविक्रमजी द्वारा संपादित पृष्ठ ७७।
२. **७७ अभ्रक—ब्रह्मक्षत्रियविट्शूद्रभेदात् तत्स्याच्चतुर्विधम्। क्रमेणेव सितं रक्तं**

ब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण का गायत्री, क्षत्रिय का त्रिष्टुप् छंद, वैश्य का जगती छंद है। इसी प्रकरण में शतपथ ब्राह्मण में विस्तार के साथ प्रजापति के द्वारा की गई सृष्टि का वर्णन मिलता है—इसके अनुसार प्रजापति ने मुख से अग्नि देवता की, गायत्री छंद तथा मनुष्यों में ब्राह्मण, तथा पशुओं में अज (बकरा) की सृष्टि की; मुख से सृजन होने के कारण ये मुख्य हुए। इसी प्रकार बाहु और वक्ष से इंद्र त्रिष्टुप् छंद, मनुष्यों में राजन्य (क्षत्रिय) तथा पशुओं में अवि (मेढ़ा) की सृष्टि की। बाहु और वक्ष से सृजित होने के ही कारण ये वीर्यवान् हैं। मध्य भाग से देवताओं में विश्वेदेव जगती छंद, मनुष्यों में वैश्य और पशुओं में गाय की सृष्टि की। पैरों से अनुष्टुप् छंद—मनुष्यों में शूद्र और पशुओं में अश्व की सृष्टि की। शूद्र की सृष्टि के साथ कोई भी याज्ञिक देवता नहीं सृष्ट किये गये इसीसे शूद्र यज्ञ के लिये अयोग्य है।[1] इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है—गायत्रो वै ब्राह्मणः....। त्रैष्टुभो वै राजन्यः......। जागतो वै वैश्यः......।[2] अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्येतर सृष्टि में भी चातुर्वर्ण्य की सत्ता है। प्रकाण्ड विद्वान पंडित मधुसूदन झा जी ने अपने ग्रंथ "देवासुर ख्याति" में पाँच प्रकार का चातुर्वर्ण्य

पीतं कृष्णं च वर्णतः। पृष्ठ १६३, हीरकश्वेतं द्विजामिघं रक्तं क्षत्रियाख्यं तदीरितम् पीतं वैश्याख्यमुद्दिष्टं कृष्णं स्याच्छूद्रसंज्ञकम्॥
पृष्ठ ९१ विष—ब्राह्मणं पांडुरं विद्यात् क्षत्रियं रक्तवर्णकम्।
वैश्यं पीतप्रभं शूद्रं कृष्णवर्णं विनिन्दितम्॥

१. प्रजापतिरकामयत प्रजायेयेति—स मुखतस्त्रिवृतं निरमिमीत
तमग्निर्देवता अन्वसृज्यत। गायत्री छंदो रथन्तरं साम
ब्राह्मणो मनुष्याणाम् अजः पशूनाम्। तस्मात्ते मुख्याः। मुखतोऽसृज्यन्त।
उरसा बाहुभ्यां पंचदशं निरमिमीत। तमिन्द्रो देवता—
न्वसृज्यत। त्रिष्टुप् छन्दो बृहत्साम। राजन्यो मनुष्याणाम्
अविः पशूनां तस्मादेते वीर्यवन्तः। मध्यतः सप्तदशं
निरमिमीत। विश्वेदेवा देवता अन्वसृज्यन्त। जगती छन्दो
वैरूपं साम। वैश्यो मनुष्याणाम् गावः पशूनाम्।
पत एकविंशं निरमिमीत। तमनुष्टुप्छन्दोऽन्वसृज्यत।
वैराजं साम। शूद्रो मनुष्याणामश्वः पशूनां...।
मधुसूदन झा विरचित "देवासुर ख्याति" में उद्धृत—पृष्ठ ५८.

२. पूर्वलिखित ग्रन्थ—पृष्ठ ५९.

बतलाया है। (१) वैज्ञानिक चातुर्वर्ण्य (२) यज्ञचातुर्वर्ण्य (३) छंदच्चातुर्वर्ण्य (४) कर्मविभाग चातुर्वर्ण्य (५) धर्मचातुर्वर्ण्य। इनमें से केवल अंतिम दो प्रकार का चातुर्वर्ण्य सामाजिक है तथा प्रारंभ से तीन चातुर्वर्ण्य आध्यात्मिक हैं। उपर्युक्त चातुर्वर्ण्य (जो कि मनुष्येतर अथवा प्रकृति में विद्यमान है) के आधार पर ही इस लोक में प्रजापति ने सामाजिक चातुर्वर्ण्य की स्थापना की। यद्यपि यह चातुर्वर्ण्य सामाजिक है तथा समाज परिवर्तनशील व अनित्य है तो भी इस सामाजिक चातुर्वर्ण्य संगठन को समाज की उन्नति व सुचारु व्यवस्था के लिए अपरिवर्तनशील व आवश्यक माना गया है; यह चातुर्वर्ण्य दो प्रकार का होता है—वैदिक और लौकिक। वैदिक वैज्ञानिक है; वेदों के अपौरुषेयत्व दो प्रकार का होता है—वैदिक और लौकिक। वैदिक वैज्ञानिक है वेदों के अपौरुषेयत्व के कारण यह अपौरुषेय और नित्य होता है। लौकिक सामाजिक है; सामाजिक अथवा समाज व्यवस्था की कृत्रिमता के कारण यह पौरुषेय अनित्य है। परन्तु देश व्यवस्था के सौकर्य के कारण ईर्ष्यादि दोषों से रहित होने के कारण अपने कर्मों में अभ्युदय के लिए निरंतर प्रवृत्त रहने के हेतु तथा विज्ञान से अनुमोदित होने के कारण इस मानव समाज के संगठन को भी अपरिवर्तनीय माना जाता है। अतः, धर्म के द्वारा चार प्रकार से कर्मों को विभाजित करके, मानवसमाज में चातुर्वर्ण्य की स्थापना की गई।[1] इस प्रकार से चातुर्वर्ण्य की स्थापना देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि मानव समाज में स्थापित चातुर्वर्ण्य का व्यवस्था-आधार प्रकृति में पाई जाने वाली चातुर्वर्ण्य व्यवस्था ही है। मनु, याज्ञवल्क्य तथा अन्य स्मृतिकार यह कहते हैं कि चातुर्वर्ण्य के अतिरिक्त और कोई पंचम वर्ण नहीं है, वहाँ वे इसी तथ्य की ओर संकेत करते हैं, वे केवल सामाजिक व्यवस्था के चातुर्वर्ण्य के लिए ही नहीं कहते हैं कि पांचवा वर्ण नहीं है अपितु, मानव और मानवेतर प्रकृति में प्राप्त होने वाले चातुर्वर्ण्य की सार्थकता को प्रकाशित करना उनका उद्देश्य है। उपर्युक्त विवेचन को दृष्टि में न रखने पर ही स्मृति वाक्य में अनेक भ्रांतियाँ तथा असंबद्धता का आभास मिलता है। ये शंकायें कितनी निर्मूल तथा कितनी असंबद्ध हैं यह बाह्य प्रमाणों से स्पष्ट हो जाता है।

वस्तुतः प्रारंभ में यह कर्म विभाग के ऊपर ही आधारित था। परन्तु कर्म कौशल बहुत कुछ वंश परंपरागत होता गया, इसलिये यह जन्मसिद्ध हो गया। परन्तु यह केवल जन्मसिद्ध नहीं है संस्कार विशेष के ऊपर भी निर्भर करता है। इसी को लक्ष्य करके वशिष्ठ स्मृति में स्पष्ट रूप से लिखा है कि—"**प्रकृतिविशिष्टं चातुर्वर्ण्य**

---

१. मधुसूदन झा—"देवासुर ख्याति", पृष्ठ ५२–५६.

संस्कार विशेषाच्च।" अर्थात् चातुर्वर्ण्य प्रकृति सिद्ध (प्राकृतिक अथवा जन्मसिद्ध) है किन्तु इसकी उत्पत्ति संस्कार विशेष (कर्म विशेष) से भी है। इसका अर्थ यह हुआ कि चातुर्वर्ण्य में पतन की ओर ले जाने वाले कर्म दोषों को दूर करने के लिए संस्कार की आवश्यकता रहती है। अतएव चातुर्वर्ण्य के जन्मसिद्ध होने पर भी संस्कार के बिना चातुर्वर्ण्य की सत्ता अधूरी रह जाती है; संस्कार के उपरान्त ही, जन्मसिद्ध और संस्कार से संस्कृत होने पर, पूर्ण चातुर्वर्ण्य होता है। चातुर्वर्ण्य के साथ संस्कार का अटूट संबंध है। वह उससे किसी भी स्थिति में भिन्न नहीं किया जा सकता। इसी आधार पर चातुर्वर्ण्य को तीन प्रकार से विभाजित करने का कुछ लोग प्रयत्न करते हैं—(१) संस्कारोपयुक्त (२) संस्कार सिद्ध तथा (३) संस्कार व्रतरूप।

जो संस्कार के उपयुक्त है वह संस्कारोपयुक्त है। अर्थात् ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न बालक द्विजाति संस्कार के उपयुक्त होता है; उस बालक में जन्म से ही ही (जन्मसिद्ध) ब्राह्मणत्व के गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु वह संस्कारापेक्षी रहता है। इसीलिए चातुर्वर्ण्य की पहली स्थिति हुई जन्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य का संस्कारापेक्षी होना अथवा उसका संस्कारोपयुक्त होना। द्वितीय, संस्कार सिद्ध का यह अर्थ हुआ कि ब्राह्मण माता-पिता से उत्पन्न बालक (संस्कारोपयुक्त) का द्विजातीय संस्कार हो जाना। जो संस्कारोपयुक्त होगा वही अपने अनुरूप संस्कार को ग्रहण करेगा। धर्म शास्त्र, स्मृतियां आदि, द्विजातीय संस्कार उसी के लिए विहित बतलाती हैं जिसमें जन्मसिद्ध द्विजातीय की संस्कारोपयुक्तता हो। जन्मसिद्ध ब्राह्मण का संस्कार हो जाने पर वह सांस्कारिक ब्राह्मण कहलाता है। सांस्कारिक ब्राह्मण को जन्मसिद्ध और कर्मसिद्ध ब्राह्मण कहा जा सकता है।

तीसरा है, संस्कार व्रतरूप। जो वस्तु उत्पन्न होती है उसका नाश भी संभव होता है। उदाहरण के रूप में, जन्मसिद्ध संस्कारोपयुक्त ब्राह्मण सांस्कारिक ब्राह्मण होता है। परन्तु इस सांस्कारिक ब्राह्मण का भी पतन हो सकता है। निंदित कर्मों के करने से अथवा विहित कर्मों के न करने से मनुष्य पतित होता है।[1] ऐसी स्थिति में उसकी संस्कारोपयुक्तता तथा संस्कार-सिद्धत्व समाप्त हो जायगा; उसका कोई महत्व नहीं रह जायगा। इसीलिए उसके उस संस्कृत धर्म (जो धर्म संस्कार के द्वारा आये) के संरक्षण के निमित्त उसको व्रतरूप कर्म जीवनपर्यन्त करने का उपदेश दिया गया है। जीवन पर्यन्त उसे विहित कर्म करने का तथा निंदित और वर्ज्य कर्म न करने

---

१. अकुर्वन् विहितं कर्म्म निंदित च समाचरन्।
प्रसज्जंश्चेन्द्रियार्थेषु नरः पतनमृच्छति—मनु।

का उपदेश स्मृतियाँ तथा अन्याय धर्म ग्रन्थ देते हैं। प्रतिकूल आचरण से उस चातुर्बर्ण्य के नाश का भय है। अतएव तदनुकूल कर्म उसके संरक्षण के लिए आवश्यक हुये। तदनुकूल व्रतों का आचरण ही संस्कार व्रतरूप तृतीय प्रकार का चातुर्वर्ण्य है, यही कर्मसिद्ध चातुर्वर्ण्य है। सामाजिक चातुर्वर्ण्य इन्हीं उपर्युक्त तीनों प्रकार के चातुर्वर्ण्यों के ही ऊपर आधारित है। वस्तुतः तीनों प्रकार का चातुर्बर्ण्य ही सम्यक् रुप से चातुर्वर्ण्य कहा जायगा। इसी विभाजन को एक अन्य प्रकार से भी किया गया है—विद्या, योनि तथा कर्म। जिसमें ये तीनों ही लक्षण पाये जायें उसी को ब्राह्मण समझना चाहिये।[1]

वर्णचतुष्टय के संस्कार

चातुर्बर्ण्य के लिए अनेक प्रकार के संस्कार विहित हैं। ये संस्कार बालक के उत्पन्न होने के पूर्व से प्रारम्भ होते हैं और मृत्युपर्यन्त किसी न किसी रूप में विद्यमान रहते हैं। कुछ संस्कार मृत्यु के उपरान्त भी होते हैं। इनमें मुख्य संस्कार सोलह माने गये हैं। ये षोडश संस्कार जातक को संस्कारसिद्ध बनाने के लिए ही हैं; संस्कार व्रत रूप बनने के लिए वर्ण विशेष के लिए अलग-अलग धर्मों को कथन है, वस्तुतः यह धर्म ही संस्कार है, तथा इसी के अनुसार विहित कर्मों का संपादित करता हुआ, वर्ज्य कर्मों का त्याग करता हुआ व्यक्ति किसी भी वर्ण में रहकर संस्कार व्रतरूपत्व प्राप्त कर सकता है।

गत पृष्ठों में तीन प्रकार के संस्कारों का उल्लेख किया गया था। ये तीन प्रकार के संस्कार वास्तव में जातक के वर्ण विशेष के आनुषंगिक धर्म हैं; इनका त्याग जातक की अपनी स्थिति से नीचे गिराने वाला होगा। संस्कारों का उद्देश्य तीन प्रकार का होता है, प्रथम गर्भ जन्य दोषों का परिहार करना, द्वितीय वर्णोचित योग्यता का अभिनिवेश करना और तृतीय जातक के वर्णोचित गुणों में अभिवृद्धि करना अर्थात् उसमें चमक लाना। एक उदाहरण है, जिस प्रकार दिये का प्रकाश स्वच्छ रहते हुये भी कांच के धुंधलेपन के कारण धीमा जान पड़ता है, उस समय कांच के संस्कार की आवश्यकता रहती है; संस्कार कांच का होता है परन्तु उसका प्रभाव दीप के प्रकाश

---

१. त्रीणि यस्यावदातानि विद्या योनिश्च कर्म च।
स ब्राह्मण इति ज्ञेयस्त्रयं ब्राह्मण्यलक्षणम्॥
मधुसूदन झा द्वारा विरचित 'देवासुर ख्याति' में पृष्ठ ६१ में उद्धृत। इसी पृष्ठ पर व्याकरण भाष्यकार पतंजलि तथा गौतम स्मृतिकार के भी विचार इसी के समर्थन में दिये गये हैं। विशेष विवरण वहीं द्रष्टव्य है।

पर पड़ता है और वह अधिक प्रकाशवान् जान पड़ने लगता है। वस्तुतः संस्कार न तो दीप का ही हुआ है और न प्रकाश का ही। संस्कार दीप के आवर्तक काँच का हुआ है। ठीक इसी भांति जातक के शरीर के विभिन्न प्रकार के संस्कारों के करने का विधान है। यहाँ यह उद्देश्य नहीं है कि इन संस्कारों से जातक का शारीरिक सौंदर्य विकसित हो वरन् ये संस्कार आत्मा के अभ्युदय के लिये है। यह पंचतत्व का शरीर आत्मा को आच्छादित किये हुये है। पंचतत्व के दुर्ग में बंदीकृत आत्मा राग, द्वेषादि षड्रिपुओं के नियंत्रण में पड़कर उन्हीं के आधीन हो जाती है, वे ही सजग प्रहरी हैं। इन प्रहरियों को परास्त करने के बाद ही आत्मा परमात्मा का साक्षात्कार कर सकती है। इसी को "मोक्ष" की संज्ञा प्रदान की गई है। यही है अंतिम लक्ष्य। अतः सर्वप्रथम ये संस्कार प्राणी में उन दोषों का परिमार्जन करते हैं; इसके द्वारा ब्राह्मणादि में वर्णों की जन्मगत आसुरी प्रवृतियों का हनन कर उन्हें संस्कारोपयुक्त बनाते हैं। अर्थात् सर्वप्रथम वे प्राथमिक संस्कार आते हैं जो केवल दोष परिमार्जन के ही निमित्त किये जाते हैं। ये प्रथम कोटि के संस्कार हैं; ये गर्भाधान से प्रारम्भ होते हैं और यज्ञोपवीत तक होते रहते हैं। गर्भाधान, पुंसवन और सीमन्तोन्नयन संस्कार बालक की उत्पति से पूर्व के संस्कार हैं। बालक के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् जातकर्म संस्कार करना विहित है। इसमें मंत्रपूर्वक घी, मधु, स्वर्ण निर्मित चम्मच आदि के द्वारा चटाया जाता है।[1] जातकर्म संस्कार के पश्चात् नामकरण संस्कार होता है।

प्रथम संस्कार गर्भाधान संस्कार कहलाता है। गर्भ का आधान ही गर्भाधान संस्कार है; द्वितीय संस्कार पुंसवन संस्कार कहलाता है। इस संस्कार का उद्देश्य गर्भस्थ को पुंसत्व प्रदान करना है। यह संस्कार पुमान् नक्षत्रों के साथ जब चंद्रमा का योग होता है तब किया जाता है। ज्योतिः शास्त्र के अनुसार हस्त आदि नक्षत्र पुमान् नक्षत्रों की कोटि में रखे जाते हैं। यह संस्कार गर्भ के हिलने के पूर्व ही किया जाता है। छठे अथवा आठवें महीने में सीमन्त संस्कार किया जाता है।[2] ये तीनों ही संस्कार जातक के उत्पन्न होने से पूर्व के संस्कार हैं, ये गर्भ के बैजिक दोषों को दूर करने के लिए तथा उनमें उचित गुणों के आधान की शक्ति बढ़ाने के लिए किये जाते हैं। प्रसव

---

१. भास्यते जातकर्म च.....। या० स्मृति, १. ११,
मनु २. २१

२. गर्भाधानमृतौ पुंसः सवनं स्पन्दनात्पुरा।
षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तः भास्येते जातकर्म च।। या० स्मृति, १. ११.
तथा पाराशरमाधवीय द्वितीय भाग, प्रथम पुस्तक पृष्ठ–२०—२३।

के उपरांत जातकर्म संस्कार विहित है। मनु के अनुसार नाभिच्छेदन के पहिले पुरुष का जातकर्म संस्कार किया जाता है, इसमें मंत्र के साथ नवोत्पन्न बालक को स्वर्ण, मधु और घृत चटाया जाता है। तदुपरान्त, जन्म से दस दिन अथवा बारह दिन (याज्ञवल्क्य के अनुसार ग्यारह दिन) उस बालक का नामकरण संस्कार किया जाता है; यदि किसी कारण से इन विहित दिनों में नामकरण संस्कार सम्पन्न न हो सका, तो ज्योतिः शास्त्र के अनुसार किसी पुण्य तिथि में यह कार्य संपादित होना चाहिये।[1] नाम के संबंध में मनु कुछ अधिक स्पष्ट हैं। उनके अनुसार नामकरण वर्ण भेद के अनुसार ही होना चाहिये। वे कहते हैं—ब्राह्मण का नाम मंगल सूचक शब्द से, क्षत्रिय का बल-द्योतक शब्द से, वैश्य का धन वाचक शब्द से तथा शूद्र का दीन आदि शब्द से युक्त रखना चाहिये। चातुर्वर्ण्य के नाम का प्रारंभ तो उपरोक्त प्रकार से किया जाय परन्तु अंत में ब्राह्मण का नाम शर्मयुक्त होना चाहिये, क्षत्रिय का रक्षा से समन्वित होना चाहिये, वैश्य का "पुष्टि" से युक्त (यहाँ ऐश्वर्य के द्योतक नाम से तात्पर्य है) होना चाहिये तथा शूद्रों का दास आदि शब्द से युक्त होना चाहिये।[2] स्त्रियों का नाम ऐसे शब्दों से युक्त होना चाहिये जो उच्चारण में कष्ट साध्य न हों, सस्पष्टार्थक हों, मनोहर तथा मंगल सूचक हों; स्त्रियों का नाम दीर्घवर्णान्त तथा आशीर्वाद द्योतक होना चाहिये, स्त्रियों का यह संस्कार बिना मंत्र के ही किया जाता है। (स्त्रियों का केवल विवाह संस्कार मंत्रयुक्त होता है।[3]) चतुर्थ मास में शिशु को प्रथम बार बाहर निकालने का संस्कार (निष्क्रमण) किया जाता है। छठे मास में अन्नप्राशन संस्कार होता है अन्नप्राशन के उपरान्त चूडाकर्म संस्कार का विधान है। यह संस्कार महत्वपूर्ण समझा जाता है। चूडाकर्म संस्कार जैसी कुल की रीति हो उसके अनुसार प्रथम अथवा तृतीय वर्ष में करना चाहिये।[4]

---

१. मनुस्मृति—अध्याय २—२६ से ३१ तक
२. मनु २—३१, ३२, ३३। इन नामों का उदाहरण इस प्रकार से दिया जा सकता है ब्राह्मण का विष्णु शर्मा, क्षत्रिय का विष्णु प्रताप वर्मा, वैश्य का विष्णु गुप्त, और शूद्र का विष्णुदीन।
३. तूष्णीमेताः क्रियाःस्त्रीणां विवाहस्तु समंत्रकः। या० स्मृति १. १३
४. अहन्येकादशे नाम चतुर्थे मासि निष्क्रमः।
षष्ठेऽन्नप्राशनं मासि चूडा कार्या यथाकुलम्॥ या० स्मृति, १. १२
चूडाकर्म द्विजातीनां सर्वेषामेव धर्मतः
प्रथमेऽब्दे तृतीये वा कर्तव्यं श्रुतिचोनात्॥ २. ३५

वैजिक और गार्भिक दोषों को दूर करने वाला अंतिम संस्कार मौंजी बंधन (यज्ञोपवीत) संस्कार होता है। मनु संस्कारों के दो भेद करते हैं। प्रथम कोटि में वे संस्कार आते हैं जिनका उद्देश्य पापक्षय करना होता है; ये गर्भजनित आसुरी प्रवृत्तियों का शमन करने के लिए किये जाते हैं। इस कोटि में गर्भाधान से लेकर यज्ञोपवीत तक के सभी संस्कार आ जाते हैं। यज्ञोपवीत के बाद के संस्कार (व्रत, होम, स्वाध्याय आदि के द्वारा) मोक्ष प्राप्ति के कारण बनते हैं। अस्तु।

ब्राह्मण बालक के गर्भ से अष्टम वर्ष में, क्षत्रिय बालक का गर्भ से ग्यारहवें वर्ष में और वैश्य बालक का गर्भ से बारहवें वर्ष में यज्ञोपवीत संस्कार करना चाहिये। यहाँ पर यह आवश्यक हो जाता है कि मनु और याज्ञवल्क्य के द्वारा (तथा अन्य धर्म ग्रन्थों द्वारा अनुमोदित) निर्दिष्ट द्विजातियों के उपनयन काल की वैज्ञानिक विवेचना की जाय। पूर्व प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य विश्व पुरुष के मुख, बाहु और जंघाओं से बनाये गये; पुरुष सूक्त के जिस प्रकरण में समाज की उपर्युक्त प्रकार से सृष्टि का वर्णन मिलता है उसी प्रकरण में मनुष्येतर सृष्टि का भी वर्णन मिलता है; इस मनुष्येतर सृष्टि में यह बतलाया गया है कि मुख बाहु आदि से और भी किस-किस की सृष्टि की गई हैं; ब्राह्मण विश्व पुरुष के मुख से उत्पन्न हुआ, मुख से ही गायत्री छंद की सृष्टि हुई; इसी प्रकार क्षत्रिय और वैश्य के साथ साथ क्रमशः त्रिष्टुप् और जगती छंदों का भी निर्माण हुआ था। पिछले पृष्ठों में यह बतलाया जा चुका है कि किस प्रकार उपर्युक्त प्रकार से सृष्ट होने के कारण छंदों में भी ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य आदि का विभाजन मिलता है। ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि सामाजिक वर्णचतुष्टय तो केवल एक नक़ल मात्र है; यह वर्ण विभाग तो प्रकृति में व्याप्त है, उसी को समाज के कल्याण के लिए मानव समाज में भी व्यवहृत कर दिया गया, तथा इस बात का प्रयत्न किया गया कि यह सामाजिक वर्णचतुष्टय प्रकृति में व्याप्त वर्णचतुष्टय के समान ही हो; उसके अत्यधिक समीप हो। इसीलिए ब्राह्मण के लिए उपनयन का समय आठवां वर्ष माना गया है क्योंकि ब्राह्मण कोटि में गायत्री छंद आते हैं; यह गायत्री छंद तीन पाद का होता है और प्रत्येक पाद में आठ वर्ण (अक्षर) होते हैं; यही कारण है कि ब्राह्मण का उपनयन आठवें वर्ष में करना श्रेष्ठ माना गया है। क्षत्रिय त्रिष्टुप् छंद से संबंधित है; त्रिष्टुप् छंद के पाद में ग्यारह वर्ण होते हैं, इसलिये क्षत्रिय का उपनयन का काल ग्यारहवाँ वर्ष माना गया है। इसी प्रकार जगती छंद वैश्य का है यह छंद बारह वर्णों का होता है, अतः वैश्य के उपनयन के लिए बारहवाँ वर्ष उत्तम माना गया है। उपनयन का यह विधान पत्थर की लकीर नहीं है;

इसमें परिवर्तन भी संभव है।[1] द्विजातीय यदि अपने वर्ण विशेष के गुणों में अधिक दक्षता प्राप्त करना चाहते हैं तो उनका उपनयन संस्कार क्रमशः पाँच, छः और आठवें वर्ष में किया जा सकता है। यज्ञोपवीत संस्कार का अंतिम काल क्रमशः सोलह, बाइस और चौबीस वर्ष है।[2] इस आयु तक द्विजातियों को सावित्री उल्लंघित नहीं होती है। अर्थात्, उपनयन संस्कार से ब्रह्मचारी जीवन का श्री गणेश होता है; ब्रह्मचारी जीवन ही जीवन पर्यन्त के ज्ञान प्राप्ति का वल होता है; सोलह, बाइस और चौबीस वर्ष तक द्विजाति बालकों में ज्ञानार्जन करने की क्षमता बनी रहती है, अतः अधिक से अधिक इस आयु तक उनका यज्ञोपवीत संस्कार हो जाना चाहिये। इसके बाद उनका मस्तिष्क धीरे-धीरे परिपक्व होने लगता है, ऐसी स्थिति में बाल्यावस्था के सुकोमल, कच्चे और सरल मस्तिष्क को ज्ञानमार्ग की ओर उन्मुख न करके कुछ जटिल, अधपके तथा कुछ विशेष प्रकार के वातावरण की मस्तिष्क में छाप लग जाने के बाद, बालक को उचित मार्ग में लगाना यदि असंभव नहीं है तो दुःसाध्य अवश्य है। अतएव उपनयन की अंतिम सीमा भी निश्चित कर दी गई है।[3]

उपनयन संस्कार के बाद ही संस्कारोपयुक्त द्विजातीय बालक संस्कार सिद्ध होकर द्विजातित्व प्राप्त करते हैं। यज्ञोपवीत संस्कार के द्वारा द्विजाति बालकों का द्वितीय जन्म होता है। प्रथम जन्म, पंचभूत शरीर के रूप में, माता के गर्भ से होता है; परन्तु उसका द्वितीय जन्म यज्ञोपवीत के द्वारा ही होता है। यह उसका सांस्कृतिक जन्म कहलाता है। यज्ञोपवीत संस्कार के उपरान्त बालक द्विजाति होकर आश्रम व्यवस्था के प्रथम आश्रम में प्रविष्ट होता है; इस आश्रम में प्रविष्ट होने के उपरान्त उसका आचार्य (गुरु) ही उसका पिता होता है तथा सावित्री (ज्ञान) ही उसकी माता होती है।[4] आचार्य उपनयन के बाद उसे (ब्रह्मचारी को) वेदादि का रहस्य ज्ञान कराता है।[5] यहाँ से वह बालक होने के उपरान्त ही निकल पाता है। आश्रम व्यवस्था की

---

१. उपयुक्त विधान केवल यह बतलाता है कि अमुक वर्ण के लिए अमुक वर्ष श्रेष्ठ है।
२. मनुस्मृति २. ३६, ३७, ३८.
३. उपनयन संस्कार पर अग्रिम पृष्ठों में विशेष प्रकाश डाला जायगा।
४. तेमातुरग्रेऽधिजननं द्वितीयं मौंजिबंधने।
तत्रास्य माता सावित्री पितात्वाचार्य उच्यते।
वसिष्ठस्मृति, अ० २ श्लोक ४
५. मनुस्मृति, अ० २ श्लोक ६८.
याज्ञ० स्मृति, अ० १ श्लोक १५.

प्रथम सीढ़ी में चढ़ने के बाद वह (ब्रह्मचारी) मोक्ष की कामना करता हुआ एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी में चढ़ता हुआ आत्मोन्नति के मार्ग में अग्रसर होता रहता है; जब तक आत्मा परमात्मा में नहीं मिल जाती है तब तक अनेक व्रतादि संस्कारादि के रूप में लगे रहते हैं। वस्तुतः यज्ञोपवीत संस्कार ही सबसे प्रमुख संस्कार है क्योंकि इसी संस्कार के उपरान्त जातक द्विजातीयत्व प्राप्त करता है, वह संस्कार सिद्ध होता है। अतएव यह संस्कार अत्यधिक महत्वपूर्ण है। इसके बाद यथा समय (ब्राह्मण १६, क्षत्रिय २२, वैश्य २४ वर्ष तक) उपनयन संस्कार न होने पर द्विजाति बालक सावित्री से पतित हो जाते हैं; शिष्ट वर्ग से निंदित हो जाते हैं, "व्रात्य" कहे जाने लगते हैं। यदि ये व्रात्य प्रायश्चित करके यज्ञोपवीत धारण नहीं कर लेते तो ये एक प्रकार से बहिष्कृत समझे जाने लगते हैं। मनु के अनुसार इन व्रात्यों के साथ आपत्तिकाल में भी वेदाध्ययन आदि का संबंध तथा वैवाहिक संस्कार नहीं करना चाहिये।[1]

संस्कारों का वर्णचतुष्टय से नित्य का संबंध है। यह संस्कार ही वर्णचतुष्टय को बनाये रखने वाला होता है। अतएव यह वर्णचतुष्टय के लिए अनिवार्य है। वर्ण-चतुष्टय को धर्म की भी संज्ञा दी जा सकती है क्योंकि धर्म का यदि वास्तविक स्वरूप देखा जाय तो संस्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संस्कार उसको कहते हैं जो किसी वस्तु को किसी क्रिया के अनुकूल या योग्य बनाये। अर्थात् उस काम (जिस काम को करना लक्ष्य है) के करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए नियत किया जाय। उस काम के लिए कुछ विशेष प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता रहती है। जब तक यह शिक्षा नहीं प्राप्त हो जाती, उस काम को करने का अधिकार नहीं प्राप्त होता क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपने धर्मानुसार ही कार्य करता है; अतः किसी व्यक्ति को किसी काम के योग्य बनाना या बनाये रखना ही उसका संस्कार है और यही उसका धर्म है। मनुष्य अपने अभ्युदय और निश्श्रेयस के लिए जो कर्म करता है वह मनुष्य का धर्म है और जो कर्म इस हेतु किये जाते हैं उन्हीं को संस्कार कहते हैं, इसलिए धर्म संस्कार का ही नाम है। इसी के अनुकूल मनु ने संस्कार को दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम कोटि में आने वाले संस्कार वे संस्कार हैं जो संसारी के पापों और दोषों को दूर करते हुये, अभ्युदयदायी और निःश्रेयस सिद्धि प्रदान करने वाले कर्मों के करने की

---

१. अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथाकालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्यविगर्हिताः॥
न—तैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान्योनांश्च संबंधिनाचरेद् ब्राह्मणः सह॥ मनु० अ० २ श्लोक ३९, ४०

योग्यता प्रदान करते हैं, दूसरी कोटि के संस्कार वे हैं जिन्हें स्वाध्याय, होम, यज्ञ अथवा निःश्रेयस और अभ्युदय के साधक कर्म कहा जा सकता है। ये कर्म ही वर्ण विशेष के अपने-अपने धर्म हैं। स्मृति चतुष्टय में इनका वर्णन निःसंकोच किया गया है। वस्तुतः एक वर्ण और दूसरे वर्ण का कर्म विभाग इसी वर्ण विशेष के धर्म के ही ऊपर आधारित है।

वर्ण—धर्म

वर्ण—चतुष्टय के विभिन्न धर्मों का विभाजन का आधार भी वैदिक-विज्ञान ही है। धर्म के प्रकरण में (पूर्व अध्याय में) धर्म को दो स्थूल भागों में बांटा गया था— साधारण और असाधारण धर्म। साधारण धर्म-कर्म वर्ण चतुष्टय के लिए सामान्य रूप से आचरणीय था तथा असाधारण धर्म के संबन्ध में यह बतलाया गया था कि विभिन्न वर्णों के पृथक्-पृथक् तथा विभिन्न आश्रमों के अनुसार परिस्थिति विशेष में अनुकरणीय धर्म असाधारण धर्म है। असाधारण, सभी वर्णों के लिये सामान्य रूप से अनुकरणीय नहीं है वरन् विभिन्न वर्णों के अपने विशेष उत्तरदायित्व का द्योतक है।

सभी प्रकार की प्रेरणा (धर्म-कर्म करने की) का आधार वेद माना गया है, परन्तु वेद के विषय में कहा जाता है कि उसकी रचना किसी ने नहीं की है, ब्रह्मा जी ही उसके स्मरण करने वाले हैं तथा कल्पांतर में मनु उसी प्रकार धर्म का स्मरण करते हैं[1] (प्राणियों का मार्ग दर्शन करने के लिए)। इसी कारण मनुस्मृति को सार्वकालिक कहा जाता है।[2] परन्तु मनु के द्वारा बतलाया हुआ धर्म वेद के ही अनुकूल है; (मनु

---

१. पाराशर स्मृति अ० १ श्लोक २१

२. इसका वर्णन किया जा चुका है। यह ज्ञातव्य है कि स्मृति चतुष्टय के द्वारा वर्ण चतुष्टय की रूपरेखा पूर्णतः वेदानुकूल है तथा, यह भी बतलाया जा चुका है कि यह सामाजिक वर्ण चतुष्टय प्रकृति में व्याप्त वर्ण चतुष्टय की नकल है। यह अनुकरण अतिस्थूल नहीं है, अर्थात् सामाजिक चातुर्वर्ण्य की रूपरेखा मात्र ही प्रकृति में व्याप्त वर्णचतुष्टय का अनुकरण नहीं है वरन् यह अनुकरण सूक्ष्म बातों में परिलक्षित होता है। सामाजिक वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति विश्व-पुरुष के विभिन्न अंगों से हुई, इन्हीं अंगों के साथ अन्य सृष्टि कार्य भी हुए। अब यहाँ पर विशेष ध्यान देने योग्य बात यह है कि वर्णों के विभिन्न कर्म और उनके धर्म का आधार भी यही वर्णोत्पत्ति ही है। और इस कर्म विभाग में भी प्रकृति में व्याप्त वर्ण चतुष्टय के कर्म विभाग का ही अनुकरण किया गया है। अतएव यह कर्म विभाग भी अत्यन्त वैज्ञानिक है।

ने पद-पद में वेद का अनुमान किया है)। अन्य स्मृतियाँ भी मनुस्मृति का विरोध करके प्रमाणिकता नहीं प्राप्त कर सकती हैं। अतएव यह स्पष्ट कहा जाता है कि मनुस्मृति का धर्म विधान वैदिक है तथा अन्य स्मृतियाँ (यहाँ पर याज्ञवल्क्य, पाराशर और नारद स्मृतियों से ही तात्पर्य है) भी मनु का अनुसरण करने के कारण वेद का ही अनुकरण करतीहैं।

मनुस्मृतिकार ऋग्वेद के पुरुषसूक्त का अनुकरण करके वर्णों की उत्पत्ति बतलाते हैं। उनकी उत्पत्ति गुण और कर्म के ही अनुसार विभिन्न स्थानों से हुई है। अतएव उनके कर्म अथवा धर्म भी अलग-अलग ही होंगे। संसार के संरक्षण के ही लिये चातुर्वर्ण्य के कर्म भी अलग-अलग किये गये हैं। कर्म वैविध्य की यह व्यवस्था सभी वर्णों के लिए सभी युगों में मान्य रही है। यहाँ पर क्रमशः इन चातुर्वर्ण्य के पृथक-पृथक् कर्मों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है।

द्विजाति मात्र के लिए यज्ञ करना, पढ़ना और दान देना, ये सामान्य रूप से आचरणीय कर्म है; ब्राह्मण के इन तीन कर्मों के अतिरिक्त तीन और कर्म हैं—प्रतिग्रह (दान ग्रहण करना), यज्ञ कराना तथा अध्यापन[1]। प्रथम तीन प्रकार के कर्म द्विजातियों के लिए सामान्य रूप से होने के कारण द्विजातियों में वर्ण भेद नहीं करते हैं। इसके अतिरिक्त ये तीन कर्म दैनिक जीवन से संबन्धित हैं; गृहस्थ (द्विजाति) होने मात्र से ही ये उसके आवश्यक कर्तव्य हो जाते हैं। परन्तु जहाँ जीविका का प्रश्न आता है वहाँ द्विजातियों का कर्म वैविध्य दिखलाई पड़ता है। ऊपर बतलाये गये अंतिम तीन कर्म (जो ब्राह्मण के लिए हैं) ब्राह्मण की जीविका बतलाते हैं। पाराशर स्मृति और मनुस्मृति में ब्राह्मण को षट्कर्मा कहा गया है; साथ ही साथ मनुस्मृति में स्पष्ट रूप से व्यवस्था दी गई है कि ६ कर्मों से तीन कर्म (वेदाध्यापन, यज्ञ कराना और सत्पात्रों से दान ग्रहण करना) जीविका के लिए हैं। जीविका संबंधी यह विधान केवल ब्राह्मण के लिए ही है; क्षत्रिय, वैश्य आदि इन तीन प्रकार के कर्मों को जीविका के लिए नहीं अपना सकते हैं। यदि कोई ब्राह्मण इन षट्कर्मों से हीन होकर (अर्थात् इन वैधानिक कर्मों का त्याग करके) अन्यत्र श्रम करता है तो वह समृद्ध होते हुये भी वंश सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है।[2]

क्षत्रिय का शस्त्रास्त्र धारण करना ही उसकी जीविका है तथा वैश्य की आजीविका व्यापार, पशुपालन, खेती आदि के द्वारा विहित है। क्षत्रिय का कर्म यह

---

१. मनुस्मृति १, ८७, से ९० या० स्मृति आ० अ० ११८, पा० स्मृति १—३८, पा० मा० पृष्ठ १४५

२. मनुस्मृति—अध्याय १०, ७५, ७६ पा० मा० पृष्ठ १४९

बतलाता है कि प्रजा का संरक्षण ही उसका परम धर्म है। शस्त्र धारण करने पर उसके (क्षत्रिय के) दो प्रकार के कर्तव्य हो जाते हैं—प्रजा की रक्षा करना तथा शत्रुओं की सेनाओं को जीत कर (अर्थात् शत्रुओं का दमन कर) धर्म के अनुसार प्रजा का भरण-पोषण करना।[1] शस्त्र ही उसकी आजीविका के साधन हैं। वैश्य के कृषि, वाणिज्य आदि के साथ-साथ ब्याज में रुपये देना (कुसीद) भी जीविका का एक साधन है।[2]

जातियों के उपर्युक्त धर्म उनके अपने-अपने वर्ण के स्वधर्म हैं, जीविकोपार्जन के साधन तीनों वर्गों के (द्विजातियों के) भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु इस आजीविका के साधनों में भेद आदि होने का एक ही तथ्य है—अपने-अपने गुणों के अनुरूप जीविकोपार्जन करते हुये पुरुषार्थों को संपादित करना। किंतु इन तीनों वर्णों में से यदि कोई एक वर्ण आजीविका के स्रोत से सुचारु रूप से जीवन यापन करने में असमर्थ रहता था तो उसके लिये दूसरे वर्ण के विहित मार्गों को अपनाने का विधान था। इस स्थिति को स्मृतियों ने आपद्धर्म के नाम से अभिहित किया है। अतः, आजीविका के तीन साधनों के द्वारा यदि ब्राह्मण अपने परिवार का भरण-पोषण करने में असमर्थ रहता था तो वह क्षत्रिय और वैश्य के कार्यों को भी अपना सकता था, परन्तु वैश्यों के कार्यों में भी उसके ऊपर कुछ नियंत्रण थे, यथा—कृषि कर्म ब्राह्मण के लिए वर्ज्य था; वह कुसीद में धन नहीं लगा सकता था तथा रसादि के विक्रय में भी उसके लिये पर्याप्त नियंत्रण था। इसी प्रकार क्षत्रिय अपने विहित कर्मों के द्वारा कुटुम्ब पालन करने में असमर्थ होने पर वैश्य वृत्ति को ग्रहण कर सकता था, इस वर्ण के लिये भी कुछ नियंत्रण थे। वैश्य वर्ग अपने विहित कर्मों के द्वारा जीवन में गति बनाये रखने में यदि असमर्थ रहता था तो वह शिल्प कार्य आदि कर सकता था। परन्तु साधारणतया यदि अपने विहित कर्म (स्वधर्म) पालन से ही जीवन निर्वाह हो जाता तो ये द्वितीय विधान के कार्यों का करना उचित नहीं था। क्योंकि वर्ण व्यवस्था की व्यवस्था का यही आधार था। यदि स्वेच्छा से स्वकर्म त्याग करके परधर्म का सेवन किया जाना संभव होता तो यह व्यवस्था वर्णव्यवस्था के नाम से अभिहित न हो सकती, वह अव्यवस्था में परिवर्तित हो जाती।[3] इसी प्रकार शूद्र के लिए भी साधारण और असाधारण अवसरों पर आजीविका के विभिन्न मार्गों का विधान था। आपद्धर्म के संबंध में यह भी ध्यान रखना आवश्यक है कि जब तक

---

१. मनुस्मृति अध्याय १—८९, ९० अ० १०—७७, ७८, ७९
पाराशरस्मृति अ० १, ६६ या० स्मृति आचार

२. या० स्मृति आचा० गृहस्थ १२९

१. मनुस्मृति—अध्याय १०, ८०, ८१, ८२, ८३, ९४, ९८, ११७

आपत्तिकाल हो तभी तक उसे निम्नवर्ण के धर्म से निर्वाह करने का अधिकार प्राप्त है। आपत्तिकाल से निर्मुक्त होते ही उसे फिर अपने स्ववर्ण-विहित धर्म में लौट आना चाहिये।

शूद्रों के कर्मों के संबंध में स्मृतियों का कथन है कि उसके लिए द्विजातियों की सेवा ही एक मात्र विहित कर्म है। अतएव शूद्र को द्विजाति की सेवा का विधान देकर उसकी आजीविका को भी निश्चित कर दिया गया (द्विजाति सेवा ही उसकी आजीविका का साधन था), परन्तु इस सेवावृत्ति की विशेषता यह थी कि इसमें असूया की भावना नहीं होनी चाहिये; यह सेवा कार्य सौहार्द्रपूर्ण होना चाहिये।[1] इसके अतिरिक्त, अन्य प्रसंगों के वर्णन के अनुसार उसके अन्य कर्म भी विहित थे। वह शिल्प व्यवसाय को भी अंगीकार कर सकता था। शिल्पशास्त्र स्वयमेव अनेक शाखाओं से युक्त होता था इसके अंतर्गत काष्ठ के पदार्थों का निर्माण, मूर्तियों का निर्माण आदि भी सम्मिलित था।[2] ये कार्य उसके सामान्य कार्य थे, अर्थात् शूद्र वर्ण के होने मात्र से ही इन कर्मों के करने का उत्तरदायित्व व्यक्ति पर आ जाता था। यह स्पष्ट ही है कि यह कर्म विधान भी केवल आजीविका के लिए ही था, अतः व्यवसाय का आदर्श पारिवारिक भरण-पोषण सुगमता से हो ही जाता था; यदि शूद्र अपनी इस वृत्ति से परिवार का भरण-पोषण करने में असमर्थ हो (स्मृतियों की शब्दावली में इसे आपद्धर्म कहा गया है) तो वह वैश्य के व्यवसाय को भी अपना सकता था। अतएव वैश्य वृत्ति को अपना कर पारिवारिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ-साथ विभिन्न पुरुषार्थों का किया जाना अभीष्ट था; इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि शूद्र को इस बात की स्वतंत्रता थी कि वह द्विजातियों के हित को दृष्टि में रखकर, या तो उनकी सेवा करे अथवा वह स्वतंत्र रूप से वाणिज्य अथवा शिल्प विज्ञान का आधार ले; परन्तु उसे ऐसे कार्य करते समय यह नहीं समझना चाहिये कि वह द्विजातियों के (विशेषकर वैश्य के) ही समान हो गया है। उसको स्वतंत्र मार्ग का अवलंबन करते हुए भी द्विजातियों की सेवा तथा हित चिंतन करते रहना चाहिये। तात्पर्य यह है कि वह चाहे स्वतंत्र रूप से शिल्पी अथवा वणिक् होकर जीवन निर्वाह करता हो, अथवा द्विजातियों की सेवा के द्वारा जीवन निर्वाह करता हो तो उसे द्विजातियों के प्रतिकूल होकर कार्य नहीं करना चाहिये। उन्हीं के अनुकूल रहकर ही कार्य करना शूद्र के लिए अधिक हितकर होगा। इस विधान का यह कारण जान पड़ता है कि वाणिज्य अथवा शिल्पी का व्यवसाय ही

---

१. मनु० १, ९१
२. मनु १०, ९९, १००

इस प्रकार का है कि जब तक इन व्यवसायों में रहने वाले समाज के अनुकूल रह कर कार्य नहीं करेंगे तब तक उन्हें सफलता कदापि नहीं प्राप्त हो सकती और शूद्र के अतिरिक्त में समाज द्विजाति ही रह जाता है अतएव उसे इन्हीं के अनुकूल रह कर ही कार्य करना चाहिये।[1]

चातुर्वर्ण्य की उपरोक्त व्यवस्था को देखने से यही निष्कर्ष निकलता है कि यह समाज के सावयव स्वरूप की कल्पना करता है। किसी भी एक वर्ण का अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है; उसका अस्तित्व अन्य वर्णों के अस्तित्व पर ही आधारित है। उनके विभिन्न कर्मों का विभाजन भी इसी सावयववादी सिद्धान्त की पुष्टि करता है। पुरुष सूक्त का अनुकरण करते हुये स्मृतियों ने भी वर्णोत्पत्ति का आधार विराट् पुरुष (विश्व पुरुष) के विभिन्न अंगों को ही माना है। तथा यह वर्णोत्पत्ति ही वर्णों के कार्य-विभाजन के कारण है, वहाँ पर भी सावयववादी सिद्धान्त की पुष्टि ही की गई है। ब्राह्मण की सृष्टि मुख से की गई है; मुख वक्तृता का (बौद्धिक विकास का) द्योतक है; मुख शीर्षस्थ है; वह मस्तिष्क का व्यवहार करता है, अतएव ब्राह्मण को भी तदनुरूप कार्य प्रदान किये गये। इसी प्रकार क्षत्रिय बाहु से निर्मित हुये; बाहु शक्ति का द्योतक है। यह शक्ति संरक्षण विजय आदि के लिए व्यवहार की जाती है अतएव क्षत्रिय की आजीविका शस्त्रास्त्रभृतित्व में है। इसी प्रकार वैश्य की उत्पत्ति जांघ से हुई। जांघ को शरीर का आधार स्तंभ कहा जाता है उसकी सहायत ा के बिना शरीर की स्थिति असंभव होती है अतएव उसको भी सावयव समाज का आध ार स्तंभ बनना पड़ता है। समाज की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वह आवश्यक वस्तुओं को एक स्थान से दूसरे स्थान पर पहुँचाकर अर्थात् वणिक् व्यवसाय के द्वारा वह समाज सेवा का कार्य करता है। वैश्य के साथ ही गौ (अथवा वृषभ) की भी उत्पत्ति कही गयी है; इसका उपयोग कृषि कार्य के लिए होता है, इसलिए भी वैश्य की आजीविका कृषि कर्म के द्वारा भी अभिहित है। इसी प्रकार शूद्रों की भी स्थिति की है। उनकी उत्पत्ति पैरों से हुई है। पैर संपूर्ण शरीर के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं। नेत्र, कर्ण आदि इन्द्रियां अपना कार्य पैरों के असहयोग में संपादित नहीं कर सकती हैं। पैर ही दर्शनीय तथा श्रवणीय स्थान में ले जा कर शरीर की सहायता करता है। यही तर्क यह सिद्ध करता है कि मुख बाहु और जंघा से सृष्ट वर्णों के कार्य भी बिना पैरों की सहायता के संपादित नहीं हो सकते हैं; इसी प्रकार पैरों का जीवन भी इन्हीं तीनों के ही ऊपर आधारित है अतः ये

---

२. यहाँ पर विभिन्न वर्णों के कार्य संक्षेप में ही दिये गये हैं—विशेष विवरण गृहस्था-श्रम के प्रकरण में प्रस्तुत किया जायगा।

अन्योन्याश्रित हैं। यही कारण है कि पैरों से उत्पन्न शूद्र के लिए द्विजाति सेवा ही प्रमुख कार्य बतलाया गया है। यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि स्मृतियाँ इस बात को स्पष्ट रूप से कहती हैं कि शूद्र अपने कार्यों को असूया (ईर्ष्या) से रहित होकर करे। सामाजिक चातुर्वर्ण्य समाज को शांति और सुख की गांठ में बांधने वाला सिद्धान्त है। जब चारों वर्ण एक दूसरे को सहायक की दृष्टि से देखेंगे तभी सामाजिक प्रेम, सहानुभूति तथा परोपकारिता की भावना का (जो कि प्रत्येक समाज की सर्वांगीण उन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है) विकास संभव हो सकता है, अन्यथा नहीं। भारतीय धर्म का सिद्धान्त वर्णचतुष्टय को कर्तव्यशील बनाता है; वह वर्ण चतुष्टय के सामने वर्ज्य और विहित कर्मों को सूची देता है; वह सत्य, दया आदि के के द्वारा (साधारण धर्मों के द्वारा) यही पाठ पढ़ाना चाहता है कि समाज का हित पर हितकारिता में है और यह पर हितकारिता ही व्यावहारिकता प्रदान करती है। ऐसी स्थिति में यह कहना भ्रामक है कि शूद्र अथवा वैश्य हीन स्थिति में थे और ब्राह्मण और क्षत्रिय अच्छी स्थिति में थे। इसी प्रकार यह कहना कि प्राचीन धर्म शास्त्र के समक्ष समाज का सावयव स्वरूप नहीं था, निराधार है।

अनेक विद्वान् भारतीय सामाजिक व्यवस्था के अंतःस्थल में न पहुँच सकने के कारण, उसे अनेक प्रकार से दोषपूर्ण मानते हैं श्रीमान् अंजारिया महोदय ने वर्ण धर्म के दो प्रमुख दोष सामने रखे हैं। सर्व प्रथम, व्यक्ति के पास इतनी छूट नहीं रहती है कि वह प्रयोग और गलतियों के माध्यम से जीवन का निर्णायक हो। वर्णधर्म पर आधारित समाज में यह संभव नहीं है कि कोई व्यक्ति साधारण स्थिति से असाधारण स्थिति तक पहुंच जाय। द्वितीय, इस प्रकार किसी व्यक्ति का व्यवसाय उसके जन्म के द्वारा निर्णित हो जाने पर (बिना इसका ख्याल रखे हुये कि उसमें क्या योग्यता है) यह समाज के विभिन्न वर्गों में द्वेषात्मक भेदभाव को उत्पन्न करता है। इसके परिणाम स्वरूप ब्राह्मण ही सबसे अधिक विशिष्ट वर्ग बन जाते हैं। शूद्रों की स्थिति जानवरों से कुछ अच्छी तथा वैश्य भी इतने नीचे की स्थिति में रहते हैं कि जिससे उनके लिए यह संभव नहीं रह जाता है कि वे भी राजकार्य में दिलचस्पी ले सकें। इसके अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था समाज को दो द्वेषात्मक् भागों में बांट देती है। समाज का अधिकांश भाग अन्याय और भाग्य विडंबना का भागी हो जाता है। केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय ही ऐसे वर्ग हैं जो कि राजकीय यंत्र के कार्यों को प्रभावित कर सकते हैं, परन्तु वे भी व्यक्तिगत नागरिक के रूप से नहीं वरन् विशिष्ट वर्ग के नाते ही। वैश्य और शूद्र तथा महाभारत में वर्णित सीमाप्रान्तीय कबीले का कार्य केवल आज्ञाओं को शिरोधार्य करना मात्र रह जाता है। उनको राजकीय कार्यों में सक्रिय और रचनात्मक भाग लेने का

अवसर ही नहीं रहता है। इससे स्पष्ट है कि वे अपने आपको समष्टि से संबंधित कदापि नहीं समझ सकते हैं। वे राज्य से तादात्म्य स्थापित नहीं कर सकते हैं। इसके अतिरिक्त भी शंका एक स्थान पर संबंधित लेखक ने भारतीय वर्ण व्यवस्था के सावयव स्वरूप पर भी शंका प्रकट की थी।[1] ये विचार एकांगी तथा अपूर्ण हैं।

---

१. The Varna Dharma scheme is defective in two ways. Firstly, it leaves no scope for the individual to find out by a process of trial and error his proper station in life. The mere fact of birth is taken to determine his whole course of life. In a society based on Varna Dharma a man cannot rise from humble position to a position of eminence. The Varna determined, by birth comes in the way of his rising to the full stature of his mental and moral manhood. Secondly, having thus determined a man's vocation and place in society, apart from his aptitude and fitness, the Varna Dharma brings an invidious distinction between the members of the different classes in society.

As a result, the Brahmins become the most privilged class the Shudras little more than beast, and the Vaishyas also are too far below to take any intelligent interest in the affairs of the State. Page 212. J. J. Anjaria, 'Political Obligation in the Hindu State'

As also–'to sum up, the conception of the hierarchical scheme of Varnas creates a hiatus between the different classes in society. The large mass of the people is thus placed in an unfortunate and unjust position. The Brahmins and Kashtriyas are the only classes who could exercise an influence on the working of the state machinary......The Vaishyas and Shudras

प्रत्येक वस्तु का, प्रत्येक रचना का अथवा प्रत्येक व्यवस्था का अध्ययन स्थूल रूप से दो प्रकार से किया जा सकता है—एक सकारात्मक और दूसरा नकारात्मक। यदि अध्ययन के पूर्व ही किसी प्रकार के विचारों की रूपरेखा मस्तिष्क में न बनी हो तब ही निष्पक्ष तथा न्यायपूर्ण आलोचना का प्रस्तुत होना संभव होता है परन्तु इसके विपरीत होने पर आलोचना में अनौचित्य और पक्षपात की भावनाओं के समावेश हो जाने की शतप्रतिशत संभावना बनी रहती है। कथित लेखक के विचारों में भी इसी प्रकार की असंगति परिलक्षित हो रही है। भारतीय वर्ण व्यवस्था का क्या आधार था तथा उसका क्या उद्देश्य था—यह गत पृष्ठों में प्रस्तुत विचार-विमर्श से स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र को इसलिए संगठित नहीं किया गया था कि एक वर्ण दूसरे वर्ण पर अत्याचार और शोषण की नीति को अधिक अच्छी तरह व्यवहार में लावे। वे एक दूसरे के सहायक के रूप में ही आते हैं। वे अन्योन्याश्रित हैं। समाज में ब्राह्मण का भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना शूद्र का। यदि हम आज के युग की परिस्थितियों को प्राचीन काल की व्यवस्था का मापदंड बनाकर मूल्यांकन करना चाहें तब अवश्य ही प्रत्येक पद में ऊंच-नीच की भावना, शोषण और अत्याचार की ही भावना दृष्टिगत होगी। परन्तु यह पद्धति हानिकारक है। जिस समय की आलोचना करना है; उस समय की परिस्थितियों को उस समय की व्यवस्था का मापदंड बनाना चाहिये। वास्तव में प्राचीन काल में भारतीयों के सामने ऐसी कोई कल्पना नहीं थी कि अमुक वर्ण नागरिक अधिकारों से युक्त होगा और अमुक वर्ण इससे वंचित रहेगा। नागरिकों के अधिकारों की कल्पना अर्वाचीन है; इसका कारण समाज और राज्य के मध्य का कृत्रिम अंतर है। प्राचीन भारतीय मनीषियों के मस्तिष्क की उर्वरता समाज और राज्य को विभिन्न संस्था के रूप में स्वीकार नहीं करती है। इसका प्रमाण धर्म का सिद्धान्त है। धर्म का सिद्धान्त कर्म के सिद्धान्त का जन्मदाता है

---

as also the border tribes mentioned in the Mahabharat have merely to "accept orders". They could have no opportuntiy to take an active and constructive interest in the work of the state. Evidently, therefore, they could not feel themselves as related to the whole; they could not really identify themselves with the state-and so become state." Ibid, Page 218.

और यही कर्म का सिद्धान्त समाज व्यवस्था का आधार बन जाता है; तथा यह "धर्म' उस व्यवस्था का नियामक बनता है। धर्म का सिद्धान्त अपनी व्यापकता में समाज के प्रत्येक प्राणी (चाहे वह किसी वर्ण का हो) को प्रभावित करता है, धर्म द्वारा प्रभावित होने का तात्पर्य यह होता है कि (प्राणी) अपने कर्मों को (कर्तव्यों को) अधिकार की भावना से निरपेक्ष रह कर करते हैं। यदि यह भावना चरम विकसित होती तो संभवत: राज्य व्यवस्था की ही आवश्यकता न पड़ती (अर्थात्, यदि सभी व्यक्तियों में अपने कर्तव्य पालन की भावना निरंतर जागरूक रहती; उनमें एक ऐसी चेतनता होती, कि वे स्वाभाविक रूप से अपने कर्तव्यों और उत्तरदायित्व के अनुसार कार्य करते तब फिर उनकी वह जागरूक चेतनता ही उनका मार्ग प्रदर्शन करती। ऐसी स्थिति में समाज में गड़बड़ी की कल्पना ही असंभव हो जाती है और तब राज्य की आवश्यकता ही नहीं रहती—(समाज में अव्यवस्था की जो स्वाभाविक प्रवृति होती है उसे रोकने के लिये ही राजत्व की कल्पना है)। परन्तु यह एक आदर्श है यह आदर्श समाज के छः शत्रुओं के द्वारा (काम, क्रोध लोभादि छः शत्रु कहे जाते हैं) निरंतर त्रसित किया जाने के कारण असंभव हो जाता है;[1] तब उस सामाजिक व्यवस्था में अव्यवस्था का होना अपरिहार्य होता है। यहीं पर भारतीय राजधर्म का सिद्धान्त आता है। राजधर्म ऊपर वर्णित धर्म से भिन्न होकर नहीं आता है, वह उस व्यापक "धर्म" का अति सूक्ष्म भाग है;[2] यह राजधर्म क्षत्रिय समाज में व्यवस्था बनाये रखने का पाठ पढ़ाता है।

यह राजधर्म समाज को दो भागों में बांटता अवश्य है, परन्तु आधुनिक शब्दावली शासक और शासित अथवा शोषित और शोषक अथवा त्रसित के रूप में नहीं; यह विधान संरक्षक और संरक्षित अथवा व्यवस्थापक और व्यवस्थित का है। राजशक्ति (दंड शक्ति) का प्रयोग सामाजिक चातुर्वर्ण्य को कलुषित करने वालों को नियंत्रित करने के लिए ही होता है। आगे राजधर्म प्रकरण में इसका विशद वर्णन किया गया है। वहाँ पर यह भी बतलाया गया है कि व्यक्ति दंड शक्ति का तभी आभास पाता था जब वह अपने धर्म का परित्याग करके कुमार्गगामी होता था अन्यथा नहीं। राजा के

---

१. न्याय व्यवस्था के प्रसंग में यह बतलाया गया है कि नारद ने उक्त मानव दोषों को ही अपराधों का प्रवर्तक माना है।

२. धर्म के प्रसंग में यह बताया जा चुका है कि धर्म का स्थूल विभाजन सांसिद्धिक और नैमित्तिक (जो किसी निमित्त को लेकर आता है) के रूप में किया जाता है। वहीं पर यह भी बतलाया गया था कि राजधर्म भी एक नैमित्तिक धर्म है।

पास यह शक्ति लोक कल्याण के लिए प्रदान की गई थी[1]। परन्तु राजा अथवा क्षत्रिय षड्रिपुओं से मुक्त नहीं हैं, (क्योंकि वे भी मनुष्य हैं) वरन् वे और भी आसानी से इन शत्रुओं के चंगुल में आ सकते हैं। हाथ में शक्ति आने पर जरा भी आत्मसंयम में ढिलाई आई नहीं कि इन शत्रुओं ने उसे परास्त किया। इसी से बचाने के लिए उसे ब्राह्मणों का सहयोग प्रदान किया जाता था। ये सलाहकार ब्राह्मण वे ही हो सकते थे जिन्होंने इन छः रिपुओं पर विजय प्राप्त कर ली हो (इसका भी वर्णन मंत्रि परिषद् के प्रकरण में पर्याप्त किया गया है)। बौद्धिक विकास की जाज्वल्यमान मूर्ति, ब्राह्मण के सहयोग मिलने पर ही राजन्य धर्म की सूक्ष्म गति को समझकर तदनुकूल कार्य करने में समर्थ हो सकता था।[2] ब्राह्मण का अर्थ ही यह है कि वह अपने में त्याग और सेवा को पराकाष्ठा निहित किये हो; ब्राह्मण सत्वगुण सम्पन्न होता है; सत्वगुण के लक्षण पिछले पृष्ठों में बतलाये जा चुके हैं।—ब्राह्मण को न तो अर्थ से ही संबंध है और न काम से ही। अपितु उसे मान भी नहीं चाहिये। मनुस्मृतिकार ने तो यहाँ तक कह दिया है कि ब्राह्मण को मान और सम्मान से इस प्रकार सावधान रहना चाहिये कि जैसे वह विष हो।[3] तब फिर ब्राह्मण का विशिष्ट वर्गत्व कहाँ पर है? अतएव यह आक्षेप कि ब्राह्मण और क्षत्रिय ही विशिष्ट वर्ग में हैं और इसी कारण वे राज के नागरिक अधिकारों के उपभोक्ता थे आदि, अनुचित जान पड़ते हैं। आधुनिक युग में भी प्रकाण्ड विद्वान सम्मान् के पात्र होते हैं, उनकी बातें गुरुतर समझी जाती हैं, इसी प्रकार ब्राह्मण था। वह निःस्पृह रहकर आवश्यकता पड़ने पर राजन्य को धर्म व्यवस्था का ज्ञान करा देता था और राजन्य अपना हित समाज कल्याण में ही समझता था।

अब यहाँ पर यह स्वाभाविक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि ब्राह्मण और क्षत्रिय का उद्देश्य समाज कल्याण था तब फिर यह समाज क्या है? इसका उत्तर यह

---

१. उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि (१) राजा शब्द की उत्पत्ति ही यह बतलाती है कि जो प्रजा का रंजन करने वाला है (२) राजा कर ग्रहण करता है, इसके बदले में समाज की पूर्ण सुरक्षा सुख और शांति को देखना उसके लिए अनिवार्य हो जाता है। राजा न तो किसी वर्ण विशेष से ही कर लेता है और न किसी एक वर्ण का ही संरक्षण करता है—वह समाज का पिता है संपूर्ण समाज की भलाई में ही उसका स्वार्थ है।

२. मनु—९—३५२

३. मनु—२—१६२

है कि न तो ब्राह्मण वर्ण ही सामूहिक रूप से राजा को सलाह देते थे और न क्षत्रिय वर्ण ही सामूहिक रूप से व्यवस्थापक होते थे। क्षत्रियों में राजा और ब्राह्मण में पुरोहित ही धर्म व्यवस्था और सामाजिक व्यवस्था का कार्य करते थे—इनके अतिरिक्त सभी, आधुनिक अर्थ में शासित थे। समाज के जिस अधिकांश भाग को अंजारिया महोदय ने दयनीय स्थिति में देखा है वे ही वस्तुतः समाज के मुख्य भाग थे (वैश्य और शूद्र)। वैश्य शब्द 'विश'' धातु से बना है—वेदों में अनेक स्थानों पर ''विश्'' शब्द का प्रयोग मिलता है—वहाँ यह शब्द ''प्रजा'' शब्द के पर्यायवाची के रूप में आया है। अतएव मुख्य सामाजिक वैश्य वर्ग हो जाता है। इन्हीं के संरक्षण के लिए ब्राह्मण और क्षत्रिय का सामूहिक प्रयत्न होता है। यह वणिक् व्यवसाय कृषि आदि के द्वारा राज्य की समृद्धि का प्रधान कारण था; इसी समृद्धि और उत्पादन के ही द्वारा वह समाज की विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि वैश्यों को राजकार्य में भाग लेने का अधिकार नहीं था—आदि असंगत सिद्ध हो जाता है क्योंकि, पहिले, उस समय वर्तमान समय की भाँति अधिकार की भावना नहीं थी, सब ही कर्तव्य था। दूसरे, अधिकार के अभाव में जो भी कुछ किया जायगा वह कर्तव्य की भावना से ही किया जायगा और कौन किस तरह का कार्य कर सकता है इसका निर्णायक उसका अपना गुण होगा। यदि वैश्य में धनोपार्जन की स्वाभाविक प्रवृत्ति (उसके अपने गुण के कारण) है तो ब्राह्मण की प्रवृति अध्ययन की है। और यदि ये अपना कार्य विनिमय कर लें तो दोनों ही कुछ न कर सकेंगे, जो जिसके मान का काम होता है वह उसी से हो सकता है, सब से नहीं। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वैश्यों की स्थिति ऐसी नहीं थी कि उन्हें हम दया की दृष्टि से देखें।

शूद्रों की स्थिति को भी जानवरों की स्थिति से कुछ अच्छी कहना ठीक नहीं है। भारतीय समाज के सावयव स्वरूप में कोई भी वर्ण दूसरे वर्ण को हेय नहीं समझ सकता था। यह भारतीय चातुर्वर्ण्य की एक सबसे बड़ी विशेषता थी कि वह सभी वर्णों को समान महत्व प्रदान करता था। स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित समाज व्यवस्था के सिद्धान्त स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हैं कि शूद्र भी अपने स्थान पर उतना ही महत्वपूर्ण है जितना अन्य वर्ण। कर्म भेद के ही कारण (जिसका कि आधार आंतरिक गुण है) शूद्र को द्विजातियों का सेवक कहा गया है; द्विजाति में भी ब्राह्मण की सेवा को प्राथमिकता प्रदान की गई है। ब्राह्मण की परिचर्या से यदि उसका कार्य न चल सकता हो तो वह क्रमशः क्षत्रिय और वणिक् की सेवा का कार्य करे।[1] इससे भी महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि

---

१. मनु० १००—१२३

द्विजातियों को भी इस बात का आदेश दिया गया है कि वे शूद्र के परिवार के सदस्यों की संख्या तथा उनकी आवश्यकता को ध्यान में रखकर तदनुरूप वेतनादि प्रदान करें।[1] इतना ही नहीं, मनु स्पष्ट उल्लेख करते हैं कि सेवक को भोजन करा चुकने के बाद ही गृहस्थ दम्पति (पति-पत्नी) अवशिष्ट अन्न का भोजन करें।[2] भोजन काल में अतिथि रूप से शूद्र यदि आ जाय तो उसे भी प्रेम-पूर्वक भोजन करावे।[3]

मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति चारों वर्णों के अपने विहित कर्मों के अनुसार जीवन निर्वाह करने में असमर्थ होने पर अन्य कर्मों के करने का जहाँ पर विधान देते हैं वहाँ यह विशेष ध्यान देने की बात यह है कि वैश्यों के कर्मों को उन्होंने वर्णों के द्वारा आचरणीय बतलाया है। ब्राह्मण और क्षत्रिय तो उसे कर ही सकते हैं साथ ही साथ वह शूद्रों के लिए भी विहित था। यह वैश्य-वृति की महत्ता का द्योतक है। इस प्रकरण के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि जीवन की गति भलीभांति से न चल सकने पर चारों वर्ण एक ही प्रकार के कार्य क्षेत्र में प्रविष्ट हो सकते थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चारों वर्ण किसी विशेष परिस्थिति में समव्यवसायी भी हो सकते हैं; उन्हें एक सामान्य धरातल से इस तथ्य की ओर संकेत होता है कि वस्तुतः वर्ण-चतुष्टय कोई इस प्रकार का विभेद नहीं था कि वे किसी के कार्यों को हेय समझें। शूद्र भी, जिनकी स्थिति के विषय में कहा गया है कि वह पशुओं से कुछ अच्छी थी, ब्राह्मणों क्षत्रिय और वैश्यों के समकक्षी हो सकते थे। कर्मों की यह भिन्नता लक्ष्य की भिन्नता नहीं बतलाती थी। लक्ष्य तो एक ही था, उस अंतिम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति के लिए विभिन्न पुरुषार्थ थे तथा इन्हीं पुरुषार्थों को दृष्टि में रख कर कर्म विधान था, यह कर्म विधान भी मनमाना नहीं था, वह प्रत्येक जीवात्मा की शक्ति के ही अनुरूप किया गया था। इन्हीं कर्मों को पूरा करता हुआ प्राणी मोक्ष की ओर अग्रसर होता था। परन्तु केवल तीन साधनों के ही माध्यम से मोक्ष प्राप्ति नहीं हो जाती थी, इन पुरुषार्थों को संपादित करने के लिए अन्य उपकरणों की भी आवश्यकता रही है, ये उपकरण इसलिए भी आवश्यक होते हैं कि जिससे शरीर में पुरुषार्थों के करने की शक्ति बनी रहे, इसके लिए आजीविका के विभिन्न साधनों का आविष्कार किया गया। इस आविष्कार का केवल एक मात्र उद्देश्य यह था कि शरीर को अपने आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए आधिभौतिक कठिनाइयां न सतायें। इसीलिए जहाँ पर शूद्र के लिए ब्राह्मण की सेवा

---

१. मनु० १०—१२४
२. मनु० ३—११६
३. मनु० ३—११२

का आदेश मिलता है वहाँ ब्राह्मण के लिए भी विधान मिलता है कि वह शूद्र की आवश्यकता उसके परिवार के सदस्यों की संख्या आदि को देखकर इतना वेतन दे कि जिससे वह आसानी से वेतन निर्वाह करता हुआ अंतिम लक्ष्य की आकांक्षा कर सके। आपद्धर्म में अन्य वर्ण की आजीविका को करने का विधान भी इसी तथ्य का पोषक है।

वर्ण चतुष्टय का आधार सत्वगुण, रजोगुण और तमोगुण था। इन में शूद्रों को तमोगुण प्रधान कहा गया है। तमोगुण प्रधान होने के कारण इनकी तामसिक प्रवृति का होना ही स्वाभाविक था। परन्तु तामसी प्रवृत्ति के रहते हुये कोई भी निवृत मार्ग का अवलंबन नहीं कर सकता। निवृत्त मार्ग का अवलंबन न करने से मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं है क्योंकि मोक्ष तो प्रारब्ध नाश के बाद की स्थिति का नाम है और प्रवृत्त कर्मों का अनुसरण करने से प्रारब्ध कर्म तो निरंतर बढ़ते ही रहेंगे। इसलिए, इनकी (शूद्रों की) तामसी वृत्ति को कम करने के ही लिये उन्हें सत्वगुण प्रधान वर्ण की शुश्रूषा करने का विधान किया गया। सत्वगुण के प्रभाव में आने पर इस बात की पूर्ण संभावना रहती है कि वह तमस् के प्रकोप को कम करे, अर्थात् तमस् के साथ साथ सत्व गुण का भी समावेश हो जायगा। ऐसा होने पर ही निवृत मार्ग का अनुसरण हो सकता है अथवा मोक्ष का मार्ग अधिक प्रशस्त हो सकता है। शूद्र के लिए ब्राह्मण सेवा की प्राथमिकता का यही रहस्य था। तथा योग्य ब्राह्मण (संस्कार व्रतरूप) के अभाव में ही क्षत्रिय और वैश्य की सेवा का विधान है। यह इसलिए है कि सत्वगुण में ही सात्विक विचारों के उत्पादन की सर्वाधिक शक्ति रहती है अतः यह तामसिक विचारों में अधिक आस्थानी से परिवर्तन ला सकता है। अन्य गुण भी शूद्र के अत्यधिक तामसिक गुणों के प्रकोप को कम करते हैं परन्तु यह उसी प्रकार है, जिस प्रकार अधिक गर्म पानी को बरफ का बड़ा टुकड़ा शीघ्र ठंडा करेगा तथा ठंडा अथवा गुनगुना पानी भी पानी की अधिक गर्मी में कमी तो करेगा अवश्य परन्तु उसे शीघ्र ही एकदम ठंडा नहीं करेगा। यही दृष्टांत ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्य के साथ शूद्र का सेवा के माध्यम से होने वाले संपर्क के लिए भी लागू होगा। यही कारण है कि शूद्र के लिए कहा गया है कि चाहे वह द्विजाति सेवा करता हो अथवा स्वतंत्र रूप से शिल्पी का कार्य करता हो अथवा वणिक् वृति का करने वाला हो, वह हमेशा ब्राह्मणों के अनुकूल ही रहे। अतः यह व्यवस्था शूद्रों को हीनस्तर में रखने वाली कथमपि नहीं कही जा सकती है। वस्तुतः यह तो शूद्रों के लिए मार्ग प्रदर्शन के ही लिए थी।

शूद्र वर्ण की स्थिति के विषय में उपरोक्त प्रकार की धारणा रखने को मुख्य कारण यह है कि हमारी आज की विचार करने की दार्शनिक प्रणाली में और स्मृतियों

अथवा स्मृतियों के पूर्व के दार्शनिक ग्रंथों (वेदादि) के द्वारा अपनाई गई दार्शनिक चिंतन पद्धति में अत्यधिक विरोध है। आज के युग में हमारे सामने सर्व प्रथम, हमारे मूल अधिकार आते हैं, उस काल में न तो अधिकारों का ही महत्व था और न मूल अधिकारों का ही बरन् इसके स्थान में मूल कर्तव्यों का अत्यधिक महत्व था। समाज इसी मूल कर्तव्य की भावना के द्वारा ही एक सूत्र में बंधा था। आज हम अपने अधिकारों में, प्रजातंत्र का आधार, अवसर की समानता का अधिकार मानते हैं। इसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को राजकीय कार्य करने के लिए समान अवसर मिलना चाहिये (यदि उनमें समान निर्धारित योग्यता हो तो)। इसको दृष्टि में रख कर जब हम स्मृतियों के विधान का अध्ययन करते हैं तो हमें वहाँ पर घोर पक्षपात और असमानता का नग्न नृत्य दिखलाई पड़ता है। वहाँ हमें न तो स्वतंत्रता ही दिखलाई देती है और न अधिकार ही। मनुष्य एक मशीन का पुर्जा जैसा दिखलाई पड़ता है। इसमें भी केवल प्रथम दो ही वर्ण राज्य के कर्ता-धर्ता दिखलाई पड़ते हैं—अवसर की समानता का अधिकार न तो वैश्यों के लिए ही दिखता है और न शूद्रों के लिए ही; तथा शूद्र तो और भी बुरी स्थिति में दिखलाई पड़ता है—उसे राजकीय कार्यों में भाग लेने का अवसर मिलना तो दूर रहा और उल्टे द्विजाति सेवा ही गले बांध दी गई है। परन्तु स्मृतियां जिस दार्शनिक पृष्ठभूमि को लेकर वर्णचतुष्टय को संगठित और समर्थित करती हैं उसको देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस वर्ण व्यवस्था पर इस प्रकार के आक्षेप अनुचित और भ्रांतिपूर्ण हैं। श्रीयुत् अंजारिया महोदय का निष्कर्ष भी इसी प्रकार का है। ये आक्षेप विभिन्न आधुनिक विद्वानों के द्वारा किये गये आक्षेपों का प्रतिनिधित्व करते हैं। श्री अंजारिया महोदय के आक्षेपों का समाधान श्रीयुत पी० वी० काने महोदय ने बहुत ही संक्षेप में और बहुत ही सुंदर ढंग से किया है।[1] तब यह अवश्य है कि जिस

---

१. All that may be said is that Mr. Anjaria tilts the balance to the other side too much. The faults he points out in the Hindu Theory and Practice beset almost all theories of the state almost in all countries. Even in the times of Plato and Aristotle huge populations of slaves had no voice in the affairs of the state. Up to the 19th century true democracies never existed even in Europe. P. V. Kane III 'History of Dharmashastra' Page 20.

आदर्श को लेकर स्मृतियां चल रहीं थीं वह कालांतर में लुप्त प्राय हो गया—तथा उसके स्थान में केवल आडंबर मात्र रह गया। दार्शनिक पृष्ठभूमि पृष्ठ में ही रह गई। वर्तमान समय की सामाजिक विडंबना का यही रहस्य है।

प्राचीन भारतीय वर्ण व्यवस्था की समता विश्व के किसी भी देश की सामाजिक व्यवस्था से नहीं की जा सकती है। स्मृतियों के समकालीन युग में तथा उससे भी पूर्वकाल में मिस्र आदि देशों में सामाजिक व्यवस्था का कुछ स्वरूप भारतीय वर्ण व्यवस्था के निकट दिखता अवश्य था परन्तु वे सभी किसी न किसी कमी के कारण भारतीय सामाजिक व्यवस्था के समकक्ष नहीं कहे जा सकते थे। मिस्र के विषय में हैरोडोटस द्वारा प्रस्तुत किया गया वृतान्त तत्कालीन सामाजिक वर्गीकरण पर अच्छा प्रकाश डालता है। उसके अनुसार मिस्र का जन समुदाय सात भागों में बंटा हुआ था[1]—ये पुरोहित, योद्धा, पशुपाल, शूकरपाल, व्यापारी, दुभाषिये, तथा नाविक थे।

पुरोहित वंशानुक्रम के आधार पर ही था। इनके विषय में मिलता है कि ये चौबीस घंटे में चार बार ठंडे जल से भोजन करते थे, नित्य क्षौर कर्म कराते थे (केवल मृत्यु आदि के शोक के अवसर पर नहीं करते थे)। प्रायः सभी लोग पीतल के बर्तन में पानी पीते थे। हेरोडोटस का पुरोहितों से संबंधित बृतांत कुछ इस प्रकार का है कि अनायास ही, भारतीय वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण वर्ण का स्मरण हो जाता है। इसी प्रकार योद्धाओं का वर्णन है; भौगोलिक आधार पर इन्हें दो भागों में विभाजित कर दिया गया था। ये केवल युद्ध कार्य ही कर सकते थे। इनके लिए युद्ध संबंधी कार्यों के अतिरिक्त और किसी भी प्रकार के कार्यों का करना व्यर्थ था। यह भी वंशानुक्रम पर ही आधारित था। ये भारत के क्षत्रिय वर्ण से समता रखते हुये प्रतीत होते हैं। सूअर पालने वाले शूद्रों के समान जान पड़ते हैं। ये मिश्र देश में उत्पन्न होते हुये भी मंदिर आदि में प्रवेश नहीं कर सकते थे। ये अपने ही वर्ग में विवाह आदि संबंध कर सकते थे, क्योंकि अन्य कोई भी इनसे विवाह करना नहीं चाहता था। संक्षेप में प्राचीन काल के मिश्र में भारतीय वर्ण व्यवस्था की समता रखने वाले ये ही तथ्य थे। परन्तु इनका अनुशीलन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये भारतीय वर्ण व्यवस्था से सामीप्य रखते हुये भी भिन्न थे। भारतीय वर्ण व्यवस्था का प्राण धर्म का

---

१. "These were (i) Priests, (ii) fighting men (iii) herdsmen, (iv) Swinherds, (v) tradesmen, (vi) interp,-reters, (vii) Navigators." As cited in 'Castes in India'–Hutton, Page 140.

सिद्धान्त तथा त्रिगुण (सत्व, रजस्, तमस्) का सिद्धान्त था। ये दोनों कर्म के सिद्धान्त के आधार पर वर्ण व्यवस्था के निर्माता कहे जा सकते हैं, परन्तु प्राचीन मिस्र के सामाजिक संगठन में इस प्रकार का कोई भी सिद्धान्त नहीं दिखाई देता है।

रिसले महोदय ने भारतीय वर्ण व्यवस्था की समानता प्राचीन रोमन साम्राज्य के कुछ अधिनियमों में दिखाई है।[1] ई० पू० पांचवी शताब्दी के प्रारम्भिक काल में पश्चिमी रोम साम्राज्य के थ्योडोसियन कोड के कुछ अधिनियम समाज के संगठन से संबंध रखते हैं। यह आर्थिक और व्यवसायिक दृष्टिकोण से भारतीय समाज व्यवस्था से मिलते-जुलते थे। इन अधिनियमों के अनुसार व्यक्ति के लिए अपना पैतृक कार्य अथवा जिस परिवार में वह विवाहित होता था उस परिवार के पैतृक कार्यों को उसे अनिवार्यतः करना पड़ता था। सभी सार्वजनिक कार्य वंशानुक्रम पर आधारित थे। जहाँ तक कि अनाज बेचने वाले, मदिरा बेचने वाले आदि भी वंशानुक्रम के आधार पर निर्धारित कर दिये गये थे। सिनेटर का पद भी वंशानुक्रम पर आधारित कर दिया गया था। विद्वान् डिल के अनुसार व्यक्ति अपनी श्रेणी के बाहर विवाह नहीं कर सकता था। इस दासत्व से छुटकारा दिलाने की शक्ति चर्च के हाथ में भी नहीं थी। रोम साम्राज्य के अधिनियमों के अनुसार संगठित समाज भारतीय वर्ण व्यवस्था के किसी भी प्रकार समानान्तर नहीं था। जिन कमियों के कारण मिस्र के सामाजिक संगठनों के विषय में कहा गया था कि वे भारतीय वर्ण व्यवस्था से समता नहीं रखते हैं वे तर्क इस संदर्भ में भी सामने रखे जा सकते हैं। केवल वंशानुक्रम के ही आधार पर भारतीय वर्ण व्यवस्था से तुलना नहीं की जा सकती है और फिर यह वंशानुक्रम बहुत कुछ यांत्रिक भी है, क्योंकि थ्योडोसियन कोड के अधिनियम ने जो जिस काम को कर रहा था उसी को वंशानुक्रम पर आधारित कर दिया उस कोड ने इस बात को जानने का प्रयत्न नहीं किया कि विभिन्न मनुष्यों के आंतरिक गुण किस प्रकार के हैं। जो जिस काम को कर रहा था उसी में उसको तथा उसके वंश को हमेशा के लिए यंत्र की भांति घुमा दिया। इस प्रकार के सामाजिक संगठन के पीछे किसी प्रकार का दार्शनिक चिंतन नहीं है,और यदि कुछ है तो उसका केवल प्रशासकीय महत्व था। अतएव इसे भारतीय सामाजिक संगठन की समकक्षता में नहीं रखा जा सकता है।

प्राचीन भारतीय वर्ण व्यवस्था के समान व्यवस्था प्राचीन काल में, न तो किसी देश में ही थी और न कोई ऐसा विदेशी विचारक ही हुआ है जो कि अपने विचारों में

---

१. Risley: People in India–Page 270.
२. J. H. Hutton—'Castes in India', Page 135.

भारतीय वर्ण व्यवस्था की कल्पना करता। केवल यूनान का महान् दार्शनिक प्लेटो, अपनी विचार शृंखला में भारतीय वर्ण व्यवस्था के अनुरूप समाज के संगठन की कल्पना करता है। प्लेटो ने अपनी "रिपब्लिक" नामक पुस्तक में एक आदर्श राज्य की कल्पना की है। इस आदर्श राज्य का संगठन भारतीय समाज व्यवस्था से बहुत अधिक मिलता है। प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य को, संगठन की दृष्टि से, दो भागों में विभाजित कर दिया था—एक उत्पादक वर्ग और दूसरा संरक्षक वर्ग। संरक्षक पुनः दो भागों मैं विभाजित था— एक शक्ति प्रधान योद्धाओं का था और दूसरा बुद्धि प्रधान शासकों का था। राज्य को इस प्रकार से संगिठत करने का आधार व्यक्ति के आंतरिक गुण थे। प्लेटो के अनुसार व्यक्ति में चार प्रमुख आधारभूत गुण होते हैं— वे चार गुण—बुद्धि, शक्ति, क्षुधा तथा न्याय हैं।[1] राज्य व्यक्ति का ही परिवर्धित रूप है, इसलिए जो गुण व्यक्ति में हैं वे गुण राज्य में भी होंगे। इन्हीं गुणों के आधार पर उसने तीन वर्गों की कल्पना की थी। प्रत्येक व्यक्ति में ये सभी गुण विद्यमान रहते हैं, परन्तु इनके तारतम्य में अंतर रहता है। किसी में क्षुधा की मात्रा अधिक रहती है तो किसी में शक्ति की। इसी प्रकार जो बुद्धिजीवी है उसमें बुद्धि की मात्रा अधिक है। जिस व्यक्ति **में जिस गुण** का आधिक्य रहेगा वह उसी वर्ग में रहेगा तथा एक मनुष्य अपने ही वर्ग के कार्यों को करेगा, किसी दूसरे वर्गों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेगा। कार्य विशिष्टता पर एक के आधार व्यक्ति तथा उसका वर्ग एक ही तरह का कार्य करेंगे। यही प्लेटो के अनुसार न्याय था। अपनी योग्यता के अनुसार जो व्यक्ति जिस वर्ग में है उससे उत्पन्न होने वाले सभी कर्तव्यों को पूरा करना ही न्याय है। अतएव, तीन वर्गों में एक वर्ग क्षुधा प्रधान अथवा उत्पादक वर्ग है, दूसरा शक्ति प्रधान वर्ग अथवा सैनिक वर्ग है तथा तीसरा बुद्धि प्रधान वर्ग अथवा दार्शनिक राजा है। इसमें प्रथम वर्ग (उत्पादक) अन्य दो वर्गों के लिए उत्पादन का कार्य करेगा। दोनों वर्गों (योद्धा वर्ग तथा बुद्धि प्रधान वर्ग) का कार्य केवल संरक्षण ही था। बौद्धिक तत्व प्रधान दार्शनिक आदर्श राजा के लिए कानून निर्माण करने का कार्य तथा योद्धा वर्ग आदर्श राज्य की शक्ति के द्वारा रक्षा करने तथा आवश्यकता पड़ने पर आक्रमण करके पर राज्य की भूमि को विजय करने के कार्य को ही कर सकते थे। उनके आंतरिक गुणों के आधार पर इस प्रकार के वर्गीकरण करने की योजना शिक्षा पद्धति पर आधारित था।[2] अब यदि इस वर्गीकरण को भारतीय शब्दावली से मिलाया जाय तो यह

१. Wisdom, Spirit, Appetite or temperence and Justice.
२. Plato's Republic. (Everyman's Library)

स्पष्ट हो जायगा कि दार्शनिक वर्ग का संगठन ब्राह्मण वर्ण के समान था। जिस प्रकार अपने सत्व गुण के कारण वह समाज के लिए धर्म की व्यवस्था देने का तथा क्षत्रिय वर्ग (शासक वर्ग) के कार्यों में सलाह देने का कार्य करता था उसी भांति प्लेटो का भी दार्शनिक वर्ग था। प्लेटो का योद्धावर्ग क्षत्रिय वर्ग के समान था। क्षत्रियों में रजोगुण की प्रधानता रहती है, यह गुण उनमें (क्षत्रियों में) उत्साह और शक्ति का द्योतक है। इनका भी कार्य समाज की रक्षा करना ही था। प्लेटो का अंतिम वर्ग यहां के वैश्य वर्ग से समता रखता था। वैश्य वर्ग में रजोगुण और तमोगुण का मिश्रित रूप था तथा यह व्यापार कृषि आदि के द्वारा उत्पादन का कार्य करता था। प्लेटो द्वारा बतलाये गये आत्मा के गुणों की शब्दावली में भी समता दिखलाई पड़ती है—विज्डम, सत्व के समान, स्पिरिट, रजोगुण के समान तथा टेंपरंस रजो और तमो गुण के समान चित्रित की गई है। प्लेटो ने तीन ही वर्गों का उल्लेख किया है परन्तु प्लेटो के समय की दास प्रथा को भी एक वर्ग मान लिया जाय तो उसकी तुलना शूद्र वर्ग से की जा सकती है। प्लेटो ने दास प्रथा (जो कि उस समय समान्य रूप से समाज का आवश्यक अंग थी) के विषय में कुछ भी नहीं कहा है—न तो उसने इसका विरोध ही किया है और न इसका समर्थन ही। इस संबंध में विद्वानों में दो मत हैं एक के अनुसार चूंकि दास प्रथा उस समय के समाज का आवश्यक अंग थी तथा प्लेटो के बाद का विचारक अरस्तू उसका दार्शनिक ढंग से समर्थन करता है इसलिए वे (विद्वान्) इसका यह अर्थ लेते हैं कि प्लेटो ने दास प्रथा का भी अनुमोदन किया था, दूसरा वर्ग इसके विपरीत विचार रखता है उसका कहना है कि प्लेटो अपने आदर्श राज्य को संगठित करने के लिए छोटे से छोटे और बड़े से बड़े सभी तत्वों को एक-एक करके रखता है इसलिए हमें उतना ही अर्थ निकालना चाहिये जितना उसने उल्लेख किया है। दास प्रथा का उसने उल्लेख नहीं किया है अतः उसको वह नहीं चाहता था। परन्तु पूर्व मत को लेने पर उसकी तुलना शुद्र वर्ग से की जा सकती है। इसी प्रकार भारतीय "धर्म" का सिद्धान्त प्लेटो के न्याय के सिद्धान्त से बहुत अधिक समता रखता है। स्वधर्म वर्णधर्म तथा पर धर्म का भी आदि-विधान प्लेटो के आदर्श राज्य में दिखता है। अपनी योग्यता के अनुसार जो जिस वर्ग के अंतर्गत है, उस वर्ग का जो कार्य है वह उस वर्ग का धर्म है (वर्ग का धर्म इसलिए है कि उस कार्य को करने में ही उस वर्ग का कर्तव्य है) तथा यह वर्गधर्म ही भारतीय वर्णधर्म है। इसी तरह व्यक्ति का अपने वर्ग के अनुसार जो कर्तव्य है वह उसका स्वधर्म है। एक वर्ग के लिए दूसरे वर्ग का कार्य वर्ज्य था अतः उसे पर-धर्म कहा जा सकता है। भारतीय वर्ण व्यवस्था में त्याग और तपस्या का विशेष महत्व था, अपने आदर्श राज्य में इस विशेषता को रखने के लिए प्लेटो ने साम्य-

वाद का सिद्धांन्त रखा था; : इस साम्यवाद के सिद्धान्त के अनुसार संरक्षक वर्ग (दार्शनिक राजा तथा योद्धा वर्ग) के लिए दो प्रकार के साम्यवाद का विधान था; एक संपति संबंधी और दूसरा परिवार संबंधी। पहले के अनुसार संरक्षक वर्ग किसी भी प्रकार की व्यक्तिगत संपति नहीं रख सकता था; सब सम्पति राज्य की थी; तथा उनकी आवश्यकता की पूर्ति उत्पादक वर्ग करता था; उन्हें दैनिक जीवन के लिए जितनी वस्तुओं की आवश्यकता रहती थी, उतनी ही उन्हें प्रदान की जाती थीं। इसी प्रकार परिवार संबंधी साम्यवाद में संरक्षक वर्ग परिवार का निर्माण नहीं कर सकता था। स्थायी विवाह के द्वारा परिवार निर्माण वर्ज्य था। केवल राज्य की ओर से ही नियंत्रित क्षणिक वैवाहिक संबंधों का विधान था। जिस प्रकार से भारतीय वर्ण व्यवस्था में, स्मृतियां केवल कर्तव्य की ही व्याख्या करती (अधिकार का उल्लेख भी नहीं करती हैं) उसी प्रकार प्लेटो के आदर्श राज्य में भी अधिकार नामक कुछ भी नहीं है, जो कुछ है वह कर्तव्य ही है। अतः यह कहना अत्युक्ति नहीं होगा कि प्लेटो के आदर्श का आधार भारतीय वर्ण व्यवस्था रही होगी। प्लेटो स्वयं एक स्थान पर कहता है कि उसका आदर्श राज्य संसार में कहीं पर भी नहीं है, उसका प्रतिरूप केवल स्वर्ग में है। संभव है प्लेटो का स्वर्ग से तात्पर्य भारतीय वैदिक विज्ञान हो, भारतीय वैदिक विज्ञान के अनुसार (यह पहिले ही बताया जा चुका है) भारतीय सामाजिक व्यवस्था एक नकल मात्र थी; वस्तुतः इस वर्ण व्यवस्था की स्थिति तो प्रकृति में व्याप्त थी; स्वयं विश्व पुरुष में यह वर्ण व्यवस्था परिलक्षित होती है। इसके अतिरिक्त नवीनतम खोज यह सिद्ध करती है कि प्लेटो को भारतीय दर्शन का ज्ञान था। इस विषय में भारत रत्न डा० भगवानदास के विचार महत्वपूर्ण है। वे अपनी पुस्तक 'साइंस आफ सोशल आर्गनाइजेशन' में पृष्ठ ६३ की पाद टिप्पणी में लिखते हैं कि प्लेटो को मनु की व्यवस्था का ज्ञान था, क्योंकि उस समय ग्रीस और भारतवर्ष के मध्य में एशिया के माध्यम से संबंध था, तथा गांधार और पर्शिया के सीमाप्रदेश में पहिले से ही स्थित ग्रीक उपनिवेश थे।[१] इसके अतिरिक्त पाश्चात्य विद्वान् उर्विक महोदय सत्वगुण, रजोगुण

---

१. ...."That Plato had heard rumours, or had more positive knowledge of Manu's scheme; for there was communication between Greece and India, in those days, through Persia, and there, were even pre-existing Greek colonies in the border lands between Persia and Gandhar (modern Afghanistan)" Dr. Bhagwandas–'Science of Social Organisation.' P. 63.

तथा तमोगुण के पारभाषिक शब्द ग्रीक भाषा में भी प्रस्तुत करते हैं, वे कहते हैं कि तमस् ऐपिथूमिया का, राजस् थूमोस का तथा सत्व लोजिस्टिकोन का पर्यायवाची है। एपिथूमिया क्षुधा, का थुमोर्स शक्ति का तथा लोजिस्टिकोन विवेक बुद्धि का द्योतक है।[1] उविक महोदय ने प्लेटो की पुस्तक "रिपब्लिक" का नवीन दृष्टिकोण से अध्ययन किया तथा भारतीय दर्शन से उसका कितना नैकट्य है, यह दिखाने का सफल प्रयास किया है। उनके अनुसार प्लेटो के रिपब्लिक को समझने के लिए भारतीय वेदांत का अध्ययन आवश्यक है :, तथा प्लेटो पिथागोरस का शिष्य था और पिथागोरस भारतीय वेदांत को समझने वाला समझा जाता है। इसके अतिरिक्त वे कहते हैं कि अलेक्जेंडर के पूर्व भारत और ग्रीस का सीधा संबंध था। यह सब सिद्ध करता है कि प्लेटो भारतीय दर्शन से प्रभावित था।[2]

उपर्युक्त विवेचन प्लेटो और स्मृतिकारों के विचार साम्य को तो, प्रसंगवश व्यक्त करता ही है, साथ ही साथ, यह भी स्पष्ट करता है कि प्लेटो के आदर्श राज्य का संगठन स्मृतियों द्वारा समर्थित वर्ण व्यवस्था के बहुत ही निकट था। इसी आधार पर यह शंका हो सकती है कि प्लेटो ने स्मृतिकारों को प्रभावित किया था अथवा स्मृतियों ने प्लेटों को प्रभावित किया था। जहां तक एक दूसरे को प्रभावित करने का प्रश्न है वहाँ पर उत्तर पक्ष की ही मान्यता में अधिक प्रमाण उपलब्ध होते हैं। भारतीय वर्ण व्यवस्था की स्थिति तो प्लेटो और स्मृतियों के अनेक वर्ष पूर्व से ही है; स्मृतियाँ तो उन्हीं के रहस्य को प्रकट करने का प्रयत्न करती हैं, अतः यदि एक दूसरे से प्रभावित हुआ है तो वह प्लेटो ही हो सकता है। प्लेटो के आदर्श राज्य के अतिरिक्त और कहीं पर भी भारतीय वर्ण व्यवस्था की समता नहीं मिलती है।

उपयुक्त विवेचन के आधार पर भारतीय वर्ण व्यवस्था को अभूतपूर्व कहा जा सकता है। अभूतपूर्व होते हुये भी समाज के परिवर्तनशील स्वरूप के कारण इसमें उन गुणों को जिसके ऊपर यह आधारित थी, स्वयं प्रकाशित करने की शक्ति नष्ट प्रायः हो गई है। समाज के परिवर्तनों का सबसे अधिक प्रभाव वर्ण व्यवस्था पर ही परिलक्षित होता है। प्रारंभ में वर्ण व्यवस्था जटिल नहीं थी। उसमें एक वर्ण से दूसरे वर्ण में जाने

---

१. E. J. Utwick "The Message of Plato," Page 28.
and also Dr. Bhagwandas, 'Science of Social organisation.' Page 78.

२. P. N. Prabhu 'Hindu Social Organisation'—Page 71.

की संभावना थी (विशेष अवसरों पर)। परन्तु कालांतर में इस लचीले स्वरूप का स्थान जटिलता ने ग्रहण कर लिया। लचीले स्वरूप के नष्ट हो जाने से समाज के विभिन्न बदलते हुये पहलुओं का सामना करना कठिन हो गया। इसके अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था को समझने के दृष्टिकोण में भी पर्याप्त अंतर आ गया। एक समय, यह वर्ण व्यवस्था कार्यों के विशिष्टीकरण के सिद्धान्त को लेकर तथा उसे एक साधन मानकर प्रयुक्त हुई थी। तथा यही इसका बोधगम्य सिद्धान्त सर्वमान्य था। परन्तु जब यह समाज के दृष्टि-कोण में परिवर्तन आया तब उसका प्रभाव इसके बोधगम्य स्वरूप पर ही सर्वाधिक पड़ा; वर्ण व्यवस्था का आधार केवल जन्म हो गया तथा जन्म गत वर्ण की महत्ता बनाये रखने के लिए यह आवश्यक हो गया कि विभिन्न वर्ण कम से कम अपनी श्रेष्ठता का मौखिक रूप से प्रतिपादन करें। जहाँ वर्ण का गौरव उसका कर्म था, वहाँ पैतृक रक्त ही गौरव का प्रमुख तथा अंतिम मापदंड हो गया। वर्ण व्यवस्था की अत्यधिक जटिलता का यही मुख्य कारण था। वर्ण व्यवस्था के इस प्रकार जटिल हो जाने के का सबसे बुरा फल ऊंच-नीच की भावना है। इस भावना की प्रतिक्रिया वर्ण संघर्ष है। एक वर्ण अपने को सब वर्णों से श्रेष्ठ मनाकर अन्य वर्ण को तुच्छ समझने लगता है तो दूसरे वर्ण के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह समानता के अधिकार की मांग करे। वर्ण व्यवस्था की श्रेष्ठता का भूत यहीं शांत नहीं हो जाता है, वह और आगे बढ़कर प्रत्येक वर्ण के अंदर इसी श्रेष्ठता और महत्ता की अनुचित भावनाओं का बीजारोपण करता है। प्रत्येक वर्ण के अन्तर्गत ऐसे असंख्य वर्ग निर्मित हो जाते हैं जो अपनी भौ भौगोलिक स्थिति को ही अपनी श्रेष्ठता का कारण समझने लगते हैं। इन सब दोषों को एक सूत्र में रख कर यह कहा जा सकता है कि सर्व प्रथम व्यक्ति अपने जन्म के कारण वर्णत्व का अभिमान रखता है तथा यही वर्ण विभिन्न वर्गों की संकुचित मनोवृति में परिणत हो जाता है। इन सबको अभिभूत करने वाली ऊंच-नीच की भावना की परा-काष्ठा है। ये वर्ण व्यवस्था के अभिशाप कहे जा सकते हैं। वर्ण व्यवस्था को इन भाव-नाओं ने बहुत अधिक हानि पहुंचायी; उसका स्वरूप, उसका आदर्श, उसकी वैज्ञा-निकता आदि सभी को इस कलुषित मनोवृति ने भस्मसात् कर दिया। जिस समाज ने अपनी तुच्छ भावनाओं से वर्ण व्यवस्था के गुणों को भस्म में परिवर्तित कर दिया। वही समाज अपने तुच्छ अभिमान (बड़प्पन) से प्रेरित होकर उस भस्म में से मनोनुकूल अर्थ निकाल कर अपने कल्पित गौरव में कल्पित उपकरण जोड़ने का प्रयत्न करता है। इस मनोवृति से वह नीचे गिर चुका है। इसके अतिरिक्त वर्ण व्यवस्था के पतन का एक और कारण है—स्मृति ग्रंथों में वर्ण व्यवस्था एक साधन के रूप में थी; इसी प्रकार विभिन्न वर्गों के लिए विहित कर्म (आजीविका आदि) भी साधन के ही रूप में थे।

साध्य मोक्ष था। वर्तमान समय में साधन और साध्य "आजीविका की खोज" में पुंजीभूत हो गये हैं। आजीविका ही साधन और साध्य हो गई है। जो एक समय केवल पारमार्थिक लक्ष्य प्राप्ति का साधन था उसी का एक आनुषंगिक भाग (आजीविका) जब साध्य बन जाता है तब अनायास ही उस प्राचीन साधन का महत्व नष्ट हो जाता है। इसके परिणाम स्वरूप समाज पूर्ण रूप से भौतिकवादी हो गया है। यह वर्ण व्यवस्था के लिए घातक है।

जात्युत्कर्ष

यह कहा जा चुका है कि वैदिक कालीन वर्ण व्यवस्था का संगठन कर्म विभेद तथा कार्यों के विशिष्टीकरण के सिद्धान्त के ऊपर आधारित था। यह वर्ण व्यवस्था ही कालांतर में जाति व्यवस्था में परिणत हो गई। पैत्रिक कार्य अधिक सुगम होते हैं, इसी कारण वर्ण व्यवस्था का "कर्मणा" का सिद्धान्त जन्मना से संबंधित हो गया। वर्ण व्यवस्था का यह नवीन स्वरुप जात्युत्कर्ष का कारण है। विवाह के द्वारा नवीन जातियों का भी उत्कर्ष हुआ। मनु और याज्ञवल्क्य ने विभिन्न प्रकार की परिस्थितियों में उत्पन्न बालक किस जाति का समझा जायगा, इस पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला है।

"जाति" की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न प्रकार से की है। यहाँ पर उदाहरण के रूप में दो ही परिभाषायें प्रस्ततु की जा रही हैं। रिसले महोदय के द्वारा दी गयी परिभाषा इस प्रकार है :[1] कुटुम्बों का समूह, अथवा समान उपनाम वाले कुटुम्बों का समूह जो अपना उद्‌भव किसी काल्पनिक व्यक्ति विशेष से, चाहे वह मनुष्य हो अथवा दैव, तथा एक ही परम्परागत व्यवसाय का आश्रय लेते थे तथा जो लोग, इस सम्बन्ध में मान्यता देने के अधिकारी थे उनके द्वारा—एक समान जातीय समुदाय बनाने वाले समझे जाते थे। एन्० के० दत्त जाति की परिभाषा नहीं करते किन्तु उसके

---

१. Risley defines it as "a collection of families or groups of families bearing a common name; claiming a common descent from a mythical ancester, human or divine; professing to follow the same hereditary calling; and regarded by those who are competent to give an opinion as forming a single homogeneous community." As quoted by J. Hutton—'Castes in India.' Page 47.

लक्षण बताते हैं।[1] जाति के व्यक्ति—अपनी जाति से बाहर विवाह नहीं कर सकते। इसी प्रकार से मिलती हुई—दूसरी जातिवालों से खान-पान के सम्बन्ध में भी रुकावट थी यद्यपि वह उतनी कट्टरता से न थी। बहुत ही जातियों के लिये व्यवसाय भी नियत था। जातियों में उच्च नीच का तारतम्य भी था। शिखर पर मान्यता प्राप्त स्थिति ब्राह्मणों की थी। जाति जन्म पर निर्भर करती थी जब तक कोई व्यक्ति उस जाति के नियमों के उल्लंघन करने के कारण जाति से बहिष्कृत न हो जाय। अन्यथा एक जाति से दूसरी जाति में जाना संभव न था। सम्पूर्ण व्यवस्था ब्राह्मणों के मान पर निर्भर करती थी।

उपर्युक्त परिभाषायें जाति प्रथा को उसे पूर्णता के साथ व्यक्त करने में असमर्थ हैं। वैयाकरणों के अनुसार जाति शब्द का प्रयोग चार कारणों से होता है—१—आकृति निबंधन, २—गोत्र निबंधन, ३—चरण निबंधन, ४—सकृदाख्यात धर्म निबंधन।

१. आकृति निबंधन—इसके अनुसार जाति शब्द का प्रयोग आकृति की समानता जिनमें प्राप्त होगी, उनके लिये कहा जा सकता है; उदाहरणतः पशु, पक्षी, गौ, अश्व, आदि अपनी-अपनी आकृति के कारण तज्जातीय कहे जायेंगे।

२. गोत्र निबंधन-समान गोत्र को लेकर जो जाति शब्द का व्यवहार होता है वह गोत्र निबंधन जाति व्यवहार है। जैसे "भृगु" "वशिष्ट" आदि, पुराण आदि में

---

१. N. K. Dutta refrains from defining caste, but describes its features, members of a caste cannot marry outside it, there are similar but less rigid restrictions on eating and drinking with a member of another caste, there are fixed occupations for many castes, there is same heirarchical gradation of castes, the best recognized position being that of a Brahmin at the top. Birth determines a man's caste unless he be expelled for voilation of its rules, otherwise transition from one caste to another is not possible; the whole system turns on the prestige of the Brahmins. Ibid Page 49.

जहाँ अत्यन्त काल व्यवधान के बाद भी वशिष्ट आदि की सत्ता बतलाई गई है वहाँ उस शब्द को जाति परक ही कहा जायगा (व्यक्ति परक नहीं); नहुष, रघु तथा श्री रामचंद्र के काल में भिन्न-भिन्न ही वशिष्ठ व्यक्ति थे। किन्तु न सब के वशिष्ठ गोत्रीय अर्थात् वशिष्ठ जातीय होने से गोत्र नाम को लेकर सब के लिए वशिष्ठ शब्द का प्रयोग किया गया।

३. चरण-निबंधन-वेद की शाखाओं का नाम चरण है। तत्तद्वेदशाखाओं का अध्ययन करने वाले तथा उनके अध्ययन करने के लिए तदनुकूल तत्तद्शाखाविहित व्रत करने वाले सभी व्यक्ति एक जाति वाले माने जाते हैं और उनके लिये भी जाति शब्द का प्रयोग होता है। उनमें जाति शब्द का प्रयोग चरण निबंधन है जैसे कठ, चरक, वाजसनेय आदि वैदिक शाखा वाचक शब्द।

४. सकृदाख्यात धर्म-निबंधन—धर्म को लेकर भी जाति शब्द का प्रयोग होता है अर्थात् एक व्यक्ति में किसी एक धर्म के ज्ञात होने से उस वंश वाले अन्य व्यक्तियों में भी उस धर्म का परिज्ञान हो जाय तो वहाँ तदधर्मनिबंधन जाति शब्द का व्यवहार होता है जैसे—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र आदि में। इनमें एक व्यक्ति में ब्रह्मणत्व आदि का परिज्ञान हो जाने के उपरान्त उस वंश के अन्य व्यक्तियों में भी ब्रह्मणत्व आदि का ज्ञान हो जाता है अतः ब्राह्मण आदि भी जातियां हैं और वे ब्रह्मणत्वादि-धर्ममूलक हैं। वैयाकरणों के इस मत के अनुसार ब्राह्मण आदि वर्णों में जाति शब्द का प्रयोग समीचीन व उपयुक्त है।

मनु और याज्ञवल्क्य ने भी अप्रत्यक्ष रूप से जाति की परिभाषा दी है। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र आदि की सवर्णा स्त्री से उत्पन्न संतान तज्जातीय कहलायेगी।[1] तुल्य, सवर्णा स्त्री से क्रमशः विवाह के द्वारा जाति का उत्पादन होता है।[2] इसका अर्थ यह निकलता है कि यह परिभाषा (अथवा सिद्धान्त) जाति के उस स्वरूप को स्पष्ट कर रही है जिसमें वर्ण अपने वर्णत्व में स्थिर रहते हुये धर्म-शास्त्रानुकूल विवाहो-

---

१. सवर्णासु च तुल्यासु पत्नीष्वक्षतयोनिषु।
आनुलोम्येन संभूता जात्या ज्ञेयास्त एव ते॥ मनु० १०—५
सवर्णेभ्यस्तु सवर्णासु जायन्ते हि सजातयः।
अनिन्द्येषु विवाहेषु पुत्राः सन्तानवर्द्धनाः॥ या० स्मृति १. ९०

२. ऊपर उद्धृत श्लोक में मनु ने "आनुलोम्येन" शब्द का व्यवहार किया है, इसका एक अर्थ होता है अनुलोम विवाह के द्वारा। परन्तु आगे के प्रसंगों को देखते हुए इस शब्द का दूसरा अर्थ—क्रमशः ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

परान्त संतानोत्पत्ति करते थे क्योंकि याज्ञवल्क्य के अनुसार वही पुत्र "सजाति" कहा जायगा जो निंदित विवाह से उत्पन्न नहीं हुआ है। अतएव यह कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य के अनुसार चारों वर्णों के "जन्मना" स्वरूप को ही जाति की संज्ञा प्रदान की गई है (याज्ञवल्क्य ने "जाति" के स्थान पर "सजाति" शब्द का व्यवहार किया है परन्तु यह अंतर विशेष महत्व का नहीं है) संक्षेप में मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद के द्वारा बतायी गयी विभिन्न जातियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—सजाति (अथवा वर्ण धर्म के अनुकूल) तथा वर्ण-संकर।

अनुलोम विवाह द्वारा द्विज से अन्य वर्णों में उत्पन्न माता के हीन जाति के होते हुये भी पिता के सदृश ही समझी जायगी—ऐसा मनु का विधान है।" पिता के सदृश" से मनु का यह अर्थ नहीं है कि वह पिता के ही वर्ण समझ लिये जायेंगे—पिता के वर्ण की उत्कृष्टता से उसका पद कुछ नीचे ही रहेगा तथा माता के हीनवर्ण से वह उत्कृष्ट रहेगा।[1] इसी की पुष्टि के लिये वे अनुलोमज संतानों के विभिन्न प्रकार के नाम बतलाते हैं। अनुलोम के अतिरिक्त प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतानों को विभिन्न संज्ञा देकर पृथक जातित्व प्रदान किया गया है। इसमें उत्पन्न संतान न पिता के सदृश ही होगी और न माता के ही। इसकी स्थिति दोनों से भिन्न होगी। इस तरह से जाति विभाजन कुल चार प्रकार से संभव है—वर्ण, जाति, अनुलोमज, प्रतिलोमज तथा व्रात्य।

अनुलोम विवाह छः प्रकार के होते हैं अतएव उनसे छः प्रकार की जातियां उत्पन्न होती हैं, (इनका नाम भी पृथक-पृथक है)।

१. ब्राह्मण से क्षत्रिय के गर्भ से उत्पन्न बालक का नाम "मूर्धावसिक्त"।
२. ब्राह्मण वेसे वैश्या के गर्भ से उत्पन्न बालक का नाम—"अम्बष्ठ"।
३. ब्राह्मण से शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न बालक का नाम "निषाद"[2] अथवा 'पारशव'।
४. क्षत्रिय से वैश्या के गर्भ से उत्पन्न बालक का नाम "माहिष्य"।
५. क्षत्रिय से शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न बालक का नाम "उग्र"।

---

१. स्त्रीष्वतरजातासु द्विजेरुत्पादितान्सुतान्।
सदृशानेव तानाहुर्मातृदोषविगर्हितान्॥ १०,६ मनु०
तथा इसी की कल्लूक भट्ट की टीका।

२. मनुस्मृति—अ० १० श्लोक ८, ९, १०, या० स्मृति अ० श्लोक ९१, ९२ नारद स्मृति अ० १० श्लोक १०६, १०७ नारद स्मृति, अनुलोमज में केवल अम्बष्ठ "निषाद" तथा "पारशव" का ही उल्लेख करती है।

६. वैश्या से शूद्रा के गर्भ से उत्पन्न बालक का नाम "करण"।[1]

अनुलोमजों की उपर्युक्त संज्ञा विवाहित स्त्री से उत्पन्न बालकों के लिए ही प्रयुक्त होती है।[2] इस प्रकार से निर्मित जातियां[3] वर्णजाति से कुछ हीन समझी जायेंगी, परन्तु ये ब्राह्मणादि के समान ही कार्य आदि करेंगी। ये पुनः अपने कर्मों के तथा अपनी योग्यता के द्वारा वर्णजाति का पद प्राप्त कर सकती हैं, (याज्ञवल्क्य के मतानुसार सात या पांच पीढ़ी में)[4] अनुलोमज संतानें निकृष्ट नहीं समझी जाती है।

प्रतिलोमज संतानें निकृष्ट समझी जाती हैं। प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतानें निम्न प्रकार की जाति निर्माण करती हैं :[5]

१. क्षत्रिय पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री से उत्पन्न पुत्र "सूत" जाति का होता है।
२. वैश्य पुरुष तथा क्षत्रिया स्त्री से उत्पन्न पुत्र "मागध" जाति का होता है।
३. वैश्य पुरुष तथा ब्राह्मणी स्त्री से उत्पन्न पुत्र "वैदेहक" जाति का होता है।
४. शूद्र पुरुष तथा क्षत्रिया स्त्री से उत्पन्न पुत्र "क्षत्ता" जाति का होता है।
५. शूद्र पुरुष तथा वैश्या स्त्री से उत्पन्न पुत्र "आयोगव" जाति का होता है।
६. शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मणी स्त्री से उत्पन्न पुत्र "चान्डाल" जाति का होता है। यह सबसे अधम समझा जाता है।

यह क्रम यहीं पर समाप्त नहीं हो जाता है उसके और भी प्रकार मनुस्मृति में उपलब्ध होते हैं; ब्राह्मण से "उग्र", "अंबष्ठ तथा "आयोगव" की कन्याओं में उत्पन्न पुत्र क्रमशः "आवृत", "आभीर" तथा "धिग्वण" संज्ञक होते हैं इसके अतिरिक्त अनुलोमज और प्रतिलोमज और प्रतिलोमजों का परस्पर का संबंध निम्नलिखित जातियों का निर्माण करता है :

१. निषाद (ब्राह्मण और शूद्रा से उत्पन्न) पुरुष तथा शूद्र स्त्री से "पुक्कस" जाति उत्पन्न होती है।

---

१. "नारद स्मृति" "निषाद" को क्षत्रिय और शूद्रा से उत्पन्न होने वाले के लिए प्रयुक्त करते हैं।
२. या० स्मृति अ० १ श्लोक ९२
३. यहां "जातियां" शब्द आधुनिक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है क्योंकि स्मृतियों ने केवल वर्णों को ही जाति की संज्ञा प्रदान की है।
४. या० स्मृति अ० १ श्लोक ९६, मनुस्मृति अ० १०, ६५।
५. मनुस्मृति--अ० १०, श्लोक ११, १२, १३, या० स्मृति अ० १ श्लोक ९३, ९४ नारदस्मृति अ० १२, १०९, ११०, १११

२. क्षत्ता (शूद्र पुरुष तथा क्षत्रिय स्त्री से उत्पन्न) पुरुष तथा "उग्र" जाति की स्त्री से (क्षत्रिय पुरुष तथा शूद्रा स्त्री से उत्पन्न) "श्वपाक" जाति उत्पन्न होती है।

३. वैदेहक (वैश्य पुरुष और ब्राह्मणी स्त्री से उत्पन्न) और अम्बष्ठ जाति की स्त्री से "वेण" जाति उत्पन्न होती है।

४. शूद्र पुरुष से निषाद जाति की कन्या से "कुक्कट" जाति उत्पन्न होती है।

मनुस्मृति में जाति के भेद-विभेद का वर्णन बहुत ही विस्तार के साथ मिलता है। मनु के वर्णन के ढंग को देखकर विद्वानों में दो मत हो गये हैं—एक के अनुसार (गोविन्दराज और मेधातिथि) मनु ने चौसठ प्रकार की उपजातियों का उल्लेख किया है तथा दूसरे के (कुल्लूक भट्ट के) अनुसार मनु ने केवल तीस ही प्रकार की जातियों का उल्लेख किया है। वस्तुतः कुल्लूक भट्ट और मेधातिथि आदि के विचारों में कोई सैद्धान्तिक मतभेद नहीं है, केवल शाब्दिक है। कुल्लूक भट्ट प्रतिलोमजों को दो भागों में बांट देते हैं—हीन और वाह्य। इस विभाजन को उपजातियों में सम्मिलित न करने से केवल तीस ही प्रकार की जातियां निर्मित होती हैं परन्तु मेधातिथि आदि इसे उपजाति मानते हैं और ऐसा मानने से संख्या चौसठ तक पहुँच जाती है।[1] वर्णों के परस्पर मिश्रण से जो जातियां उक्त प्रकार से बनती हैं उन्हें वर्णसंकर कहा गया है।[2] वर्णसंकर कोई नवीन प्रकार की जाति निर्माण नहीं करता है—(चाहे यह विवाह प्रकाश रूप से किया गया हो अथवा छिपकर किया गया हो) से उत्पन्न आयोग व क्षत्ता आदि के लिये सामूहिक रूप से प्रयुक्त होती है।

जाति का चतुर्थ विभाजन व्रात्यों के द्वारा उत्पादित संतानों से होता है। मनुस्मृति ने व्रात्य की परिभाषा इस प्रकार किया है—द्विजाति सवर्णा स्त्री से जिन संतानों को उत्पन्न करते हैं वे यदि व्रत के विना रहते हैं (अर्थात् जो उपनयन आदि नहीं करते हैं) तो वे व्रात्य कहलाते हैं।[3] इस परिभाषा का तात्पर्य यह है कि द्विजाति वालक अपने वर्ण के अनुरुप विहित व्रतों का आचरण न करने के कारण अपने बर्ण से भ्रष्ट हो जाते हैं। इन ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य व्रात्यों से अन्य जाति का निर्माण होता है। यह जात्युकर्ष इस प्रकार है।

---

१. विशेष के लिये कुल्लूक भट्ट की मनुस्मृति,अ० १० श्लोक ३१ की टीका द्रष्टव्य है।
२. मनु० १०—४०
३. मनु १०—२०
४. मनु १०—२१, २२, २३

१. ब्राह्मण व्रात्य तथा ब्राह्मणी स्त्री से उत्पन्न होने वाली संतान भर्जकंटक, आवन्त्य, वाटधान, पुष्पध तथा शेख कहलाते हैं (ये पांचो एक ही जाति के अंतर्गत आते हैं, उनका उक्त नाम स्थान भेद के कारण ही है।)
२. क्षत्रिय व्रात्य तथा क्षत्रिया स्त्री से उत्पन्न संतान झल्ल, मल्ल, निच्छिवी, नट करण, खस तथा द्रविड़ कहलाते हैं। यह भी एक ही जाति के विभिन्न नाम हैं।
३. वैश्य व्रात्य तथा वैश्या स्त्री से उत्पन्न संतान सुधन्वा-चार्य, कारुष, विजन्मा, मंत्र तथा सात्वत्त कहलाते हैं। ये भी एक ही जाति के विभिन्न नाम हैं। स्मृतियों में व्रात्यों का प्रकरण बहुत ही संक्षेप में दिया गया है। उक्त विवेचना केवल मनुस्मृति में ही उपलब्ध होती है। परन्तु यह भी अपूर्ण है। इसमें यह नहीं बतलाया गया है कि व्रात्य का असवर्णा स्त्री से संतानोत्पादन करने पर किस प्रकार की जाति का निर्माण होता है। संभव है स्मृतियों के समय में व्रात्यों की संख्या नगण्य रही होगी, इसी कारण इसका वर्णन जात्युत्कर्ष के प्रसंग में न आ सका हो।

वस्तुतः समस्त जात्युकर्ष एक सिद्धान्त के रूप में ही प्रस्तुत किया गया है। इनके परस्पर के संपर्क से अन्य जातियों का भी निर्माण होता होगा। संभव है वर्तमान समय में अनेक जातियों के होने का यही रहस्य हो। अपनी जाति से भ्रष्ट होने के बाद भी यदि सम्यक् आचरण किया जाता है तो भविष्य में होने वाली संतानें (या स्मृति के अनुसार सातवें अथवा पांचवें पीढ़ी में) उसका उत्कर्ष हो सकता है[1] तथा वह वंश अपने पूर्व वर्ण में प्रतिष्ठित हो सकता है; सैद्धान्तिक रूप से तो यह ठीक है परन्तु व्यवहारिक रूप से यह एक प्रकार से असंभव है। यह सरल नहीं है कि एक व्यक्ति के हीन कार्य से भ्रष्ट हो जाने पर सात अथवा पांच पीढ़ी तक की संतानें को संयमित रखते हुये उत्कर्ष की आकांक्षा से सम्यक् आचरण करें; सामान्य रूप से पतित की सात पीढ़ी तक की संतानों में कोई भी पतित न हो यह संभव नहीं है। अतएव उसके (पतित) वंशजों के भी व्यर्थ कर्म करने पर पुनः जातियों का निर्माण होता है इस तरह की जाति निर्माण की एक शृंखला बन जाती है। स्मृतियां इस शृंखला की ओर संकेत मात्र करती हैं। इस शृंखला की पूर्ण विवेचना प्रस्तुत करना स्मृतियों के लिये आवश्यक भी नहीं है।

---

१. या० स्मृ० १. ९६

चतुर्थ अध्याय

आश्रम व्यवस्था

वर्णाश्रम व्यवस्था भारतीय संस्कृति की प्राण कही जाती है। वर्ण और आश्रम व्यवस्था समाज और व्यक्ति को संगठित करके उन्हें अन्तिम पुरुषार्थ की ओर लगाने का प्रयत्न करती थी। पिछले अध्याय में इस बात को स्पष्ट किया गया कि वर्ण व्यवस्था एक ही समय संपूर्ण समाज को विशेष प्रकार के कार्यों को करने के लिए थी। इस व्यवस्था के अंतर्गत व्यक्ति की अपनी व्यक्तिगत स्थिति अपने वर्ण में ही रहती थी तथा वह उसी वर्ण के अनुकूल, (अन्य व्यक्तियों के समान) कार्य करता था। वर्ण में उसकी सामूहिक स्थिति होती है। परन्तु आश्रम व्यवस्था इससे विभिन्न है। आश्रम व्यवस्था एक ही व्यक्ति के विभिन्न कार्यों में पूर्वापर निश्चित करके उस इस बात का ज्ञान कराती है कि वह अपने जीवन को एक ऐसे क्रम में आवद्ध कर दे जिससे उसके विभिन्न सामाजिक दायित्वों की पूर्ति, आयु के बिभिन्न स्तर में हो सके। व्यक्ति की आयु को चार भागों में बांट कर उसे इस बात का अवसर दिया जाता था कि वह अपने तीन ऋणों (पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा देव ऋण इनके पूर्ण हुये बिना कोई मोक्ष का अधिकारी नहीं बन सकता था) को यथावत् पूर्ण कर सके। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि आश्रम व्यवस्था व्यक्ति की मोक्ष प्राप्ति के लिये सीढ़ियों का कार्य करती थी। इन सीढ़ियों से ऊपर उठता हुआ वह अंत में मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी हो जाता था।

शरीरी को ज्ञान कर्ममय माना गया है क्योंकि ईश्वर ज्ञान कर्ममय है और जीवात्मा उसी का अंश है अत: अंश में अंशी का भाव होना स्वाभाविक है। ईश्वर में ज्ञान और कर्म विरोधी भाव से नहीं रहते हैं। वे सहचर भाव से रहते हैं। जीव में कर्म, ज्ञान का आवरण करता है अर्थात् उसके वास्तविक प्रकाश को ढकता है। जीव को परमात्मा की प्राप्ति इसी आवरण को निवारण करके प्रकाश में स्थित होने पर ही होती है। इसी को मोक्ष कहते हैं। इसलिए धर्म शास्त्रकारों ने अनेक स्थल पर कहा है कि ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती है (ऋते ज्ञानान्न मुक्ति:)। ज्ञान ही कर्म गत बंधनों को हटाने में सहायक होता है। आश्रम व्यवस्था के अंतस्तल में यही रहस्य है।

चारों आश्रमों का स्थूल विभाजन दो प्रकार से किया जा सकता है—पूर्वार्ध और उत्तरार्ध; पूर्वार्ध में ब्रह्मचर्य और गृहस्थ आश्रम आते हैं; उत्तरार्ध में वानप्रस्थ और संन्यास। प्रथम आश्रम में (ब्रह्मचर्य आश्रम में) ज्ञान उपार्जन करने का विधान है; यह कर्म के महत्वों को समझने के लिए—कर्तव्य, अकर्तव्य, हेय, उपादेय आदि के ज्ञान के लिए किया जाता है। दूसरे शब्दों में यह ज्ञान द्वितीय आश्रम (गृहस्थाश्रम) के कर्मों के औचित्य का ज्ञान कराता है। वह एक प्रकार से द्वितीय आश्रम के लिए आधारशिला प्रस्तुत करता है जिसके ऊपर गृहस्थ अपने कर्मों की ऐसी भित्ति का निर्माण करता है जिससे स्वयं उसके लिए उसके कर्म, बंधनों का करण न हों साथ ही साथ वह अन्य तीनों आश्रमों के पालक बनने के उत्तरदायित्व को भी पूर्णता के साथ निभा सके।

ब्रह्मचर्य आश्रम जीवन की गति में प्रथम स्तर है। इस आश्रम में प्रवेश करने का समय विभिन्न वर्णों के अनुसार है। द्विजाति उपनयन संस्कार के सम्पन्न होने के बाद ही इस आश्रम में प्रविष्ट होते थे।[1] उपनयन के शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से भी यही उपयुक्त है (उपनयन का शाब्दिक अर्थ होता है—समीप ले जाना)। इसीलिए यह संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण समझा गया है। शिक्षार्थी बालक उपनयन के उपरांत गुरुकुल में वास करता था—गुरु का आश्रम ही उसका विद्यालय था। इस आश्रम में समानता का व्यवहार मिलता है। धनी और धनहीन, राजपुत्र अथवा साधारण द्विज बालक समान स्थिति में रहते थे। वे समान रूप से आश्रम के समस्त कार्यों को स्वयं अपने हाथ से करते हुये आचार्य के उपदेश और आदेशों का पालन करते थे। उपनयन संस्कार के उपरान्त आचार्य ही ब्रह्मचारी का पिता समझा जाता था तथा "सावित्री" उसकी माता समझी जाती थी।

अतएव, उपनयन करा के गुरु शिष्य को अत्यन्त प्रयत्न पूर्वक वेद का तथा आचार व्यवहार का ज्ञान करावे—यही ब्रह्मचर्य आश्रम का आधार अथवा तत्व था। इस शिक्षा के अतिरिक्त ब्रह्मचर्य आश्रम का एक और महत्व था। जीवात्मा के ऊपर जन्म लेते ही तीन ऋण रहते हैं। जब तक वह इन तीन ऋणों से मुक्त नहीं हो जाता है तब तक वह मोक्ष का अधिकारी नहीं बनता है। आश्रम व्यवस्था के प्रथम तीन आश्रमी रह कर ही वह अपने इन तीन ऋणों को विभिन्न अवसरों में, चुकाता है; ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर ऋषि ऋण से प्राणी उऋण होता है। ऋषि ऋण से छुटकारा पाने का अर्थ है ज्ञान प्राप्त करना, ऋषियों के द्वारा प्रतिपादित ज्ञान प्राप्त कर ऋषि ऋण

---

१. वर्ण व्यवस्था के प्रसंग में यह लिखा जा चुका है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य का उपनयन संस्कार किस आयु में होता है।

से मुक्त हुआ जा सकता है। इस तरह से, स्मृतियों द्वारा प्रतिपादित (विशेषकर मनुस्मृति के द्वारा) आश्रम व्यवस्था के प्रथम आश्रम को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि एक ऐसे व्यवस्था की रूपरेखा बनाती है कि जिससे कोई भी (विशेषकर द्विज) अज्ञानी, उच्छृंखल तथा अपने आध्यात्मिक उत्तरदायित्वों के प्रति निरपेक्ष नहीं रह जाता है।[1]

स्मृतियों में ब्रह्मचारियों के दो प्रकार के विभाजन दिखलाई पड़ते हैं—प्रथम "नैष्ठिक" ब्रह्मचारी कहलाता है और द्वितीय "उपकुर्वाण"। नैष्ठिक ब्रह्मचारी जीवन पर्यन्त गुरु के आश्रम में रहकर ज्ञान प्राप्त करता है तथा मोक्ष प्राप्ति की साधना करता है। वह आजीवन ब्रह्मचारी ही रहता है। उसके लिए अन्य आश्रमों में प्रविष्ट होने की आवश्यकता नहीं रहती है।[2] वह ब्रह्मत्व की प्राप्ति की चेष्टा करता हुआ शरीर पात होने तक गुरु के समीप रह कर, गुरु की शुश्रुषा करता हुआ उसी आश्रम में ही स्थिर रहता है। वह गुरु के अभाव में (गुरु के समाधिस्थ हो जाने पर) गुरु पुत्र के ही समान मान कर उनकी शुश्रूषा करता हुआ रहता है।[3] इस प्रसंग में, नैष्ठिक ब्रह्मचारी को किस प्रकार के व्रत करने चाहिये अथवा उसके लिए क्या कर्तव्य है अथवा क्या अकर्तव्य है इत्यादि के विषय में मनु आदि स्मृतियों में अत्यधिक विस्तार के साथ सूक्ष्म से सूक्ष्म विषयों का विवेचन किया गया है। उसके दैनिक जीवन में, उसे किस प्रकार भिक्षाचरण करना चाहिए अथवा किनसे भिक्षादि ग्रहण करना चाहिये, उसे अध्ययन के समय किस प्रकार बैठना चाहिये अथवा उसे किन-किन लोगों से किस प्रकार अभिवादन करना चाहिये आदि से लेकर उसके दैनिक कृत्यों (शौचादि) के संबंध में बहुत ही सारगर्भित उपदेश, इन स्मृतियों में मिलते हैं।[4]

उपकुर्वाण की कोटि में आने वाला ब्रह्मचारी भी गुरु के समीप रहकर विद्या-अध्ययन करता है परन्तु यह कुछ ही काल तक गुरु के समीप रहता है; विद्या अध्ययन का काल समाप्त होने पर गुरु के द्वारा आदिष्ट होने पर वह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता

---

१. "In Manu's system, no citizen, atleast no Dwija can remain uneducated, indisciplined, and imperious to his social and spiritual duties."
K. V. R. Aiyangar, "Social & Political Aspects of Manusmriti." Page 146.

२. मनुस्मृति अ० २ श्लोक २४२, २४३, २४४

३. मनुस्मृति अ० २ श्लोक २४७।

४. मनुस्मृति अध्याय २ याज्ञ० स्मृति अ० ब्रह्मचारि प्रकरण।

है; जब तक वह स्नातक नहीं हो जाता है तब तक ही वह गुरु के आश्रम में विद्याओं, व्रतों और आचार व्यवहार का ज्ञान प्राप्त करता रहता है। उपकुर्वाण कोटि वाले ब्रह्मचारी स्नातक तीन प्रकार के होते हैं—विद्या स्नातक, व्रत स्नातक तथा विद्या व्रत स्नातक।[1] जिसने केवल विद्याओं का ही अध्ययन किया है वह विद्यास्नातक कहा जाता है :; जिससे ब्रह्मचर्याश्रम में रहकर केवल व्रतों का ही पालन किया है (अर्थात् समस्त विद्याओं का ज्ञान प्राप्त नहीं किया है) वह व्रत स्नातक है तथा जिसने विद्याओं के साथ-साथ व्रतों का भी सम्यक् रूप से पालन किया है वह विद्या व्रत स्नातक है।[2] उपकुर्वाण और नैष्ठिक ब्रह्मचारी में केवल मात्र यही अंतर है कि एक स्नातक होने के पश्चात् ब्रह्मचर्याश्रम को त्याग कर गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो जाता है और दूसरा जीवन पर्यन्त गुरुकुल में ही वास करता है। प्रथम आश्रम में नियमों और व्रतों आदि के पालन करने की दृष्टि से उनमें कोई अंतर नहीं है। अतएव, दोहरा जीवन होता है। एक ओर तो वह शिक्षा क माध्यम से परमात्म विद्या का ज्ञान प्राप्त करता है और दूसरी ओर वह अपने मस्तिष्क, आत्मा तथा शरीर को विभिन्न व्रतादिकों के द्वारा अनुशासित करता है। तपश्चरण के द्वारा (कठोर जीवन के द्वारा) दोनों ही की (विद्या प्राप्ति तथा व्रताचरण) समाप्ति सांस्कारिक स्नान के रुप में होती थी और तब ही वह विद्याव्रत स्नातक कहे जाने की अधिकारिता प्राप्त करता था। इस आश्रम में रहकर उसे अपने "अहं" भाव का सर्वथा त्याग करना पड़ता था अथवा वह एक ऐसे वातावरण में रहता था कि "अहम्" का अपने आप ही नाश हो जाता था, महान् राजपुत्र और महान् पंडितों के बालक अथवा निर्धनों के बालकों को अपूर्व समानता के साथ विद्यालय को ही अपनाना पड़ता था; वह भी गुरु की अटपटी आज्ञाओं के अनुरूप। यह भिक्षाचरण उन्हें आत्मनियंत्रण, स्वावलंबन तथा सहिष्णुता का पाठ पढ़ा कर चारित्रिक

---

१. मनुस्मृति—अध्याय ३ श्लोक २ तथा इसी श्लोक की कुल्लूक भट्ट की टीका।
२. यह विभाजन मनुस्मृति का नहीं है। मनु का विभाजन इस प्रकार है (१) जिसने वेद को समस्त शाखाओं के साथ अध्ययन किया है वह (२) जिसने वेद की दो शाखाओं का अध्ययन किया है वह (३) जिसने वेद की केवल अपनी ही शाखा का अध्ययन किया है वह (अ० ३ श्लोक २) कुल्लूक भट्ट हारीत के वचन का उद्धरण (त्रयः स्नातकाः भवन्ति विद्यास्नातको व्रतस्नातका विद्याव्रतस्नातकाश्च) देते हुये कहते हैं कि स्मृत्यंतर में दिये होने के कारण इसे भी समझना चाहिये। परन्तु याज्ञवल्क्य इस विभाजन का उल्लेख करते हैं—याज्ञवल्क्य स्मृति आचार ३, ५

दृढ़ता प्रदान करने का महत्वपूर्ण कार्य करता था; यह सब वह केवल अपने मन, इंद्रिय, तथा बुद्धि को गुरु चरणों में समर्पित करके ही प्राप्त करता था। गुरु में अनन्य भावना ही श्रीगणेश करती थी। इस ज्ञान यज्ञ की पूर्ति गृहस्थाश्रम के विभिन्न उत्तरदायित्वों के पूर्ण करने के रूप में रहती थी। इस आश्रम में रहने वालों की आवश्यकता पूर्ति गृहस्थाश्रम के ही द्वारा होती थी। अतः ब्रह्मचारी में जब तक यह ज्ञान न हो कि वह गृहस्थ होने के उपरान्त किस प्रकार से व्यवहार करेगा तब तक अव्यवस्था की संभावना बनी ही रहती थी; इसीलिए इस प्रथम आश्रम ज्ञान को आश्रम भी कहा गया है। एक प्रकार से यह गृहस्थाश्रम का पूर्वार्ध ही कहा जा सकता है क्योंकि गृहस्थाश्रम व्यावहारिक आश्रम है; उसमें व्यवहार के औचित्य की अपेक्षा रहती है तथा ब्रह्मचर्य-आश्रम के स्वाभाविक ज्ञान की समाप्ति गृहस्थाश्रम में ही होती है (यदि ऐसा न हो तो प्रथम आश्रम ही अंतिम आश्रम बन जाय; परिणाम में सृष्टि ही समाप्त हो जायगी)।

स्नानसंस्कार के उपरान्त ब्रह्मचारी विवाह करके गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता था। स्मृतियों के वर्णन को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आयु प्रायः २५ वर्ष रहती है। यह आयु और अधिक बढ़ाई भी जा सकती थी, क्योंकि यह गुरु की आज्ञा पर निर्भर करता था कि ब्रह्मचारी अपनी आयु का एक चौथाई भाग ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यतीत करने के बाद भी कब तक उस आश्रम में रहेगा।[1]

गृहस्थाश्रम

क्रम की दृष्टि से गृहस्थाश्रम द्वितीयाश्रम के रूप में आता है, परन्तु महत्व की दृष्टि से यह प्रथम स्थान प्राप्त करता है। गृहस्थ की स्थिति अत्यधिक महत्वपूर्ण थी। यदि यह कहा जाय कि संपूर्ण समाज इसी आश्रम की धुरी के ऊपर स्थिर था तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। सृष्टि के क्रम को अक्षुण्ण बनाये रखने के अतिरिक्त, यह आश्रम अन्य तीन आश्रमों का भी पालक था। ब्रह्मचर्य आश्रम इसी गृहस्थाश्रमवासियों से ही

---

१. मनुस्मृति में एक वेद के अध्ययन का काल १२ वर्ष के लगभग माना है अतः संपूर्ण वेदों (तीन वेदों) के अध्ययन करने वाले को ३६ वर्ष तक गुरु के समीप रहने का आदेश है। अथवा ३६ वर्ष का आधा (१८ वर्ष) तक गुरु के समीप रहकर वेदों का अध्ययन करे तथा इसके साथ एक शाखा का भी अध्ययन करे (अर्थात् वेद की एक मंत्र शाखा का अध्ययन काल ६ वर्ष) तब उसे गुरु, यदि चाहे तो द्वितीय आश्रम में प्रवेश करने की अनुमति दे सकता है। (मनु० ३, १)

भिक्षा ग्रहण करता था, तथा वानप्रस्थ और सन्यास आश्रम के अंतर्गत आने वाले समाज की पूर्ति करना भी इसी आश्रम का प्रमुख कर्तव्य था।[1]

गृहस्थाश्रम के महत्व का एक और कारण था। गृहस्थाश्रम में ही संतानोत्पादन संभव था; संतानोत्पत्ति के ही द्वारा सृष्टि का क्रम अक्षुण्ण बना रहता था। अतः अन्य तीन आश्रमों की सदस्यता ग्रहण करने वाले व्यक्ति भी इसी आश्रम के द्वारा उत्पन्न होते थे। अन्य आश्रमों का महत्व इसी कारण गृहस्थाश्रम पर ही आधारित हो जाता था। मनुस्मृति गृहस्थाश्रम के महत्व को प्रकट करती हुई कहती है कि सभी आश्रमों में गृहस्थ ही श्रेष्ठ है क्योंकि वह इन तीनों का (ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ, तथा सन्यासी) पालन करता है। जिस प्रकार से सभी नदी और नद की स्थिति समुद्र में होती है उसी प्रकार सभी आश्रम वाले गृहस्थ में ही स्थिति (आश्रय) प्राप्त करते हैं (भिक्षादि के द्वारा)[2] सामान्य दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गृहस्थाश्रम ही समाज का वह आवश्यक तथा महत्वपूर्ण अंग है जो समाज के अन्य अंगों की आवश्यकताओं की पूर्ति करने की सामर्थ्य रखता है। मनोवैज्ञानिक विवेचन करने पर यही तथ्य समाज के एक विशेष दृष्टिकोण का द्योतक है। जहाँ प्रथम आश्रम में ब्रह्मचारी (एक व्यक्ति के रूप में) की देख-रेख के लिए समूह आता है (गृहस्थ) अर्थात् व्यक्ति के लिए समूह रहता है वहाँ दूसरी ओर द्वितीय आश्रम में (गृहस्थाश्रम में) व्यक्ति ही समूह के हितों को देखता है; वह एक संरक्षक के रूप में समूह के हितों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है। गृहस्थ व्यक्तिगत रूप से सभी आश्रमवासियों के हितों को देखने का प्रयत्न करता है; तभी वह उनका भरण-पोषण करने में समर्थ हो सकता है।

सामर्थ्य की दृष्टि से गृहस्थ ब्राह्मणों का वर्गीकरण चार प्रकार से किया गया है। यह चार प्रकार का वर्गीकरण कुसूलधान्यक, कुंभीधान्यक, त्र्याह्निक तथा अश्वस्तनिक नाम से अभिहित था।[3] कुसूलधान्यक उसे कहते हैं जिसके पास परिवार तथा आश्रितों

---

१. मनुस्मृति, अ० ६ श्लोक २७, २८.

२. मनुस्मृति अध्याय ६, श्लोक ८९, ९०.

३. कुसूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा। मनु ४. ७.
कुशूलकुम्भीधान्यो वा त्र्याह्निको श्वस्तनोऽपि वा।
जीवेद्वापि शिलोञ्छेछेन श्रयानेषा परः परः॥ या० स्मृति, गृहस्थ धर्म प्रकरण १२८.

का भरण-पोषण करने के लिए तीन वर्ष तक की सामग्री हो। एक वर्ष के लिए पर्याप्त धान्यादि का संचय करने वाले को कुम्भीधान्यक कहते हैं तथा जिसके पास केवल तीन दिन तक के लिए अथवा जिसके पास केवल एक ही दिन के लिए धान्यादि सामग्री हो, उसे क्रमश: त्र्यहिक तथा अश्वस्तनिक कहा जाता है।[1] मनु और याज्ञवल्क्य ने उपर्युक्त वर्गीकरण में पूर्व की अपेक्षा पर को अधिक श्रेष्ठ माना है अर्थात् सबसे श्रेष्ठ वर्ग अश्वस्तनिक (जिसके पास दूसरे दिन के लिए भी धान्यादि का संचय न हो) को माना है। त्याग की दृष्टि से यह युक्ति संगत है। यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि पारिवारिक जीवन में पारमार्थिकता को कितना अधिक महत्त्व प्रदान किया गया है। इसी कारण मनु ने इन्हें लोक विजयी की संज्ञा (लोकजित्तमः) प्रदान की है।

उपर्युक्त चारों प्रकार के लिये, किसी को पीड़ा न देते हुये ऋतामृत आदि के द्वारा) अथवा अल्प पीड़ा देकर (मृतादि के द्वारा) अपनी जीवन यात्रा करने का विधान है। उसे अपने कुटुंब का भरण-पोषण करते समय इस बात का ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने ही कर्मों के द्वारा (वर्ज्य कर्मों के द्वारा) अपने शरीर को कष्ट देता हुआ धन संचय न करे।[2] यह प्रयत्न केवल जीवन यात्रा मात्र के ही लिये होना चाहिये (धनी बनने की आकांक्षा से नहीं)। स्मृतियों की यह विवेचना केवल ब्राह्मण गृहस्थों के लिए ही जान पड़ती है। परन्तु जहाँ पर मनु और याज्ञवल्क्य गृहस्थों के आचार-व्यवहार के लिए नियम निर्देश करते हैं वहाँ वे सामान्य रूप से गृहस्थ मात्र के लिए विधान करते हैं।

यम और नियम दोनों का ही पालन गृहस्थों को आवश्यक रूप से करना चाहिये। ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान सत्य, निश्छलता, अहिंसा, अस्तेय, इंद्रिय दमन—ये यम हैं तथा स्नान, मौन, उपवास, यज्ञ, स्वाध्याय, उपस्थनिग्रह, गुरु शुश्रुषा, शौच, अक्रोध तथा अप्रमाद नियम है।[3] आश्रम और वर्ण की दृष्टि से विभिन्न यम और नियमों का विधान है। मनु यमों के सेवन के ऊपर अधिक बल देते हैं। यमों का सेवन प्रत्येक

---

१. कुसूल धान्यक तथा कुंभीधान्यक के विषय में टीकाकारों में पर्याप्त मतभेद है।

२. मनुस्मृति—४, २, ३—मनु ने इन चार प्रकार के ब्राह्मणों के लिए ऋताभृतादि छः प्रकार के कर्मों की संज्ञायें—ऋत, अमृत, मृत या प्रभृत, सत्य, मृत,

३. ब्रह्मचर्यं दया क्षान्तिदानं सत्यकल्कता।
अहिंसास्तेयमाधुर्ये दमश्चेति यमाः स्मृताः॥
स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहाः।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादकता॥ या० प्रा० अ० ३१२, ३१३.

दशा में होना चाहिये, भले ही किन्हीं अवसरों पर नियमों का पालन न भी हो सके ?[1]

गृहस्थ के कर्तव्यों की इति केवल "यम" और नियमों के पालन में ही नहीं है। उसे पंच यज्ञों को यथाशक्ति करना भी आवश्यक है इसके अतिरिक्त गृहस्थ के लिए निरंतर शास्त्रावलोकन भी आवश्यक समझा गया है। इस प्रकार से गृहस्थ प्रथम आश्रम में अर्जित विद्या को जागृत रखता था क्योंकि प्रथम आश्रम का ज्ञान निरंतर शास्त्रावलोकन से हस्तामलकवत् हो जाता था। इस नियम से वेद के रहस्यों का स्पष्टीकरण तथा बुद्धि नैर्मल्य स्वाभाविक है। शास्त्रावलोकन से प्राप्त होने वाले केवल ये दो लाभ इतने पर्याप्त हैं कि वे गृहस्थ को सन्मार्ग में लगाये रखें। नित्य प्रति त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ तथा काम) के चिंतन के साथ ही साथ आत्मचिंतन का नियम गृहस्थ के जीवन को पारमार्थिक बना देता है। वे केवल भौतिकवादी ही नहीं हो जाते हैं। उनके जीवन में नियमों के होते हुये, ऐसा कोई अवसर नहीं आता है जब कि वे अपने लक्ष्य (मोक्ष) के प्रति किसी भी प्रकार से उदासीन वृत्ति धारण करें अथवा उसे विस्मृत कर दें। जब उन्हें अपने लक्ष्य का ज्ञान बना रहेगा तब वे अपने जीवन को, अपने समस्त कर्मों को तथा अपने व्यवहार को साधन मात्र ही समझेंगे। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इनका महत्व बहुत अधिक है। समाज में नियम और व्यवस्था को स्थिर रखने के लिए किसी भी प्रकार के बाह्य उपकरण पर्याप्त नहीं होते हैं। केवल राजकीय शक्ति के द्वारा ही उपस्थित समाज न तो पूर्ण रूप से व्यवस्थित ही रह सकता है और न वह व्यवस्था दीर्घजीवी ही होती है। राजकीय शक्ति में शैथिल्य आते ही उच्छृखंल वातावरण पूर्णता को प्राप्त हो जाता है। शांति व्यवस्था तथा नियम आदि तभी दीर्घजीवी होते हैं जब समाज के सामाजिकों की आंतरिक प्रवृत्ति ही उस ओर हो। और ऐसा होने पर व्यक्ति स्वयमेव नियमों की सीमा को स्वीकार करेगा। परिणाम स्वरूप, उच्छृखंलता के वातावरण को कोई भी स्थान प्राप्त न हो सकेगा। अग्रिम पृष्ठों में इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर यह कहा गया है कि व्यक्ति को दंड शक्ति अथवा राजकीय शक्ति का आभास बहुत कम हो पाता था; वह जब नियमों का उल्लंघन करता था तभी उसे दंड शक्ति की दृढ़ता का आभास हो पाता था। यह एक ऐसा व्यावहारिक आदर्श था जो अनायास ही स्मृतिकारों को महान् समाजशास्त्रीय सिद्ध कर देता है।

स्मृतियां गृहस्थाश्रम की अवधि सुनिश्चित नहीं बतलाती हैं। शारीरिक

---

१. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
यम् पतत्यकुर्वाणो नियमान केवलान् भजन्॥ मनु० ४, २०४.

शैथिल्य ही उसकी, एक प्रकार से, सीमा निर्धारित करता। यदि गृहस्थ अपने केशों को श्वेत (पके हुये), अपने शरीर को झुर्रियों से व्याप्त तथा अपने पौत्र को (पुत्र के पुत्र को) देखता है तब उसे वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना चाहिये।[1] कहीं-कहीं यह भी मिलता है कि आयु का द्वितीय भाग समाप्त होने पर वन में जाय। परन्तु इनमें परस्पर कोई विरोध नहीं है। व्यक्तिगत स्वास्थ्य और योग्यता के अनुसार इनका उपयोग होता था।

वानप्रस्थ आश्रम

वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करते समय गृहस्थ अपनी पत्नी को अपने पुत्रों की संरक्षता में छोड़कर अथवा सपत्नीक ही जाता था। इन दो प्रकार के विधानों का समाधान टीकाकारों ने पत्नी की आयु के ऊपर निर्धारित किया है। यदि पत्नी वृद्ध हो तो सपत्नीक ही वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश किया जा सकता था। वानप्रस्थगामी अपने साथ अग्निहोत्र की सामग्री को भी लेता जाता था क्योंकि इस आश्रम में भी उसे पंच यज्ञों को संपादित करना पड़ता था।[2]

जिस प्रकार द्वितीय आश्रम के कर्मों की योजना प्रथम आश्रम के ज्ञानार्जन के द्वारा संपन्न होती थी ठीक उसी प्रकार तृतीय आश्रम, चतुर्थ आश्रम के लिए आयोजना बनाता था। तृतीय आश्रम में व्यक्ति को निवृतमार्गी होकर ज्ञान और उपासना के द्वारा साधना करनी पड़ती थी। प्रथम आश्रम का ज्ञानार्जन गृहस्थ को सत् असत् कर्मों के विवेक के द्वारा कर्म की ओर प्रवृति करता हुआ कर्मयोगी बनाता था; परन्तु तृतीय आश्रम का ज्ञान व्यक्ति को पारमार्थिकता का बोध कराते हुये निष्काम और निवृत कर्म-मार्ग की ओर ले जाता था। यहाँ रहकर उपनिषदों के ज्ञानकाण्ड को चरितार्थ करना उसका परम कर्तव्य होता था। उसे कर्म की कठोरता के द्वारा शरीर का शोषण करना पड़ता था। वानप्रस्थी के लिए तीन बार स्नान का विधान है; स्वयंजात फल, मूल आदि ही उसके भोज्य पदार्थ हैं। वह भिक्षा ले सकता था, परन्तु उतनी ही जितने से शरीर रक्षा हो सके। भिक्षा के द्वारा, ग्राम से लाकर, केवल आठ ग्रास भोजन करना चाहिये।[3] भूमिशयन तथा पंचाग्निताप आदि उसकी दैनिकचर्या थी। जब वानप्रस्थी

---

१. यम और नियमों को बतलाते हुये याज्ञवल्क्य कहते हैं—
गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्।। मनु० ६ २.

२. मनु० अ० ६, ३, ४, ७७ या० स्मृति वानप्रस्थ प्रकरण ४५.

३. मनु० ६, २४, २७, या० स्मृति वा०, धर्म प्रकरण ५१, ५४, ५५.

अपने को इस नवीन वातावरण के अनुकूल बना लेता था (जब वह अपने अंत:स्थल में पारमार्थिकता की अग्नि को प्रज्वलित करने में समर्थ हो जाता था) तब गृहस्थाश्रम से लाई हुई अग्निहोत्र की अग्नि का भी त्याग कर देता था। इस स्थिति में वह मुनिजनोपयुक्त नीवार आदि अन्नों का भी परित्याग करके केवल फल मूल के ही द्वारा शरीर रक्षा करता था।[1] वानप्रस्थी केवल अपने द्वारा बनाए हुए नमक का ही व्यवहार कर सकता था।[2] याज्ञवल्क्य के अनुसार तो उसे ऐसी भूमि पर भी चलना वर्ज्य था जो हल से जोती गई हो। वानप्रस्थी एक दिन, एक मास, छ: मास अथवा एक वर्ष तक खाने योग्य नीवार आदि का संग्रह कर सकता था; परन्तु प्रत्येक वर्ष के आश्विन मास में उन्हें पूर्व संचित सब कुछ ((अन्न, वस्त्र, कन्द आदि) त्यागना चाहिये, ऐसा मनुस्मृति का विधान है।[3]

वानप्रस्थी चतुर्थ आश्रम में प्रवेश करने के पूर्व ही महाप्रस्थान कर सकता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार केवल वायु का ही भक्षण करते हुए ईशान कोण की ओर वानप्रस्थी को प्रयाण करना चाहिये (मरण पर्यन्त)। परन्तु मनु स्मृतिकार के अनुसार यह महाप्रयाण तभी उपयुक्त समझा जाता था जब वानप्रस्थी किसी ऐसे रोग से पीड़ित हो जिसकी चिकित्सा संभाव्य न हो।[4] मनु वायु भक्षण के साथ ही साथ जल ग्रहण का भी निर्देश करते हैं, परन्तु यह अंतर अत्यन्त गौण है। यहाँ पर मनु के ही विचार अधिक समीचीन जान पड़ते हैं क्योंकि, यदि साधारण अवस्था में भी महाप्रयाण संभव होता तब अंतिम आश्रम का महत्व कम पड़ जाता। इस अर्थ को लेने पर ही यह कहा जा सकता है कि तृतीय चतुर्थ आश्रम की भूमिका का कार्य करता है। तृतीय आश्रम में रह कर वह काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त करते हुये अपने जीवन का तृतीय भाग व्यतीत करता था। इस प्रकार से जीवन के तृतीय भाग के समीचीन होने के उपरांत सन्यास ग्रहण करने की अवस्था प्राप्त होती थी। यहाँ पर जीवन के तृतीय भाग के बीतने (तृतीयं भागमायुष:) का शाब्दिक अर्थ ग्रहण करना उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है क्योंकि किसी को भी अपनी निश्चित आयु का परिज्ञान नहीं रहता है। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने शंख लिखित के वाक्यों को उद्धृत करके यह मत प्रकट किया

---

१. मनु०—६—२६.
२. या० स्मृति, वान० धर्म प्रकरण ४६.
३. मनु० अ० ६—१२, १८, १५.
४. या० स्मृति, वान० धर्म प्रकरण ५५; मनु अ० ६—३१.

है कि वानप्रस्थ में रहकर जब रागद्वेषादि पर विजय प्राप्त करके जितेन्द्रिय हो जावे तब ही सन्यास ग्रहण करने का अवसर समझना चाहिये।[1]

सन्यास आश्रम

सन्यास आश्रम अंतिम आश्रम है अतएव इस आश्रम में प्रविष्ट होने के पूर्व सन्यासोन्मुख प्राणी को अपने सभी आवश्यक उत्तरदायित्व से निवृत हो जाना चाहिये। मनुष्य के प्रमुख उत्तरदायित्वों में ऋणत्रय आते हैं। इन तीनों ऋणों को जब तक कोई प्राणी चुकता नहीं कर लेता तब तक अंतिम आश्रम में प्रवेश पाने की अधिकारिता नहीं प्राप्त होती है। प्रथम दो आश्रमों में रहकर ज्ञानार्जन और पुत्रोत्पादन के द्वारा ऋषि ऋण और पितृ ऋण को चुकाने की व्यवस्था है। द्वितीय आश्रम में भी तृतीय ऋण (देव ऋण), यज्ञादिकों के संपादन द्वारा चुकाया जा सकता है; परन्तु वानप्रस्थ में भी यज्ञादिकों के विधान होने से तथा क्रम की दृष्टि से तृतीय ऋण की पूर्ति भी तृतीय आश्रम के द्वारा संभाव्य मानी गई है। प्राजापत्य आदि यज्ञों की परिसमाप्ति (तृतीय आश्रम में) के उपरान्त ही सन्यास ग्रहण करने का विधान स्मृतिकारों का है।[२] सन्यासी, मुंडित हो सकता है अथवा केश शिखा आदि को धारण करने वाला (जटिल) हो सकता है। वह केवल अधातवीय (मिट्टी, काष्ठ आदि) कमंडलु आदि धारण कर सकता है; उसके लिए दंड धारण करना आवश्यक है। याज्ञवल्क्य सन्यासी को त्रिदंड बांस के तीन पतले दंडों को मिलाकर धारण करने का विधान करते हैं।[3] मनु ने केवल "दंड" शब्द का ही प्रयोग किया है परन्तु बारहवें अध्याय में त्रिदंडी की परिभाषा देते हुये वे कहते हैं कि त्रिदंडी वह है जिसने अपनी बुद्धि में वाक्-दंड, मनो-दंड तथा काय-दंड को निहित कर लिया है।[4] (अर्थात् वह वाचिक, मानसिक तथा कायिक विषयों से निरपेक्ष हो गया है)। पाराशर माधवीय के रचयिता सायणाचार्य जी **"सर्वचैव त्रिदण्डिनः"** को उद्धृत करके अपनी व्याख्या में कहते हैं कि यह वाग्दंड आदि के विषय में है—यष्टित्रय से इसका अभिप्राय नहीं है (पा० मा०, भाग २, पुस्तक प्रथम पृष्ठ १७२)। अतएव याज्ञवल्क्य के द्वारा कहे गये त्रिदण्डधारी के त्रिदण्ड को वाग्दण्डादि का प्रतीक ही समझना चाहिये, इसका एक कारण यह भी है

---

१. मनु० अ० ६, ३३ तथा इसी कुल्लूक भट्ट की टीका।
२. मनु० अ० ६, ३४, ३६, ३८; या० स्मृति, यतिधर्म प्रकरण, ५६, ५७.
३. मनु० अ० ६—५२, ५३, या० स्मृति, यदिधर्म प्रकरण, ५८, ५९.
४. मनु० १२—१०.

कि ज्ञान से विहीन होकर यदि कोई दंड धारण करता है तो वह नरक गामी होता है—इसलिए त्रिदण्ड को वाग्दण्ड आदि का प्रतीक (जो कि ज्ञान के ही द्वारा संभव है) मानना युक्तियुक्त होगा।[1] इस प्रसंग में दक्ष स्मृति अधिक स्पष्ट है। उसके अनुसार बांस के त्रिदण्ड से कोई त्रिदण्डी नहीं कहलाता। जो अध्यात्म दण्ड से युक्त है वही त्रिदंडी है।[2]

भ्रमणशील सन्यासी केवल एक ही बार भिक्षाटन कर सकता है वह भी ऐसे समय में जब गृहस्थ के यहाँ की अग्नि शांत हो गई हो, भोजन के उपरान्त पत्तल आदि बाहर फेंक दिये गये हों। याज्ञवल्क्य के अनुसार, जब तीन मुहूर्त दिन शेष रह जाय तब केवल एक ही बार उसे भिक्षाटन के लिए निकलना चाहिये।[3] भिक्षा भी ऐसे घर से मांगनी चाहिये जहाँ पर अन्य साधु, ब्राह्मण, भिक्षुक आदि न हों।[4] निश्चय ही ऐसे विधान महान् त्याग की अपेक्षा करते हैं। संन्यासी में, उसके त्याग की पराकाष्ठा ही उसका गौरव है। उपरोक्त विधान का तात्पर्य, जहाँ एक ओर संन्यासी में त्याग की प्रतिष्ठा करना है वहाँ दूसरी ओर गृहस्थ को भी उत्तरदायित्व के भार से मुक्त करना है। इसलिए संन्यासी के भिक्षाटन का समय और स्थान असाधारण नियमों से नियंत्रित है: अन्य स्मृतियों में तो दरिद्र से जो अपनी, श्रद्धा के कारण अपने को कष्ट देकर भिक्षा प्रदान करता है, भिक्षा ग्रहण नहीं करने का विधान है।[5] भिक्षा ग्रहण करने में भिक्षा की मात्रा में भी नियंत्रण है। सन्यासी को केवल उतना ही ग्रहण करना चाहिये जितने से शरीर यात्रा हो सके। उसे न तो अधिक की प्राप्ति में आसक्त ही होना है और न ऐसे आडंबरों को अपनाना है जिनसे दाता प्रभावित होकर अधिक दे दे (उदाहरण के लिए ज्योतिष शास्त्र, सामुद्रिक शास्त्र, अंग विद्या आदि के द्वारा गृहस्थ को प्रभावित करना)।[6]

संन्यासी का जीवन वृत उपर्युक्त प्रकार का होना स्मृतियों द्वारा अपेक्षित था। परन्तु यह गौण विधान था; प्रमुख रुप से उन्हें स्वाध्याय और आत्म-नियंत्रण पर अधिक ध्यान देना चाहिये। स्मृतियां संन्यासी के लिए समभाव का विधान करती हैं

---

१. पा० मा० भाग दो, प्रथम पुस्तक पृष्ठ १७७; मनु० अ० ६—३६, ३७.
२. दक्षस्मृति—७—२९.
३. मनु० अ० ६—५५, ५६; या० स्मृति, यतिधर्म प्रकरण, ५९.
४. मनु० अ० ६—५१; या० स्मृति, यतिधर्म प्रकरण, ५९.
५. पा० मा० आचार कांड, अ० २, पृष्ठ १९०.
६. मनु० अ० ६—५०, ५५, ५८; या० स्मृति, यतिधर्म प्रकरण, ५९.

उसे लाभ, हानि, हर्ष, क्षोभ को एक ही भाव से स्वीकार करना चाहिये, यह निवृति और कर्म सन्यास मार्ग का ही लक्षण है। इंद्रिय-निग्रह भी इसी का अनुषंगिक है। ब्रह्म से साक्षात्कार करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि संन्यासी सांसारिकता से सर्वथा विमुख हो जाय; संसार की असारता को समझकर जब संन्यासी उससे विलग हो जायगा तभी वह आवागमन के चक्र से मुक्त हो सकता है।[१] अतएव, स्मृतियां सन्यासी को संसार की असारता प्रदर्शित करने वाले उपदेश देती हैं। वे उसे शरीर तत्व के ऊपर, शरीर की अनित्यता तथा कर्म और गुण की बंधनशीलता को बहुत विस्तार के साथ बतलाने का प्रयत्न करती हैं।[२] इन सबका उद्देश्य सन्यासी में सांसारिकता के प्रति वैराग्य भाव की प्रतिष्ठा करना है। इस स्थिति के प्राप्त होने पर ही वह (सन्यासी) ध्यान-योग से आत्मदर्शन (ब्रह्म साक्षात्कार) करता है; ब्रह्म के साक्षात्कार से युक्त मनुष्य कर्मों के बंधन में नहीं बंधता; परन्तु ऐसा न होने पर कर्म बंधन अवश्यंभावी हो जाता है।[3] कर्म बंधन और गुणों के बंधन से अपने को मुक्त करना ही मोक्ष है; यह ज्ञान के द्वारा ही संभव है तथा वेद ज्ञानमय है अतएव सन्यासी को वेद के ज्ञान का ही मनन करना पड़ता था; इसी भाव से गीता में कृष्ण ने अर्जुन से कहा था कि ज्ञान की अग्नि सब कर्मों को भस्मसात् करती है तथा उन्हें त्रैगुण्य की परिधि से ऊपर उठने का उपदेश दिया था।[४] सन्यासी इस अवस्था को प्राप्त करने पर समाधि आदि के द्वारा शरीर को उसी तरह त्यागने में समर्थ हो जाता है जिस प्रकार एक वृक्ष के ऊपर बैठने वाले पक्षी उस वृक्ष को छोड़ देते हैं;[५] अर्थात् अनायास ही, बिना कष्ट के वह जीवन मुक्त हो जाता है।[६]

स्मृतियों में तथा इनके (मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतियों के) पूर्ववर्ती ग्रन्थों में संन्यास आश्रम में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से पर्याप्त अंतर है। उपनिषाद साहित्य, में अंतिम आश्रम—संन्यास आश्रम, के छः भेद दिये गये हैं। ये छः प्रकार

---

१. मनु० अ० ५—५७, ५९, ६०, ६१, ६४, ७५, ८०, ८१ या० स्मृति, यतिधर्म प्रकरण ६१—६६.

२. मनु० अ० ६, ७६, ७७, ६८; या० स्मृति, यतिधर्म प्रकरण, प्रायः सम्पूर्ण.

१. मनु० अ० ६, ७३, ७४.

२. "ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन॥ गीता

३. मनु० ६, ७८.

४. मनु० अ० ६, ८१.

कुटिचक, बहूदक, हंस, परमहंस, तुरीयातीत तथा अवधूत नाम से अभिहित हैं।[1] इनमें (कुटिचक आदि के) किसके क्या लक्षण होंगे तथा उन्हें किस प्रकार के कर्तव्य विशेष के रूप में करना चाहिए, आदि के विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। इन्हीं भेदों में हंस, परमहंस, तुरायातीत तथा अवधूत के कर्तव्यों तथा इनके लक्षणों को बतलाने वाले पृथक उपनिषद् भी प्राप्त हैं।[2] ये उनिपषद् एक ही प्रकार के भेद को लेकर उसके उसके विषय में पर्याप्त सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति इन प्रभेदों को विशेष महत्व प्रदान न करती हुई समभाव से संन्यासियों के लिए ऐसे सामान्य धर्मों का प्रतिपादन करती हैं जो इन सभी प्रभेदों का मार्ग प्रदर्शन सिद्ध होता है। यह स्मृतियों की अपूर्णता का द्योतक है। जब संन्यास आश्रम विभिन्न प्रभेदों से युक्त था तब उन सभी प्रभेदों को भी यथावत् स्थान प्राप्त होना चाहिये था; इस अपूर्णता को यदि सामाजिक परिवर्तन का द्योतक समझा जाय तब स्मृतियां व्यवहारिकता की दृष्टि से पूर्ण ही सिद्ध होती है। ऐसा संभव प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल में आश्रम व्यवस्था अपनी पूर्णता में रही होगी; परन्तु स्मृतियों के काल में आते तक यह व्यवस्था (आश्रम व्यवस्था) कुछ शिथिल हो गई होगी। स्मृतियों के समय में समाज में चार आश्रम अवश्य रहे होंगे परन्तु उनके प्रभेद नष्ट हो गये होंगे। यह तथ्य सन्यास आश्रम के लिए अधिक उपयुक्त है। संन्यास आश्रम (स्मृतियों के समय में) समाप्त नहीं हुआ होगा परन्तु उनके छः प्रभेद एक ही में समाविष्ट हो गये होंगे, क्योंकि यह आश्रम अन्य आश्रमों की अपेक्षा अधिक कष्ट-प्रद था। अतएव मनु और याज्ञवल्क्य संन्यास आश्रम के प्रभेदों का विश्लेषण नहीं करते हैं।

मनु ने एक स्थान पर "कुटीचक संन्यासी का संकेत किया है। वे कहते हैं— "सब कर्म का त्याग कर, कर्मजन्य दोष को नष्ट करता हुआ जितेन्द्रिय होकर वेदों

---

१. संन्यासोपनिषत्—पृ ३७६

स संन्यासः षड्विधो भवति कुटीचकबहूदकहंसपरमहंस—तुरीयातीतावधू ताश्चेति।

२. हंसोपनिषत्, परमहंसोपनिषत्, तुरीयातीतोपनिषत् तथा अवधूतोपनिषत्—इनके अतिरिक्त संन्यासस्रोपनिषत् नारद परिव्राजकोपनिषत् आदि विभिन्न उपनिषत् हैं जो सन्यासियों के विभिन्न प्रकारों का विश्लेषण करती हैं।

का अभ्यास करता हुआ, संन्यास लेकर पुत्र के ऐश्वर्य में रहे"।[1] तथा चौथे अध्याय में सब कुछ पुत्र के ऊपर छोड़कर माध्यस्थ (उदासीन) वृति का आश्रय लेकर घर में ही एकाकी ब्रह्म चिन्तन करते हुये, रहने का उल्लेख मिलता है।[2] ये दोनों ही प्रसंग, कुटीचक शब्द से संबोधित न होते हुये भी, उपनिषदों में वर्णित कुटीचक संन्यासी के ही भेद को स्पष्ट करते हैं। यह संकेत इस तथ्य का प्रमाण हो सकता है कि मनुस्मृति के समय में संन्यासी के सभी भेद "कुटीचक तथा संन्यासी" में ही अंतर्हित हो गये हों। संन्यास आश्रम की यह ह्रासोन्मुख प्रवृति यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती है। याज्ञवल्क्यस्मृति में, जो कि मनुस्मृति के भी बाद की है, हमें मनुस्मृति का उक्त सांकेतिक उल्लेख भी नहीं मिलता है। संभव है याज्ञवल्क्य के समय में यह आश्रम और भी शिथिल हो गया हो और केवल अंतिम आश्रम होने के कारण अधिक लोगों से सेवित न रहा हो। अधिक लोगों से सेवित होने पर ही भेदोपभेद संभव होते हैं। अतएव याज्ञवल्क्यस्मृति केवल "यति" शब्द को ही व्यवहार में लाकर संन्यासियों के धर्मों का वर्णन करती है।

आश्रम व्यवस्था का एक दृष्टि से सिंहावलोकन करने पर यह आयु और काल पर आश्रित वैयक्तिक व्यवस्था ज्ञात होती है। आश्रम व्यवस्था एक ऐसी व्यवस्था थी जिससे व्यक्ति स्वातंत्र्य संभव था—यह व्यवस्था व्यक्ति को सामाजिक कार्यों के संपादन की योग्यता संप्रदान करती थी। जीवन के दुरूह मार्गों में चलने की योग्यता ब्रह्मचर्य आश्रम में प्राप्त ज्ञान तथा नियंत्रण को स्वीकार करने की प्रवृति के द्वारा प्राप्त होती थी। द्वितीय आश्रम में इसी ज्ञान और संयम के द्वारा व्यक्ति समाज को एक सूत्र में बांधता है। द्वितीय आश्रम में ब्रह्मचर्याश्रम का "व्यक्ति" समाज की कड़ी बन जाता है। जब परिवार की वृद्धि पौत्र तक पहुंच जाती है तब वह कड़ी पुनः अलग हो जाती है। प्रथम आश्रम के ज्ञान और संयम के पाठ का महत्व द्वितीय आश्रम के अच्छे गृहस्थ अथवा अच्छे सामाजिक के रूप में होता था; वहाँ व्यक्ति का व्यक्तिगत प्रयत्न सामाजिकता के लिए होता था; परन्तु तृतीय आश्रम में, व्यक्ति का प्रयास वैयक्तिक लाभ ही रहता है। वह पारमार्थिकता आत्मज्ञान आदि के द्वारा चतुर्थ आश्रम की अधिकारिता प्राप्त करता था। तात्पर्य यह है कि प्रथम आश्रम का ज्ञानार्जन प्रवृत्ति मार्ग

---

१. सन्यस्य सर्वकर्माणि कर्मक्षेवानपानुवन्।
नियतो वेदमभ्यस्य पुत्रैश्वर्ये सुखं वसेत्॥ मनु० ६, ९५.

२. महर्षिपितृदेवानां गत्वानृण्यं यथाविधि।
पुत्रे सर्वं समापज्य वसेन्माध्यस्थमाश्रितः॥ मनु० ४, २५७.
एकाकी चिंतयेन्नित्यं......मनु० ४, २५८.

में परिणत होकर कर्तव्याकर्तव्य का ज्ञान कराता है, तथा तृतीय आश्रम के कर्म का उपसंहार निवृत्ति मार्ग में होता है; यह कर्म संन्यास आश्रम में परिणत हो जाता है।

इसी अध्याय के प्रारम्भ में ईश्वर के ज्ञान कर्ममय स्वरूप की ओर प्रकाश डाल कर यह बतलाने का प्रयत्न किया गया है कि किस प्रकार ईश्वर के ज्ञान कर्ममय स्वरूप के आधार पर व्यक्ति के जीवन को दो भागों में बांटा गया है। प्रथम पूर्वार्ध में कर्म की प्रधानता रहती है तथा उत्तरार्ध में ज्ञान की। परन्तु पूर्वार्ध के कर्म के लिए भी ज्ञान का उपार्जन अनिवार्य है। अतः पूर्वार्ध के पुनः दो भाग हो जाते हैं। इस प्रथम भाग के कर्म करने की योग्यता संपादन करने के लिए जिस ज्ञान की अपेक्षा है उसका अर्जन करना रखा गया है। यहाँ जो ज्ञान प्राप्त करना है वह कर्म करने की योग्यता उत्पन्न करेगा; यह ज्ञान कर्म का साधन है, द्वितीय आश्रम का गार्हस्थ्य कर्म साध्य है। द्वितीय आश्रम में व्यक्ति को वेद विहित कर्मों का अनुष्ठान करना पड़ता है उस ज्ञान की प्राप्ति प्रथम आश्रम में वेदाध्ययन के द्वारा होती है। ब्रह्म वेद को भी कहते हैं। इस आश्रम में वेदों के अध्ययन की प्रधानता है। इसलिये भी प्रथम आश्रम को ब्रह्मचर्य आश्रम कहा गया है। इस आश्रम में उसे गृहस्थाश्रम में उपयोग में आने वाले समस्त कर्म कलाप की इति कर्तव्यता का ज्ञान प्राप्त हो जाता था, तदनुसार गृहस्थाश्रम में वह अपने कर्मों की इस प्रकार व्यवस्था कर सकता था कि सांसारिक सकल कर्म करता हुआ भी, अर्थ और काम का धर्म पूर्वक उपभोग करके उसे क्षीण कर देता था। इस प्रकार से वह ज्ञान प्राधान्य उत्तरार्ध भाग के लिए उपयुक्त हो जाता था। इस भाग का ज्ञान पूर्वार्ध के ज्ञान से भिन्नता रखता है। ब्रह्मचर्य आश्रम का ज्ञान साधन मात्र तथा गृहस्थाश्रम का कर्म साध्य था। उत्तरार्ध में ज्ञान साध्य हो जाता है तथा कर्म साधन बन जाता है। तृतीय आश्रम में जितने कर्म होंगे वे सब निवृतिपरक होंगे। शरीर और कर्मों की अनित्यता का अनुभव करते हुये परम ज्ञान की योग्यता संपादन करना इस आश्रम का मुख्य लक्ष्य था। इसके बाद चतुर्थ संन्यास आश्रम में सर्वारंभ परित्यागी होकर निराशी होकर, उपरिग्रह होकर (यहाँ तक कि वस्त्राच्छादन, पुस्तक लेखनी आदि से रहित होकर) ब्रह्मानुभव प्राप्त करके परम पुरुषार्थ सिद्ध किया जाता था। यद्यपि ब्रह्मचर्याश्रम में ही सब प्रकार का शास्त्रीय ज्ञान प्राप्त हो जाता था परन्तु वहाँ संहिता भाग की प्रधानता थी,; गृहस्थाश्रम में ब्राह्मण भाग के विधि काण्ड की तथा वानप्रस्थाश्रम में आरण्यक की प्रधानता थी; चतुर्थ आश्रम में उपनिषद् की प्रधानता से मनन करते हुये ब्रह्मानुभव की प्रधानता थी। बिना स्वानुभव के ब्रह्म प्राप्ति उसी प्रकार समझी गई है जैसे कोई व्यक्ति वृक्ष की शाखा में लगे हुये सरस

मिष्ट फलों का जल में प्रतिबिंब देख कर ही संतुष्ट होकर फलास्वाद का आनन्द ले।[1]

आश्रम शिक्षा (क)

समाज में शिक्षा के महत्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। समाज का विकास और उसका पतन शिक्षा की व्यवस्था के ही ऊपर आधारित रहता है। कोई भी समाज अपना मस्तक ऊपर तभी उठा सकता है जब उस समाज को आदर्श शिक्षा पद्धति के अनुशासन में रखा जाय। शिक्षा की समुचित व्यवस्था पर सांस्कृतिक, बौद्धिक तथा वैज्ञानिक प्रगति संभव है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि उचित शिक्षा ही समाज के व्यक्तित्व का निर्माण करती है; तथा समाज व्यक्ति पर ही आश्रित रहता है। अतएव समाज के व्यक्तित्व के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसके आवश्यक अंग (व्यक्तित्व) को विकसित करने के माध्यम द्वारा उसके सामूहिक स्वरूप तक पहुंचा जाय, अंततोगत्वा यही राज्य के व्यक्तित्व का कारण बनता है। भारतीय मनीषियों ने शिक्षा को, उसकी व्यापकता के अनुसार ही महत्व प्रदान किया था। उन्होंने शिक्षा के व्यापक प्रभाव तथा महत्व को दृष्टि में रख कर संपूर्ण जीवन को ही शिक्षा प्राप्ति के लिए निर्धारित किया था, परन्तु इस सामान्य विधान के साथ-साथ, प्रथम आश्रम को विशेष रुप से शिक्षा का काल घोषित किया था। ब्रह्मचर्य आश्रम में रहकर शिक्षा के विभिन्न अंगों का विशेष ज्ञान प्राप्त किया जाता था; तथा जीवन की अन्य तीन सीढ़ियों में रहता हुआ भी वह (व्यक्ति) अपने को शिक्षित ही करता रहता था। आश्रम व्यवस्था का सार इसी तथ्य में निहित है। एक आश्रम में रह कर दूसरे आश्रम के उत्तरदायित्वों को पूरा करने की योग्यता सम्पादित करना ही शिक्षा है। और यह क्रम केवल प्रथम और द्वितीय आश्रम तक ही नहीं रहता, इसकी परि-समाप्ति तृतीय आश्रम और चतुर्थ आश्रमों के उत्तरदायित्वों की पूर्ति की योग्यता प्राप्त कर उन उत्तरदायित्वों को पूर्ण कर "मोक्ष" प्राप्ति में ही थी। इसके पूर्व उसकी परिसमाप्ति का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है। जीवन पर्यन्त विप्र शिक्षा प्राप्ति के लिए उन्मुख रहता है।[2] संपूर्ण जीवन शिक्षा के लिए था तथा शिक्षा संपूर्ण जीवन के लिए थी।

---

१. अनुभूतिं विना मूढो वृथा ब्रह्मणि मोदते।
प्रतिबिंबितशाखाग्रफला—स्वादनमोदवत् ।। मैत्रेयी उपनिषद् २—२२.

२. यावज्जीवमधीते विप्रः ।।

शिक्षा शब्द का व्यौत्पत्तिक अर्थ लेने पर उपर्युक्त कथन स्वयमेव स्पष्ट हो जाता है। शिक्षा, अभ्यास, विशेष शक्ति और इच्छा विशेष तथा सहन शक्ति की इच्छा (सुख दुख, प्रिय, अप्रिय आदि के द्वन्द्वात्मक भावों में सहन शक्ति दिखलाना अर्थात् इनको गंभीरतापूर्वक समझना) आदि के अर्थ में प्रयुक्त होती है।[1] इसके अतिरिक्त शिक्षा शब्द अनुशासन के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। इस प्रसंग में, अनुशासन के भी पुनः दो भाग हो जाते हैं पहला बौद्धिक अथवा मानसिक अनुशासन और दूसरा शारीरिक अनुशासन। वस्तुतः शिक्षा अनुशासन का दूसरा नाम कहा जा सकता है। बौद्धिक और शारीरिक क्षेत्र में आत्मनिरोध की शक्ति होना ही अनुशासन है, इस अनुशासन के उपरान्त ही उक्त क्षेत्रों में विकास संभव है। शिक्षा अपने एक अर्थ में इसी के महत्व को प्रतिपादित करती है दूसरे अर्थ में यह विद्या के क्षेत्र में पारगामिता प्रदान करती है। पराकाष्ठा के लिए शिक्षा के दोनों ही स्वरूप अपेक्षित हैं। मनु और याज्ञवल्क्य आदि इन्हीं दोनों अर्थ को लेकर शैक्षिक कार्यों के विषय में उपदेश प्रदान करते हैं।

शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम से होता है। ब्रह्मचर्याश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार के उपरान्त होता है। इस आश्रम के पूर्व बालक घर में ही रहता है। स्मृतियों में अक्षर ज्ञान आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता है। यह अभाव स्वाभाविक ही है। स्मृतियों के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रह्मचर्य आश्रम को छोड़कर जब व्यक्ति गृहस्थ आश्रम में प्रविष्ट होता है तब वहाँ भी वह अपने ज्ञान को अक्षुण्ण बनाये रखता है। अतएव इन गृहस्थों से यह स्वाभाविक आशा रहती है कि ये बालकों को प्रारंभिक शिक्षा उपनयन संस्कार के पूर्व ही प्रदान कर देंगे। उपनयन संस्कार के उपरान्त गुरु उसे सर्व प्रथम शौचाचार, (पवित्रता से रहने के नियम) अग्निकार्य (समिधा आदि लाना तथा सायं प्रातः अग्निहोत्र करना) तथा संध्योपासना आदि की शिक्षा देता था।[2] गुरु के शिक्षा प्रदान करने के कार्यक्रम में पवित्रता

---

१. भौवादिकादभ्यासकर्मणः शिक्षतेः भावे, सौवादिकाच्छक्तिकर्मणः शक्नोतेः, देवादिकान्मर्षणकर्मणः शक्यतेश्च शिक्षा शब्दोभ्यासविशेषं शक्तिइच्छा विशेषं मर्षणेच्छाविशेषं च स्वार्थं समर्पयति॥ शिक्षा-शब्देन निजवाच्य कुक्षौ निक्षिप्यन्ते।

संस्कृत रत्नाकर "शिक्षांक" १९४० में "कीदृशी शिक्षा प्रणाली--इदानीमपेक्ष्यते" पृष्ठ १०६.

२. उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्नि कार्यं च संध्योपासनमेव च॥ मनु० २ ६९; या० स्मृति, ब्रह्म १५.

से रहने तथा आचार आदि का सम्यक् ज्ञान प्रदान करना प्राथमिकता रखता है। इसको इतना महत्व प्रदान करने का कारण सर्व प्रथम यह था कि बालक (शिक्षार्थी कम उम्र का बालक ही रहता था) रहन-सहन के सामान्य स्तर को पवित्रता आदि के प्रारंभिक ज्ञान के द्वारा ही सीख सकता था, पवित्रता ही शुद्ध विचारों की जननी कही गई है अतएव उसे इसका ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक ही था। शौचाचार की शिक्षा केवल सैद्धान्तिक नहीं थी, और न यह केवल सैद्धान्तिक हो ही सकती थी। (यह ब्रह्मचारी के लिए दिन और रात्रि के कार्यक्रम के रुप में थी।)अपने प्रत्येक कार्य को उसे पवित्रता के साथ संपादित करना पड़ता था। उपनयन के पूर्व बालक यथेच्छाचारी के रूप में शौचाचार आदि के विषय में विशेष रूप से नियमित नहीं रहते थे परन्तु शिक्षा प्रारंभ होते ही जीवन को एक नियमित गति में रखकर नियंत्रिक करना आवश्यक था। याज्ञ-वल्क्य इस विषय की अधिक विस्तार के साथ विवेचना करते हैं।[1] यहाँ उन सब का उल्लेख करना अप्रासंगिक होगा।

वेद वेदांग के अध्ययन के पूर्व गायत्री मंत्र का उपदेश बालक को प्रदान किया जाता था। गायत्री मंत्र को एक प्रकार से ज्ञान की कुंजी के रूप में चित्रित किया गया है। गायत्री मंत्र बहुत ही व्यापक अर्थ रखता है। मनुस्मृति के अनुसार ब्रह्माजी ने प्रत्येक वेद से अ, उ म् (ओं) इन तीन अक्षरों को निकाला। सावित्री मंत्र को भी ऋक्, यजु: तथा साम वेदों से ही ब्रह्मा जी ने निकाला, अतएव यह ओंकार तथा भू: भुव: स्व: ये ज्ञान के अग्रगामी अक्षर कहे जा सकते हैं, इसीलिए इनको ही सर्व प्रथम मनन करने का विधान स्मृतियां प्रदान करती हैं।[2] इस ओंकार और गायत्री मंत्र को सायं प्रातः अभ्यास करना चाहिये। एक प्रकार से इस प्रक्रिया के द्वारा विद्यार्थी को धीरे-धीरे वेद (ज्ञान) की महत्ता बतलानी थी। प्रारम्भ में उसे केवल ओंकार तथा भू: भुव: स्व: का ही उपदेश दिया जाता था जब वह इनका अभ्यास कर लेता था तब उसे इन चार अक्षरों की सारगर्भिता का परिचय कराया जाता था। वस्तुतः शिक्षा आभ्यंतरिक शक्तियों का विकास है। गुरु शिक्षार्थी को कोई नवीन वस्तु प्रदान नहीं करता था; उसका कर्तव्य तो अंतर्हित ज्ञान तंतुओं को उन्मुख करना था। बुद्धि (मेधा) को सूर्य का ही अंश माना जाता है। गायत्री मंत्र सूर्य को प्रेरित करता है जिससे कि वह शिक्षार्थी के ज्ञानतंतुओं को जागृत करे इसी कारण गायत्री मंत्र को इतना अधिक महत्व दिया गया है। वेद संहिताओं में भी गायत्री मंत्र का वर्णन उपलब्ध होता है;

---

१. या० स्मृति, ब्रह्म १५ से २१.

२. मनु० २, ७६—७७ तथा कुल्लूक भट्ट इसी श्लोक पर।

गायत्री की शक्ति को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए ही "ओम्" और व्याहृति (भूः भुवः स्वः) का प्रयोग गायत्री मंत्र के पहिले हुआ है। इस तरह से केवल गायत्री मंत्र के उपदेश और उसके अभ्यास के द्वारा ज्ञान भंडार की गहनता और दुरूहता का परिचय प्राप्त हो जाता है। किसी भी पाठ्यक्रम के प्रारम्भ करने से पूर्व वह आवश्यक होता है कि उक्त पाठ्य-विषय का संक्षिप्त परिचय प्राप्त हो जाय। यह परिचय पाठ्य-विषय के अनुरूप ही होना चाहिये। इस दृष्टि से गायत्री मंत्र विद्यार्थी की अंतः चेतना को वेदाध्ययन की ओर उन्मुख करता था (व्यक्त रूप से गायत्री मंत्र के अभ्यास के द्वारा) अध्ययन के लिए अत्यन्त आवश्यक मानसिक एकाग्रता भी इसी गायत्री मंत्र और "ओंकार" के अभ्यास से साध्य थी।

बौद्धिक विकास के मार्ग का शिलान्यास उक्त प्रकार से करने के साथ ही साथ शारीरिक क्षमता की वृद्धि पर भी पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। शारीरिक शक्ति की प्राप्ति के लिए प्राणायाम का विधान था। शारीरिक और मानसिक विकास की दृष्टि से प्राणायाम के महत्व को कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है। प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ करते समय, उतनी देर तक प्राणायाम करना चाहिये जितनी देर पंद्रह अक्षरों के उच्चारण में लगती है।[१] इस प्रकार प्राणायाम करने के उपरान्त प्रणवोच्चारण (ओंकार) करना चाहिये। प्राणायाम तथा गायत्री को प्रारंभिक पाठ कहा जा सकता है। इसके महत्व को बतलाते हुए मनु कहते हैं कि यह एकाक्षर (ओं) ही (परब्रह्म प्राप्ति का साधन होने से सर्वश्रेष्ठ है)। प्राणायाम से बढ़कर कोई दूसरा तप नहीं है, गायत्री से श्रेष्ठ दूसरा मंत्र नहीं है।[२]

इस स्थिति में आने पर ब्रह्मचारी का वेदाध्ययन प्रारम्भ हो जाता था। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख नहीं मिलता है कि ब्रह्मचारियों को किन किन वेदों का तथा विद्याओं का अध्ययन करना पड़ता था। परन्तु अप्रासंगिक रूप से ऐसे श्लोक अवश्य प्राप्त होते हैं जो इस दिशा की ओर संकेत करते हैं। मनु गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने वाले स्नातक का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि वेदों का अध्ययन करके, दो वेदों का अध्ययन करके अथवा एक वेद का अध्ययन करके गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होना चाहिये।[३]

---

१. मनु, २, ७५ कुल्लूक भट्ट
२. एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामाः परं तपः।
सावित्र्यास्तु परं नास्ति......॥ मनु २—८३.
३. वेदानधीत्य वेदौवा वेदं वापि यथाक्रमम्॥ मनु० ३—२ तथा १.
तथा या० स्मृति, वि० प्र० ५१.

यह प्रसंग इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि यह आवश्यक नहीं था कि ब्रह्मचर्याश्रम में संपूर्ण वेद का ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त ही उस आश्रम को छोड़ा जाय। यह श्लोक इस बात पर भी प्रकाश डालता है कि संपूर्ण ज्ञान भंडार को विभिन्न विभागों में रख दिया गया था। एक-एक विभाग में एक-एक वेद रखा गया था। कोई भी विद्यार्थी क्रमश: इन तीनों वेदों का अध्ययन कर सकता था, परन्तु एक विषय विभाग को पूर्णता के साथ समाप्त करने के उपरान्त भी उसकी पढ़ाई (ब्रह्मचर्याश्रम की) समाप्त हो सकती थी और वह गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो सकता था। उक्त श्लोक में (मनु ३—१, २ या० १—५१) गुरु की आज्ञा से गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने के वचन का भी तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि गुरु ऐसे विद्यार्थी को, जिसने एक वेद अथवा दो वेद पढ़ लिए हों तथा जिसमें अधिक अध्यवसाय कर अन्य वेदों को पढ़ने की शारीरिक अथवा मानसिक क्षमता नहीं है, अथवा जिसने सभी वेदों का अध्ययन पूर्ण कर लिया हो, गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होने की अनुमति प्रदान करते थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य प्रत्येक वेद के अध्ययन के लिए बारह वर्ष अथवा अधिक योग्यता हो तो पांच वर्ष का समय निर्धारित करते हैं। तथा जितने काल तक यह वेदाध्ययन का कोर्स (प्रथम कोर्स, एक वेद, द्वितीय कोर्स दो वेद, तृतीय कोर्स तीन वेद) रहेगा उतने समय तक पूर्ण ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना अत्यन्त आवश्यक था।[1] इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि ब्रह्मचारी अपने व्रत में स्थिर रहता हुआ कम से कम एक वेद का अध्ययन बारह वर्षों में समाप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट हो सकता था। वेदों को ज्ञान का भंडार कहा गया है। संपूर्ण वेदों के अध्ययन को पूर्ण करने का अर्थ है सभी विद्याओं में पारगामिता प्राप्त करना। प्रत्येक वेद का अध्ययन उसके रहस्य (उपनिषद्) के साथ होता है।[2] मनु दो विभिन्न स्थानों में, आचार्यादि के लक्षण बतलाते समय अन्य पाठ्य-विषयों की ओर भी संकेत करते हैं। ब्रह्मचारी प्रकरण में आचार्यों का लक्षण बतलाते हुए मनु तथा याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि जो "कल्प" तथा "रहस्य" के साथ वेद को पढ़ावे वह आचार्य है; तथा जो वेद के एक भाग को (मंत्र और ब्राह्मणों को) अथवा वेद को छोड़कर "वेदांग" की जीविका निमित्त पढ़ाये वह उपाध्याय कहलाता है।[3] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु का

---

१. प्रतिवेदं ब्रह्मचर्यं द्वादशाब्दानि पंच वा।। या० स्मृति १, ३६ तथा मनु० ३, १।

२. वेदः कृत्स्नोधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना ।। म० २, १६५ ।

३. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः।
सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते।

पाठ्य विषय उपनिषद्, कल्प (यज्ञविधि) के साथ वेद तथा वेदांग है। याज्ञवल्क्य मनु के समान उपर्युक्त प्रकार से तो पाठ्य विषयों की ओर संकेत करते ही हैं साथ ही साथ वे अपनी स्मृति के उपोद्घात में ही चौदह विद्याओं का उल्लेख करते हैं। वे विद्यायें इस प्रकार से है—पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र, वेदांग, वेद—इसमें वेदांग छः प्रकार के तथा वेद चार प्रकार के होते हैं; इस तरह से ये चौदह विद्याओं के स्थान होते हैं।[1] विद्या के इन चौदह स्थानों का पुनः अनेक प्रकार से विभाजन होता है परन्तु यह विस्तार यहां अप्रासंगिक होगा। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि याज्ञवल्क्य के अनुसार एक विद्यार्थी को उसके ब्रह्मचर्य काल में वेद-वेदांग का तो ज्ञान प्राप्त होता ही था साथ ही साथ न्याय और मीमांसा आदि भी उन्हें पढ़ाया जाता था।

उपर्युक्त पठन-पाठन केवल द्विजातियों के लिए था, क्योंकि केवल द्विजातियों को ही उपनयन संस्कार की अधिकारिता थी। इन स्मृतियों में जितनी सामग्री उपलब्ध होती है उससे यह कहना संभव नहीं है कि शिक्षार्थी को इन उपर्युक्त विषयों के ज्ञान अतिरिक्त वर्ण व्यवस्थापरक ज्ञान भी प्रदान किया जाता था अथवा नहीं। स्मृतियों ने जिस वर्ण व्यवस्था को प्रतिपादित किया है वह जन्मना और कर्मणा दोनों ही थी। परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि द्विज ब्रह्मचारी को उसके वर्ण के अनुरूप विषयों का भी ज्ञान प्रथम आश्रम में ही मिल जाता था। परन्तु स्मृतियों की विकीर्ण सामग्री में से ऐसे वाक्य निकाले जा सकते हैं जो इस ओर भी संकेत करते हैं। मनुस्मृति के नवें अध्याय में वैश्यों के लिए लिखा गया है—उन्हें मणि, मुक्ता, मोती, लोहा, कपड़ा, गंधक तथा रसों आदि के बारे में जानकारी रखनी चाहिये, इसी के बाद (३३० में) कृषि सम्बन्धी बातों को भी उसे जानने के लिए लिखा गया है। इसी प्रकार से ब्राह्मणादि वर्णों को अपने वर्ण के अनुसार कार्यों को जानने के लिए भी लिखा गया है।[2] परन्तु यह कहीं पर भी नहीं लिखा है कि इन वर्णों को इस प्रकार का ज्ञान कैसे और कहां पर प्राप्त होगा। उक्त कर्मों की जानकारी रखकर तदनुकूल कार्य करना गृहस्थाश्रम के कर्तव्यों के अंतर्गत आता है। ब्राह्मण वर्ण के लिए तो यह संभव है कि वह अपने

एकदेशं तु वेदस्य वेदांगान्यपि वा पुनः।
योऽध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते।। मनु २, १४०, १४१
तथा या० स्मृति १, २, ४, ३५

१. पुराणन्याय मांसाधर्मशास्त्रांगमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश।। या० स्मृति १, ३

२. मनु० अ० ९—३२१ से ३३६, अ० १०—७४ से ८०।

वर्णानुरूप कर्मों का ज्ञान अध्ययन काल में ही प्राप्त कर ले (क्योंकि उसका विहित कर्म अध्ययन-अध्यापन ही है। उक्त अभाव की पूर्ति एक अन्य प्रकार से संभव है। मनु के स्नातक धर्म के प्रकरण में कुल्लूक भट्ट महोदय ने स्नातकों के दो प्रकार बतलाये हैं एक विद्यानैपुण्यकाम और दूसरे धर्मनैपुण्यकाम। विद्यानैपुण्यकाम विद्यार्थी उसे कहा जाता है जिसमें विद्याओं में निपुणता प्राप्त करने की अभिलाषा है तथा धर्मनैपुण्यकाम वे कहलाते हैं जो वेदादि का अध्ययन, उनमें पारगामिता प्राप्त करने के लिए नहीं करते हैं वरन् उसका वह अध्ययन धर्म के कार्यों में निपुणता प्राप्त करने के लिए होता है।[1] इसके अतिरिक्त यह, ज्ञातव्य ही है कि कोई भी विद्यार्थी एक वेद का, दो वेदों का अथवा सभी वेदों का अध्ययन एक एक कोर्स के रूप में कर सकता था—अध्यापन और प्रवचन का अधिकार (वेद का) केवल ब्राह्मण को ही है इसको देखते हुये यह कहा जा सकता है कि केवल ब्राह्मण ही विद्यार्थी जीवन में रह कर पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करते थे तथा ब्राह्मणेतर द्विज केवल इतना ही अध्ययन करते थे जितने से वे अपने धार्मिक कार्यों और उत्तरदायित्वों को पूरा कर सकें। इस अध्ययन की परिसमाप्ति के बाद वह अपने घर में ही रह कर अपने वर्णानुकूल कर्मों का ज्ञान प्राप्त करता था। अतएव इस स्पष्ट संकेत का यही अर्थ लिया जा सकता है कि केवल ब्राह्मणों को छोड़कर अन्य द्विजाति (क्षत्रिय तथा वैश्य) विद्यार्थी प्रथम आश्रम में पैतृक व्यवसाय का ज्ञान नहीं प्राप्त करते थे। परन्तु यह अवश्य है कि इस आश्रम में उन्हें इतना ज्ञान प्राप्त हो जाता था जिससे वे स्वयं अपने आप विद्या की निधि में से अपनी अभिरुचि के अनुकूल ज्ञान को संचित कर सकें।

उपर्युक्त विवरण प्रकारान्तर से एक अन्य महत्वपूर्ण तथ्य पर प्रकाश डालता है। यह विवरण इस बात के प्रमाण में कहा जा सकता है कि ब्रह्मचारी जीवन में, गुरु के आश्रम में शिक्षा प्राप्त करते हुए विद्यार्थी के साथ समानता का व्यवहार होता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य कुलोत्पन्न द्विजाति बालक समान रूप से अपनी वर्ण-व्यवस्था के अन्तर को दूर रख कर अध्ययन करते थे। उनमें वर्णानुकूल अन्तर प्रथम आश्रम की परिसमाप्ति के उपरान्त ही आता था। इसके अतिरिक्त गुरु के आश्रम में विद्यार्थियों के मध्य में धनी और निर्धन की भावना के लिए भी स्थान नहीं था। सभी ब्रह्मचारियों को चाहे वे राजकुल में उत्पन्न हों अथवा अत्यन्त निर्धन कुल में उत्पन्न हों, समान रूप से अव्यवसायी होना पड़ता था। उन विद्यार्थियों के सादे और व्रतपूर्ण जीवन में धन

---

१. कुल्लूक भट्ट मनु के ४—१०७ पर। मनु ने भी धर्मनैपुण्य काम शब्द का उल्लेख किया है।

की आवश्यकता नहीं थी, यदि उन विद्यार्थियों के लिए किसी प्रकार के द्रव्य की आवश्यकता पड़ती भी थी तो वह किसी एक विद्यार्थी के लिए नहीं वरन् वह आवश्यकता गुरु तथा विद्यार्थी समूह के लिए होती थी, और इसका उत्तरदायित्व सम्बन्धित अभिभावकों पर नहीं रहता था, समाज सामूहिक रूप से उसका उत्तरदायित्व रखता था।

विद्यार्थी जीवन में शिक्षार्थियों को ब्रह्मचर्य व्रत का पालन अनिवार्य रूप से करना पड़ता था। मनु, याज्ञवल्क्य आदि स्मृतिकारों ने अत्यन्त विस्तार के साथ ब्रह्मचर्य जीवन में पालन किये जाने वाले नियमों का विधान किया है। ब्रह्मचारियों को मधु, मांस आदि जिह्वा को अच्छे लगने वाले पदार्थों का परित्याग करना पड़ता था। इंद्रिय निग्रह के लिए ब्रह्मचारी अशलीलता आदि के सर्वथा दूर रहता था। मृदु स्वभाव तथा पर-दुख-कातरता की अभिवृद्धि आदि के लिए उसे प्राणिवध से सर्वथा दूर रह कर अहिंसा व्रत का पालन करना पड़ता था। शरीर को सुख देने वाले तेल, अंजन आदि का प्रयोग भी वर्ज्य था। उसकी वेशभूषा अत्यधिक सादगी का परिचय देती थी। एक ब्रह्मचारी की वेशभूषा मृगचर्म, यज्ञोपवीत मेखला (कमर में बांधी जाने वाली रस्सी) तथा पलाश (वृक्ष विशेष) दंड मात्र ही थी। उन्हें भावी जीवन में कष्टसहिष्णु बनने के लिए यह आवश्यक था कि प्रथम आश्रम में रहकर वे हर प्रकार की परिस्थितियों का सामना करना सीख लें। परन्तु उनके व्रतों की यही चरम सीमा नहीं थी। भिक्षा वृति में भी उन्हें यह देखना पड़ता था कि किस के यहाँ से भिक्षा मांगना वर्ज्य है और किसके यहाँ से नहीं। उनके लिए यह आदेश था कि वे अपने संबंधियों के कुल में, अपने गुरु के कुल में तथा अपनी जाति वालों के यहाँ न माँगें (मनु० २, १८४)। इसके अतिरिक्त नास्तिक, वेद-निदंक तथा महापातकियों के यहाँ भी भिक्षा मांगने का निषेध है। अपने कुल तथा अपनी जाति में भिक्षा मांगने का निषेध है। अपने कुल तथा अपनी जाति में भिक्षा मांगने के प्रतिबन्ध का कारण यह प्रतीत होता है कि वे संबंधी अथवा जाति वाले अपने प्रेम भाव को दिखलाने के लिए उस ब्रह्मचारी को संभव है अधिक दे दें और उनके ऐसा करने पर भिक्षा वृति के कष्टों का अनुभव ब्रह्मचारी को न हो पायेगा; यह विधान विद्यार्थी को कष्ट सहिष्णु बनाने के लिए ही था। गुरु के कुल में भिक्षा न मांगने का विधान संभवतः इसलिए था कि जिसमें गुरु के ऊपर अधिक भार न पड़े। गुरु का अध्यापन कार्य उसे अन्य सभी प्रकार के भार से मुक्त कर देता है। तथा महापातकियों से भिक्षा न मांगने के विधान के दो कारण प्रतीत होते हैं प्रथम तो उनके अन्न को दूषित समझा जाता है तथा दूषित अन्न खाने से बुद्धि भी दूषित होती है। दूसरे यह विधान एक प्रकार से महापातकियों के लिए दंड विधान के रूप में था। इसे उनका सामाजिक बहिष्करण ही कहा जा सकता है। इन महापातकियों में उत्तरदायित्व की

भावना का भी अभाव ही रहता है अतएव ब्रह्मचारियों को वहाँ भिक्षा प्राप्ति के स्थान पर दंड प्राप्ति हो सकती थी इसलिए यह विधान किया गया था। भैक्ष्य कर्म की इति-वृति केवल मांगने ही में नहीं थी। यदि ब्रह्मचारी शारीरिक अस्वस्थता के न रहने पर सात दिन तक भिक्षाचरण, अग्निहोत्र आदि न करे तो उसे अवकीर्णि[1] नामक व्रत करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त उसे एक ही घर से पूर्ण भिक्षा ग्रहण करने का भी निषेध था। इतने प्रतिबन्ध और परिश्रम के साथ भिक्षा लाने पर भी वह (ब्रह्मचारी) विना गुरु की आज्ञा से उसे ग्रहण नहीं कर सकता था, गुरु की आज्ञा प्राप्ति आवश्यक थी। भिक्षा में भी अधिक मात्र में लाकर संचित करने का निषेध था, उसे प्रति दिन ही भिक्षा मांगकर लाना होता था। यदि भिक्षा नहीं मांगता है तो भोजन करने का निषेध था। भिक्षा वृति के साथ ही साथ ब्रह्मचारी होम, अग्निहोत्र, संध्या आदि भी नित्य ही करता था। ब्रह्मचारी को गुरु की भी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करना होता था। गुरु के लिये जल, कुश, पुष्प आदि उनकी आवश्यकता के अनुसार शिष्य लाता था। ब्रह्मचारी के इस प्रकार के जीवन को देख कर किसी एक कवि की उक्ति सुखार्थियों ('सुख की आकांक्षा रखने वाले) को विद्या कहाँ तथा विद्यार्थियों को सुख कहाँ, चरितार्थ होती हुई प्रतीत होती है।[2] संक्षेप में ब्रह्मचारी के इस जीवन को कहा जा सकता है कि उनका "किन किन वस्तुओं से काम चल जायगा" की प्रवृति के स्थान पर "किन वस्तुओं के विना काम चल जायगा" की प्रवृत्ति को आदर्श रूप में ग्रहण करना पड़ता था।[3]

शिक्षा की इस दुरुहता में विद्यार्थी का सहयोग अपेक्षित था। यदि विद्यार्थियों को ज्ञान प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा होगी तो वह प्रत्येक प्रकार के कष्टों को सहर्ष झेल लेगा। परन्तु ऐसी उत्कंठा सब में नहीं हो सकती है। समाज में कुछ ऐसे अवश्य ही रहते हैं जो अपनी मंद बुद्धि तथा पढ़ने-लिखने के विषय में असावधान रहने के लिए प्रसिद्ध होते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि गुरु अपने ज्ञान प्रसार के कार्य में योग्य विद्यार्थियों को ही चुने। इस प्रसंग में मनुस्मृति में एक कथा मिलती है—"विद्या (विद्या की देवी) ने ब्राह्मण के पास जाकर कहा कि "मैं तुम्हारा कोष (खज़ाना) हूं मेरी रक्षा करो,

---

१. अवकीर्ण व्रत का लक्षण मनु ने ११—११८ में इस प्रकार बताया है—रात में काने गधे की चर्बी से पाकयज्ञ विधि से निर्ऋति नामक देवता के निमित्त यज्ञ करना।

२. सुखार्थिनः कुतो विद्या। कुतो विद्यार्थिनः सुखम्।

३. उपयुक्त विवरण मनु० २—१७५ से १८८ तक तथा या० स्मृति १—२४ से ३३ तक में विकीर्ण है।

जो मुझसे द्वेष करते हों उनको मुझे मत प्रदान करो, ऐसा करने से मैं वीर्यवती होऊंगी (मेरी वृद्धि होगी); तथा जिसे तुम पवित्र, जितेन्द्रिय और ब्रह्मचारी समझो उसे हमें प्रदान करो।[1] अतएव उसके लिए (वेदज्ञ ब्राह्मण के लिए) विद्या के साथ मर जाना अच्छा है किन्तु घोर आपत्ति में भी किसी अपात्र शिष्य को नहीं पढ़ाना चाहिये।[2] याज्ञवल्क्य भी मनु के समान ही पढ़ाने योग्य शिष्यों की योग्यताओं को बतलाते हैं। उनके अनुसार छात्र कृतज्ञ, अद्रोही, मेधावी, पवित्रता से रहने वाला, आधिव्याधि से रहित, छिद्रान्वेषण की प्रवृत्ति से रहित आदि हो।[3] इस प्रकार से गुण दोषों का विवेचन कर पढ़ाने योग्य छात्र को ही ग्रहण किया जायगा तब यह स्वाभाविक ही है कि वे ब्रह्मचर्य को भलीभांति माने तथा प्रथम आश्रम के कष्टों को सहर्ष स्वीकार करें। ऐसे विद्यार्थी शिक्षा के कार्य में अवश्य ही सहयोग प्रदान करेंगे उनमें क्योंकि ज्ञान प्राप्ति की उत्कट अभिलाषा है।

ज्ञानाभिलाषी व्रती ब्रह्मचारी को पढ़ाने में गुरु को अधिक आयास करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। वे स्वयं ही अनुशासन का स्वाभाविक रूप से पालन करते हैं। परन्तु, विद्यार्थी विद्यार्थी ही है, उससे भी त्रुटि हो सकती है। मनु ऐसी त्रुटियों के लिए बहुत ही उदार दंड विधान करते हैं। मनु ऐसे अपराध करने वाले शिष्यों के लिए मधुर वाणी के प्रयोग की सराहना करते हैं। यदि इस प्रकार मधुरवाणी से समझाये जाने पर भी कोई नहीं समझता था तो फिर अनुशासन के लिए रस्सी अथवा पतली बांस की छड़ी से केवल पीठ पर ही मारने की अनुज्ञा देते हैं।[4] परन्तु यह प्रताड़ना अहिंसा वृति को लिए हो तथा कोमलांगों पर इनके द्वारा आघात नहीं होना चाहिये अन्यथा शासक चोर को प्राप्त होने वाले पाप का भागी होता है।[5] मनु का यह विधान पूर्ण रूप से उपयुक्त है। विद्यार्थी स्वभाववश किसी प्रकार का अनुचित व्यवहार नहीं करता है परन्तु एक बार अपराध होने पर उचित प्रताड़ना के अभाव में वह उसका स्वभाव

---

१. विद्या ब्राह्मणमेत्याह शेवधिस्तेस्मि रक्षमाम्।
   असूयकाय मां मायास्तथास्यां वीर्यवत्तमा।
   यमेव तु शुचिं विद्यान्नियतं ब्रह्मचारिणम्।
   तस्मै मां ब्रूहि विप्राय निधिपायाप्रपादिने।। मनु० २, ११३, ११४
२. मनु० २, ११२
३. या० स्मृति १, २८
४. मनु० २, १५९, २९९
५. मनु० ८, ३००

बन सकता है; और यदि प्रताड़न कठोर हुआ तो वह भी विद्यार्थी में अपनी प्रतिक्रिया उत्पन्न कर सकता है। अतएव व्यक्तित्व के स्वाभाविक विकास के लिए यह आवश्यक है कि विद्यार्थियों के लिए प्रयुक्त होने वाला दंड विधान मनोवैज्ञानिकता पर आधारित हो। मनु का यह दंड विधान इसी कोटि में आता है। वे विद्यार्थी के लिए इस प्रकार का दंड विधान नहीं रखते हैं जिससे वह अन्य विद्यार्थियों के लिए एक उदाहरण बन जाय वरन् यह दंड विधान उस विद्यार्थी के सुधार को दृष्टि में रख कर ही किया गया था। मनु के पूर्वापर विधानों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वे विद्यार्थियों के व्यक्तित्व के विकास को महत्व प्रदान करते हैं। उनके व्यक्तित्व को बाह्य प्रताड़न आदि के द्वारा विकसित कराने की अपेक्षा वे उनके सामने ऐसे वातावरण और ऐसी शिक्षा पद्धति को रखते हैं जिससे वह स्वयमेव अपने व्यक्तित्व को विकसित करने का मार्ग प्राप्त कर ले। बाह्य नियंत्रण के अत्यधिक कठोर होने में व्यक्तित्व का विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसा होने पर विकास यदि असंभव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। यह पद्धति मनोवैज्ञानिकता का परिचय देता है। लॉक आदि विचारकों के अनुसार भी बालक को ठीक रखने के लिए दंड व्यवहार उचित नहीं था।[१] शारीरिक

१· "If the mind be curbed and humbled too much in childhood, if their spirits be abashed and broken much by too strict a hand over them, they lose all their vigour and industry and are in a worse state than the former. For extravagant young fellows that have livelinessand spirit come some times to be set right and so make able and great men; but dejected minds and low spirits are hardly ever to be raised and very seldom attain to anything. To avoid danger that is on either hand is the great art; and he that has found a way to keep up a child's spirit easy, active and free, and yet at the same time to restrain him from many things he has a mind to, and to draw him to things tnat are necessary to him–he that knows how to reconcile these seeming contradictions, has' in my opinion, got the true secret of education. As quoted by P. N. Prabhu, Hindu Social Organisation. Page 134.

दंड से स्वभाव में कठोरता आ जाती है अथवा मानसिक हीनता का शनैः शनैः प्रवेश होने लगता है। स्वभाव में जटिलता आने पर मानसिक विकास उचित नहीं हो सकता है। यह तो सर्वविदित ही है कि कुंभकार अपने पात्रों को बनाते समय जैसा स्वरूप देना चाहता है वह मिट्टी के गीले रहने पर ही सम्भव होता है। ठीक इसी तरह से बालकों के मस्तिष्क का विकास भी तभी उचित मार्ग में लगाया जा सकता है जब वह मृदु हो उसमें जटिलता न आ गई हो, अतएव केवल दंड के आधार पर जिस बालक को नियमानुकूल बनाया जायगा वह कभी भी आदर्श विद्यार्थी नहीं हो सकता है। इसी प्रकार मानसिक हीनता का प्रभाव चारित्रिक निर्माण पर भी पड़ता है। हीनता की भावना के प्रविष्ट हो जाने पर शक्ति के अंतर्हित होते हुए भी उसका प्रकटीकरण नहीं होता है और परिणामस्वरूप वह बालक जो मानसिक हीनता के अभाव में अपनी अंतर्हित शक्ति को प्रकट करके मेधावी की कोटि में आ सकता है एक मन्द बुद्धि बालक के ही रूप में बना रहता है। इसी दृष्टि से स्मृतियों की व्यवस्था बहुत ही समीचीन दृष्टिगत होती है।

स्मृतियों में स्त्रियों की शिक्षा पर कोई विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं होती है। मनु तथा याज्ञवल्क्य स्त्रियों के लिए विवाह संस्कार को ही उपनयन स्थानीय मानते हैं।[1] स्त्रियों के विवाह संस्कार के पूर्व जितने भी संस्कार होते हैं वे सभी बिना किसी मंत्र के किये जाते हैं।[2] इस प्रसंग में मनु स्त्रियों के कार्यों के विषय में कहते हैं कि उन्हें पति सेवा आदि करना चाहिए। इससे यह नहीं कहा जा सकता है कि स्मृतियां स्त्रियों को भी पुरुषों के समान शिक्षा प्रदान करने के पक्ष में थीं। स्त्रियों का कार्य क्षेत्र घर की देखभाल करना रहता है अतएव उन्हें घर की देखभाल वैसे ही सम्बन्धित ज्ञान भी प्राप्त होना चाहिए तथा यह ज्ञान घर में ही प्राप्त हो सकता था। इसके अतिरिक्त, समाज के जब सभी पुरुष वर्ग शिक्षित रहेंगे तब वे स्वयं ही स्त्रियों को भी शिक्षा प्रदान करने का कार्य करते रहे होंगे। संभव है इसी कारण से मनु आदि स्मृतिकारों ने स्त्री शिक्षा के विषय में कुछ नहीं कहा।

स्मृतियों के अनुसार शिक्षा पद्धति द्विजाति में ही सीमित है। वे ही गुरु के कुल में रह कर शिक्षा प्राप्त करते थे। समाज में व्यक्ति का महत्व उसके ज्ञान के ही द्वारा होता था। समाज केवल वर्ण के ही आधार पर किसी को ऊंचा अथवा किसी को नीचा स्थान नहीं देता था जिसके पास ज्ञान का भंडार जितना समृद्ध रहता था उतना ही वह सम्मान प्राप्त करता था। मनु तो एक स्थान पर यहाँ तक भी कहते हैं कि ब्राह्मण

---

१. मनु० २, ६७ या० स्मृति, १, १३
२. मनु० २, ६६

का महत्व उनके ज्ञान और सदाचरण के ही द्वारा रहता है। शिक्षा में सदाचरण और ज्ञान दोनों को ही समान महत्व दिया गया है अतएव इन दोनों के होने पर ही कोई पूर्ण सम्मान का अधिकारी हो सकता था। यदि कोई ज्ञानी होते हुए भी दुराचारी है तो उससे अल्प ज्ञान वाला सदाचारी ही अधिक श्रेष्ठ समझा जाता था। इसी तरह से कम उम्र का कोई विद्वान् व्यक्ति वयोवृद्ध व्यक्तियों से भी पूर्ण सम्मान प्राप्त करने का अधिकारी रहता था। इस प्रसंग में मनुस्मृति में एक रोचक कथा उपलब्ध होती है।[1] महर्षि आंगिरस का उदाहरण देते हुए मनु कहते हैं कि एक बार उन्होंने अपने पिता को पुत्र कह कर संबोधित किया, इस पर पिता ने उस पर धर्म का अतिक्रमण करने का आरोप लगाया, परन्तु विद्वान् देवों ने पुत्र का ही पक्ष लिया और कहा कि पुत्र ने ठीक ही कहा है क्योंकि जो ज्ञान में श्रेष्ठ है वही वास्तव में भी श्रेष्ठ है।

स्मृतियों में स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि विद्या प्राप्ति तथा अध्ययन केवल ब्रह्मचर्याश्रम तक ही नहीं सीमित था। यह अध्ययन गृहस्थाश्रम, वानप्रस्थाश्रम तथा संन्यास आश्रम में भी अक्षुण्ण रखा जाता था। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी एक गृहस्थ अपने आश्रम के कर्त्तव्यों को पूरा करते हुए पूर्वाश्रम में पढ़े हुए पाठ को नित्य ही पढ़ता था।[2] शास्त्रों के विज्ञान तथा उसके रहस्यों को जितना मनन किया जाय उतना ही वह स्पष्ट होता है तथा उसमें रुचि भी उत्पन्न होने लगती है।[3] इसके अतिरिक्त शास्त्रों को सुरक्षित रखने के लिए, लिपिबद्ध न किये जाने के कारण यह आवश्यक था कि नित्य पाठ के द्वारा उसे मौखिक रूप से सुरक्षित रखा जाय। यह एक और तथ्य पर भी प्रकाश डालता है, वस्तुतः एक विद्वान् की विद्वत्ता उसके मस्तिष्क की उर्वरता से ही परिलक्षित होती है। मस्तिष्क की यह उर्वरता तभी अधिक प्रतिफलित होगी जब ज्ञान का संचित कोष मस्तिष्क में ही हो, पुस्तक में लिखी हुई विद्या में पारंगत हो जाने के उपरांत यदि वह बुद्धिस्थ न हो सकी तो वह वस्तुतः कोई महत्व नहीं रखती है।[4] स्नातक होकर द्वितीय आश्रम में प्रविष्ट होने वाला युवक अपने साथ पूर्व आश्रम में पढ़े हुए वेद आदि ग्रन्थों को पुस्तकालय के रूप में नहीं लाता था। वह स्वयं ही एक गतिमान् पुस्तकालय के रुप में उन ग्रंथों में निहित ज्ञान राशि को अपनी मेधा में प्रतिबिंबित

---

१. मनु० २--१५०--१५१--१५२
२. नित्यं शास्त्रण्यवेक्षेत निगमांश्चैव वैदिकान्।। मनु० ४--१९
३. मनु० ४--२०
४. पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्तगतं धनम्।
कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्।।

कर, मेधावी के रूप में आता था। अतएव आवश्यकता पड़ने पर गतिहीन पुस्तकालय की पुस्तकों से अपने ज्ञान को पुनः सिंचित करने के अभाव में वह अपने बुद्धिस्थ विद्या के पुस्तकालय के पत्रों को नित्य प्रति उलटता रहता था।

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में अत्यन्त विस्तार के साथ मिलता है कि वर्ष भर में किस ऋतु में वेद वेदांग आदि में से किस को पढ़ना चाहिये। उदाहरण के लिए, सावन अथवा भादों की पूर्णिमा से साढ़े पाँच मास तक वेदाध्ययन करना चाहिये, पूस अथवा माघ के पूर्वान्ह में वेदोत्सर्ग का कर्म करना चाहिये।[1] इसके बाद उस दिन, रात्रि तथा दूसरे दिन तक कुछ भी अध्ययन न करने का विधान है। इस विश्राम के उपरान्त, शुक्ल पक्ष में मंत्र ब्राह्मण से युक्त वेद तथा कृष्ण पक्ष में वेदांग का अध्ययन करना चाहिये। इस अध्ययन कर्म के साथ ही साथ यह भी विस्तार के साथ प्राप्त होता है कि किन अवसर में अध्ययन नहीं करना चाहिये। इन अनध्ययन के अवसरों को भी पुनः दो भागों में विभाजित किया गया है। नित्य और नैमित्तक अनध्याय। अमावस्या, पूर्णिमा, अष्टमी तथा चतुर्दशी तिथियों को नित्य ही अनध्याय रहता था। अनेक ऐसे अवसरों का भी उल्लेख मिलता है जिनके होने पर अनध्याय विहित था।[2] उदाहरण के लिए वर्षा ऋतु के अतिरिक्त इन्द्रधनुष के दिखने पर नहीं पढ़ना चाहिए, इत्यादि नैमत्तिक अनध्याय थे।

गृहस्थाश्रम के उपरान्त वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रम में भी अध्ययन क्रम बना ही रहता था परन्तु यहां पर अपने को कर्म बन्धन से मुक्त करने के लिए अध्ययन होता था। इसका विवरण आश्रम व्यवस्था के अंतर्गत दिया जा चुका है।

मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद में शिक्षा के प्रसंग में विस्तार क्रमशः ही है। मनु तथा याज्ञवल्क्य में इस विषय में कुछ अन्तर अवश्य दिखता है परन्तु वह सैद्धान्तिक भेद नहीं कहा जा सकता है। नारद एक प्रकार से दोनों ही स्मृतियों का सारांश प्रस्तुत करते हैं। पाराशर स्मृति में इस विषय में कुछ नहीं मिलता है। स्मृतियों में प्राप्त होने वाली शिक्षा पद्धति पूर्णरूप से "शिक्षा" प्रदान करने वाली कही जा सकती है।

---

१. श्रावण्यां प्रौष्ठपद्यां वाप्युपाकृत्य यथाविधि।
युक्तश्छन्दांस्यधीयीत मासान्विप्रोर्ध—पंचमान्॥
पुष्ये तु छन्दसां कुर्याद्बहिरुत्सर्जनं द्विजः।
माघशुक्लस्य वा प्राप्ते पूर्वान्ह प्रथमेऽहनि॥ मनु० ४—९५, ९६

२. अमावस्याचतुर्दश्या': पौर्णमस्यष्टकासुच॥ मनु० ४, ११३ तथा १०२, १०३ १०४, १०५, १०६, १०७, १०८, १०९ आदि।

यह शिक्षा पद्धति विभिन्न क्रमों में प्राप्त होती थी। यह क्रम इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि शिक्षा इस प्रकार से प्रदान की जाती थी जिससे व्यक्ति अपने जीवन के विभिन्न स्तरों के उत्तरदायित्वों अथवा अपना वातावरण के अनुकूल अपने को बना सके। उसका आत्मिक विकास स्वाभाविक गति से विकसित होता हुआ उसे अपने नवीन वातावरण में अनुकूलता प्रदान करता हुआ उसे आगे बढ़ने में सहायक होता था। इस प्रकार से अपना आत्मिक विकास करता हुआ वह अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति की ओर क्रमशः अग्रसर होता था। यह शिक्षा पद्धति व्यक्ति को प्रारंभावस्था से अंतिम अवस्था तक का क्रम बना देती थी। यहाँ पर हमें प्लेटो के शिक्षा संबंधी विचारों में इस पद्धति से बहुत कुछ साम्य दिखता है। वह भी शिक्षा पद्धति के द्वारा आत्मा को ऐसे वातावरण में लाना चाहता था जिसमें आकर वह (आत्मा) अपने विकास के विभिन्न स्तरों के अनुकूल हो सके।

आश्रम विवाह (ख)

प्रथम आश्रम के उपरान्त स्नातक विवाह संस्कार के ही द्वारा गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होता था। वेद वेदांग का अध्ययन समाप्त करके गुरु की आज्ञा से गुणवती और सुवर्णा स्त्री के साथ विवाह कर द्वितीय आश्रम में प्रविष्ट होने का विधान प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य प्रारम्भ में ही **"अनन्यपूर्विकाम्"** कहकर पुरुष को ऐसी स्त्री से विवाह करने का आदेश देते हैं जो किसी दूसरे की विवाहित न हो। "विवाह" शब्द का अर्थ व्युत्पत्ति की दृष्टि से ले जाना होता है (उद्वहनम्-नयनम्)। विवाहोपरान्त पति के द्वारा कन्या को ले जाने के कारण ही इस संस्कार को विवाह संस्कार कहा गया है। यद्यपि विवाह संस्कार पुरुष और स्त्री दोनों के लिए ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है तथापि स्त्री के लिए यही एक समंत्रक संस्कार है। स्त्रियों के अन्य संस्कारों में मंत्रोच्चारण का विधान नहीं है।[2] इसके अतिरिक्त यह संस्कार स्त्री के लिए उपनयन स्थानीय माना गया है। पुरुष के लिए गार्हस्थ्य कर्म की पूर्ण अधिकारिता विवाह संस्कार द्वारा ही प्राप्त होती है। अव्यय ब्रह्म के विद्या और कर्म दो स्वरूप माने गये हैं; इन दोनों का समन्वय ही पुरुष के लिए कर्तव्य रूप में उपदिष्ट है; इसी को सम्पन्न करने के लिए आश्रम व्यवस्था का विधान किया गया है।[3] गृहस्थाश्रम के कर्मों को यथाविधि सम्पन्न करने के लिये

---

१. मनु० अ० ३ श्लोक २, ४ या० स्मृति, विवाह प्रकरण ५१, ५२
२. अमंत्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः। मनु।
३. इसका विस्तृत विवरण आश्रम व्यवस्था में हो चुका है।

जिस ज्ञान की आवश्यकता होती है वह प्रथम आश्रम में प्राप्त होता है; ब्रह्मचर्य आश्रम की ज्ञान-प्राप्ति के अभाव में गृहस्थाश्रम के कर्मों को संपादित करना असंभव है। गृहस्थाश्रम कर्म प्रधान है, तथा इन कर्मों में भी यज्ञ कर्म श्रेष्ठतम है। यज्ञ कर्म के द्वारा भगवान् यज्ञपुरुष के साथ तादात्म्य स्थापित किया जाता है। यज्ञपुरुष पूर्ण है। परन्तु यज्ञकर्ता पुरुष आधा तथा अपूर्ण है। अपूर्ण का पूर्ण के (यज्ञपुरुष के) साथ पूर्ण योग संभव नहीं है अतः अपनी अर्धता की पूर्ति के लिए विवाह संस्कार के द्वारा वह (पुरुष) पत्नी का ग्रहण करता है और तब पूर्ण होकर यज्ञ का अधिकारी होता है।[1] विवाह संस्कार के द्वारा पति और पत्नी दोनों मिलकर एकात्मकता को प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार के भाव प्राचीन समय में ईसाई मतावलंबियों में प्राप्त होते थे।[2] व्यवहारिक आत्मा का व्यावहारिक स्वरूप मन, प्राण तथा वाक्मय है।[3] पत्नी के मन, प्राण और वाक् पति के मन, प्राण, वाक् के साथ संबंध हो कर एकरूप हो जाते हैं। दोनों का ऐकात्म्य हो जाता है। यही हृद्ग्रन्थि बंधन है। वास्तव में शरीर भिन्न-भिन्न होते हुये भी दोनों की आत्मा एक हो जाती है। विवाह विधि के कुछ मंत्रों पर ध्यान देने से यह बात स्पष्ट हो जाती है। अग्नि के समक्ष मंत्रोच्चारण, उनके अर्थ और साथ-साथ यज्ञ क्रिया के द्वारा मन, प्राण और वाक् के व्यापार द्वारा दोनों की आत्मा का एकीकरण होता है। इस प्रकार पति की आत्मा से पत्नी अपनी आत्मा का एकीकरण करती है तथा अपनी स्त्री धारा को पुंधारा में परिणत करके अंत में मोक्ष को प्राप्त करती

---

१. आर्धो ह वा यावज्जायां न विन्दते—शतपथ ब्राह्मण।

२. In the earliest form the synoptic tradition (St. Mark X, 1–12) the abrogation of the Deuteronomic law is complete. There Christ is represented as having gone back behind Moses to the original condition of the institution of marriage at the threshold of the human race. "From the begining" he affirmed, man and woman had been joined together by divine ordinanc in an indissoluble monogamous union–i. e. "one flesh" relationship. E. O. James, Marriage & Society Page 94.

३. एषं व आत्मा मनोमयः प्राणमयो वाङमयः—शतपथ ब्राह्मण।

है। दूसरे शब्दों में इसी को पातिव्रत्य धर्म कहा जा सकता है। अपने मन, प्राण, वाक् अर्थात् आत्मा का एकीकरण वह अपने विवाहित पति की आत्मा से कर देती है। इस स्थिति में उसकी अपनी स्वतंत्र आत्मा नहीं रह जाती है। उसकी आत्मा में पति की आत्मा भी ओत-प्रोत है। अतः इसके विरुद्ध यदि वह अपने पति के अतिरिक्त अन्य पुरुष के साथ मनसा-वाचा, कर्मणा संबंध स्थापित करना चाहती हैं तो वह व्यभिचार समझा जाता है; जिसकी मनु आदि सभी स्मृतिकारों ने घोर निन्दा की है।

आत्मा के एकीकरण की दृष्टि से विवाह संस्कार का महत्व माना गया है; शारीरिक सुख की प्राप्ति अत्यन्त गौण है। इस आत्मिक एकीकरण को ही दृष्टि में रख कर मनु आदि ने रोगी, क्रोधी आदि पति के साथ भी पातिव्रत धर्म के पालन के लिए स्त्री को आदेश दिया है। पति की मृत्यु के उपरान्त भी पत्नी के ब्रह्मचर्य पालन को श्रेष्ठ मानने का भी यही कारण है। अतएव, यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि विवाह संस्कार भारतीय संस्कृति में अत्यधिक महत्वपूर्ण संस्कार समझा जाता था। यही कारण है कि विवाह संस्कार को अनेक प्रकार के भोजन से नियमित कर दिया गया है। स्मृतियों इस संस्कार की आध्यात्मिकता को लक्ष्य में रख कर ही विवाहकर्ताओं (स्त्री और पुरुष) के लिए अपने आदेश प्रस्तुत करती हैं।

विवाह संस्कार के नियमों और विधानों में सर्वप्रथम इस संस्कार की सीमा का निर्धारण करने वाले सिद्धान्त आते हैं। अर्थात् यह सीमा निर्धारण करने वाले सिद्धान्त "विवाह" के क्षेत्र को बतलाते हैं। ये सिद्धान्त भी दो प्रकार के उपलब्ध होते हैं। प्रथमतः ये सिद्धान्त एक ऐसे समूह का उल्लेख करते हैं जिसके बाहर विवाह करना अनुचित समझा जाता था। दूसरे इसी समूह के अंतर्गत कुछ ऐसे नियम प्राप्त होते हैं जो यह बतलाते हैं कि किन के साथ विवाह नहीं किया जा सकता।[1] दूसरे शब्दों में इसी को कहा जा सकता है कि पहला सिद्धान्त एक ही वर्ग के अंतर्गत विवाह करने के नियम को सामने रखता है तथा दूसरा सिद्धान्त इसी वर्ण के अंतर्गत "सपिंड" और "सगोत्र" के सिद्धान्तों को सामने रख कर कुछ सीमायें ऐसी बतलाता है जिसको विवाह के लिए वर्ज्य समझा जाता है।

मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद में ये दोनों ही सिद्धान्त उपलब्ध होते हैं। मनु ने गुणवती और सवर्णा स्त्री के साथ विवाह करने का नियम प्रारम्भ में ही स्पष्ट शब्दों में दे दिया है। याज्ञवल्क्य वर की योग्यता को बतलाते समय "सवर्ण वर" का प्रयोग

---

१. उद्वहेत् द्विजो भार्यां सवर्णां लक्षणान्विताम्। मनु०, अ० ३, श्लोक ४।

करके इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं।[१] नारद सवर्ण विवाह को ही प्रधानता देते हैं।[२] सवर्ण विवाह का विधान तीनों स्मृतियों में भिन्न-भिन्न प्रकार से प्राप्त होता है। परन्तु इन्हीं स्मृतियों के अन्य विधानों को देखने से ऐसा आभास होता है कि सवर्ण विवाह का सिद्धान्त अधिक जटिल नहीं था। वर्ण के अनुसार ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य, और शूद्र क्रमशः चार, तीन, दो और एक विवाह अनुलोम क्रम से कर सकते थे। ब्राह्मण सवर्णा से तो विवाह कर ही सकता था परन्तु इतरवर्णा स्त्री से भी उसका विवाह हो सकता था। इसी प्रकार क्षत्रिय ब्राह्मण वर्ण के अतिरिक्त सभी वर्णों की कन्याओं से विवाह कर सकता था (अर्थात् तीन विवाह)। प्राचीन इतिहास में भी ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जहाँ पर श्रुति और स्मृति के विधानों के अनुसार अनुलोम विवाह किये गये हैं।[३] वर्तमान संवत् के कुछ पूर्व से लेकर प्रायः दसवीं शताब्दी तक अंतर्वर्ण विवाह के अनेक

---

१. एतैरेव गुणैर्युक्तः सवर्णः श्रोत्रियो वरः॥ या० स्मृति, वि० प्रकरण, श्लोक ५५।

२. If Brahmins, Kshatriyas, Vaishyas and Shudras marry, "Wives of the same classes should be preferred, and husbands of the same class for women of the same." Narad smriti, Jolly's Translation Chap. XII, 4.

३. There are exogamous rules which forbid the members of a particular group to marry anyone who is not a member of the group, and exogamous rules, which forbid the members of a particular group to marry anyone who is a member of the group. E. Westermach, 'A short History of Marriage, Page 53.

४. The Brahmin king Agnimitra of the Sunga family had married a Kshatriya princess named Malvika in C. 150 B. C. A fifth ceutury inscription records how a Brahmin of a respectable family, Soma by name, had married a Kshatriya lady in accordance with the precepts of Srutis & Smritis'—A. S. Altekar; 'Position of Women in Hindu Civilization.' 2nd Adition. Page 76.

उदाहरण प्राप्त होते हैं। यदि कोई चाहे तो सफलता पूर्वक इन उदाहरणों के द्वारा कह सकता है कि एक ही वर्ण के अंतर्गत विवाह करने का सिद्धान्त प्रारंभ में मनुस्मृति आदि के समय में बहुत ही लचीला था। परन्तु यह तभी कहा जा सकता है जब स्मृतियों की शैली को, जिस शैली में स्मृतियों में अन्य वर्णा स्त्री को ग्रहण करने का विधान है, उचित रूप से न समझा जाय। वस्तुतः स्मृतियां अन्य वर्ण में विवाह करने को कभी भी प्रोत्साहित नहीं करती थीं। यह तथ्य अग्रिम पृष्ठों में प्रस्तुत तर्क के आधार पर ही स्पष्ट हो सकता है।

सर्व प्रथम स्मृतियों के समक्ष विवाह के दो स्वरूप थे। पूर्व पक्ष को विवाह का आध्यात्मिक तथा धार्मिक स्वरूप की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। उत्तर पक्ष को कामतः किये गये विवाहों के अंतर्गत रखा जा सकता है। विवाह का आध्यात्मिक और धार्मिक पक्ष क्या था यह संक्षेप में प्रारम्भ में ही प्रस्तुत किया जा चुका है। स्मृतियां इसी आध्यात्मिक और धार्मिक पक्ष को ही सामने रखती हैं; वस्तुतः विवाह का यही पक्ष समीचीन था। परन्तु कामवश, अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिए अथवा अनुराग-वश यदि कोई वर्ण विवाह करना चाहता था तो वह अपने से नीचे वर्णों की कन्या भी ग्रहण कर सकता है। विवाह के इन्हीं दो पक्षों को लेकर संस्कृत साहित्य में विवाहोपरान्त स्त्री को "पत्नी" "दारा" अथवा "भार्या" कहा गया है। जहाँ पर स्त्री को पत्नी कहा गया है वहाँ यह शब्द उस विवाहिता स्त्री का उद्बोधन करता है जो पति के साथ उसके याज्ञिक कार्यों में भी भाग ले सकती हो; पाणिनि की अष्टाध्यायी में इसी को स्पष्ट करते हुये कहा गया है—"पत्युर्नो यज्ञ संयोगे"; यज्ञ में पति का साथ देने के ही कारण स्त्री को पत्नी कहा गया है। स्मृतिकार भी केवल सवर्णा स्त्री को ही पत्नीत्व पद पर अधिष्ठित करते हैं; स्मृतिकारों के अनुसार केवल सवर्णा स्त्री को ही पति के साथ यज्ञ कार्यों में भाग लेने का अधिकार है, अन्य वर्णा स्त्री यज्ञ कार्यों में भाग लेने की अधिकारिता नहीं प्राप्त करती है।[1] इसके अतिरिक्त, मनु केवल सवर्णा विवाह में ही "पाणिग्रहण" संस्कार की विधि का उल्लेख करते हैं; अन्य वर्ण की स्त्री के साथ विवाह करने में पाणिग्रहण के स्थान पर "प्रतीक" ग्रहण करने का विधान मिलता है।[2] ब्राह्मण और क्षत्रिया के विवाह में पाणिग्रहण के स्थान पर शरग्रहण (शर-

---

१. सत्यामन्यां सवर्णायां धर्मकार्यं न कारयेत् ।। या० स्मृति, वि० प्रकरण ८८ ।

२. शरः क्षत्रियया ग्राह्यः प्रतोदं वैश्यकन्यया।
वसनस्य दशा ग्राह्याशूद्रयोत्कृष्टवेदने।। मनु० अ० ३ श्लोक ४४ ।
पाणिर्ग्राह्यः सवर्णासु गृह्णीत्सत्क्षत्रिया शरम्।
वैश्या प्रतोदमादद्याद्व स्वप्रजन्मनः।। या० स्मृति , वि० प्रकरण ६२ ।

तीर) किया जायगा। इसी प्रकार से ब्राह्मण और क्षत्रिय वर के साथ वेश्या के विवाह में "चाबुक" को पाणिग्रहण के स्थान में ग्रहण करने का विधान है। यदि शूद्रा तीनों वर्णों में से किसी के साथ विवाह करती है तो वहाँ पर पाणिग्रहण के स्थान पर वस्त्र के छोर ग्रहण करने का विधान है। यहाँ पर शर, चाबुक तथा वस्त्र का भाग प्रतीक के रूप में व्यवहृत हो रहे हैं। अर्थात् विवाह हो रहा है परन्तु पाणिग्रहण नहीं हो रहा है। इसी तरह से विवाह के हो जाने पर "विवाह" हो गया है किन्तु विवाहिता "पत्नी" नहीं है।[1] पाणिग्रहण और पत्नी पद की प्राप्ति विवाह संस्कार के साथ इस प्रकार से संबद्ध है कि यह कहा ही नहीं जा सकता कि इन दोनों के अभाव में विवाह संभव है। वल्कि अनेक स्थानों में विवाह संस्कार और पाणिग्रहण संस्कार को पर्याय-वाची शब्दों के रूप में भी प्रयुक्त किया जाता है। अतः असवर्णा के ग्रहण करने को यदि "विवाह" की संज्ञा दी गयी है तो वह केवल इसलिए कि उस समय के समाज में इसके यदा-कदा उदाहरण प्राप्त होते रहे होंगे। संज्ञा की दृष्टि से तो उसे विवाह कर दिया गया परन्तु महत्व की दृष्टि से उसे केवल कामना शांति का ही माध्यम मात्र रहने दिया गया है। न तो इस असवर्ण विवाह को आध्यात्मिक महत्व ही प्राप्त हुआ और न धार्मिक ही।

इसके अतिरिक्त, मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद जात्युत्कर्ष के प्रसंग में असवर्ण विवाह से उत्पन्न होने वाली संतानों को पितृवर्ण में नहीं रखते। याज्ञवल्क्य तो "सजाति" शब्द का प्रयोग उनके लिए करते हैं जो सवर्ण विवाह से ही उत्पन्न हुये हैं।[2] इन स्मृतिकारों के द्वारा विभिन्न वर्ण की स्त्रियों वे से विभिन्न वर्ण के पुरुष के द्वारा उत्पन्न संतानों का भिन्न प्रकार से सामाजिक वर्गीकरण तथा उन्हें ब्राह्मणादि वर्णों से नीचे के स्तर का कहना ही यह स्पष्ट करता है कि विवाह सवर्ण से ही होना चाहिये। इसके अतिरिक्त, गृहस्थ के लिए स्मृतियां विवाह को ही प्रथम और अंतिम कार्य के रूप में नहीं बतलाती हैं। गृहस्थ के कार्यों की शृंखला तो विवाह के बाद ही

---

१. "प्रथमा धर्मपत्नी स्याद्वितीया रतिवर्धिनी।
दृष्टमेव फलं तत्र नादृष्टमुपलभ्यते।। दक्ष० स्मृ० ४।१४—१५ इस श्लोक में दक्ष ने भी द्वितीया स्त्री को केवल "रतिवर्धिनी' की ही संज्ञा प्रदान करके उसका रति विषयक, सांसारिक, दृष्टफलदात्री स्वरूप ही सामने रखकर प्रथमा को ही पत्नीत्व पद की अधिकारिणी घोषित किया है।

२. इसका विषद विवेचन जात्युत्कर्ष के प्रसंग में किया जा चुका है।

प्रारंभ होती है। इन कर्तव्यों की पूर्ति सवर्ण विवाह के द्वारा ही हो सकती है।[1] जहाँ कहीं भी असवर्ण विवाह का उदाहरण प्राप्त होता है वह केवल कामुकता के ही कारण है। इसी कामुकता को मनु आदि बहुत ही अनुचित समझते हैं।[2] सोम नामक ब्राह्मण का श्रुति और स्मृति के अनुसार क्षत्रिया के साथ विवाह किये जाने का जो उदाहरण मिलता है वहाँ पर भी श्रुति और स्मृतियों के द्वारा अनुमोदित होने का यह अर्थ नहीं है कि श्रुति और स्मृति के द्वारा अवसर्ण विवाह का अनुमोदन प्राप्त था। जिन शब्दों में उस विवाह का वर्णन प्राप्त होता है, उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि यह विवाह कामकृत था :' धार्मिक और आध्यात्मिक दृष्टि से यह विवाह नहीं किया गया था, इस श्लोक में कहा गया है—[3]

"सोमस्ततः सोमइवापरोभूत्स ब्रह्मणः क्षत्रियवंशजासु।
श्रुतिस्मृतिभ्यां विहितार्थकारी द्वयीसु भार्यासु मनोदधार।"

"मनोदधार" कहने से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि विवाह का कारण अनुराग, अथवा कामात्मता है। यहाँ यह कामात्मता के ही उदाहरण में कहा जा सकता है।

अतएव यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मृतियों के अनुसार सवर्ण विवाह को ही महत्व प्रदान किया गया था; तथा समाज में प्राप्त असवर्ण विवाह के उदाहरणों के प्राप्त होने के ही कारण इन विवाहों के परिणामों को दिखला कर असवर्ण विवाहों को केवल सुविधा की दृष्टि से ही "विवाह" की संज्ञा प्रदान की गयी थी[4], वास्तव में इन विवाहों में वैवाहिकता" नहीं थी "ऐन्द्रियता" मात्र ही थी। इसलिए विवाह का क्षेत्र "सवर्ण" ही कहा जा सकता है।

वर्ण के अंतर्गत सपिंड और सगोत्र विवाह निषिद्ध था। सात पीढ़ी पर्यन्त सपिंडता कही गई है।[5] मनु ने स्पष्ट रूप **"मातुः असपिंडा"** कह कर माता की ओर से सापिड्य निर्णय का विधान किया है। परन्तु याज्ञवल्क्य केवल "असपिंडा" शब्द का ही प्रयोग

---

१. पीछे कहा जा चुका है कि असवर्ण विवाह कामोपभोगार्थ ही है—इनके द्वारा आध्यात्मिक कार्यों को करने की अधिकारिता नहीं प्राप्त होती है।
२. कामात्माता न प्रशस्ता...... मनु० २।२
३. "The Position of Women in Hindu Civilization," Altekar, page 76.
४. असपिंडा च या मातुः—मनु० अ० ३ श्लोक ५
५. सपिंडता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।

करते हैं।[1] अन्य श्लोक में याज्ञवल्क्य माता से पांच और पिता से सात पीढ़ी पूर्व तक सपिंडता का उल्लेख करते हैं।[2] अतः याज्ञवल्क्य के अनुसार सपिंडता माता और पिता, दोनों के ही कुल से देखी जानी चाहिये। नारद स्मृति भी याज्ञवल्क्य का ही अनुसरण करती है।[3] मनु ने स्पष्ट शब्दों में पितृसापिंड्य का निषेध नहीं किया है तथापि नारद और याज्ञवल्क्य के वचनों में एकवाक्यता लाने के लिए मनु के श्लोक का यह तात्पर्य लेना चाहिये कि पिता और माता, दोनों की ओर से ही सपिंडता का निषेध है। मनुस्मृति के टीकाकार कल्लूक भट्ट इसी प्रकार का अर्थ करते हैं।[4] वर्तमान में भी विवाह सापिंडय मातृ तथा पितृ कुल से ही देखा जाता है।

विवाह संबंधी दूसरा नियम "सगोत्र" का है। वर और कन्या पक्ष को एक ही गोत्र का नहीं होना चाहिये। एक ही ऋषि की परंपरागत संतानें सगोत्र कहलाती हैं। मनु के अनुसार असगोत्र विवाह का विधान केवल द्विजातियों के ही लिये था। याज्ञवल्क्य स्मृति स्पष्ट रूप से यह नहीं कहते हैं कि असगोत्र विवाह द्विजातीय के लिए ही होगा अथवा चार वर्णों के लिए। उन्होंने (याज्ञवल्क्य ने) केवल "असमानार्षगोत्रजां" कहा है।[5] परन्तु टीककार विज्ञानेश्वर ने "असमानार्षगोत्रजा" को त्रैवर्णित विषयक (द्विजाति विषयक) बतलाया है। वस्तुतः शाब्दिक अर्थ की दृष्टि से यह एक ही ऋषी के गोत्र की कन्या का न होना ही बतलाया है। ऋषियों के वंशज होने का अर्थ विज्ञानेश्वर

---

१. अनन्यपूर्विकां कान्तां सपिंडा यवीयसीम्——या० स्मृति, विवाह प्रकरण ५२.

२. पंचमात्सप्तमादूर्ध्वं मातृतः पितृतस्तथा : या० स्मृति, वि० प्रकरण ५३.

३. "Marriages between persons belonging to the same family or kindred or race from the fathers or mothers, side are prohibited upto the seventh or fifth degree of relationship." Jelly's translation of Naradsmriti Chap. XII. 7.

४. टीकाकार कुल्लूक भट्ट "असपिंडा च या मातरसगोत्रा च या पितुः" में अंतिम "च" शब्द के प्रयोग के आधार पर विवाह-सापिंड्य पिता के कुल के द्वारा भी मानते हैं।

५. ......असगोत्रा च या पितुः।
सा प्रशस्ता द्विजातीनां दारकर्मणि मैथुने॥ मनु, अ० ३ श्लोक ५
......भ्रातुमतीमसमानार्षगोत्रजाम्॥ या० स्मृति, विवाह प्रकरण ५३.

ने द्विजाति लिया है। यह अर्थ अनुपयुक्त नहीं है।[1] यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि द्विजाति से विज्ञानेश्वर का अभिप्राय ब्राह्मण मात्र से ही है क्योंकि गोत्र ऋषि परम्परा का द्योतक है अत: ऋषि का गोत्र प्रवर्तकत्व ब्राह्मण सन्तानों में ही सङ्क्रान्त होता है। इसीलिए क्षत्रियादि पुरोहित के गोत्र के अनुसार अपना गोत्र मानते थे। इसीलिए क्षत्रियों में, उसी वंश में—पुरोहित की भिन्न गोत्रता होने पर विवाह बराबर होता था वह इतिहास प्रसिद्ध है।

विवाह के उपर्युक्त प्रतिबंधों के अतिरिक्त, वर और कन्या पक्ष की वैवाहिक योग्यता संबंधी भी अनेक नियम उपलब्ध होते हैं। मनु के अनुसार अत्यन्त समृद्ध कुल होने पर भी निम्नलिखित कुलों (वंशों) को विवाह के लिए नहीं ग्रहण करना चाहिये।[2]

१. जातकर्म आदि संस्कार से रहित।
२. जिस कुल में केवल कन्यायें ही उत्पन्न होती है।
३. जो कुल वेद के पठन-पाठन से हीन हो।
४. जिस कुल में पुरुषों के शरीर में रोम (रोयें) अधिक हों।
५. जो कुल राजयक्ष्मा आदि से युक्त हो।
६. मंदाग्नि वाले कुल को।
७. जिस कुल में अपस्मार (मृगी रोग) का रोग हो।
८. श्वेत कुष्ठ वाले कुल को।
९. गलित कुष्ठ वाले कुल को।

याज्ञवल्क्य संक्षेप में ही मनु का अनुसरण करते हैं।[3] कुल के विषय में सावधान करने के उपरान्त मनु कन्या की योग्यता तथा अयोग्यता का ज्ञान प्रदान करते हैं। मनु के अनुसार निम्नलिखित कन्यायें विवाह के लिये अयोग्य है :

१. कपिल (भूरे) वर्णवाली कन्या[4]।

---

१. असमानार्षगोत्रजाम इत्ये—
तत् त्रैवर्णिकविषयम्। मिताक्षरा, श्लोक ५३.
२. मनुस्मृति अ०, ३ श्लोक ६—११.
३. स्फीतादपि न संचारि रोग दोषसमन्विताम्॥ या० स्मृति, विवाह प्र० ५४.
४. नोद्वहेत्कपिलां कन्यां नाधिकांगी न रोगिणीम्।
नालोमिकां नातिलोमां न वा वाचालां न पिंगलाम्॥ मनु० ३—८.
नर्क्षवृक्षनदीनाम्नीं नान्त्यपर्वतनामिकाम्।
न पक्ष्यहिप्रेष्यनाम्नीं न च भीषणनामिकाम्॥ म० ३—९

२. अधिकांगी ।।
३. रोगिणी (नित्य रोगिणी रहने वाली) ।
४. रोम रहित अथवा अधिक रोम वाली ।
५. वाचाल ।।
६. पिंगला (जिसकी आँखें पिंगल वर्ण की हों) ।

इसके अतिरिक्त, नक्षत्र, वृक्ष, नदी, म्लेच्छ, पक्षी, सर्प, दूत अथवा दासी नाम की तथा भीषण नामधारिणी कन्या को विवाह के लिए अयोग्य समझना चाहिए। उपर्युक्त अयोग्यताओं में पहिले कही गयी अयोग्यताओं का आधार वंशानुक्रम से आने वाले दोषों को विवाह संबंध के द्वारा नवीन वंश परम्परा में जाने से रोकना ही ज्ञात होता है। प्रायः यह देखा भी जाता है कि ऐसे रोग, जो किसी वंश विशेष के रक्त में हो जाते हैं, उनका दूसरे वंशों के रक्त संबंध होने से वे रोग दूसरे वंशों में भी प्रविष्ट हो जाते हैं। इसी कारण मनु ने भी इनको वर्ज्य कहा है। बाद में बतलाई गई अयोग्यताओं का आधार मनोवैज्ञानिक ही जान पड़ता है। पर्वतादि नामधारिणी स्त्री अपने नाम के द्वारा कठोरता व्यक्त करती है; इसका प्रभाव चेतन मन पर चाहे न पड़े परन्तु अंतश्चेतना पर अवश्य ही पड़ता है। इसी प्रकार भीषण और भयंकर नाम वाली स्त्री अपने कर्ण कटु नाम के द्वारा अप्रियता को प्रारंम्भ में ही व्यक्त कर देती है। यह भी गार्हस्थ जीवन के सौम्य वातावरण में प्रतिकूलता उत्पन्न होने का कारण हो सकता है।

कन्या की योग्यता के संबंध में मनु का आदर्श उपर्युक्त अयोग्यताओं के सर्वथा विपरीत ही था। उन्होंने विवाह के लिए कन्या में निम्नलिखित योग्यतायें अपेक्षित की थी[1] :

१. अंग विकारों से हीन !
२. सौम्य नामवाली ।
३. हंस अथवा हाथी की चालवाली ।
४. सूक्ष्म रोम केश तथा पतले दाँतों वाली ।
५. सुकुमार शरीर वाली।

परन्तु इन गुणों से युक्त कन्या भी विवाह के लिए अयोग्य हो सकती थी। अभ्रातृमती तथा जिसके पिता का ज्ञान न हो उसे भी "पुत्रिका"[2] भय से ग्रहण नहीं

---

१. अव्यंगांगीं सौम्यनाम्नी हंसवारणगामिनीम्।
तनुलोमकेशदशनां मृद्वंगीमुद्वहेद् स्त्रियम्।। मनु अ०, ३, १०.

२. यहाँ पर पुत्रिका शब्द विशेषार्थवाची है। यह एक ऐसी सामाजिक प्रथा पर प्रकाश

करना चाहिये। मनु के इस श्लोक (मनु ३—११) का अर्थ विभिन्न टीककारों ने अलग-अलग किया है। कुल्लूक भट्ट इसमें दो नियम देखते हैं—(१) जिस कन्या का भ्राता न हो (२) जिसके पिता के संबंध में पता न हो उससे विवाह न करना चाहिये। मेधातिथि का कथन है कि अभ्रातृमती कन्या का पिता यदि जीवित हो तो उसके वचन मात्र से पुत्रिका धर्म की निवृति हो सकती है अतः वह ग्राह्य है; परन्तु पिता के अभाव में अग्राह्य है। पाराशर स्मृति के टीकाकार माधवाचार्या इस श्लोक का एक नया ही अर्थ प्रस्तुत करते हैं। "विज्ञायेत" शब्द के अर्थ को वह इस प्रकार ग्रहण करते हैं कि जिसके पिता का "पुत्रिका" नियुक्ति का अभिप्राय ज्ञात हो अथवा न हो ऐसी से विवाह नहीं करना चाहिये तथा जहाँ ऐसी शंका न हो वहाँ अभ्रातृमती के साथ भी विवाह संभव है। गौतम स्मृति का उदाहरण प्रस्तुत कर माधवाचार्य कहते हैं कि पिता स्पष्ट रूप से वर को न बतलावे तब भी पिता के संकल्प मात्र से ही कन्या "पुत्रिका" हो जाती है।[1] इस प्रसंग में माधवाचार्य का ही मत अधिक समीचीन जान पड़ता है। कन्या के "पुत्रिका" होने की संभावना पर विवाह न करने का विधान उचित ही था, क्योंकि विवाह के उपरान्त पति के वंश को संतानोत्पति का लाभ नहीं प्राप्त हो सकता था। मनु स्पष्ट रूप से कहते हैं कि इस विधि से पिता "इस कन्या से जो पुत्र उत्पन्न होगा वह मेरा श्राद्धादि पारलौकिक क्रिया करने वाला होगा" ऐसा कहकर उस कन्या को "पुत्रिका" कर सकता है।[2] अतएव "पुत्रिका" से विवाह करने पर पति अपने

डालता है जिसके अनुसार पुत्र के अभाव में पिता अपनी पुत्री को "पुत्रिका" के रूप में मानता है। ऐसी पुत्री के विवाह के उपरान्त उत्पन्न होने वाली संतानें कन्या के पिता के कुल की ही समझी जायंगी। पुत्र के अभाव की पूर्ति पुत्री के पुत्रों के द्वारा होती है।

१. यस्याः पिता पुत्रिकाकरणाभिप्रायवान् वा न वा इति न
विज्ञापते तां नोपयच्छत्। यत्र तु नैवाशंका तामभ्रातृका-
मप्युपयच्छेदित्यभिप्रायः। नविज्ञायेत वा पिता-
इत्युक्तेः वरेण सह संप्रतिपत्ति विनापि पितुः संकल्प—
मात्रेण कन्या पुत्रिका भवतीति द्रष्टव्यं। तथा च गौतमः—
अभिसंधिमात्रात् पुत्रिकेत्येकेषाम्।
तत्संशयान्नोपयच्छेदभ्रातृकाम्॥ गौ० स्मृति, २९, १९, २०.

२. अपुत्रोनेन विधिना सुतां कुर्वीत पुत्रिकाम्,
यदपत्यं भवेदस्यां तन्मम स्यात्स्वधाकरम्॥ मनु० अ०, ९, १२७.

ऋणत्रय से मुक्त नहीं हो सकेगा क्योंकि उसका पुत्र कन्या के पिता को ऋण मुक्त करेगा; विवाह का फल उसे नहीं प्राप्त हो सकेगा; अतः पुत्राकांक्षी को भ्रातृमती से ही विवाह करना चाहिये। अन्य स्मृतियों में भी इसी प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं,[1] परन्तु नारद तथा पाराशर इस विषय में मौन ही हैं। उनके मौन धारण करने का अभिप्राय यह हो सकता है कि इनकी रचना के समय यह सामाजिक प्रथा समाज में अधिक प्रचलित न रही होगी। अतएव समाज की लुप्त होती हुई प्रथा के ऊपर अपने विचार प्रकट करना निरर्थक समझकर ही इन स्मृतिकारों ने मौन धारण कर लिया होगा।[2]

कन्या पक्ष की वैवाहिक योग्यता के उपरान्त वर पक्ष की वैवाहिक योग्यता पर भी स्मृतियां पर्याप्त विचार करती हैं। मनु वर पक्ष की वैवाहिक योग्यता को बहुत ही संक्षेप में कहते हैं। मनु गुणवान्, स्वरूपवान् वर को कन्या प्रदान करने का आदेश देते हैं। यदि ऐसा सुयोग्य वर मिल जाय तो कन्या की आयु विवाह की अवस्था से कम होने पर भी उसका विवाह कर देना चाहिये; परन्तु गुणहीन को कभी भी कन्या प्रदान करनी नहीं चाहिये, चाहे वह (कन्या) जीवनपर्यन्त पिता के ही घर में रहे।[3] याज्ञवल्क्य ऐसे वेदपाठियों के कुल को योग्य समझते हैं जो दश पुरुषों से विख्यात हों (मातृकुल में पांच तथा पित्र कुल में पांच पुरुष जिसमें विख्यात हों; यह योग्यता वर तथा कन्या दोनों के ही लिये कही गई है)। वर के लिये वे (याज्ञवल्क्य) कन्या के लिए बतलाये गुणों से ही युक्त होने के लिए कहते हैं।[4] नारदस्मृति वर की योग्यता अन्य प्रकार से निर्धारित करती है। नारद वर की पुंसत्व परीक्षा के उपरान्त ही वैवाहिक योग्यता प्रदान करते हैं। उन्होंने चौदह प्रकार के नपुंसक व्यक्तियों का उल्लेख किया है।[5] अतः इसका परिज्ञान परीक्षा के द्वारा करना चाहिये। नारद पुंसत्व परीक्षा की उपादेयता में बहुत ही सुंदर तर्क उपस्थित करते हैं। वे कहते हैं कि स्त्रियों की सृष्टि

---

१. व० स्मृति, १७—२७ लौगाक्षिः—पा० मा०, पृष्ठ ७०
२. याज्ञवल्क्य ने कन्या के लिए भ्रातृमती होने का उल्लेख किया है; परन्तु "पुत्रिका" आदि के कारण का उल्लेख नहीं किया है।—या० स्मृति, विवाह प्रकरण ५३.
३. उत्कृष्टयाभिरूपाय वराय सदृशाय च।
अप्राप्तामपि तां तस्मै कन्यां दद्याययाविधि॥ मनु ९—८८.
काममारमणातिष्ठेद् गृहे कन्यर्तुमत्यपि।
न चैवैनां प्रयच्छेत्तु गुणहीनाय कर्हिचित्॥ मनु ९—८९.
४. या० स्मृति०, विवाह प्रकरण ५४ तथा इसी की मिताक्षरा टीका।
५. ना० स्म० अ०, १२—११—१३.

संतान के लिए हुई है; स्त्री क्षेत्र है तथा पुरुष बीज। इसलिए क्षेत्र को बीजवान् को ही देना चाहिये जो बीजहीन है वह इसको प्राप्त करने में अयोग्य है।[1] अतएव विवाह की सार्थकता की दृष्टि से पुंसत्व परीक्षा उपर्युक्त ही थी; इससे विवाह के उपरांत संतान न होने का कारण शारीरिक हीनता नहीं रह जाती है। नारद ने पुंसत्व परीक्षा के उपायों पर भी प्रकाश डाला है।[2] याज्ञवल्क्य भी यत्नपूर्वक पुंसत्व परीक्षण करने का आदेश देते हैं।[3]

उपर्युक्त वर तथा कन्या पक्ष की वैवाहिक योग्यता निर्धारित करने वाले नियम विवाह संस्कार के महत्व को ही प्रदर्शित करते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण संस्कार के लिए यह आवश्यक था कि इसमें इतनी छानबीन की जाय कि जिससे किसी भी प्रकार की त्रुटि न रह जाय। इन नियमों के उपरान्त, स्मृतिकार विवाह के प्रकार के ऊपर प्रकाश डालते हैं।[4] स्मृतियों में आठ प्रकार के विवाह मिलते हैं। वे इस प्रकार हैं :

१. ब्राह्म
२. दैव
३. आर्ष
४. प्राजापत्य
५. आसुर
६. गांधर्व
७. राक्षस तथा
८. पैशाच।[5] इन विवाहों को वर्ण के अनुसार भी संयोजित किया गया है।

---

१. अपत्यार्थस्त्रियः सृष्टा स्त्री क्षेत्रं बीजिनो नराः।
क्षेत्रं बीजवते देयं नाबीजी क्षेत्रमर्हति ॥ ना० स्मृति, १२, २९.

२. यास्याप्सुप्लवते वीर्यं ग्राहि मूत्रं च फेनिलम्।
पुमान् स्याल्लक्षणैरेतैर्विपरीतैस्तु षण्ढकः ॥ ना० स्मृ०, १५, १०.

३. या० स्मृति, विवाह प्रकरण ५५.

४. यहाँ पर विवाह के प्रकार से ऐसा भान हो सकता है कि यह पति अथवा पत्नी की संख्या बतलाने वाली अभिव्यक्ति है, जैसे एक पत्नी, पति अथवा एक पति बहुपत्नीत्व अथवा एक पत्नी बहुपतित्व आदि। परन्तु इस प्रसंग में यह (विवाह के प्रकार) विवाह संस्कार किये जाने के प्रकार का उद्बोधन कराता है।

५. ब्राह्मो दैवस्तथैवार्षः प्राजापत्यस्तथासुरः।
गांधर्वो राक्षसश्चैव पैशाचश्चाष्टमोधमः ॥ मनु, ३—२१ तथा २०.

ब्राह्मण वर्ण के लिए प्रथम छः प्रकार के विवाह, क्षत्रिय के लिए अंत वाले चार प्रकार के विवाह, वैश्य तथा शूद्र के लिए "राक्षस" को छोड़कर अंतिम तीन प्रकार के विवाह (आसुर, गांधर्व तथा पैशाच) का विधान प्राप्त होता है।[1] यहाँ यह विधान साधारण नियम मात्र बतलाता है क्योंकि इसी के उपरांत मनु ब्राह्मण आदि के लिए प्रशस्त विवाहों का उल्लेख करते हैं। ब्राह्मण के लिए प्रथम चार प्रकार के विवाह प्रशस्त माने गये हैं, इनमें भी महत्व क्रमशः ही रखा गया है (अर्थात् ब्राह्म अधिक प्रशस्त, दैव उससे कम प्रशस्त, इसके बाद आर्ष का महत्व है तथा प्राजापत्य विवाह ब्राह्मण के लिए प्रशस्त होते हुये भी, उसको अंतिम महत्व प्रदान किया गया है। इसी तरह से क्षत्रिय के लिए केवल राक्षस विवाह ही प्रशस्त माना गया है, यहाँ पर यह द्रष्टव्य है कि वर्णानुरूप विवाह को बतलाते समय राक्षस विवाह केवल क्षत्रिय के ही लिए बतलाया गया था; अन्य वर्ण को इस प्रकार से (राक्षस) विवाह करने की अधिकारिता नहीं थी। वैश्य और शूद्र के लिए केवल आसुर विवाह को ही प्रशस्त माना गया है।[2] उपर्युक्त विवाह के प्रकारों का संक्षिप्त परिचय अनुपयुक्त न होगा।[3]

१. ब्राह्म :—ब्राह्म विवाह उसे कहते हैं जिसमें कन्यादाता योग्य वर को बुला कर उसे वस्त्र आदि देकर तथा सत्कार करके कन्यादान करता है।

२. दैव :—दैव विवाह वह है जिसमें यज्ञ में ऋत्विक् को उसके कार्य करते समय वस्त्रलंकार से अलंकृत कर कन्या को प्रदान किया जाय।

३. आर्ष :—आर्ष विवाह उसे कहते हैं जहाँ वर से धर्म पूर्वक गाय का जोड़ा अथवा गाय और बैल के जोड़े, लेकर कन्यादान करे।

४. प्राजापत्य :—जहाँ कन्यादाता कन्यादान करते समय वर बधु दोनों को

या० स्मृति, विवाह प्रकरण ५८, ५९, ६०, ६१, ना० स्मृति, अ० ३२, ३८, ३९. नारद स्मृति के जॉली द्वारा किये गये अनुवाद में ३७वें श्लोक का अनुवाद छूट गया है अतएव श्लोक संख्या में भी अंतर है उसके अनुसार १२, ३९, ४० है।

१. मनु ३—२३.

२. चतुरो ब्राह्मणस्याद्यान्प्रशस्तान्कवयो विदुः।
राक्षसं क्षत्रियस्यैकमासुरं वैश्यशूद्रयोः ।। मनु ३, २४.

३. मनु० अ०, ३—२७ से ३४ तक। नारद स्मृति, अ० १२, ३९ से ४१. जाली द्वारा अनुदित नारद स्मृति में अ० १२—४० से ४४.

संबोधित करके यह वाक्य कहता है कि तुम दोनों साथ-साथ धर्माचरण करो, इस प्रकार से किये गये विवाह को प्राजापत्य विवाह कहते हैं।

५. आसुर :—जहाँ कन्या के पिता आदि तथा कन्या को सामर्थ्यानुसार धन देकर स्वेच्छा से कन्या को वर ग्रहण करता है वह आसुर विवाह कहलाता है।

६. गांधर्व :—कन्या और पुरुष के इच्छानुसार परस्पर अनुरक्त होकर संयोग होना (मिलन) गांधर्व विवाह कहा गया है।

७. राक्षस :—कन्या पक्ष वालों को मारकर अथवा काट कर (युद्ध करके) बलपूर्वक रोती और चिल्लाती हुई कन्या का अपहरण करना राक्षस विवाह कहा गया है।

८. पैशाच :—सोती हुई, मद से व्याप्त (नशे में) प्रमत्त (विक्षिप्त) का एकांत में कौमार्य हरण करना पैशाच विवाह कहा गया है। स्मृतियों में पैशाच विवाह का उल्लेख किये जाने का अभिप्राय यह नहीं था कि उसे मान्यता प्रदान की जा रही है। उसे सबसे निकृष्ट (अधम) कहा गया है। इसके उल्लेख किये जाने का कारण यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार सामाजिक मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले को उस कन्या तथा तज्जन्य संतान के भरण-पोषण का भी भार ग्रहण करने से लिये बाध्य करना था, तथा उसकी इस प्रकार की संतान उसकी सम्पत्ति में उत्तराधिकारिता प्राप्त कर सके। केवल दंड विधान करने से कन्या और संतान दोनों ही उसके पैशाच कृत्य का अभिशाप जीवन पर्यन्त वहन करते। इस प्रकार से कन्या और संतान को ही दृष्टि में रख कर ऐसा विधान किया गया था, यह प्रतीत होता है।

उपर्युक्त विवाह के प्रकारों के नामकरण में पैशाच तथा राक्षस अपने अर्थ के सर्वथा अनुरूप ही हैं। मनु के अनुसार अन्त के पांच से तीन अर्थात् प्राजापत्य, गांधर्व और राक्षस धर्म्य हैं और दो अर्थात् आसुर और पैशाच धर्म के अनुकूल नहीं है अतएव इनको कभी भी नहीं करना चाहिये।[1] नारद के अनुसार अंतिम तीन (राक्षस, आसुर तथा पैशाच) धर्मानुकूल नहीं हैं। नारद ने वर्ण के अनुकूल विवाह के प्रकारों को संयोजित नहीं किया है। इस प्रकार मनु के अनुसार क्षत्रियों के लिए बतलाये गये प्रशस्त विवाह को (राक्षस विवाह को) नारद ने धर्म के प्रतिकूल कह कर निंद्य कोटि में रख दिया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि मनु के समय में वर्ण व्यवस्था

---

१. मनु० अ०, ३—२५ नारद स्मृति, अ० १२—४५ जाली का अनुवाद।

कर्म के सिद्धान्त का आदर्श रखती रही होगी तथा क्षत्रिय शक्ति का प्रयोग युद्धादि के अवसरों में ही करते थे। इन युद्धों में उत्साह की वृद्धि के लिए "राक्षस" विवाह का समर्थन किया गया रहा होगा। परन्तु, संभव है कि नारद स्मृति के काल में राक्षस विवाह युद्धों में उत्साह वृद्धि के कारण प्रदत्त उपादेयता को छोड़कर सामान्य अवसरों में (शांतिपूर्ण समय में) भी केवल शक्ति के आधार पर किया जाने लगा होगा। इससे उत्पन्न समाज की अव्यवस्था को दूर करने के अभिप्राय से नारद ने "राक्षस" विवाह को निंद्य और धर्म के प्रतिकूल विवाहों की कोटि में रख कर खराब कहा है जिससे उसे प्रोत्साहन न मिले।

यहां पर एक बहुत ही महत्वपूर्ण प्रसंग आता है। स्मृतियों में (विशेष कर मनुस्मृति में) विवाह में शुल्क ग्रहण को बहुत ही हीन दृष्टि से देखा गया है। शुल्क ग्रहण को इस प्रकार से देखना और उसके ग्रहण न करने के लिए आदेश देना यह प्रकट करता है कि समाज में शुल्क ग्रहण की प्रथा आ चुकी थी परन्तु उसे अच्छा नहीं समझा जाता था। विवाह में इस प्रकार शुल्क ग्रहण करना वर्तमान समय की दहेज प्रथा से कुछ भिन्न है। वर्तमान समय में वर पक्ष कन्या पक्ष से दहेज के रूप में द्रव्यादि ग्रहण करता है । यह एक बहुत ही बड़ी सामाजिक कुरीति है। इस दहेज को शुल्क कहा जा सकता है। परन्तु स्मृतियां जिस शुल्क का विरोध करती हैं वह कन्या पक्ष के द्वारा वर पक्ष से ग्रहण किया जाता था। कन्या पक्ष के द्वारा वर पक्ष से शुल्क ग्रहण करना वर्तमान समय की दहेज प्रथा से अच्छा ही कहा जायगा क्योंकि इससे स्त्रियों को एक प्रकार से सम्मान ही मिलता है। जिस प्रकार वर्तमान समय में वर पक्ष के लोग अपने को अधिक श्रेष्ठ समझते हैं (क्योंकि उन्हें दहेज मिला है, और दहेज भी वर पक्ष के सामाजिक स्तर तथा वर की योग्यता आदि के द्वारा ही कम और अधिक होता है) उसी तरह से कन्या पक्ष भी अपने को गौरवान्वित समझता रहा होगा। परन्तु इस प्रथा को प्रोत्साहन नहीं मिला। स्मृतियों ने इसका घोर विरोध किया। मनुस्मृति ने स्पष्ट रूप से एक कण भी शुल्क के रूप में ग्रहण करने वाले को संतान विक्रेता कह कर यह बतलाया है कि जो मोहवश कन्यादान के निमित्त शुल्क ग्रहण करते हैं वे अधम गति को प्राप्त होते हैं।[1] परन्तु विवाह के प्रकारों में आर्ष नामक विवाह के लक्षण

---

१. न कन्यायाः पिता विद्वान्गृह्णीयाच्छुल्कमण्वपि।
गृहणन्शुल्कं हि लोभेन स्यान्नरोऽपत्यविक्रयी।। मनु० ३, ५१.
स्त्रीधनानि तु ये मोहादुपजीवन्ति बांधवाः।
नारीयानानि वस्त्रं वा ते पापा यान्त्यधोगतिम्।। मनु ३, ५२.

बतलाते समय कन्या पक्ष के द्वारा वर पक्ष से गोमिथुन (जोड़े) ग्रहण किया जाता था। यदि इसे शुल्क ग्रहण करना कहा जाय तब फिर आर्ष विवाह धर्मानुकूल विवाहों की श्रेणी में क्यों रखा गया? यह प्रश्न उपस्थित हो सकता है। परन्तु स्वयं मनु ने ही इस शंका का निवारण किया है। आर्ष विवाह के संबंध में मनु लिखते हैं कि आर्ष विवाह में जो विवाह गोमिथुन कन्याप्रदाता वर से लेता है उसे कुछ लोग शुल्क कहते हैं परन्तु यह मिथ्या है। शुल्क तो चाहे अल्प हो अथवा अधिक विक्रय ही होगा।[1] यहाँ पर मनु ने स्पष्ट कर दिया है कि उनके मत से 'आर्ष' में लिया जाने वाला गोमिथुन शुल्क नहीं है। परन्तु कुछ विद्वान्, विशेषकर प्रसिद्ध टीकाकार गोविंदराज, इस श्लोक की व्याख्या में यह अर्थ करते हैं कि आर्ष विवाह में गोमिथुन लेना भी शुल्क है अतः वह विक्रय ही होगा। आर्ष विवाह में भी गोमिथुन ग्रहण नहीं करना चाहिये। इस अर्थ के अनुसार मनु में परस्पर दो विरुद्ध मत लक्षित होते हैं। गोविंदराज इस विरोध के परिहार का यह उपाय निकालते हैं कि मनु ने जो आर्ष विवाह में गोमिथुन लेने का विधान लिखा है वह दूसरों का मत है तथा उसे पहिले देकर यहाँ उसका खंडन किया गया है। परन्तु यह व्याख्या उचित प्रतीत नहीं होती है, क्योंकि, यदि इसको मान लिया जाय तो फिर मनु के द्वारा बतलाये गये विवाहों में आर्ष विवाह का कोई लक्षण ही नहीं रह जाता है। आर्ष विवाह गोमिथुन ग्रहण करने से ही होता है। मनु ने आर्ष विवाह का दूसरा कोई लक्षण प्रस्तुत नहीं किया है। इसके अतिरिक्त यदि यह माना जाय कि मनु को आर्ष विवाह ही अभिप्रेत नहीं था तो यह भी युक्ति संगत नहीं होगा क्योंकि मनु ने प्रारंभ में जो विवाह के आठ प्राकर गिनाए हैं उनमें आर्ष का स्पष्ट रूप से उल्लेख है, तथा एक अन्य श्लोक में (मनु ३, ३८) मनु ने जहाँ दैव आदि विवाह के अनुसार ग्रहण की गई कन्या से उत्पन्न संतानों की प्रशंसा की है वहाँ भी स्पष्ट रूप से यह मिलता है कि आर्ष विवाह के द्वारा जिस कन्या का पाणिग्रहण किया जाता है उससे उत्पन्न पुत्र अपने से ऊपर के तीन पितरों का (पिता, पितामह तथा प्रपितामह (तथा अपने से नीचे की तीन संतानों का (पुत्र, पौत्र तथा प्रपौत्र) पातक से उद्धार करता है। यदि मनु को आर्ष विवाह अभिप्रेत न होता तो फिर वे इस प्रकार उसकी प्रशंसा न करते। दूसरे प्रसिद्ध टीकाकार कुल्लूक भट्ट की व्याख्या अधिक समीचीन जान पड़ती है। वे कहते हैं कि मनु ने आर्ष विवाह में वर से लेने की जो व्यवस्था की वह शास्त्रीय मर्यादा से सीमित होने के कारण धर्मार्थ विनियोग के लिए लेना शुल्क की

---

१. आर्षे गोमिथुनं शुल्कं केचिदाहुर्मृषैव हि तत्।
अल्पोऽप्येवं महान्वापि विक्रयस्तावदेव सः॥ मनु ३, ५३.

कोटि में नहीं आता है। उनके अनुसार, मनु ने आर्ष विवाह के लक्षण कहने के उपरन्त उसे पुनः (मनु ३—५३ में) इसलिए कहा कि कहीं कोई उसे शुल्क न समझ ले। कुल्लूक भट्ट शुल्क को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि जहाँ पर धन ग्रहण लोभवश अथवा उपभोग करने की इच्छा से ही ग्रहण किया जाय वह शुल्क कहलायेगा।[1] पाराशर स्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार माधवाचार्य का भी यही मत है। उनके अनुसार शुल्क का लक्षण द्रव्यादि के परिमाण की अनियमितता है।[2] आर्ष में गोमिथुन स्पष्ट रूप से नियत कर दिया है इसलिए तथा आर्ष विवाह का कोई अन्य लक्षण नहीं दिया है इसलिए यह शुल्क नहीं समझा जायगा। अन्य स्मृतियों भी इसी प्रकार शुल्क ग्रहण का विरोध करती हैं।[3] इसके अतिरिक्त जहाँ कन्या के संबंधी कन्या को उसके उपभोग के लिये दिये गये धन को स्वयं ग्रहण नहीं करते, वह भी शुल्क नहीं कहलाता।[4]

विवाह की आयु के विषय में भी पर्याप्त मतभेद मिलता है। वर की आयु के विषय में कोई विशेष मतभेद नहीं है क्योंकि, उसे प्रथम आश्रम के कर्तव्यों को समाप्त करके ही द्वितीय आश्रम में प्रविष्ट होने का अधिकार था। अतः इसके लिए यह कहा जा सकता है कि वह लगभग पच्चीस वर्ष की आयु ब्रह्मचर्यआश्रम में पूर्ण कर के ही गृहस्थ होने की आज्ञा गुरु से प्राप्त करेगा। परन्तु कन्या की आयु के विषय में कुछ शंकायें रह जाती हैं। मनु ने तीस वर्ष के पुरुष के लिए बारह वर्ष की कन्या के साथ तथा चौबीस वर्ष के पुरुष को आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करना अच्छा समझा है।[5] कन्या के विवाह की आयु को इतना कम बतलाने का अर्थ विद्वानों ने भिन्न प्रकार से किया है। कुछ के अनुसार यह नियम बाल-विवाह का समर्थन करता है। कम आयु में विवाह किये जाने पर कन्या के मस्तिष्क में अपने भावी पति का किसी भी प्रकार का चित्र अंकित नहीं होता है। परन्तु अवस्था अधिक होने पर मस्तिष्क में ऐसे चित्रों की रूप रेखा आ जाना अस्वाभाविक नहीं है। और अधिक अवस्था आने पर ये ही

---

१. देखिये कुल्लूक भट्ट की, मनुस्मृति की (अ० ३ श्लोक ५३) टीका।

२. न हि तस्यशुल्कत्वं संभवति। तल्लक्षणाभावात्। अतियत—परिमाणुत्वं हि शुल्कलक्षणम्। इत्यादि पृष्ठ ८८, भाग २, प्रथम पुस्तक, पाराशर माधवी, वामन शास्त्री द्वारा संपादित।

३. क्रयक्रीता तु या नारी न सा पत्न्यभिधेयते।
न सा दैवे न सा पैत्रे दासीं तां कश्यपोऽब्रवीत्॥ का० स्मृति, ३—४९.

४. मनु० अ०, ३ श्लोक ५४.

५. मनु ९—९४.

चित्र अधिक गहरे हो सकते हैं, तब इस अवस्था में किये जाने वाला विवाह यदि कन्या के मानसिक चित्र के अनुरूप न हो तो पारिवारिक वातावरण में तनाव आने की संभावना बनी रहती है। अतएव कम आयु में विवाह किये जाने पर इस दोष का परिमार्जन हो जाता है। मनोवैज्ञानिक आधार पर देखने पर भी कम आयु में किये जाने वाले विवाह लाभदायक सिद्ध होते हैं।[1]

शरीर विज्ञान की दृष्टि से भी कम आयु में किया जाने वाला विवाह उचित ही जान पड़ता है। स्त्री के रज में एक प्रकार का विष होता है वह प्रारंभिक अवस्था में उतना तीव्र नहीं होता है परन्तु अवस्था की वृद्धि के साथ तीव्रतर होता जाता है। कुछ स्त्रियों में इस प्रकार के विष की मात्रा अधिक होती है तथा कुछ में कम। ऐसे तीव्र विष वाली स्त्री के संपर्क में आने वाले पुरुष के प्राण संकट में रहते हैं क्योंकि वह विष घातक होता है। वर्तमान समय में भी जिन शूद्रजातियों में विधवाओं के अनेक विवाह की प्रथा प्रचलित है उनमें कहीं-कहीं ऐसी स्त्रियाँ देखी जाती हैं जिनके पति विवाह के कुछ दिनों बाद ही मर जाते हैं फिर जो व्यक्ति पति होते जाते हैं उन्हें थोड़े ही दिनों में अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। यह स्पष्ट है कि ऐसी स्त्रियों में विष की तीव्रता के अत्यन्त अधिक होने के ही कारण कई पतियों की मृत्यु हो जाती है। सब में इस प्रकार से विष की तीव्रता नहीं रहती है तत्रापि अपेक्षाकृत विष की मात्रा तो सभी में होती ही है, तथा यह अवस्था के साथ बढ़ती चलती है। मनु ने इस अदृष्ट आपत्ति से पतियों की रक्षा करने के उद्देश्य से ही यह विधान कर दिया कि रजोदर्शन से पूर्व ही विवाह होना चाहिये; क्योंकि कम अवस्था से जब वह उसके (कन्या) संपर्क में आयेगा

---

१. "Hamilton and Mcgown have shown, for instance, that, sexual frigidity of later life in women is due mostly to repression during childhood, as also to lateness of sexual experience," P. N. Prabhu, 'Hindu Social Organisation, page 186 also.
The case of early marriage, from the psychlogical point of view, lies in the fact that if married early, the nature of each is still plastic and there is greater possibility of congeneality than later when the characterstic attitudes have become fixed. Williams, Principles of Social Psychology, P. 288.

तब शनैः शनैः उस विष से वह अभ्यस्त हो जायगा, इस प्रकार से अभ्यस्त हो जाने पर उस विष का घातक प्रभाव उस पर नहीं पड़ेगा। जिस प्रकार थोड़ी-थोड़ी मात्रा में अफीम (यह विष ही है) लेने वाला धीरे-धीरे मात्रा के बढ़ते रहने पर अधिक मात्रा का सेवन निशंक होकर कर सकता है; परन्तु उस विष से सर्वथा अनभ्यस्त व्यक्ति उसकी अल्प मात्रा में ही पंचतत्व की प्राप्ति कर लेगा। विवाह में जन्म-कुंडली मिलाने की प्रथा भी इसी तथ्य पर प्रकाश डालती है। कुंडली के द्वारा शनि तथा मंगल आदि ग्रहों की स्थिति से कन्या में उस विष की मात्रा मृदु है, अथवा तीव्र, इसका परिज्ञान होता है। स्त्री के रज में इस विष की स्थिति का अनुमोदन वर्तमान समय में भी दिखता है। कुछ परीक्षण इस तरह के भी हुए हैं जिनमें रजोदर्शन के समय स्त्रियों के हाथ में गुलाब के पुष्प दे दिये गए, ये पुरुष अपेक्षाकृत कम समय में ही मुरझा गये (स्त्री के विषमती होने के कारण)।[1]

विवाह की आयु का इतना कम होना कोई विशेष आश्चर्य की बात नहीं थी। वेस्टर मार्क के अनुसार अन्य देशों में भी विवाह की आयु कम ही थी। रोम के कानून के अनुसार पुरुष की चौदह वर्ष तथा कन्या की बारह वर्ष विवाह की आयु निर्धारित की गई थी। चर्च ने भी इसे स्वीकार किया था। यह वर्तमान समय में भी कई देशों में है। अन्य स्थान पर वेस्टरमार्क महोदय विवाह की आयु के कम होने में आर्थिक स्थिति के अच्छी होने को भी एक कारण के रूप रखते हैं।[2]

---

१. In support of this contention Macht and Lorben have recently obtained evidence of the existence in the blood of a menstrual toxin which exudes in the sweat and other secretions and has deleterious effect on living plant tissues. Thus thay state that a flower held in the hand of a menstruating woman will wither more rapidly than otherwise owing to the action of this toxin substance, which is not present excepting at this stage in the cycle. Marshall, Introduction to Sexual Psychology.

२. The stipulation of the Roman Law, according to which a man may marry at the age of fourteen and woman at the age of twelve, was adopted by the

व्यावहारिक दृष्टिकोण से भी कम अवस्था का विवाह उचित ही था। श्री आयंगर महोदय के अनुसार इस प्रकार के विधान में रजोदर्शन के पूर्व विवाह किये जाने से चारित्रिक निर्मलता का पूर्ण आश्वासन रहता था तथा योग्य वर के साथ विवाह कर दिये जाने की परिपाटी भी एक कारण थी।[१] नारद तथा मनु इसी कारण को दृष्टि में रख कर कन्या के ऋतुमती होने के पूर्व विवाह कर दिये जाने का विधान करते हैं। नारद तो यहाँ तक कहते हैं कि कन्या को अपने ऋतु प्रारम्भ होने की सूचना अपने संबंधियों को अवश्यमेव देनी चाहिये।[२] यदि इस सूचना के उपरांत वे (संबंधी) उसका विवाह योग्य पति के साथ नहीं करते तो वे भ्रूणहत्या करने वालों के समान समझे जायेंगे। मनु ऐसी स्थिति में कन्या को स्वयंवरण का अधिकार प्रदान करते हैं।

Church, and is under the influence of Canon Law, still preserved in various countries. 'Westermarck—A Short History of Marriages,' P. 46.

Generally speaking the average age for marriage is more advanced among the upper classes than among the lower ones. A 'gentleman' before marrying thinks it necessary to have an income of which a mere fraction would suffice for a married workman. He has to offer his wife a home with the social position etc. Ibid P. 50.

१. The instance of the marriage of girls before they attain puberty was not only to ensure marriage at a time when sex purety can be absolutely assured in a girl, but was due to the pressure competition among eligible brides–Page 156, K. V. Rangaswamy Aiyanger–Social & Political Aspects of Manusmriti.

२. "No girl should let the period of maturity come on without giving notice to her relation; if these thereupon do not give her in marriage to a husband, they are similar to murderers of embryo." Jolly's Translation—Naradsmiriti Chap. 12, 25.

यदि कन्या के पिता आदि कन्या के ऋतुमती होने पर भी तीन वर्ष के अंदर विवाह नहीं करते हैं तब उसे इस अवधि की (तीन वर्ष) परिसमाप्ति के बाद स्वयं अपने पति का वरण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार के स्वयंवरण में पति-पत्नी को किसी भी प्रकार दोष नहीं लगता है।[1] स्वयंवरण में अपने ही समान पति को वरण करने का अधिकार है अर्थात् अपने वर्ण के अनुरूप ही पति को वरण करे। इस नियम के अनुसार स्वयंवरण करने वाली कन्या को पिता आदि के द्वारा दिये गये अलंकारों को नहीं ले जाना चाहिये और यदि वह उन अलंकारों को (भ्राता, पिता, माता, आदि द्वारा प्रदत्त) ले जाती है तो चोर समझी जायगी।[2] स्वयंवरण से पूर्व प्राप्त अलंकारों पर उसका अधिकार नहीं रहता। पति भी कन्या के पिता आदि को द्रव्य आदि नहीं देगा क्योंकि द्रव्यादि प्राप्त करने की अधिकारिता कन्या के ऋतुमती होने पर भी विवाह न करने से, वे खो देते हैं।[3] उपर्युक्त विधान स्पष्ट रूप से ऋतुमती होने के पूर्व विवाह किये जाने को महत्व प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में यह कन्या के चरित्र की निर्मलता को विवाह के लिए आवश्यक कहता है। वर के चरित्र के लिए तो प्रारंभ में ही मनु ने कह दिया है कि वेदों का अध्ययन करके गुरु की आज्ञा प्राप्त करके गुणवती सवर्णा कन्या का वरण करे; उसके (वर के) ब्रह्मचर्य आश्रम में रहने तथा गुरु से एकाग्र चित्त से विद्यालाभ करने की पद्धति ही उसके चारित्रिक निर्मलता को अवश्यं-भावी बना देती है। परन्तु कन्या की चारित्रिक निर्मलता के लिए उसके ऋतुमती होने के पूर्व विवाह किये जाने के अतिरिक्त और कोई भी उपयुक्त आश्वासन नहीं रहता। अतएव दोनों पक्षों में (वर तथा कन्या) विवाह से पूर्व किसी भी प्रकार दोष न हो इसलिए यह विधान किया गया है। याज्ञवल्क्य तथा नारद भी स्वयंवरण का अधिकार कन्या को कुछ विभिन्न अवसर में, प्रदान करते हैं। दोनों ही स्मृतिकार कन्यादान कर्ताओं का उल्लेख करते हैं। उनके अनुसार पिता, पितामह, भाई कुल का कोई संबंधी

---

१. त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमारीतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद्विन्देत सदृशं पतिम्।। मनु० ९—९०
अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्।
नैनः किंचिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति।। मनु० ९—९१

२. अलंकारं नाददीत पित्र्यं कन्या स्वयंवरा।
मातृकं भ्रातृदत्तं वा स्तेना स्याद्यदि तं हरेत्।। मनु० ९—९२

३. पित्रे दद्याच्छुल्कं तु कन्यामृतुमतीं हरन्।
स हि स्वाम्यादतिक्रामेदृतूनां प्रतिरोधनात्।। मनु० ९—९३

पुरुष तथा मां को क्रमशः कन्यादान का अधिकार प्राप्त होता है।[1] नारद की सूची में याज्ञवल्क्य की सूची से कुछ अंतर है परन्तु यह अंतर कोई विशेष महत्व का नहीं है। याज्ञवल्क्य के अनुसार ये कन्यादान के अधिकारी यदि समय पर कन्यादान नहीं करते हैं तो वे भ्रूणहत्या के भागी होते हैं (नारद के अनुसार इन अधिकारियों के ऊपर उतनी ही भ्रूण हत्याओं का बोझ बढ़ता जाता है जितनी ऋतुओं तक वे कन्या का विवाह नहीं करते)। इन कन्यादाताओं के अभाव में कन्या स्वयं अपने पति का वरण कर सकती है। नारद के अनुसार ऐसी स्थिति में (कन्यादान कर्ताओं के अभाव में) कन्या राजा से प्रार्थना करेगी तथा उसकी स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर अपने कुल तथा योग्यता के अनुरूप पति का वरण करेगी।[2] यहाँ पर मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद में स्पष्ट रूप से अंतर दृष्टिगोचर होता है। मनु के अनुसार पिता आदि के जीवित रहने पर भी, याज्ञवल्क्य के अनुसार कन्यादाताओं की मृत्यु के उपरांत स्वयंवरण का अधिकार प्राप्त होता था। परन्तु नारद के अनुसार स्वयंवरण के लिए कन्यादाताओं के अभाव में राजा की स्वीकृति की आवश्यकता रहती थी। यह अंतर इस बातके प्रमाण में कहा जा सकता है कि, मनु तथा याज्ञवल्क्य के दृष्टिकोण में समाज का वह स्वरूप है जिसमें

---

१. पिता पितामहो भ्राता सकुल्यो जननी तथा
कन्याप्रदः पूर्वनाशे प्रकृतिस्थः परः परः ॥ याज्ञ० वि० प्र०—६३—६४.
"A father shall give his daughter in marriage himself, or a brother with father's consent or grandfather, maternal uncle, Rinsmen, or relatives. In default of all these the mother if she is qualified, if she is not, the remoter relation should give a girl in marriage" Jolly's translation–Naradsmriti–Chap. 12, 20, 21.

२. गम्यं त्वभावे दातॄणां कन्या कुर्यात्स्वयंवरम् ॥ या० स्मृति, विवाह प्रकरण ६४.
If there be none of these the girl shall apply to the king, and, having obtained the permission to make her choice, choose a husband for herself, of the same class with her, and fitted for her in descent, qualities and relegious knowledge. Let her fulfil her duties jointly with and procreate off-spring with him. Jolly's translation–Naradsmriti–Chap. 12, 22, 23.

दुराचार आदि कम था, कन्यादाताओं के अभाव में भी कन्या अपने धर्म से विचलित न होते हुये स्मृतिवाक्यों का अनुसरण करती थी। परन्तु नारद एक वैधानिक दृष्टि-कोण को लेकर अभिभावकों के अभाव में राजा को स्थानापन्न मानते हैं अतः उनके लिए यह आवश्यस्वक हो जाता है कि उसकी (राजा की) स्वीकृति प्राप्त की जाय। यह तब और भी स्पष्ट हो जाता है जब वे (नारद) राजा को स्त्रियों को पापपूर्ण संबंधों से बचाने के लिए विशेष रूप से सावधान करते हैं।[1] नारद कन्या के स्वयंवरण के अधिकार को बहुत ही सीमित कर देते हैं। परन्तु मनु ने यहाँ सबसे अधिक उदारता दिखलाई है। याज्ञवल्क्य एक कठिन परिस्थिति में ही उदारतापूर्वक यह अधिकार प्रदान करते हैं। परन्तु ये (याज्ञवल्क्य) नारद से अधिक ही उदार दिखलाई पड़ते हैं क्योंकि नारद याज्ञवल्क्य के अनुसार प्राप्त परिस्थिति में ही कन्या और उसके विवाह के मध्य में राजा की स्वीकृति को लाकर कन्या के विवेक और चरित्र पर शंका उत्पन्न कर देते हैं। परन्तु कोई भी स्मृति स्वयंवर का सामान्य अधिकार नहीं प्रदान करती; वे सभी विशेष परिस्थिति में ही यह अधिकार प्रदान करती हैं।

विवाह संस्कार की पूर्णता सप्तपदी (यह विवाह संस्कार के अंतर्गत की आने वाली एक पद्धति है) के बाद ही होती है।[2] इसके पूर्व विवाह पूर्ण नहीं समझा जाता है। सप्तपदी की परिसमाप्ति के पूर्व कन्या वाग्दत्ता मात्र ही रहती है। मनु के अनुसार कन्या को किसी को वाग्दान देकर पुनः किसी अन्य को नहीं देना चाहिये।[3] परन्तु याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि, जिसे कन्या दी गई है (वाग्दान में) उससे योग्य और श्रेष्ठ वर आ जाता है तो पूर्व वर से उस दान को वापिस लेकर, नवागन्तुक वर को प्रदान किया जा सकता है।[4] नारद स्मृति याज्ञवल्क्य का ही अनुकरण करती

१. Therefore let the king take special care to restrain the women from sinful intercourse with men of other classes. Jolly's translation—Naradsmriti, Chap. 12. 112.

२. पाणिग्रहणिका मंत्रा नियतं दारलक्षणम्।
तेषां निष्ठानु विज्ञेया विद्वद्भि सप्तमे पदे। मनु० ८—२२७.

३. एतत्तु न परे चकुर्नापरे जातु साधवः।
यदन्यस्य प्रतिज्ञाय पुनरन्यस्य दीयते।। मनु ९—९९ तथा ९७.

४. दत्तामपि हरेन् पूर्वाच्छ्रेयांश्चेद् वर आव्रजेत् ।। या० स्मृति, विवाह प्रकरण ६५.

है।[१] यदि कन्यादान के अवसर पर कन्या के दोषों को स्पष्ट रूप से नहीं बतलाया गया है मनु के अनुसार विधिवत ग्रहण की हुई कन्या को भी छोड़ देना चाहिये।[२] नारद कन्या और वर को विवाहोपरान्त के प्रकट होने पर, एक दूसरे को त्याग देने का अधिकार प्रदान करते हैं।[३] याज्ञवल्क्य इस प्रकार से दोषवती कन्या को उसके दोषों को बिना बताये छल करके कन्या प्रदाता पर दुःसाहस का दंड विधान करते हैं।[४] दोष रहित कन्या को त्यागने पर भी दंड विधान है।[५]

वाग्दान के अंतर तथा सप्तपदी के पूर्व यदि वर की मृत्यु हो जाती है तबा कन्या की अनुमति से उसे देवर को ने देने का विधान मनुस्मृति में मिलता है।[६] नारद वाग्दान के उपरांत वर के विदेश चले जाने पर तीन ऋतु तक प्रतीक्षा करने के पश्चात अन्य किसी से भी विवाह कर देने का नियम प्रतिपादित करते हैं।[७] नारद के विचार अपेक्षाकृत, प्रगतिशील हैं, मनु तो पुनरातनवादी की भांति यहाँ पर वाग्दान को महत्वपूर्ण दृष्टि से देखते हुये केवल मृत वर के भाई के साथ विवाह करने की अनुमति प्रदान करते हैं। इस प्रसंग में पाराशर स्मृति के विचार भी महत्वपूर्ण हैं। पाराशर और नारद पांच ऐसी अवस्थाओं का उल्लेख करते हैं जिनमें स्त्री अन्य पति का वरण कर सकती है।[८] पाराशर स्मृति के इस श्लोक का (४. ३०) अर्थ विद्वानों ने विभिन्न

---

१. If a girl has been betrothed by her father in considration of a marriage present, and a better bridegroom comes forward, who is endowed with religous, worldly, and amiable qualities, the first betrothal is null & void. Jolly's translation; Naradsmriti—**Chap. 12. 30.**

२. मनु० ९—७२.

३. नारद १२—३१, ९०.

४. या० स्मृति, विवाह प्रकरण ६६ तथा नारद १२, ३३.

५. नारद, १२—३५.

६. मनुस्मृति ९—९७.

७. नारद १२—३१.

८. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥॥ पा० स्मृति, ४—३०.
नारद में भी यही श्लोक मिलता, केवल प्रथम पंक्ति के अंतिम शब्द में "पति" के स्थान पर "तथा" लिखा है : नारदस्मृति, १२—९७.

प्रकार किया है।[1] व्याकरण शास्त्र की दृष्टि से यह श्लोक वाग्दतापरक कहा जायगा; पाराशर के द्वारा प्रयुक्त "पतौ" शब्द सप्तमी विभक्ति के एक वचन का रूप माना गया है। परन्तु पाणिनीय व्याकरण के अनुसार पति शब्द का सप्तमी एक वचन में "पत्यौ" रूप बनता है। पति शब्द जब समास में प्रयुक्त होता तभी "हरौ" आदि के समान "प्रजापतौ" रूप बनता है। अतः यहाँ "पतौ" पाठ न होकर अपतौ पाठ उचित है। "पतितेऽपतौ" पाठ शुद्ध होगा। "पति" शब्द का "अ" के साथ समास हो जाने पर पाणिनि के "पतिः" समास एवं" सूत्र से "घि "संज्ञा होकर" "अपतौ" शब्द व्याकरण के नियमों के अनुकूल होगा। प्रस्तुत श्लोक "पतिते पतौ" में "अपतौ" के "अ" का लोप व्याकरण के अन्य नियमों के अनुसार हुआ है। पाणिनि का सूत्र "एङः पदान्तादति" के अनुसार पद के अंत में "ए" के बाद "अ" आने पर "अ" का (लोप) पूर्वरूप हो जाता है। इस प्रकार पतितेऽपतौ बनता है। इस स्थिति में अपति शब्द का अर्थ मनु के अनुकूल ही होगा; अर्थात् जिसे (सप्तपदी की समाप्ति के द्वारा) पूर्ण पतित्व प्राप्त नहीं हुआ है; यह वाग्दान के बाद और सप्तपदी के पूर्व की स्थिति है। इस अवस्था में उक्त पांच प्रकार की आपत्तियों में (पति के नष्ट हो जाने पर, मर जाने पर, प्रव्रज्या ग्रहण कर लेने पर, नपुंसक तथा पतित होने पर) स्त्री अन्य पति का वरण कर सकती हैं। पाराशर स्मृति के इसके बाद के श्लोक (४—३१) को देखने से भी यही अर्थ निकलता है। यह प्रसंग पति की मृत्यु के उपरांत स्त्री

---

१. "Parashar's permission to remarry given to the wife of a person, who is impotent or has pecome a religious recluse or is boycotted, clearly presupposes the possibility of divorce from the earlier marriage." A. S. Altekar; "Position" of woman in Hindu Civilization. 84 And also "There are according to these two Smritis five cases of legal sanction, wherein the wife is allowed to marry a second husband : She may take a second husband, if the first is missing (Nashta) or dead (Mrita) or becomes an ascetic (Pravrajit) or is degraded from the caste (Patita). P. N. prabhu, Hindu Social organisation; page 194.

के द्वारा ब्रह्मचर्य के व्रत पालन करने के महत्व को प्रदर्शित करता है। वह (स्त्री) पति की मृत्यु के उपरांत यदि ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करती है तो उसे, मरने पर उसी भांति स्वर्ग की प्राप्ति होती है जिस प्रकार ब्रह्मचारी को। इसके अतिरिक्त मृत पति का अनुसरण करने पर वह स्त्री उतने वर्षों तक स्वर्ग में वास करती है जितने कि उसके शरीर में रोम होते हैं; वह अपने इस आचरण से अपने मृत पति का भी उद्धार करती है। निसंदेह पाराशरस्मृति के ये विचार पुनर्विवाह को प्रोत्साहित नहीं करते हैं। अल्तेकर महोदय ने पाराशर के इस श्लोक का अर्थ पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करने के रूप में किया है, जो कि असंगत जान पड़ता है।

नारद स्मृति उपर्युक्त शंका से मुक्त है क्योंकि उसमें "पतौ" शब्द का अंत में प्रयोग नहीं हुआ है। यह स्मृति स्पष्ट रूप से स्त्री को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करती है। नारद ने पांच अवस्थाओं में स्त्री को दूसरा विवाह करने की अनुमति प्रदान की है। जिन पांच अवस्थाओं में पाराशरस्मृति सप्तपदी के पूर्व अन्य पतिवरण का अधिकार प्रदान करती है उन्हीं अवस्थाओं में नारदस्मृति सप्तपदी सम्पन्न होने के बाद भी अन्य पतिवरण का अधिकार प्रदान करती है।[१] इस प्रकार से विवाह करने वाली स्त्री परपूर्वा कहलाती है। नारद ने सात प्रकार की परपूर्वा स्त्रियों का उल्लेख किया है। इन सातों प्रकार की परपूर्वाओं को दो श्रेणियों में रखा गया है :[२] (१) पुनर्भू (२) स्वैरिणी। पुनर्भू स्त्री तीन प्रकार की होती हैं—(१) अक्षत योनि विवाहिता (विवाहिता होने पर भी कुमारी के ही समान) (२) जो अपने कुमार पति को छोड़ कर अन्य के पास जाकर पुनः लौट जाती है (३) पिता के द्वारा, पति की मृत्यु के उपरांत, देवरादि के अभाव में किसी सपिंड को दी गई। स्वैरिणी स्त्रियों का वर्णन कामाचार की कोटि में आता है। याज्ञवल्क्य भी इसी प्रकार परपूर्वा स्त्रियों को दो

---

१. नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते तथा।
पंचस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते। ना० स्मृति, १२, ९७. पाराशर आ० में उद्धत आ० कां १ अ० २, ४, ९१.

२. Others are women who had a different husband before, they are declared to be of seven kinds; in order as enumerated; among these the twice married women is of three descriptions, and disloyal wife of four sorts, Jolly's translation—Narad.12. 46 and also 12. 47 to 54.

श्रेणी में रखते हैं।[1] नारद परपूर्वा स्त्रियों का केवल उल्लेख मात्र ही नहीं करते हैं वरन् वे विस्तार के साथ बतलाते हैं कि पुनर्विवाह का अधिकार किस अवसर में प्रयोग किया जा सकता है। वे अज्ञात पतियों की प्रतीक्षा की अवधि निश्चित करते हैं। यदि इस अवधि के भीतर पति वापस नहीं आता है तो पत्नी अन्य विवाह कर सकती है। उन्होंने ब्राह्मणी स्त्री को आठ वर्ष तक, यदि वह संतानहीन हो तो चार वर्ष तक, तथा क्षत्रिया को ६ वर्ष तक, यदि वह संतानहीन हो तो तीन वर्ष तक, वैश्या स्त्री के लिए चार वर्ष तक तथा संतानहीन होने पर दो वर्ष तक प्रतीक्षा करने का विधान किया है। शूद्रा स्त्री के लिए वैश्या स्त्री के समान ही नियम थे। इस अवधि की परिसमाप्ति पर स्त्रियां पुनर्विवाह कर सकती थीं। यहाँ नारद स्पष्ट रूप से पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करते हैं।[2]

मनुस्मृति पुनर्विवाह का स्पष्ट समर्थन नहीं करती है। बल्कि उसके वृतांत को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि मनु पुनर्विवाह के विरोध में ही थे। वे सपुत्रों के प्रकार बतलाते समय स्पष्ट रूप से पुनर्भू स्त्री के विषय में भी कहते हैं। वे कहते हैं कि पति के द्वारा परित्यक्त होने पर अथवा विधवा होने पर अथवा अपनी इच्छा से पुनर्भू होकर जिस पुत्र को उत्पन्न करती है वह पौनर्भव कहलाता है।[3] मनु ने केवल इसी एक स्पष्ट उल्लेख से पुनर्विवाह की ओर संकेत किया है। मनु का केवल इतना ही संकेत यह कहने के लिए पर्याप्त नहीं है कि वे स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करते थे। बल्कि अनेक आभ्यंतरिक प्रमाणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि मनु पुनर्विवाह के विरोध में थे। प्रारंभ में यह कहा जा चुका है कि मनु वाग्दान से ही विवाह का बंधन स्वीकार करते हैं।[4] संस्कार की दृष्टि से विवाह की पूर्णता को वे सप्तपदी के उपरांत मानते हैं। अन्य स्थलों पर भी वे विधवा को पुनर्विवाह के अधिकार देने के स्थान पर

---

१. अक्षता च क्षता चैव पुनर्भूः संस्कृता पुनः।
स्वैरिणी या पतिं हित्वा सवर्णं कामतः श्रयेत्॥ या० स्मृति, विवाह प्र० ६७.
याज्ञवल्क्य केवल परपूर्वा स्त्रियों के प्रकार ही बतलाते हैं; वे यह नहीं कहते हैं कि किन अवस्थाओं में पुनर्विवाह किया जा सकेगा।

२. नारद, १२–९८—१००,

३. या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।
उत्पादयेत्पुनर्भूत्वा स पौनर्भव उच्यते॥ मनु० ९।१७५—१७६.

४. वे वाग्दत्ता के पति की मृत्यु के उपरान्त कन्या की अनुमति से उसे देवर से भी विवाहित करने का विधान करते हैं। मनु० ९।९७.

ब्रह्मचर्य व्रत पालन का ही उपदेश देते हैं। पति के मरने पर, अन्य व्यक्ति का नाम भी लेने की अपेक्षा वे फल-मूल आदि के द्वारा शरीर को क्षीण कर देने को श्रेष्ठ समझते हैं।[१] वे स्त्रियों को, पति के दुःशील, कामी तथा गुणहीन होने पर भी उसे देवताओं के समान पूज्य समझ कर परिचर्या करने का उपदेश देते हैं।"[२] मनु इतना ही कह कर शांत नहीं हो जाते हैं। वे ९।७८ में इस विचारधारा की चरम सीमा प्रस्तुत करते हैं। इस श्लोक के अनुसार मनु उन्मत, पतित, क्लीव, वीर्यहीन, पापी, रोगी पति से द्वेष करने वाली स्त्री को (पति के द्वारा) न त्यागने तथा उसके दाय भाग के हरण न करने का विधान करते हैं।[३] अर्थात् पति के उक्त दुर्गुणों के कारण पत्नी का द्वेष करना उचित है। परन्तु नारद ने पति के क्लीव, पतित, आदि होने पर पत्नी को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान किया है। मनु केवल पत्नी के द्वेष करने में उसे क्षमा पाने तथा न त्यागे जाने का अधिकार देते हैं; यहाँ पत्नी के द्वारा पति को त्यागने का प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता है। यह स्पष्ट रूप से मनु की विचारधारा को प्रकट करता है। वे पुनर्विवाह को प्रोत्साहित नहीं करना चाहते थे। वे तो ऐसे पति को ही और अधिक अधिकार प्रदान करते हैं; वह एक वर्ष प्रतीक्षा करने के बाद भी यदि पत्नी के द्वेष पूर्ण व्यवहार में अंतर नहीं पाता तो उसे तीन माह के लिए त्याग सकता है तथा उसको दिये गये अलंकार, आभूषण आदि को भी छीन सकता है।[४] पत्नी के समक्ष पति की सेवा का ही एक महान् आदर्श है। उसे अन्यपूर्वा होने की कल्पना तक भी नहीं करनी है।

मनु ने नारद के ही समान विदेश जाने वाले पतियों की प्रतीक्षा की अवधि निश्चित की है।[५] परन्तु वे स्पष्ट रूप से कुछ भी नहीं कहते हैं कि इस अवधि के

---

१. कामं तु क्षपयेद्देहं पुष्पमूलफलैः शुभैः।
न तु नामापि गृह्णीयात्पत्यौ प्रेते परस्य तु।। मनु ५।१५७.
तथा मनु ५।१५८, १५९.

२. विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
अचर्यस्तु स्त्रिया साध्व्या सततं देववत्पतिः।। मनु ५।१५४.

३. उन्मत्तं पतितं क्लीबमबीजं पापरोगिणम्। मनु ९।७६.

४. मनु ९।७७, ७८.

५. प्रोषितो धर्मकार्यार्थं प्रतीक्ष्योऽष्टौ नरः समाः।
विद्यार्थं षट् यशोऽर्थं वा कामार्थं त्रींस्तु वत्सरान्।। मनु ९। ७६.
कु० भट्ट—ऊर्ध्वं पतिसंनिधिं गच्छेत्। तदाह वसिष्ठः (व०स्मृति १७।१५)
प्रोषितपत्नी पंचवर्षाण्युपासीत, ऊर्ध्वं पतिसकाशं गच्छेत्।

समाप्त होने पर स्त्री क्या करेगी ? वह पति के पास चली जायगी अथवा दूसरा विवाह करेगी ? कुल्लूक भट्ट ने वसिष्ठ स्मृति के वचनों का उद्धरण देकर इस श्लोक का यह अर्थ लिया है कि प्रतीक्षा की अवधि के समाप्त होने पर पत्नी पति के पास चली जाय। पूर्वापर के वृतान्तों को देखते हुये यही अर्थ अधिक समीचीन जान पड़ता है। कुल्लूक भट्ट का यह अर्थ मनु के ९।४६ वें श्लोक के अनुकूल है। इसमें मनु कहते हैं कि "स्त्री की निष्कृति पति के द्वारा बेच दिये जाने पर अथवा त्याग दिये जाने पर भी नहीं होती है।[१] तथा ५. १६३ में कहे गये वचन (साध्वी स्त्रियों का कहीं भी दूसरे पति के होने का उपदेश नहीं मिलता है) से स्पष्ट रूप से कुल्लूक भट्ट के विचारों को बल मिलता है।[२] मनु के अनुसार विवाह का बंधन विवाह हो जाने के बाद सर्वदा बना रहता है; विदेश जाकर अथवा विदेश जाने के व्याज से त्यागने पर भी यह संबंध नहीं छूटता है। अतएव उसे इस प्रतीक्षा की अवधि के समाप्त होने पर पति के पास चले जाने का अधिकार प्राप्त है। परन्तु नारद इस प्रतीक्षा की अवधि के समाप्त होने पर स्त्रियों को दूसरा विवाह करने का अधिकार प्रदान करते हैं। नारद के, मनु की अपेक्षा, बहुत अधिक प्रगतिशील विचार हैं। मनुस्मृति और नारद के पुनर्विवाह के प्रसंग को देखने से यही आभास मिलता है कि नारद स्मृति की रचना के समय का समाज मनुस्मृति कालीन समाज से बहुत अधिक परिवर्तित हो गया था। समाज की कुछ परम्परायें (प्रथायें) मनुस्मृति के समय में अपनी प्रारंभावस्था में होने के कारण अमान्य थीं वे ही नारदस्मृति की रचना के समय परिपक्व होकर मान्यता प्राप्त कर लेती हैं। मनुस्मृति ने पुनर्विवाह को जिस ढंग से लिया है उससे यही आभास मिलता है। मनु ने स्त्री को अन्यपूर्वा होने का अधिकार तो नहीं प्रदान किया है परन्तु अन्यपूर्वा (पुनर्भूः) के पुत्रों के विभिन्न अधिकारों पर प्रकाश डाला है। यह कहना अनुपयुक्त न होगा कि इस प्रकार से पुनर्विवाह का अधिकार न देते हुए भी पौनर्भव की सामाजिक स्थिति पर प्रकाश डालने का अर्थ उस समय पुनर्विवाह के यदा-कदा प्राप्त उदाहरणों के लिए विधान करना था। पुनर्विवाह समाज में सामान्य रूप से स्वीकृत नहीं रहा होगा; समाज के अधिकांश सदस्यों (विशेष कर बौद्धिक वर्ग) के द्वारा उसे अत्यन्त हीन दृष्टि से देखा जाता रहा होगा। इसीलिए मनु ने भी उसे उत्साहित नहीं किया। परन्तु नारद स्मृति की रचना के समय संभव है यही पुनर्विवाह की प्रथा समाज में सामान्य रूप से स्वीकृत हो गई होगी अथवा इसके स्वीकृत किये जाने की बहुत प्रबल आवश्यकता समझी गई होगी। इसी

---

१. न निष्क्रय विसर्गाभ्यां भर्तुर्भार्या विमुच्यते॥ मनु० ९ । ४६.
२. न द्वितीयश्च साध्वीनां क्वचिद्भर्तोपदिश्यते॥ मनु० ५।१६२.

आवश्यकता से प्रभावित होकर नारद ने पुनर्विवाह को मान्यता प्रदान करके स्त्री को एक बहुत बड़ा अधिकार प्रदान कर दिया। जहाँ मनु और याज्ञवल्क्य एक सामान्य सामाजिक परम्परा को (उत्तराधिकार की दृष्टि से) मान्यता प्रदान करते हुये भी उसे अधिकार में परिवर्तित नहीं करते वहाँ नारद ने इसे मान्यता प्रदान करने के साथ ही साथ वैधानिक (धर्मशास्त्रानुकूल) अधिकार में परिवर्तित कर दिया।[1] यह एक सामान्य तथ्य है कि कोई भी सामाजिक परम्परा तभी अधिकार बनती है जब उसे किसी प्रकार का (विधान धर्म शास्त्र, राज्यशक्ति आदि का) समर्थन प्राप्त हो जाता है। और यह समर्थन उस परम्परा के पक जाने पर (पूर्ण विकसित होने पर) ही प्राप्त होता है। जब यह परम्परा स्वाभाविक रूप से समाज में अपना स्थान बना लेती है तब उसे वैधानिक मान्यता प्राप्त हो जाती है। यह तथ्य पुनर्विवाह के लिए भी लागू होता है। मनुस्मृति के समय में यह प्रथा विकसित नहीं रही होगी परन्तु नारद के समय में यह पूर्ण रूप से समाज की सामान्य इच्छा का समर्थन प्राप्त कर चुकी रही होगी। यही कारण है कि दोनों स्मृतियों में इस प्रसंग को लेकर पर्याप्त अंतर दिखाई पड़ता है।

संक्षेप में मनु और नारद के विचारों को एक स्थान पर एकत्रित किया जा सकता है। नारद स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करते हैं। नारद की यह अनुमति स्त्रियों को विवाह से मोक्ष प्राप्ति का भी सीमित अधिकार प्रदान करती है। मनु स्त्रियों को पुनर्विवाह का अधिकार नहीं प्रदान करते हैं। वे स्त्रियों को विवाह बंधन से मुक्त होने का भी अधिकार नहीं देते। पाराशर स्मृति भी न तो पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करती है और न विवाह बंधन से मुक्ति का अधिकार।

विधवा विवाह और पुनर्विवाह में बहुत ही कम अंतर हैं। विधवा विवाह पति की मृत्यु के उपरांत ही संपादित किया जाता है तथा पुनर्विवाह पति के जीवित रहते हुये भी किया जा सकता है। उपर्युक्त वृतांत से यह स्पष्ट हो जाता है कि नारद पूर्ण रूप से पुनर्विवाह का अधिकार प्रदान करते हैं। पति के जीवित रहते हुये अथवा पति की मृत्यु हो जाने पर स्त्री को अन्य विवाह करने का अधिकार है। परन्तु मनु विधवा का घोर विरोध करते हैं। मनु का सब से बड़ा तर्क विधवा विवाह के विरोध में यह है कि

---

१. "मान्यता" शब्द का प्रयोग यहाँ इसलिए किया गया है कि मनु और याज्ञवल्क्य दोनों पौनर्भव और पुनर्भूः का उल्लेख करते हैं; और पौनर्भव को उसके अधिकार बतलाते हैं; यदि यह अप्रत्यक्ष मान्यता न होती तो "पौनर्भव" के अधिकारों आदि का भी उल्लेख न करते बल्कि वे यह भी कह सकते थे कि वह यह पुत्र अस्पश्य होगा या इसी तरह का कोई और विधान करके उसे इस पद पर न रखते।

न तो विवाह के मंत्रों में और न विवाह की विधि में कहीं विधवा विवाह के विषय में लिखा है।[1] जब विवाह की विधि और मंत्रों में जिनके ही द्वारा विवाह कृत्य संपन्न होता है यह नहीं मिलता है तो फिर इसे किसी भी प्रकार से मान्यता नहीं मिलनी चाहिये। याज्ञवल्क्य के मत से भी विधवा को अन्य विवाह नहीं करना चाहिये।[2] परन्तु मनु के पुनर्भू: के नियम को देखते हुये यह आभास मिलता है कि वे ऐसी विधवा स्त्री को विवाह करने की अनुमति प्रदान करते हैं जो विवाहित मात्र हो अर्थात् जो अक्षत्योनि ही क्योंकि वे अक्षत्योनि का पुनर्भू होने के लिए पुनः विवाह संस्कार किये जाने का विधान करते हैं।[3] परन्तु मनु के इस श्लोक (९।१७५, १७६) का यह अर्थ उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। प्रस्तुत मत को ग्रहण करने में अनेक आपत्तियां हैं। सर्व प्रथम, मनु वाग्दान के पश्चात् तथा सप्तपदी के पूर्व, पति की मृत्यु होने के उपरांत केवल देवर के ही साथ कन्या को विवाहित करने का उपदेश करते हैं। यहाँ पर जिसका विवाह भी पूर्ण नहीं हुआ है (अर्थात् जिसके अक्षत्योनि होने में किंचित् मात्र भी शंका नहीं है) उसके सामने केवल दो ही मार्ग रहते हैं या तो वह पुनर्विवाह न करे या केवल देवर के साथ करे। एक स्थान पर ऐसा विधान करके वे दूसरे स्थान पर विवाह पूर्ण हो जाने के उपरांत अक्षत्योनि स्त्री को बिना किसी प्रतिबंध के पुनर्विवाह का अधिकार

---

१. न विवाहविधावुक्तं विधवावेदनं पुनः।। मनु० ९।६५.

२. मृते जीवति वा पत्यौ या नान्यमुपगच्छति
सेह कीर्तिमवाप्नोति......। या० स्मृति, विवाह प्रकरण ७५.

३. या पत्या वा परित्यक्ता विधवा वा स्वयेच्छया।। ९ । मनु० १७५.
सा चेदक्षत्योनिः स्याद् गतप्रत्यागतापि वा।
पौनर्भवेन भर्त्रा सा पुनः संस्कारमर्हति।। मनु ९। १७६.
तथा.....Manu who disallows the remarriage of a widow (Y–162. IX–65) appears to allow the remarriage in proper form of a virgin widow (IX–176) but will still be held to be a punarbhu. K. V. Rangaswami Aiyangar; 'Social & Political Aspects of Manusmriti, Page 160. तथा नारदस्मृति १२।४७ जाली द्वारा अनूदित तथा P. N. Prabhu, 'Hindu Social Organisation' Page 196.

कैसे दे सकते हैं। विधवा केवल देवर के ही साथ विवाह करे यह एक विशेष नियम है तथा अक्षत्योनि विधवा का पुर्नविवाह होने पर विवाह संस्कार किये जाने का विधान सामान्य नियम की कोटि में आता है। सामान्य नियम और विशेष नियम में विरोध होने पर विशेष नियम को ही मान्यता प्राप्त होती है। विशेष नियम सामान्य नियम के उतने अंश को अवैध कर देता है जिससे कि उसका विरोध है। वहाँ पर विशेष नियम (९।१७) का और सामान्य नियम (९।१७६) के विरोध का सामान्य इस प्रकार से संभव है कि विधवा को पुर्नविवाह का अधिकार नहीं है, परन्तु यदि वह अक्षत्योनि है और पुर्नविवाह संस्कार करती है तो उसे पुनर्भू कहा जायगा। पुनः विवाह संस्कार किया जाना एक शर्त है जिसके पूर्ण न होने पर स्त्री पुनर्भू नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त यह विवाह संस्कार की आवश्यकता विधवा के लिए नहीं कही गयी है, पति की जीविता-वस्था में अक्षतयोनि वाली स्त्री दूसरे के पास जाय तो उसे विवाह संस्कार की आवश्यकता पड़ती है। इसी तरह से यदि वह अन्य के पास जाकर पुनः अपने पति के पास वापिस आ जाती है तो भी विवाह संस्कार की आवश्यकता पड़ेगी और वह पुनर्भू कहलायेगी। विधवा के लिए विवाह संस्कार का विधान नहीं है। उनके लिए तो पहिले कह दिया गया है कि विवाह के मंत्र और विधि में विधवा विवाह का उल्लेख ही नहीं है। अतएव मनु के उक्त श्लोक (९।१७५, १७६) से मिलने वाला आभास आधार-हीन जान पड़ता है।

नियोग

विवाह का प्रमुख उद्देश्य संतानोत्पत्ति था। संतान अपने वंश की शृंखला बनाने वाली होती है। (संतान शब्द का व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी यही अर्थ होता है)। अतएव, विवाह की सफलता संतानोत्पत्ति में ही है। यही कारण है कि निस्संतान विधवा को अपने पति के वंश को अक्षुण्य बनाये रखने के लिए नियोग के द्वारा पुत्रोत्पादन का विधान मिलता है। मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद में नियोग का विधान उपलब्ध होता है। नियोग का उद्देश्य संतानोत्पादन था। अतः इस पद्धति के द्वारा केवल एक ही पुत्र उत्पन्न किया जा सकता है। तीनों ही स्मृतिकार अपुत्रवती विधवा का गुरुजनों की आज्ञानुसार देवर के साथ नियोग किये जाने का विधान करते हैं।[1] मनु तथा याज्ञवल्क्य देवर के अभाव में सपिंड के द्वारा भी नियोग किये जाने का विधान करते हैं। यह कृत्य काम-

---

१. देवराद्वा सपिंडाद्वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया।
प्रजेप्सिताधिगंतव्या संतानस्य परिक्षये।। मनु ९। ५९, ६९.

भावना का सर्वथा त्याग करके, संपूर्ण शरीर को घृताक्त करके तथा मौन धारण करके किया जाता था। केवल एक पुत्र के उत्पन्न होने तक ही यह विधि व्यवहृत होती है; इसके उपरान्त भी यदि कामवश किसी प्रकार का संबंध होता है तो वे पतित तथा गुरु-तल्प के अपराधी होते हैं।[1] मनु लिखते हैं कि कुछ लोगों के मत से द्वितीय पुत्रोत्पादन के लिए भी नियोग की अनुमति है।[2] इससे निवृत हो जाने पर दोनों को ही भाई और बहिन के समान ही परस्पर वर्ताव करना चाहिये। [3]इस प्रकार से जो पुत्र उत्पन्न होते हैं उन्हें "क्षेत्रज" कहा जाता है।

नियोग के उक्त सामान्य नियम को बतलाने के बाद मनु उसे द्विजातियों के द्वारा न किये जाने का आदेश देते हैं।[4] उनके अनुसार द्विजाति, नियोग के लिए किसी को नियुक्त करके सनातन धर्म से च्युत होते हैं। मनु नियोग का एक प्रकार से ऐतिहासिक विवेचन करते हैं। उनके अनुसार वेन नामक राजा ने अपने शासन काल में इस विद्वानों और द्विजातियों से निंदित पशु धर्म को मनुष्यों के लिए भी प्रचलित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप उसने संपूर्ण पृथ्वी को दुर्बलेन्द्रियों (कामी पुरुष तथा स्त्रियों) के द्वारा वर्णसंकर बना दिया। तब से (वेन के शासन काल से) जो व्यक्ति पुत्र की आकांक्षा से पति के मरने पर किसी को नियोजित करता है उसकी सज्जन लोग निंदा करते हैं।[5]

अपुत्रां गुर्वनुज्ञातो देवरः पुत्रकाम्यया।
सपिण्डो वा सगोत्रो वा घृताभ्युक्त ऋतावियात् ।। या० स्मृति, वि० प्रकरण ६८, नारद—१२—८०.

If the husband of a childless woman dies, she shall approach her brother-in-law, through a wish that male issue should be obtained, being authorised to do so by her spiritual parents; Jolly's translation.

१. मनु० ९-६०, ६३; या० स्मृति विवाह प्रकरण ६८, नारद स्मृति १२, ८१.
२. मनु० ९।६१.
३. मनु० ९।६२.
४. मनु० ९।६४.
५. अयं द्विजैर्हि विद्वद्भिः पशुधर्मो विगर्हितः।
मनुष्याणामपि प्रोक्तो वेने राज्यं प्रशासति।। मनु० ९।६६.
स महीमखिलां भुंजन्राजर्षिप्रवरः पुरा।
वर्णानां संकरं चक्रे कामोपहतचेतनः ।। मनु ९ । ६७.

नियोग के प्रचलित होने का यह संक्षिप्त इतिहास यह स्पष्ट कर देता है कि जो सामाजिक प्रथा एक बहुत बड़ी सामाजिक आवश्यकता (पुत्रोत्पादन का कार्य) के ऊपर आधारित होते हुये बहुत कम व्यवहृत होती थी; उसकी पद्धति की दुरूहता साधारण व्यक्ति की सामर्थ्य से बाहर थी। **"तेजोवै घृत"** के सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर घृताक्त होने का तथा वासना आदि से रहित होकर मौन धारण करके यह कृत्य संपादित होता था; इसके लिए बहुत बड़े आत्मबल और चारित्रिक बल की आवश्यकता थी। वेन के समय में आत्म-बल और चारित्रिक बल के अभाव में लोकप्रियता प्राप्त कर, इसने समाज को वर्ण संकर बना दिया था। पुराणों में मिलता है कि वेन को उसके अत्याचारों के कारण राज्य से हटा दिया गया था; तथा उसके बाद वेन पुत्र पृथु राजा बनाये गये थे। इन्होंने समाज को ठीक राह पर लाने का सफल प्रयत्न किया; उनके सदाचरण के ही कारण धरातल का नाम पृथ्वी पड़ा। संभव है, वेन के समय में प्रोत्साहित नियोग प्रथा को भी पृथु ने समाप्त कर दिया हो। मनु भी इसी तथ्य को दृष्टि में रखकर उसे हतोत्साहित करते हैं। जब वेन के समय में ही सामाजिक स्तर का नैतिक पतन चरम सीमा तक पहुंच सकता था तब फिर घोर कलियुग के समय में इस कुप्रथा के कुप्रभाव की सीमा का कोई अनुमान ही नहीं हो सकता है। अतः मनुस्मृति सार्वकालीन होने के कारण भावी समाज को (घोर कलियुग के समाज को) इस कुप्रथा के अभिशाप से बचाने के उद्देश्य से इसे निंदित और हतोत्साहित करती है। कलियुग में मानव में चारित्रिक और आत्मिक बल का एक प्रकार से अभाव ही रहता है, इसलिए ऐसे कार्य को जिसमें इन दोनों (चारित्रिक तथा आत्मिक बल) ही की आवश्यकता रहती है, समाज के लिए अनुप-युक्त बतलाना उचित ही है। इसी तरह का भाव, मनुस्मृति के नियोग विषयक विचारों पर, बृहस्पति स्मृति ने भी प्रकट किया है।[1] वे मनु के नियोग का उल्लेख करने के पश्चात् उसे निंदित कहने के कारण को कलियुगी मानव की शक्तिहीनता ही मानते हैं।

ततः प्रभृति यो मोहात्प्रमीतपतिकां स्त्रियं।
नियोजयत्यपत्यार्थं विगर्हन्ति साधवः।। मनु० ९।६८.

१. तदाह बृहस्पतिः – "उक्तो नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेव तु।
युगक्रमादश यो यं कर्तुम्नयैर्विधानतः।।
तपोज्ञान समायुक्ताः कृतत्रेतायुगे नराः।
द्वापरे च कलौ नृणां शक्तिहानिर्हि निर्मिता।।
अनेकधाः कृताः पुत्रा ऋषिभिश्च पुरातनै।
न शक्यन्तेधुना कर्तुंशक्ति ही नैरिदन्तनैः।। कुल्लूक भट्ट–मनु ९। ६८.

मनु ने इसे एक सामाजिक कुप्रथा के रूप में देखकर ही इसे हटाने का प्रयत्न किया था। वास्तव में यह एक सामाजिक परम्परा मात्र ही थी, क्योंकि इसका वैवाहिक मंत्रों की किसी भी शाखा से समर्थन प्राप्त नहीं हुआ था।[1] इससे भी यही सिद्ध होता है कि यह एक स्वस्थ परम्परा नहीं थी (क्योंकि परम्परा के स्वस्थ होने पर कालांतर में वैधानिक समर्थन भी प्राप्त हो जाता है)। अतएव मनु के लिए यह उचित ही था कि वे इसे निंदित घोषित कर समाप्त करने का प्रयत्न करें।

विवाह संस्कार का उपसंहार पुत्रोत्पत्ति में कहा जा सकता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य बारह प्रकार के पुत्रों का उल्लेख करते हैं,उनके नाम क्रमश: इस प्रकार हैं:

१. औरस
२. क्षेत्रज
३. दत्तक
४. कृत्रिम
५. गूढ़ोत्पन्न
६. अपविद्ध
७. कानीन
८. सहोद
९. क्रीत
१०. पौनर्भव
११. स्वयंदत्त तथा
१२. पारशव।[2]

इन बारह प्रकार के पुत्रों में औरस, क्षेत्रज, दत्तक, कृत्रिम गूढ़ोत्पन्न, अपविद्ध ये छ: प्रकार के पुत्र दायाद (दाय ग्रहण करने के अधिकारी) और बांधव कहलाते हैं (अर्थात ये पितृ धन के भाग को ग्रहण करने के साथ ही साथ श्राद्धादिक कृत्य करने के भी अधिकारी होते हैं; तथा कानीन, सहोद क्रीतक्रीत, पौनर्भव, स्वयंदत्त तथा पारशव ये छ: प्रकार के पुत्र दायाद तो नहीं होते हैं परन्तु बांधव होते हैं, इन्हें पितृ श्राद्धादि करने का अधिकार रहता है।[3] इन बारह प्रकार के पुत्रों का संक्षिप्त परिचय देना अनुचित न होगा।

---

१. नोद्वाहिकेषु मंत्रेषु नियोग: कीर्त्यते क्वचित् ॥ मनु० ९ । ६५.
२. मनुस्मृति ९।१५९, १६०; या० स्मृति, दाय० वि० १२८ से १३२.
३. मनु०, ९।१५९; ना० स्मृति; १३। ४७.

१. **औरस**—अपनी पत्नी से स्वयम् विधिपूर्वक उत्पादित पुत्र औरस कहलाता है। औरस "उर:" से बना है। "उर:" से हृदय अभिप्रेत है। पति और पत्नी एक हृदय होकर जिस पुत्र को उत्पन्न करते हैं उसमें प्रकारांतर से पति की ही उत्पत्ति समझी जाती है। जाया का जायात्व ही इसी में है कि पति उसमें पुनः उत्पन्न होता है।[१] अतएव वह औसर पुत्र कहलाता है। "पुत्रिका" पुत्र को भी औरस पुत्र की कोटि में रख गया है।[२]

२. **क्षेत्रज**—नियोग विधि से उत्पन्न होने वाले क्षेत्रज कहते हैं।

३. **गूढ़ोत्पन्न अथवा गूढ़ज**—पति के घर में प्रच्छन्न रूप से उत्पन्न होने वाला पुत्र गूढ़ज कहता है, इसके विषय में यह नहीं ज्ञात रहता है कि यह किस का पुत्र है, ऐसा पुत्र चाहे किसी से भी उत्पन्न किया गया हो वह पति का गूढ़ज पुत्र समझा जाता है क्योंकि वह उसकी पत्नी से उत्पन्न होता है।

४. **कानीन**—पितृ गृह में अविवाहिता कन्या गुप्त रूप से जिस पुत्र को उत्पन्न करती है वह कानीन कहलाता। याज्ञवल्क्य के अनुसार "कानीन" पुत्र मातामह का समझा जायगा (दाय विभाग की दृष्टि से) मनु का इससे विरोध है, उनके अनुसार कानीन पुत्र कन्या से विवाह करने वाले पति का समझा जायगा। कल्पतरुकार ने ब्रह्मपुराण का उद्धरण देकर मनु का समर्थन किया है। नारदस्मृति भी मनु का ही समथन करती है।[३] वीर मित्रोदय के रचयिता मित्रमिश्र ने इसका अच्छा समाधान निकाला है। उनके अनुसार जिन बचनों में मातामह का पुत्र माना गया है वहाँ यह स्पष्ट है कि उस कन्या का विवाह ही नहीं होता था। वह सर्वदा पितृ गृह में ही रहती थी तथा उसका पुत्र अपने मातामह का पिंड-दाता और रिक्थभागी (सम्पति का उत्तराधिकारी) होता है। नारद भी इसी विधान का उल्लेख करते हैं।[४] परन्तु मनु आदि जहाँ इसे विवाह करने

---

१. जायायास्तद्धि जायँत्वं यदस्यां जायते पुनः। श्रुति।

२. औरसो धर्मपत्नीजस्तत्समः पुत्रिका-सुतः।। या० स्मृति, दा० वि० १२८.

३. या० स्मति, दा० विवाह १२९, कल्पतरु—ब्रह्मपुराण—उदत्तायांतुयोजातः सर्वेणन पितुगृहे। स कानीन सुतस्तस्य यस्मै सा दीयते पुनः।।
कानीनश्च सहोढ़श्च गूढ़ायां यश्च जायते।।
तेषां वौढ़ा पिता ज्ञेयस्ते च भागहराः स्मृताः।। नारदस्मृति १३। १७.

४. मातामहस्य दद्यात् स पिंड रिक्थं हरेत्ततः।। ना० स्मृति १३ । १८.

वाले पति का पुत्र मानते हैं वहाँ उनका अभिप्राय यह है कि वाग्दान के बाद भी जब तक सप्तपदी के द्वारा उस स्त्री में भार्यात्व नहीं आ जाता तब तक उसमें कन्यात्व बना रहता है, अतः इस अवधि के भीतर जो पुत्र उत्पन्न होगा वह कानीन होगा और यह पति का ही समझा जायगा।[१] यह पुत्र पिंडदान का अधिकारी होगा।

५. **पौनर्भव**—स्त्री पुनर्विवाह (इसका वर्णन किया जा चुका है) करके जिस पुत्र को उत्पन्न करती है वह 'पौनर्भव पुत्र" कहलाता है।

६. **दत्तक**—माता अथवा पिता जिस पुत्र को विधिपूर्वक दान के रूप में अन्य को दे दें वह दत्तक पुत्र कहलाता है—इस प्रकार के पुत्रों के उदाहरण आजकल भी उपलब्ध होते हैं।

७. **क्रीत**—माता पिता समान अथवा असमान गुणों वाले जिस पुत्र को खरीदें वह "क्रीत" पुत्र कहलाता है।

८. **कृत्रिम**—जहाँ पर सम्पति का प्रलोभन देकर स्वतंत्र रूप से (बालक के माता पिता के द्वारा नहीं) तुम हमारे पुत्र हो जाओ, यह कहकर सवर्ण को पुत्र बना लेता है वह पुत्र कृत्रिम कहलाता है।

९. **स्वयंदत्त अथवा दत्तात्मा**—जो बालक माता पिता से अकारण ही त्याग दिया जाय और वह स्वयं आकर किसी पुरुष को अपने आपको समर्पित (पुत्र रूप में) कर दें वह उस पुरुष का स्वयंदत्त पुत्र कहलाता है।

१०. **सहोढ़ अथवा सहोढ़ज**—ज्ञातावस्था में अथवा अज्ञातावस्था में जिस गर्भिणी स्त्री से विवाह किया जाता है, उससे उत्पन्न पुत्र विवाहकर्ता का होता है तथा वह सहोढ़ कहलाता है।

११. **अपविद्ध**—माता पिता के द्वारा (अथवा इनमें से किसी एक के द्वारा) जिस पुत्र का परित्याग कर दिया गया हो उसको यदि कोई पुत्र रूप में ग्रहण करे तो वह अपविद्ध पुत्र कहलाता है।

१२. **पारशव**—स्वविवाहिता शूद्रा स्त्री से जिस पुत्र को उत्पन्न किया जाय वह जीवित होते हुये भी मरे के समान होने से "पारशव" पुत्र कहलाता है।[२]

इस प्रकार से पुत्रों के ये बारह प्रकार प्राप्त होते हैं। मनु ने पुत्रिका पुत्र को औरस पुत्र के अंतर्गत करके तथा शूद्र पुत्रा का उल्लेख करके बारह की संख्या पूरी

---

१. मित्र मिश्र, वीरमित्रोदय—व्य० प्र० पृष्ठ ४७५.
२. मनु० ९।१५९ से १७८; या० स्मृति, विवाह १२८ से १३३.

की है, तथा याज्ञवल्क्य पुत्रिका पुत्र को पृथक मानकर, पारशव पुत्र का उल्लेख न करके बारह की संख्या पूर्ति करते हैं। नारद स्मृति भी याज्ञवल्क्य के अनुसार पुत्रों के बारह प्रकार बतलाते हैं।[1] पाराशर स्मृति केवल चार प्रकार के ही पुत्रों का उल्लेख करती है। ये चार प्रकार (१) औरस (२) क्षेत्रज (३) दत्तक तथा (४) कृत्रिम हैं।[2] परस्त्री से उत्पादित पुत्रों के पाराशर दो प्रकार बतलाते हैं—(१) पति के जीवित रहते हुये जो पुत्र उपपति (जार) के द्वारा उत्पन्न हो वह "कुण्ड" कहलाता है तथा (२) पति की मृत्यु के बाद इस प्रकार से उत्पन्न पुत्र "गोलक" कहलाता है।[3] ये पुत्र अपनी माता के पति के ही समझे जाते हैं क्योंकि, जिस प्रकार से कोई बीज वायु से उड़कर किसी के खेत में गिरता है तो उस बीज से उगने वाला वृक्ष उसी क्षेत्रपति का ही समझा जाता है, इसी प्रकार से पुत्र भी पति के क्षेत्र में (स्त्री को क्षेत्र तथा पति को बीज कहा जाता है) होने के कारण उसी का समझा जायगा।[4]

स्त्रियों की स्थिति

विवाह संस्कार तथा गृहस्थाश्रम के वृतान्त को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि स्मृतियों द्वारा स्त्रियों को बहुत अधिक सम्मान प्रदान किया गया है (जिसकी कि वे अधिकारणी हैं)। स्मृतियां इस तथ्य को समझती हैं कि स्त्री और पुरुष दोनों ही एक दूसरे के लिए पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक हैं। चारों ही स्मृतियों में पति और पत्नी का उपमान क्षेत्र और बीज माना गया है। यह उपमान एक बहुत ही बड़े रहस्य को प्रकट करता है, साथ ही साथ स्त्रियों की वास्तविक सामाजिक स्थिति पर भी प्रकाश डालता है। जिस प्रकार से क्षेत्र बीज के अभाव में शक्ति रखते हुये भी निरर्थक सिद्ध

---

१. नारद स्मृति १३। ४५, ५६.

२. औरसः क्षेत्रजश्चैव दत्तः कृतिमकः सुतः।
दद्यान्माता पिता वापि स पुत्रो दत्तको भवेत् ।। पा० स्मृति ४ । २४.

३. तद्वत्परस्त्रियाः पुत्री द्वौ स्मृतौ कुण्डगोलकौ।
पत्यौ जीवति कुण्डः स्यान्मृते भर्तरि गोलकः।। पा० स्मृति, ४। २३.
मनु ने भी यही लिखा है। मनु ३ । १७४.

४. ओघवाताहृतं बीजं यस्य क्षेत्रे प्ररोहति।
क्षेत्री तल्लभते बीजं न बीजी भागमर्हति।। पा० स्मृति, ४। २२.
यही श्लोक मनु में भी उपलब्ध है—मनु ९।५४.
नारद भी यही अभिप्राय व्यक्त करते हैं—नारद स्मृति, १२। ५७.

होता है, तथा बीज क्षेत्र के अभाव में अपने अंदर निहित महती शक्ति को वृक्ष के रूप में प्रतिफलित करने में असमर्थ रहता है, उसी भांति पुरुष और स्त्री भी एक दूसरे के लिए आवश्यक हैं तथा वे अन्योन्याश्रित हैं। अन्योन्याश्रित संबंध में यह प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता है कि कौन किससे अधिक महत्व रखता है क्योंकि दोनों ही का महत्व और स्थिति दूसरे के बिना असंभव है। इस तथ्य को दृष्टि में रख कर ही स्मृतियों में स्त्रियों की स्थिति की विवेचना की गई है। स्मृतियां जहां एक ओर पुरुष को गृहस्वामी का पद प्रदान करती हैं, वहां वे स्त्रियों को गृहस्वामिनी के पद पर अधिष्ठित करती हैं। यह तथ्य पुरुष और स्त्री की समानता को प्रतिपादित करता है। परन्तु इस समानता का यह अर्थ भ्रांतिपूर्ण होगा कि स्त्रियों और पुरुषों में कोई अंतर ही नहीं है। मनुस्मृति आदि के आद्योपांत अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि ये स्मृतियां दोनों में शारीरिक शक्ति, क्षमता तथा मनोवैज्ञानिक स्तर में पर्याप्त असमानता मानती हैं।[1] और इस अंतर को ही पूर्ण करने की दृष्टि से अनेक नियम और विधान हैं। यह अंतर केवल नियमों के ही द्वारा पुरा किया जा सकता है और तभी ये दोनों एक दूसरे के पुरक हो सकते हैं। परन्तु इनमें एक दूसरे को आकर्षित करने की क्षमता भी स्वाभाविक रूप से रहती है। नियमों और विधानों के अभाव में एक दूसरे को आकर्षित करने पर जो संयोग होगा उससे एक दूसरे की अर्धता की पूर्ति कतमपि संभाव्य नहीं है क्योंकि इस प्रकार के आकर्षण में कामाचार का प्राबल्य रहेगा। कामाचार का प्राबल्य ही यह स्पष्ट करता है कि यह आकर्षण पूर्णता की प्राप्ति के लिए न होकर इच्छा की पूर्ति के लिए है। ऐसा होने पर समाज का समाजकत्व समाप्त हो जायगा। समाज को कामाग्नि की इस विभीषिका से परित्राण देने के लिए ही दोनों के ही ऐन्द्रिक दोषों को प्रकाशित कर, उनसे बचने के लिए इंद्रिय निग्रह आदि पर विशेष प्रश्रय प्रदान किया गया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि मनु आदि "काम" को हीन दृष्टि से देखते थे। स्मृतियां काम को एक पुरुषार्थ की दृष्टि से देखती थीं न कि ऐन्द्रियता की दृष्टि से। अतएव इसे ऐन्द्रियता में परिवर्तित न होने देने के लिए इसमें अंकुश लगाना आवश्यक हो गया। इस अंकुश का उदाहरण विवाह के पूर्व पुरुष का ब्रह्मचर्याश्रम के व्रतोपदेश तथा अनन्यपूर्विका से (जिसे किसी

---

१. Manu notes that the two sexes are unequal in strength, stamina and psychology. K.V. Rangaswamy Aiyangar–'Social and Political Aspects of Manusmriti'. Page 162.

प्रकार का दांपत्य जीवन का अनुभव न प्राप्त हुआ हो) विवाह करने के विधान में प्राप्त होता है।

परन्तु स्मृतियों में अनेक ऐसे स्थल उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर आलोचक स्मृतियों द्वारा स्त्रियों को हीन दृष्टि से देखने का दोषारोपण करते हैं। मनु में दो विभिन्न स्थलों पर ऐसे उदाहरण उपलब्ध होते हैं जिनमें उन्होंने स्त्रियों के स्वभाव पर प्रकाश डाला है तथा यही आलोचकों की पृष्ठभूमि बन जाती है। स्त्रियों के स्वभाव पर प्रकाश डालते हुये वे कहते हैं कि स्त्रियों का तो यह स्वभाव ही होता है कि वे पुरुषों को दूषित करें तथा वे विद्वान् अथवा अविद्वान् पुरुष को काम, क्रोध आदि के वशीभूत कर के कुपथ में ले जाने में समर्थ होती हैं।[1] इसलिए विद्वान् को चाहिये कि वह माता, बहिन, पुत्री के साथ निर्जन स्थान में न रहे।[2] क्योंकि इंद्रियां बहुत बलवती होती हैं; ये विद्वान् को भी परवश कर देती हैं। इसे स्त्रियों पर किया गया आक्षेप नहीं कहा जा सकता है। यह एक चेतावनी वासनाजनित आकर्षण के प्रति है। अंतिम श्लोक स्त्रियों के स्वभाव को उतना प्रकट नहीं करता है जितना कि पुरुषों की चल-चित्तता को। इस श्लोक (२। २१५) की अंतिम पंक्ति स्पष्ट रूप से कहती है कि बलवान् इंद्रिय समूह विद्वान् को भी वश में कर लेता है। जब एक विद्वान् के लिए यह शंका हो सकती है कि वह अपनी इंद्रियों पर पूर्ण नियंत्रण न रख सके तब यह आवश्यक हो जाता है कि उसे (तथा विशेषकर अविद्वान् को) ऐसी परिस्थिति से सर्वथा दूर ही रहना चाहिये, जहाँ संयम खोने की संभावना है। इसके अतिरिक्त श्लोक २। २१३ की चेतावनी भी उचित है; स्त्रियों में पुरुष को दूषित करने के स्वभाव का वास्तविक अर्थ यह है कि उनमें (स्त्रियों में) पुरुष को आकृष्ट करने के अनेक साधन स्वभावतः विद्यमान रहते हैं। सौंदर्य की अपेक्षा स्त्रियों में आकर्षण शक्ति अधिक रहती है, इसलिए उस स्वाभाविक आकर्षण के प्रति पुरुष को आकृष्ट होने से बचाने के लिए ही यह चेतावनी दी गई है। अतः यह चेतावनी भी दोनों के अन्योन्याश्रित स्वभाव पर ही आधारित है। इंद्रियों का आकर्षण तो प्रत्येक प्राणी मात्र में है; पशु-पक्षी आदि सभी में। परन्तु पशु पक्षी प्रकृति के अधिक समीप रहने के कारण प्रकृति के अनुसार ही कामाचरण करते हैं। उनके लिए प्रकृति का ही नियंत्रण है। ऋतु विशेष में ही पशु आदि एक दूसरे की ओर आकृष्ट होते हैं।

---

१. स्वभावएष नारीणां नरणामिह दूषणम्।। मनु २ । २१३.
अविद्वांसमलं लोके विद्वांसमपि वा पुनः।
प्रमदा ह्युत्पथनेतुं कामक्रोधवशानुगम्।। मनु २ । २१४.

२. मनु० २। २१५, २१६.

परन्तु मनुष्यों में, प्रकृति इस प्रकार से नियंत्रण नहीं रख पाती है; उसके मुख्य रूप से दो कारण हैं प्रथम तो मनुष्य ही एक ऐसा प्राणी है जो दिन प्रतिदिन प्रकृति से दूर हटता जा रहा है, दूसरे प्रकृति से इस प्रकार दूर हटने के कारण उसमें प्रकृति को समझने की शक्ति लुप्त प्राय हो गई है। इस स्थिति में वह प्रकृति की नियंत्रण शक्ति को समझने में असमर्थ रहता है। इस अभाव की पुति नियमों और विधानों के द्वारा होती है। इनसे मानव को अपने आप पर नियंत्रण रखने की प्रेरणा मिलती है। इसलिए मनु दोनों को ही सावधान करते हैं। इसी भाव को श्लोक ९। १०१ में उन्होंने व्यक्त किया है। वे कहते हैं कि मरण पर्यन्त दोनों का अव्यभिचारी (व्यभिचार का न होना) होना ही संक्षेप में स्त्री और पुरुष का धर्म है।[1] व्यभिचार भी अन्योन्याश्रित ही होता है। अतः दोनों को (स्त्री तथा पुरुष को) व्यभिचार के प्रति सतर्क रहने के लिए मनु चेतावनी देते हैं।

स्त्रियों की स्वतंत्रता के विषय में भी कुछ भ्रांतियां हैं। मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद कहते हैं कि स्त्री की रक्षा कुमारावस्था में पिता, युवावस्था में पति और वृद्धावस्था में पुत्र करते हैं, वह स्वतंत्रता की आकांक्षा न करे।[2] इसी तरह से एक स्थान पर मनु ने कहा कि भार्या, पुत्र और दास ये तीनों "अधन" (धन से रहित) हैं, अतः ये जो भी प्राप्त करते हैं वह उसी का होता है जिसके वे होते हैं।[3] इन दोनों ही उल्लेखों का विश्लेषण कर ने से यह ज्ञात होता है कि तथ्य में और इससे प्राप्त होने वाले आभास में पर्याप्त अंतर है। जहाँ स्त्री-स्वातंत्र्य के विरोध का आभास मिलता है वहाँ यथार्थ में यह बतलाया गया है कि स्त्री की विभिन्न अवस्थाओं में कौन उनका भरण-पोषण करेगा। स्मृतियों के सामने स्त्रियों के समानाधिकार वाला आधुनिक चित्र नहीं था। उनके सामने स्त्रियों का गृहिणी वाला चित्र था। घर की संपूर्ण व्यवस्था को ठीक रखना उनका काम था तथा पुरुषों का उस व्यवस्था को ठीक रखने के लिए धनापार्जन करना

---

१. अन्योन्यस्याव्यभिचारो भवेदामरणांतिकः।
एष धर्मः समासेन ज्ञेयः स्त्री पुंसयोः परः।। मनु० ९ । १०१.

२. पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्री स्वातंत्र्यमर्हति।। मनु० ९ । ३.
रक्षेत्कन्यां पिता विन्नां पतिः पुत्रास्तु वार्धके। या० स्मृति, वि० प्र० ८५.
तथा नारद स्मृति १३—३०.

३. भार्या पुत्रश्च दासश्च त्रय एवाधनाः स्मृताः।
यत्ते समधिगच्छति यस्य ते तस्य तद्धनम्।। मनु० ९ । ४१६.

था। उस समय स्त्रियां न तो धनोपार्जन ही करतीं थीं और न आजकल के समान उनके सामने सार्वजनिक जीवन ही था। धनोपार्जन न करने पर यह आवश्यक हो जाता था कि उनकी विभिन्न अवस्था में वे किसी न किसी के संरक्षण में रहें। इसी संरक्षणत्व का विधान मनु आदि ने किया है। इसी तरह से, भार्या को "अधना" कहने का तात्पर्य स्त्री के अधिकार की सीमा बतलाना है वह पारिवारिक संपत्ति को बिना पति के समर्थन से न बेचे इसलिये ऐसा कहा गया है। श्री आयंगर महोदय ने भी इसका उचित ही अर्थ लिया है।[1]

स्त्रियों की स्वतंत्रता की व्यापकता मनु के ९। ११ से स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है। मनु कहते हैं कि स्त्रियों को धन के संग्रह तथा व्यय, शुद्धि (वस्तु तथा पदार्थ आदि की शुद्धि) धर्म कार्य, अन्नपाक आदि के लिए नियोजित करे।[2] इससे स्पष्ट हो जाता है कि स्त्रियों को कितनी स्वतंत्रता प्राप्त थी। यह स्वतंत्रता तथा गृह को व्यवस्थित रखने का अधिकार उसे सामान्य स्त्री की श्रेणी से उठाकर गृहिणी बना देता है। स्वतंत्रता के इस स्वरूप को देखते हुए कोई भी यह नहीं कह सकता है कि स्त्रियां दासी के समान थीं, तथा उनके व्यक्तित्व का कोई भी महत्व नहीं था। अन्य स्मृतियों की अपेक्षा नारदस्मृति स्त्रियों को अनेक ऐसे अधिकार प्रदान करती है जिन्हें आधुनिक युग में भी स्त्रियां प्राप्त नहीं कर सकी हैं। नारद पुनर्विवाह तथा मोक्ष (विवाह-बंधन से पुनर्विवाह के लिए मुक्ति) के अधिकारों में बहुत ही अधिक उदारता दिखलाते हैं।[3] वैधानिक अधिकारों

---

१. Correctly interpreted neither supports the view. The first is merely a limitation of a women's freedom to dispose of family property, without the sanction of her husband. The second is only an enunciation of the duty cast on the father, the husband and the son to protect (and maintain) her. R. V. Rangaswami Aiyangar; 'Social & political Aspects of Manusmriti' and also 'The idea of perpetual tutelage is a myth.' Ibid' Page 164.

२. अर्थस्य संग्रहे चैनां व्यये चैनां नियोजयेत्।
शौचे धर्मेऽन्नपक्त्यां च पारिणाह्यस्य च वेक्षणे॥ मनु० ९। ११.

३. पूर्व पृष्ठों में इसकी विस्तृत विवेचना हो चुकी है।

में भी स्मृतिकारों ने स्त्रियों के साथ निष्पक्षता का ही व्यवहार रखा है। मनु तथा याज्ञवल्क्य दाय भाग के नियमों को बतलाते समय सर्वप्रथम यह कहते हैं कि पुत्र, माता पिता की मृत्यु हो जाने पर आपस में दाय विभाग करे, क्योंकि उनको जीवितावस्था में वे उनकी संपति नहीं ले सकते।[१] अर्थात् विधवा माता के जीवित रहते हुये उसके पुत्र सम्पति में बटवारा नहीं कर सकते। स्त्री का 'स्त्री धन" पर पूर्ण अधिकार होता है, तथा मातृधन पर पुत्री का अधिकार रहता है।[२] नारद स्मृति माता को भी स्वाभाविक संरक्षक की कोटि में रखती है। इन उदाहरणों तथा और अनेक उपलब्ध उदाहरणों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्मृतियों ने स्त्रियों को निष्पक्ष होकर अधिकार प्रदान किया है। स्वतंत्रता तथा अधिकार की दृष्टि से स्मृतियों का व्यवहार स्त्रियों के प्रति अच्छा था।

किसी भी समाज के सांस्कृतिक उत्कर्ष का मूल्यांकन, उस समाज में प्राप्त स्त्रियों के सम्मान के ही ऊपर आधारित रहता है। इस दृष्टि से स्मृतियां स्त्रियों को बहुत अधिक सम्मान प्रदान कर भारतीय संस्कृति की समृद्धि कर परिचय देती हैं। कौन किससे अधिक गौरवशाली है इसको बतलाते हुये मनु कहते हैं कि दस उपध्यायों की अपेक्षा आचार्य, सौ आचार्यों की अपेक्षा पिता तथा सहस्त्र पिताओं की अपेक्षा माता अधिक गौरवशालिनी है।[३] निःसंदेह स्त्री का सम्मान तथा गौरवशाली स्थान सहस्त्रों पिताओं की अपेक्षा अधिक है। माता को त्यागना पाप और अपराध दोनों ही समझा जाता था।[४] चाहे वह पतित ही क्यों न हो[५] स्त्री के मातृस्वरूप को देव कोटि में रखा गया है। समस्त मानवीय सम्मान प्रदान करने पर भी जब यह समझा गया कि अब भी उसके सम्मान में कुछ त्रुटि रह गयी है तब उसे मातृदेव" कह कर संबोधित किया

---

१. ऊर्ध्वं पितुश्च मातुश्च समेत्य भ्रातरः समम्।
भजेरन्पैत्रिकं रिक्थमनीशास्ते हि जीवतो : ।।मनु० ९ । १०४.
विभजेरन्सुताः पित्रोरूर्ध्वं रिक्थमृणं समम्।। या० स्मृति, दा० वि० ११७.

२. मातुर्दुहितरः शेषमृणात्।। या० स्मृति, दा० वि० ११७. नारदस्मृ० ।

३. उपाध्यायानां दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता।
सहस्त्रं तु पितॄन माता गौरवेणातिरिच्यते। मनु० २। १४५.

४. न माता न पिता न स्त्री न पुत्रस्त्यागमार्हति।
त्यजन्नपतितानेतान् राज्ञा दंड्यः शतानि षट्।। मनु ८। ३८९.

५. मनु ११ । ६०.

गया। इसी प्रकार उसके भार्या तथा गृहिणी स्वरूप को भी इस स्थिति में रख दिया गया है कि सभी देवताओं की प्रसन्नता का आधार स्त्रियों की पूजनीयता ही हो जाती है।[1] इस सम्मान के अभाव में सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं। इसीलिये उन्नति चाहने वाले को संस्कार तथा उत्सव आदि के अवसरों पर सदा वस्त्र, अलंकार, आभूषणादि से इनको पूजित करते रहना चाहिये। यह सम्मान न केवल पति के ही द्वारा प्राप्त होता था बल्कि बन्धु-बांधव, पिता, श्वसुर आदि जितने भी संबंधी हों अथवा सभी पुरुषों को स्त्रियों का इस प्रकार का सम्मान करना चाहिये।[2] इस सम्मान से निश्चय ही स्त्रियां प्रसन्न चित्त ही रहेंगी और उनकी अप्रसन्नता तथा असंतुष्टि का भय न रहेगा। स्त्रियों के अप्रसन्न रह कर शाप दे देने से संपूर्ण कुल कृत्या से पीड़ित किये जाने के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। परन्तु पति पत्नी एक दूसरे से संतुष्ट रहें तो प्रसन्नता, समृद्धि तथा कल्याण की प्राप्ति अवश्यंभावी हो जायगी।[3] इस प्रकार के सम्मान का क्या कारण था? याज्ञवल्क्य इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—"सोम देवता ने स्त्रियों को पवित्रता, गंधर्वों ने शुभवाणी तथा अग्नि ने सब प्रकार से पवित्र होने की शक्ति प्रदान की है इसीलिए वे पवित्र हैं।[4] वसिष्ठ स्मृति ने स्त्रियों को सर्वतः पवित्र कहा है। अश्व, गाय तथा ब्राह्मण तो क्रमशः मुख, पृष्ठ तथा पाद से पवित्र हैं परन्तु स्त्रियां सर्वतः पवित्र हैं। यह स्त्रियों को पवित्रता की मूर्ति बना देता है। इस पवित्रता में कालुष्य का अभाव रहेगा

---

१. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।
   यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।। मनु ३, ५६.

२. तस्मादेताः सदापूज्या भूषणाच्छादनाशनैः।
   भूतिकामैर्नित्यं संस्कारेषूत्सवेषु च।। मनु ३, ५९.
   भर्तृभ्रातृपितृज्ञाति श्वसुर देवरैः।।
   बंधुभिश्च स्त्रियः भूषणाच्छादनाशनैः।। या० स्मृति, वि० प्र० ८२.

३. ज्ञातयो यानि गेहानि शयन्त्यप्रति जिताः।
   तानि कृत्याहताजीवन विनश्यन्ति समन्ततः।। मनु ३। ५०.
   यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम्।। मनु ३। ६०.

४. सोमः शौचं ददावासां गन्धर्वश्च शुभां गिरम्।
   पावकः सर्वमेध्यत्वं मेध्या वै योषितो ह्यतः।। या स्मृति, वि० प्र० ७९.
   अजाश्वा मुखतो मेध्या गावो मेध्यास्तु पृष्ठतः।
   ब्राह्मणाः पादतो वेध्याः स्त्रियो मेध्यास्तु सर्वतः।। वसिष्ठ स्मृ०, अ० २८.
   नित्यमास्यं शुचि स्त्रीणाम।। मनु ५। १३०.

और यह अभाव ही देवत्व है। इस प्रकार से प्राप्त देवत्व ही स्त्रियों को पूर्ण सम्मान की अधिकारिणी बना देता है। स्त्रियों के इस प्रकार के सम्मान को देख कर कोई समालोचक इसे कोरा आदर्शवाद कह सकता है परन्तु यह तथ्यहीन उक्ति होगी। स्त्रियों के प्रति स्मृतियों द्वारा प्रदत्त यह सम्मान और देवत्व कोरा आदर्शवाद नहीं है। आदर्श की यह भित्ति यथार्थ की ही पृष्ठभूमि पर आधारित है। स्त्री का यह देवत्व उससे यह आशा करता है कि वह कौमार्यावस्था की परिसमाप्ति पर अपने को भार्यात्व अथवा पत्नीत्व में परिणत कर दे; पत्नीत्व अथवा भार्यात्व की प्राप्ति वह जायात्व के लिए करती है, जायात्व में ही उसका मातृत्व निहित है। और इसी अवसर में वह अपना गृहिणीत्व का परिचय प्रदान करती है। उसके "गृहिणीत्व" पद की सफलता गृह कार्य को चतुरता तथा दक्षता पूर्वक करने में, व्ययशील न होने में तथा पति को देव जान कर उसकी सेवा में तत्पर रहने में है। वह स्वयं देवत्व की मूर्ति है परन्तु वह अपने देवत्व को घर को वास्तविकता के साथ ओत-प्रोत कर देती है। अपने में देवत्व रखते हुये भी वह कभी भी उसे (देवत्व को) मौखिक प्रकाशन नहीं देती है। स्त्री का देवत्व पति को देव मानकर उसकी अर्चना और परिचर्या करने में ही प्रस्फुटित होता है।[1] स्त्री का देवत्व भूमि पर ही स्थित है; गृह की सीमा ही उसके देवत्व-प्राप्ति का स्रोत है।

स्मृतियों ने स्त्रियों के सम्मान को चरम सीमा तक पहुंचा दिया है। यह इस तथ्य पर प्रकाश डालता है कि स्मृतियों के काल में भारतीय संस्कृति कितनी उर्वर थी। उस समय के भारतीयों का नैतिक, आत्मिक तथा बौद्धिक स्तर कितना उच्च था? निसंदेह, स्मृतियों ने भारत की सामाजिक दशा का जो चित्रण प्रस्तुत किया है वह सर्वकालीन गौरव का महत्वपूर्ण कारण सिद्ध होगा।

---

१. पति को देव मान कर उसके अनुकूल चलना स्त्रियों के लिए परमधर्म कहा गया है; यही उनका पातिव्रत धर्म है। इसी कारण उसे (स्त्री को) पति की आज्ञा के बिना व्रत, उपवास आदि न करने का विधान है क्योंकि व्रत और उपवासादि से आध्यात्मिक जगत् का देव तो प्रसन्न हो जायगा परन्तु इस भौतिक जगत् का देव (उसका पति) उसके उपवास और व्रताचरण के नियमों के कारण अपनी पत्नी का पूर्ण मनोयोग न प्राप्त करने से अप्रसन्न होगा। इसीलिए स्त्री की निष्कृति (मुक्ति) पति के देवत्व की आराधना से समझी गई है।

पंचम अध्याय

राजा

स्मृतियों को धर्मशास्त्र कहा गया है। धर्मशास्त्र होने के कारण ही स्मृतियों का प्रतिपाद्य विषय धर्म हो जाता है। परन्तु धर्म शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थ में नहीं किया गया है। प्रारंभ में धर्म के संबंध में यह कहा गया था कि वह प्रत्येक वस्तु की धारणा शक्ति है अतएव जिन गुणों के कारण वस्तु का स्वरूप अविच्छिन्न बना रहता है वे ही गुण उस वस्तु के धर्म कहे जाते हैं। यह सिद्धान्त जड़ और चेतन सभी के लिये चरितार्थ होता है। यह ज्ञातव्य है कि मनुष्य बनाये रखने वाले गुण मानव धर्म कहे जायेंगे; तथा मनुष्यों में जो व्यक्ति किसी विशेष प्रकार के उत्तरदायित्व से युक्त होगा उसका धर्म भी सामान्य मनुष्यों से भिन्न ही होगा। यह अधिकार धर्म है। अतः मनुष्यों में जो व्यक्ति राजा होगा उसका धर्म भी उन साधारण से भिन्न होगा। स्मृतियाँ राजा और राज्य को उसके इसी धर्म के स्वरूप में चित्रित करती हैं; तथा उसके इसी धर्म को निरूपित करने के लिये इन स्मृतियों ने "राज धर्म" शब्द का प्रयोग किया है। राजा तथा उसके धर्म से संबंधित नियमों को "राज धर्म" की संज्ञा प्रदान करके वर्णित करने का यही एक मात्र अभिप्राय है। इसीलिए स्मृतियाँ धर्म प्रधान होते हुए "राज धर्म" के सिद्धान्तों का विस्तार के साथ उल्लेख करती हैं। परन्तु भिन्न-भिन्न दृष्टि—निक्षेप के अंतर के कारण, इन स्मृतियों में किसी में अधिक विस्तार तथा किसी में संकेत मात्र ही मिलता है। प्रस्तुत चार स्मृतियों में मनु और याज्ञवल्क्य अपेक्षाकृत कुछ विस्तार से राजधर्म को चित्रित करते हैं; इसमें भी मनु का विषय विवेचन अधिक विस्तृत है। पाराशर में बहुत कम है। नारद स्मृति में कुछ अधिक विस्तार मिलता है परन्तु यह मनु तथा याज्ञवल्क्य से कम ही है। प्रस्तुत निबंध के इस भाग का प्रतिपाद्य विषय इन्हीं स्मृतियों में प्राप्त होने वाले राजधर्म के सिद्धान्तों की विवेचना करना है।

स्मृतियाँ मनुष्य का अंतिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति बतलाती है। इस अंतिम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए धर्म, अर्थ तथा काम ये तीन साधन माने गये हैं। इन तीनों का अपना अलग महत्व होते हुये भी अन्योन्याश्रित स्वरूप है। तथा मनुष्य के अन्य आनुषंगिक प्रयत्न, चाहे वे इन तीनों में से किसी एक साधन के ऊपर आधारित हों अथवा इन तीनों

पर ही आधारित हों, उसकी अंतिम लक्ष्य की सिद्धि में सहायक कहे जा सकते हैं। मनुष्यों के इन्हीं प्रयत्नों का परिणाम राज्य है। अतः राज्य भी चतुर्वर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति के लिए एक आवश्यक और महत्वपूर्ण साधन है। स्मृतियाँ राज्य के इस महत्व को दृष्टि में रखकर ही उसके विभिन्न अंगों के कर्तव्यों तथा उनके महत्व को निर्धारित करती हैं। राज्य की उत्पत्ति के विषय में केवल मनु को छोड़कर अन्य तीन स्मृतियाँ मौन ही हैं। मनु ने भी इस विषय में उतना ही प्रकाश डाला है जितने से अन्य विभिन्न अंगों के कर्तव्यों तथा उनके महत्व को समझने में कोई सैद्धान्तिक व्यवधान न उपस्थित हो।

यह उल्लेखनीय है कि मनु राज्य की उत्पत्ति को एक अति प्राचीन सिद्धांत के ऊपर आधारित करते हैं। मनुस्मृति ने राज्य की उत्पत्ति को केवल दैवी माना है। परन्तु इस सिद्धान्त के अतिरिक्त, अन्य सिद्धान्त भी प्राचीन भारत में प्रचलित थे। उदाहरण के लिये बुद्ध के अनुयायियों ने समझौते के द्वारा राज्य की उत्पत्ति को मानकर जनता की प्रभुता के सिद्धान्त का समर्थन किया है।[1] महाभारत के शांति पर्व में भीष्म ने राज्य की उत्पत्ति को दैवी मानते हुये भी समझौते पर आधारित बतलाया था। परन्तु मनु राज्य की उत्पत्ति के अनेक सिद्धान्तों की अनेकरूपता के प्रश्न से राज्य की दैवी उत्पत्ति के ही सिद्धान्त को अपनाकर सहज ही में निवृत्त हो जाते हैं।[2] मनुस्मृति के अनुसार राजा की सृष्टि ईश्वर के द्वारा हुई है। ईश्वर ने जब देखा कि लोक में बिना राजा के सर्वतः भय और उपद्रव हो रहा है, तब लोक की रक्षा के लिए राजा का सृजन किया गया।[3] इस प्रकार से मनु स्पष्ट रूप से राजा की सृष्टि दैवी मानते हैं। मनु राजा की उत्पत्ति के प्रसंग में ही कहते हैं कि इसकी सृष्टि इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, वरुण, चन्द्र तथा कुबेर के सार अंश से हुई है।[4] जिन देवताओं के सारांश से राजा की सृष्टि हुई है उन्हें लोकपाल कहा जाता है। अतएव लोकपालों के सारांश से निर्मित होने पर वह (राजा) अपने में सभी लोकपालों के गुणों को समाविष्ट करेगा। उपयुक्त देवताओं के लोकपाल अथवा दिक्पाल कहे जाने का कारण यह है कि ये विभिन्न दिशाओं के रक्षक (पालक) के रूप में हैं। अतएव यह उचित ही है कि राजा जो कि पृथ्वी में सभी दिशाओं में शांति

---

१. U. N. Ghoshal : Hindu Politcal Theories, P. 67.

२. K. V. R. Aiyangar. Social & Political Aspects of Manusmriti; Page 174.

३. मनु ७–३

४. इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च ।
चंद्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निर्हृत्य शाश्वतीः ।। मनु ७–४.

और व्यवस्था रखने का उत्तरदायित्व रखता है, इन्हीं लोकपालों का अंश भूत हो। साधारण प्राणी में और राजा में उसकी सृष्टि की विभिन्नता के कारण ही अधिक तेज रहता है।[1] नारदस्मृति राजा को देवत्व तो प्रदान अवश्य करती है परन्तु उसकी दैवी सृष्टि के विषय में एक प्रकार से मौन ही है। इस प्रसंग में नारद केवल इतना ही कहते हैं कि राजा ने जन साधारण पर अपने अनुराग के ही द्वारा प्रभुता प्राप्त की, अतएव उसकी शक्ति असीमित है?[2] अवश्य ही नारद के इन विचारों में दैवी उत्पत्ति पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है; परन्तु उसके दैवी स्वरूप पर नारद ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। नारद ने भी अग्नि, इन्द्र आदि से राजा की तुलना करने के उपरांत उसमें देवत्व स्थापित किया है।[3] परन्तु वह उसके कर्तव्यों तथा उसके अनुशासन प्राप्ति के अधिकारों के प्रसंग में है। याज्ञवल्क्य तथा पाराशर राजा की सृष्टि के संबंध में किसी प्रकार के सिद्धान्त प्रस्तुत नहीं करते हैं। चारों स्मृतियों में केवल मनु ही इस सिद्धान्त को पूर्णरूप से चित्रित करते हैं। मनु के द्वारा निरूपित राजा की दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त अति प्राचीन है। मनुस्मृति के आधारभूत वेदों में भी इस दैवी सिद्धान्त के कतिपय उदाहरण प्राप्त होते हैं।

राजा की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त की प्राचीनता—यह ज्ञातव्य है कि मनु ने वेदों के आधार पर तो स्मृति का निर्माण किया ही, साथ ही साथ वेदों की शैली का भी अनुकरण किया है। इसी कारण ग्रन्थ के प्रारंभ में ही स्वयंभू भगवान् का प्रादुर्भाव तथा उसके द्वारा प्रथम अप् (जल) की सृष्टि फिर उसमें बीज डालकर सर्वलोक पितामह ब्रह्मा का जन्म बताया गया है। ऋग्वेद में इन्हीं ब्रह्मा जी को समस्त पृथ्वी का एक मात्र पति कहा गया है, तथा इनके राजा होने का भी उल्लेख मिलता है।[4] इसके अतिरिक्त वरुण, इंद्र आदि के लिए भी राजा, सम्राट्, नृपाता

---

१. मनु ७–५.

२. It is through devotion that kings have acquired dominion over subjects, therefore kings are absolute rulers; the subjects of the king must obey his commandments, and they derive substance from him. Narad, Jolly's translation, Page 113. Verse 25.

३. Ibid, Page 113. 114. 115.

४. हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
यः प्राणतो निभिषितो महित्वेक इद् राजा बभूव ॥ ऋग्वेद–१०–१२१.

आदि शब्दों का उल्लेख अनेक स्थानों में मिलता है।[१] इसी प्रकार का उल्लेख ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। उदाहरण के लिए तैत्तिरीय ब्राह्मण में मिलता है कि इंद्र प्रजापति (ब्रह्मा) के द्वारा ही देवताओं के अधिपति बनाये गये।[२] राजा की दैवी उत्पत्ति के प्रसंग में तो उतना उपलब्ध नहीं होता है जितना कि उसके दैवी स्वरूप के विषय में होता है। मनुस्मृतियों में राजा की दैवी उत्पत्ति के साथ ही साथ राज्य के सावयव स्वरूप का भी सिद्धान्त प्राप्त होता है। याज्ञवल्क्य तथा नारद भी राज्य के सावयव स्वरूप की कल्पना प्रस्तुत करते हैं।

तीनों ही स्मृतियों में राज्य की सात प्रकृतियों अथवा सात अंगों का वर्णन मिलता है। मनु के अनुसार राज्य के सात अंग—स्वामी, आमात्य, पुर, राष्ट्र, कोष, दंड, तथा मित्र हैं?।[३] याज्ञवल्क्य का सप्तांग वर्णन मनु के ही समान है, परन्तु उन्होंने "पुर" तथा राष्ट्र के स्थान पर "जन" तथा "दुर्ग" का उल्लेख किया है।[४] नारद स्मृति केवल यह बताती है कि राज्य के सात अंग होते हैं, उसमें विभिन्न अंगों का उल्लेख नहीं मिलता है।[५] मनु तथा याज्ञवल्क्य में प्राप्त होने वाला अंतर कोई विशेष महत्व का नहीं है। मनु के अनुसार बताया गया पुर नामक अंग राजधानी का द्योतक है तथा "राष्ट्र' संपूर्ण देश के लिये प्रयुक्त हुआ है। इन दोनों को अलग अलग अंग के रूप में बतलाने के स्थान पर याज्ञवल्क्य ने "जन" नामक अंग के ही अंतर्गत रख कर "दुर्ग" को अपनी सूची में रख कर एक अन्य अंग का उल्लेख किया है। परन्तु मनु ने दुर्ग को सप्तांग की सूची में अलग स्थान न देते हुये भी उसके ऊपर पर्याप्त विचार किया है, अतएव यह कहा जा सकता है कि दोनों का ही अंतिम (सैद्धान्तिक) निष्कर्ष एक ही हो

---

१. ऋग्वेद—१–३२, १५, १–५१, १५, १–१७४, १० आदि। यह प्रसंग इंद्र वरुण आदि को राजा आदि शब्द से अभिहित अवश्य करता है परन्तु उनके दैवी उत्पत्ति को स्पष्ट नहीं करता है, परन्तु इनके स्वयं देवता होने से यह दैवी कहा जा सकता है।

२. प्रजापतिरिन्द्रमसृजतानुजावरं देवानाम् ।
अतो वै इन्द्रो देवानामधिपतिरभवत् ।। तै० ब्रा० १०–२.

३. स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदंडौ सुहृत्तथा ।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्तांगं राज्यमुच्यते ।। मनु ९–२९४.

४. स्वाम्यमात्यौ जनो दुर्ग कोशो दंडस्तथैव च ।
मित्राण्येताः प्रकृतयो राज्यं सप्तांगमुच्यते ।। या० स्मृति, १–३५३.

५. नारद—अ० १७ (१८) श्लोक २ जाली द्वारा अनुदित।

जाता है। स्मृतियों में प्राप्त होने वाले ये सात अंत अपने महत्व के ही अनुसार क्रमशः सूचित किये गये हैं। यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि ये सातों प्रकृतियाँ जिस क्रम से रखी गई हैं उसके अनुसार पहले वाला अंग बाद वाले अंग से अधिक महत्व रखता है। अर्थात् इनके महत्व की दृष्टि से ही आपत्ति आदि के अवसर पर इनकी रक्षा की जानी चाहिये। ये सातों अंग कार्य-विशिष्टता के सिद्धान्त पर आधारित हैं। मनु के अनुसार जो अंग जिस कार्य को करता है वह उसमें विशिष्ट समझा जाता है। उस अंग की अपनी इस विशिष्टता के ही कारण कोई अन्य अंग उस कार्य को करने में अशक्त रहता है। इसी कारण अपने स्थान पर सबका समान महत्व है, परन्तु सामूहिक दृष्टि से नहीं। सामूहिक दृष्टि से तो इन प्रकृतियों (अथवा अंगों) में पूर की अपेक्षा पूर्व अधिक महत्वपूर्ण है अर्थात् अमात्यादि अंग की अपेक्षा स्वामी (राजा) का अधिक महत्व है। इस प्रकार से इन अंगों के महत्व का मूल्यांकन दो प्रकार से संभव हो जाता है। प्रथम तो इनके अपने विभाग के कार्य की दृष्टि से तथा दूसरे सभी विभागों के सामूहिक सावयव स्वरूप की दृष्टि से। प्रथम स्वरूप में ये अपना महत्व रखती हैं तथा दूसरे में इनका महत्व सूची के क्रम के अनुसार है।[1] परन्तु अपने-अपने स्थान पर रहने पर इन अंगों में कोई भी अंग एक दूसरे से न्यून नहीं है; ये सभी अन्योन्याश्रित हैं अतः सामान महत्व के हैं। अन्योन्याश्रित होने के ही कारण यह आवश्यक होता है कि ये अलग-अलग होते हुये भी एक दूसरे से संबद्ध रहें। मनु इसी भाव को एक रूपक के द्वारा व्यक्त करते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार तीन दंड एक दूसरे के सहारे से खड़े रह सकते हैं उसी प्रकार राज्य के सातों अंग एक दूसरे से संबद्ध रह कर ही खड़े रह सकते हैं; अन्यथा नहीं। तथा जिस प्रकार तीनों दंडों का ही सामान महत्व रहता है उसी प्रकार राज्य के सात अंगों का समान महत्व रहता है।[2] राज्य की ये सात प्रकृतियाँ अपने उपर्युक्त महत्व के कारण उसे (राज्य को) सावयव स्वरूप प्रदान कर देती हैं।

स्मृतियों के अतिरिक्त राजशास्त्र से संबंधित, प्राचीन ग्रन्थों में भी राज्य का उपर्युक्त सावयव सिद्धान्त उपलब्ध होता है। महाभारत के शांति पर्व में राज्य के

---

१. तेषु तेषुतुकृत्येषु तत्तदंगं विशिष्यते
येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते। मनु ९,२९७.
तथा कुल्लूक भट्ट की इसी श्लोक पर टीका;
तथा, पूर्वं पूर्वं गुरुतरं जानीयाद्व्यसनं महत्॥ मनु ९, २९५.

२. सप्तांगस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदंडवत्।
अन्योन्यगुणवैशेष्यान्न किंचिदतिरिच्यते॥ मनु ९, २९६.

सप्तांग स्वरूप को इस प्रकार बताया गया है—आत्मा, अमात्य, कोष, दंड, मित्र, जनपद तथा पुर।[1] यहाँ पर राजा को राज्य की आत्मा मानकर ही सप्तांग की सूची में "आत्मा" शब्द की संज्ञा दी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने भी स्वामी, अमात्य, पुर, राष्ट्र, जनपद, दुर्ग, कोष, दंड तथा मित्र को राज्य की सात प्रकृतियाँ माना है।[2] अपेक्षाकृत बाद को ग्रन्थ शुक्रनीतिसार में भी स्वामी, अमात्य, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग तथा बल के रूप में राज्य की प्रकृतियों को बताया गया है।[3] इन सब उदाहरणों से यह निष्कर्ष निकलता है कि प्राचीन भारत में राज्य के सावयव स्वरूप को बहुत अधिक महत्व प्रदान किया गया था तथा यह एक मान्यता प्राप्त सिद्धान्त था। राज्य के सावयव स्वरूप का सिद्धान्त भारतीय मनीषियों की उर्वरता का परिचायक है।[4] राज्य की स्थिति तथा उसकी समृद्धि इसी सिद्धान्त पर आधारित थी। इन अंगों में से किसी भी एक की विकृति का प्रभाव संपूर्ण राज्य पर पड़ता था अतएव स्वस्थ राज्य के लिए यह आवश्यक था कि इनमें विकार अथवा व्यतिक्रम न होने पावे।

स्मृतियों में प्रतिपादित राज्य का सावयव स्वरूप अति प्राचीन था। प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में (स्मृतियों के पूर्व) भी यह स्वरूप प्राप्त होता है। श्री जायसवाल

---

१. आत्मामात्यश्च कोशश्च दंडो मित्राणि चैव हि।
तथा जनपदाश्चैव परं.........
एतत्सप्तात्मकम् राज्यं....महाभारत, शान्ति पर्व ६५.

२. स्वाम्यामात्य सुहृत्कोशदंडमित्राणि प्रकृतयः ।। अर्थशास्त्र

३. स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानिच सप्तांगमुच्यते राज्यं ।।
शुक्रनीति अ० श्लोक ६.

४. Seven limbs of the kingdom, 'The idea is a unique discovery of the Indian mind and is common to both Dharmashastra and Arthashastra. The seven constituents are–King, Ministers, Capital, Country, Treasury, Armed forces and Ally, and each preceding one is held to be more important than those which follow it and its destruction a greater calamity–K. V. R. Aiyangar: 'Social & Political Aspects of Manusmriti,' Page 174.

के अनुसार वैदिक राजतंत्र में यह सावयव स्वरूप विद्यमान था।[1] स्मृतियों के पूर्व भी राज्य राज्य के स्वरूप की कल्पना सावयववादी थी।[2] श्री अंजारिया महोदय के अनुसार यह सावयव का सिद्धान्त अधूरा ही है। उनके अनुसार सावयव सिद्धान्त की सबसे बड़ी त्रुटि नैतिक सावयव का अभाव था। उनके अनुसार भारतीय मनीषियों ने राज्य को नैतिकता के क्षेत्र में सावयव स्वरूप नहीं प्रदान किया था क्योंकि उन्होंने समाज के एक भाग को स्थायी रूप से हीन पद प्रदान कर दिया था, यह अंतर केवल जन्म के ही आधार पर था; तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता और राज्य के अधिकार में किसी भी प्रकार समन्वय नहीं था।[3] श्री अंजारिया महोदय का यह विचार युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता है (विशेषकर स्मृतियों के प्रसंग में)। राज्य के लिए सातों अंग स्पष्ट रूप से चित्रित थे (राज्य के अंगों के आपस के संबंध की स्थिति तीन दंडों के समान है कहकर स्मृतियाँ इसी तथ्य पर प्रकाश डालती हैं)। ये सात अंग राज्य रूपी शरीर के अंग हैं। इनकी अलग-अलग महत्ता है—इसको मनु तथा याज्ञवल्क्य दोनों ही स्वीकार करते हैं। अतएव राज्य के

---

१. "The idea of the state as an organism was realised as early as the Vadic kingship." K. P. Jayaswal—Hindu Polity. Part II Page 9.

२. Bhandarkar 'Some Aspects of Ancient Indian Polity' P. 66, 68. B. K. Sarkar, Positive background of Hindu Sociology' Part II Page 34–39.

३. We see thus that the conception of the state as a moral organism is not really present in Hindu thought. It is only in this sense that the organic theory of the state as a significance for the problem of Political obligation—The conception of the state as a moral organism can hardly be expected to appear when there is no adequate conception of individual liberty. Page 131 and also Page 212. J. J. Anjaria, 'Political Obligations in Hindu State' and also P. V. Kane 'History of Dharmashastra' Vol. III, Page 20.

सावयव होने में एक शंका का समाधान हो जाता है। श्री अंजारिया महोदय की दूसरी शंका भी कि राज्य में व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा राज्य के अधिकार के बीच में किसी भी प्रकार का सामंजस्य नहीं था, एक भाग स्थायी रूप से जन्म के आधार पर हीन पद पर प्रतिष्ठित कर दिया गया था—उचित प्रतीत नहीं होती है। व्यक्ति की स्वतंत्रता का आधुनिक प्रजातंत्रीय स्वरूप अति अर्वाचीन है। वस्तुतः १९वीं शताब्दी तक पाश्चात्य देशों में भी प्रजातंत्र का अभाव ही था।[१] प्राचीन भारत में व्यक्ति की स्वतंत्रता तत्कालीन राज्य व्यवस्था तथा सामाजिक व्यवस्था को देखते हुए पर्याप्त थी। राजा और प्रजा का संबंध पिता-पुत्रवत था। एक अच्छे पिता के समान राजा अपनी प्रजा का पालन करता था; व्यक्ति को राजशक्ति का आभास केवल उसी अवसर पर होता था जब वह अनुचित मार्ग का अवलंबन करता था। अन्य अवसरों पर उसे यह ज्ञान ही नहीं होता था कि राज्य की शक्ति है अथवा नहीं। इसके अतिरिक्त कर-ग्रहण के प्रसंग में यह स्पष्ट आदेश मिलता है कि व्यक्ति अपनी आय का भाग राजा को देता है अतएव उसकी पूर्ण सुरक्षा करना राजा का कर्तव्य होता है—इस सुरक्षा के अभाव में राजा धार्मिक दृष्टि से पापी तथा व्यावहारिक दृष्टि से अयोग्य समझा जाता था।[२] राज्य के कार्य में कर देने के कारण तो व्यक्ति भाग लेते ही थे साथ ही साथ संगठन की निम्नतम इकाई "ग्रामिक" को ग्राम की व्यवस्था का अधिकार प्रदान करके तथा उसकी (ग्रामिक की) जीविका को गाँव वालों पर ही आधारित कर दिया गया था। यह इस बात पर प्रकाश डालता है कि ग्रामिक और ग्रामवासी अन्योन्याश्रित थे। ग्रामिक की जीविका निर्भर करती थी ग्रामवासियों पर, इसलिए वह उनके साथ ही उनके एक अंग के समान बन जाता था। इसी प्रकार ग्रामिक के ऊपर का पदाधिकारी "दशाधिपति" भी अपनी जीविका के लिए ग्राम पर ही निर्भर करता था। ये दोनों ही उदाहरण इस बात पर प्रकाश डालते हैं कि प्रशासन की निम्नतम इकाइयों में एक प्रकार का प्रजातंत्रीय व्यवहार था। यह बात दूसरी है कि ये पदाधिकारी राजा के द्वारा नियुक्त होते थे—वे निर्वाचित नहीं होते थे। प्रशासकीय संगठन के केवल दो ही पदाधिकारी ग्राम पर निर्भर नहीं करते थे—इनके अतिरिक्त बीस गाँवों का अधिपति तथा सौ गाँवों का अधिपति आदि भी अपने

---

१. "Upto the 19th century true democracies never existed even in Europe." P. V. Kane, 'History of Dharmshastra', Vol, III Page 20.

२. विशेष विवरण के लिए इसी ग्रन्थ का शासन व्यवस्था का अध्याय देखिये।

अधिकार क्षेत्र पर ही निर्भर करते थे।[1] यह स्पष्ट है कि इन पदाधिकारियों को निश्चित वेतन के स्थान पर ग्रामोन्नति तथा ग्राम के सहयोग पर निर्भर करना पड़ता था। अतएव यह कहा जा सकता है कि राज्य संगठन में साधारण व्यक्ति भी पर्याप्त भाग रखते थे। ग्रामवासियों के इस संबंध को देखते हुये या राजकीय पदाधिकारियों के विभिन्न अधिकार को देखते हुये व्यक्ति की स्वतंत्रता व राज्यशक्ति के बीच सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है। राजकीय पदाधिकारियों के अधिकार के प्रसंग में केवल इतना ही मिलता है कि ग्रामिक ग्राम के दोषों को स्वयं दूर करे यदि वह इसको दूर करने में समर्थ नहीं होता, तो अपने ऊपर के पदाधिकारी को इसकी सूचना दे और इस तरह से मंत्री और राजा के पास तक वह दोष पहुँचता था। इन सीढ़ियों में से किसी भी सीढ़ी में यह दोष दूर किया जा सकता था। ग्राम के दोष को दूर करने का अधिकार केवल इतना ही बतलाता है कि समाज में यदि अव्यवस्था, अनाचार तथा किसी प्रकार का अनुचित कार्य हो रहा हो तो उसे दूर करना ग्रामिक का अधिकार था और यदि उसकी शक्ति के बाहर की यह अव्यवस्था होती तो इसे ठीक करने के लिए राजा तक पहुँचाने की व्यवस्था थी। इससे यह स्पष्ट होता है कि ये पदाधिकारी ग्राम के कार्य-कलापों में तभी हस्तक्षेप करने का अधिकार रखते थे जब वह दोषपूर्ण हो जाता था। अन्यअवसरों में वे केवल दर्शक की भाँति रहते थे। जब राजकीय पदाधिकारी दर्शक के रूप में रहेंगे तब फिर व्यक्ति की स्वतंत्रता के विषय में किसी भी प्रकार की शंका ही उत्पन्न नहीं होती है। यह शंका तभी उत्पन्न हो सकती है जब स्वच्छंदता का अर्थ स्वच्छंदता लिया जाय। उच्छृंखलता को स्वतंत्रता नहीं कहा जा सकता है। अतएव यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि उस समय राजकीय शक्ति व्यक्ति की स्वतंत्रता में बाधक नहीं थी। यह अवश्य है कि आधुनिक संविधानों की भाँति, स्मृतियाँ व्यक्ति को स्वतंत्रता का अधिकार नहीं प्रदान करती हैं। इसका कारण स्पष्ट है; स्मृतियाँ राज्य के संविधान को घोषित नहीं करती हैं। राजा तथा राज्य के पदाधिकारियों के अधिकार और कर्तव्यों को बतलाने से यह स्वयंमेव सिद्ध हो जाता है कि इनकी सीमा क्या है—तथा इनकी सीमा ही व्यक्ति की स्वतंत्रता बन सकती है। अतएव यह कहा जा सकता है कि व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा राज्यशक्ति के बीच पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया गया था।

दूसरा तर्क राज्य में जन्म के आधार पर कुछ भाग को हीनता के पद पर रखना है। इस तथ्य पर वर्णव्यवस्था के प्रसंग में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। उसका सारांश यह है कि समाज में चारों वर्णों में कोई भी एक दूसरे को हीन दृष्टि से नहीं देखता था।

---

१. मनु० ८—११६ से १२०.

चारों वर्ण समाज की व्यवस्था के कारण अन्योन्याश्रित थे। अतः इन शंकाओं के समाधान हो जाने पर राज्य के सावयव स्वरूप के विषय में कोई संदेह नहीं रह जाता है। वर्ण-व्यवस्था का सार विभिन्न वर्णों को अपने-अपने अधिकार प्रदान करने में नहीं था वरन् उन वर्णों का अपना ज्ञान कराना था—कर्तव्य बुद्धि के जागृत रहने में ही समाज को भी सावयव रूप मिलता है। इन्हीं कारणों से उपर्युक्त तर्क अनुचित प्रतीत होते हैं।[1]

राजा का दैवी स्वरूप—राज्य के सावयव स्वरूप के अनुसार राजा को ही प्राथमिकता मिलती है। स्मृतियों में राजा को अनेक दैवी अधिकार भी प्रदान किये गये हैं। पहिले यह कहा जा चुका है कि मनुस्मृति राजा की उत्पत्ति दैवी बतलाती है। परन्तु अन्य स्मृतियाँ भी राजा की दैवी उत्पत्ति के विषय में मूक रहती हुई भी उसके दैवी स्वरूप के विषय में पर्याप्त विवेचना प्रस्तुत करती हैं। मनु ने राजा की दैवी उत्पत्ति बतला कर उसे विभिन्न देवताओं का अंशभूत सिद्ध किया है। अतः वह उन सभी देवताओं के सम्मिलित स्वरूप को अपने व्यक्तित्व में प्रकट करता है। नारदस्मृति भी राजा के दैवी स्वरूप को मान्यता प्रदान करती है। नारद कहते हैं कि राजा अतुल शक्ति सम्पन्न होने पर पाँच प्रकार के स्वरूप ग्रहण करता है—वह अग्नि, इन्द्र, सोम, यम तथा कुबेर के स्वरूप को ग्रहण करता है।[2] नारद राजा के देवत्व सम्बन्धी पाँच स्वरूपों की पूर्ण विवेचना करते हैं। उनके अनुसार राजा के अकारण अथवा किसी कारण से क्रोधित होने पर क्रोध से दूसरे को जलाने अर्थात् उत्पीड़ित करने के कारण वह अग्नि के समान होता है, अपनी शक्ति के ऊपर निर्भर करता हुआ जब वह शस्त्र उठाकर शत्रुओं पर विजय की आकांक्षा से आक्रमण करता है तब वह इन्द्र का स्वरूप ग्रहण करता है। जब राजा तेज से लोगों को जलाने वाले स्वरूप को हटाकर सौम्यभाव से जनता के सामने उपस्थित होता है तब वह सोम का स्वरूप ग्रहण करता है। आपने न्यायासन पर बैठ कर न्याय करते समय वह यम का स्वरूप ग्रहण करता है। सम्मानित व्यक्तियों को अथवा जिनको

---

१. All that may be said is that Mr. Anjaria tilts the balance to the other side too much." P. V. Kane, Vol. III; History of Dharmshastra. Page 20.

१. The kings endowed with immense power may take five different shapes that of Agni, of Indra, of Soma, of Yama, and of the God of Wealth. Naradsmriti Page 113, Verse 26. Jolly's translation.

किसी वस्तु का अभाव हो उन्हें उपहार प्रदान करने पर कुबेर कहा जाता है।[१] नारद की राजा के देवत्व की यह विवेचना कुछ भिन्न प्रकार से कीई गई है। इस विषय में मनु की विवेचना अधिक व्यापक और सारगर्भित होती है। मनु राजा को, सर्वप्रथम, देवताओं के अंश से समुद्भूत मानते हैं, फिर वे उसे (राजा को), जिन देवताओं का अंश उसमें है उसी के समान कार्य करने का आदेश देते हैं।[२] मनु के आदेश के अनुसार वह वे सभी कार्य करेगा जो कि विभिन्न देवता व्यक्तिगत रूप से करते हैं। दूसरे शब्दों में उसके आचरण में उसका देवत्व परिलक्षित होना चाहिये। मनु अत्यन्त विस्तार के साथ राजा को यह उपदेश देते हैं कि वह अपने देवत्व के अनुरूप किस प्रकार से कार्य करे जिससे उसके आचरण में उसका देवत्व परिलक्षित हो सके। कुछ ही शब्दों में यदि नारद और मनु के अंतर को रखा जाय तो यह कहा जा सकता है कि नारद के राजा देवत्व संबंधी विचार राजा के विशेष प्रकार के कार्य करने पर उस कार्य के अनुरूप देवताओं की संज्ञा प्रदान करते हैं। इसके अनुसार प्राप्त होने वाला देवत्व इस प्रकार के कार्य करने का उत्तरदायित्व राजा पर नहीं रखता। वहाँ वे कार्य ऐच्छिक ही रहते हैं; अर्थात् उसका देवत्व "यदि" शब्द पर आधारित होने के कारण राज्य के आवश्यक कर्तव्यों की कोटि में नहीं आता है। इसके विपरीत मनु राजा का उसके देवत्व के अनुरूप कार्य करना आवश्यक समझते हैं। मनु के अनुसार, जब राजा में देवत्व है तो उसे अपने देवत्व के अनुसार कार्य करना ही चाहिये। यहाँ पर अपने देवत्व के अनुरूप कार्य करने का उत्तरद.यित्व राजा के ऊपर है, यह नहीं कि वह कार्य करे तब उसकी तुलना देवताओं से की जाय। नारद राजा के कार्य करने पर, उसे उपभोग मानकर देवता को उपमान के रूप में प्रस्तुत करते हैं जब कि मनु राजा और उसके देवत्व में उपमान और उपमेय के संबंध के स्थान पर, दोनों में तादात्म्य स्थापित करते हैं। मनु द्वारा प्रस्तुत राजा का देवत्व पूर्ण है तथा नारद के इस प्रसंग के विचार देवत्व के सिद्धान्त को पूर्णरूप से व्यक्त नहीं कर पाते हैं। मनु ने राजा को देवत्व प्रदान करके उसके उत्तरदायित्वों, उसके कर्तव्यों को एक निश्चित मार्ग प्रदान कर दिया है। मनु ने देवत्व के इस सिद्धान्त को

---

१. Naradsmriti, Jolly's tanslation, Page 113-114 versas 26 to 32.

२. इन्द्रस्यार्कस्य वायोश्च यमस्य वरुणस्य च।
चन्द्रस्याग्नेः पृथिव्याश्च तेजोवृत्तं नृपश्चरेत्।। मनु० ९—३०४.

३. उदाहरण के लिये देखिये मनु ९—३०४, ३०५, ३०६ आदि—इसकी विवेचना राजा के कर्त्तव्यों के प्रसंग में होगी।

ही दृष्टि में रख कर यह कहा है कि राजा चाहे बालक ही हो, उसे मनुष्य मानकर अपमानित नहीं करना चाहिये क्योंकि वह मनुष्य रूप में एक बहुत बड़ा देवता है;[१] तथा देवता में अवज्ञा करना अधर्म है। अतः उसके बालक होने पर भी उसका अनुशासन उसी प्रकार मानना चाहिये जैसा कि दैवीगुण सम्पन्न अवस्था प्राप्त राजा का। ये विचार बाल्मीकि रामायण में भी उपलब्ध होते हैं, वहाँ कहा गया है कि राजा के प्रति अप्रिय व्यवहार नहीं करना चाहिये क्योंकि वह मनुष्य रूप में देवता ही विचरण कर रहा है।[२] मनुस्मृति के उपरोक्त विचार महाभारत में शब्दशः प्राप्त होते हैं।[३] राजा के दैवी स्वरूप का उल्लेख और भी अनेक ग्रन्थों में प्राप्त होता है।[४] मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले राजा के देवत्व संबंधी विचारों में कुछ ऐसे स्थल भी हैं जिनमें प्रायः भ्रांतियाँ हो जाती हैं। मनुस्मृति में जो यह कहा है कि बालक-राजा की भी अवहेलना, उसके देवत्व के कारण, नहीं करनी चाहिये, वहाँ कुछ विचारक, इसका यह अर्थ लेते हैं कि यह राजा के लिए पूरी स्वतंत्रता का विधान है; यह विधान उसे (राजा को) स्वेच्छाचारी बनाने के लिये ही बनाया गया है तथा उसके ऊपर किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं है। वह स्वतंत्र है। परन्तु मनु अन्यत्र, धर्म और दंड को राजा का ही राजा कहते हैं। इन दोनों प्रसंगों को लेकर यह तर्क रखा जाता है कि मनु ने सर्व प्रथम राजा की असीमित निरंकुश राजसत्ता प्रदान की परन्तु बाद में राजा की असीमित शक्ति का दुरुपयोग होने लगा तो मनुस्मृतिकार ने धर्म और दंड की कल्पना करके राजा की असीमित शक्ति को दंड और धर्म के आधीन कर दिया। अतः मनुस्मृति में दो विरुद्धमत प्रतिपादित किये गये हैं। एक असीमित राजतंत्र का और दूसरे सीमित राजतंत्र का। परन्तु ये विचार केवल भ्रांतिपूर्ण ही कहे जा सकते हैं।

श्री काशी प्रसाद जी जायसवाल ने अपने ग्रन्थ "हिन्दू पोलिटी" में मनुस्मृति के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार प्रकट किये हैं श्री जायसवाल जी के तर्क की समीक्षा अपेक्षित है। संक्षेप में उनके तर्क को इस प्रकार कहा जा सकता है—"मनु स्मृति राजविप्लवकारी ब्राह्मण राजा सुंग के समय में लिखी गई थी इसीलिए ब्राह्मण राजा की महत्ता की स्थापना के

---

१. बालोपि नावमंतव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता येषा नररूपेणतिष्ठति॥ मनु० ७,८.

२. तान्न हिंस्यान्न चाक्रोशेन्नाक्षिपेन्नाप्रियं वदेत्।
देवा मानुषरूपेणचरन्त्येते महीतले॥ वा० रा०, कि० का०, सर्ग ४२.

३. न हि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमियः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥ महा० शा० पर्व ६८, ४०.

४. वायु पुराण—अ० ५७, श्लोक ५६–५८; विष्णु पुराण० अ० १३ श्लोक २१–२२.

लिए राजा को देवता बनाया गया। मनुस्मृतिकार को राजा की दैवी उत्पत्ति के सम्बन्ध में मततुष्टि का कोई सहारा न था अतएव अभिषेक सम्बन्धी मंत्रों की खींचातानी करके दैवी उत्पत्ति का समर्थन किया गया फिर बाद में वेन का उदाहरण देकर उसे (राजा को) दंड के आधीन कर दिया गया। इस प्रकार अपने ही प्रतिपादित सिद्धान्त का खंडन करने के कारण उसमें परस्पर दो विरोधी मत प्रकट किये गये हैं।[1] श्री जायसवाल जी का तर्क मुख्य रूप से मनुस्मृति की रचनाकाल पर आधारित है। जायसवाल जी ने पहिले यह पृष्ठभूमि बना ली है कि मनुस्मृति ब्राह्मण राजा सुंग के समय में लिखी गई तथा उसके (राजाके) शासन को सुदृढ़ बनाने के लिए राजा को देवत्व प्रदान किया गया है; इस पृष्ठभूमि के उपरांत अन्य शंकाएं स्वयमेव उत्पन्न हो जाती हैं। परन्तु श्री जायसवाल जी के ये विचार समीचीन नहीं जान पड़ते हैं।

सर्व प्रथम, यह संदिग्ध है कि मनुस्मृति सुंग राजा के ही शासन काल में लिखी गई है।[2] इस दृष्टि से सब शंकाओं की आधारशिला ही असिद्ध हो जाती है तब फिर उसके ऊपर आधारित होने वाले तर्क स्वयमेव नष्ट हो जाते हैं। परन्तु यदि तर्क के लिए यह मान लिया जाय कि मनुस्मृति सुंग काल में लिखी गई थी तो भी जायसवाल जी के विचार उचित नहीं प्रतीत होते हैं। मनुस्मृति कभी भी स्वतंत्र राजा की कल्पना नहीं करती है। जहाँ उसे ईश्वरांश से समुद्भूत कहा गया है वहाँ भी वह असीमित शक्ति सम्पन्न स्वेच्छाचारी शासक के रूप में नहीं आता है। मनुस्मृति में प्राप्त होने वाले दैवी सिद्धान्त के वर्णन को देखने से यह ज्ञात होता है कि ईश्वर ने संसार की रक्षा के लिए इन्द्रादि लोकपालों के सारभूत अंशों को निकालकर राजा का निर्माण किया है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि सभी लोकपालों के गुण राजा में रहते हैं। इन लोकपालों के अंशभूत होने के कारण वह साधारण प्राणियों से श्रेष्ठ समझा जाता है। यदि मनु अपने सिद्धान्त को यहीं तक सीमित कर देते तब यह कहा जा सकता था कि मनु ने राजा को ईश्वरांश भूत बनाकर जन साधारण को मूक हो कर उसकी आज्ञाओं का पालन करने का विधान किया था। परन्तु मनु ने इससे आगे चलकर राजा को अपने गुणों के अनुरूप आचरण करने का जो उपदेश दिया है, वही राजा की स्वेच्छाचारिता की सीमा बन जाता है, तथा यही राजा का धर्म बन जाता है। राजा इस धर्म का अतिक्रमण करने का अधिकार नहीं रखता है क्योंकि ऐसा करने से वह अपने देवत्व से गिरता है। मनु केवल सैद्धान्तिक दृष्टि से ही राजा को देवताओं के अंशों से निर्मित

१. यह श्री काशीप्रसाद जायसवाल की पुस्तक "हिन्दू पोलिटी" के २३३ से २३७ पृष्ठों का सारांश है।

२. इस विषय का विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है।

नहीं कहते हैं प्रत्युत वे उसकी दैनिक जीवन चर्या भी इन्हीं गुणों के अनुसार ही निर्धारित करते हैं। जब राजा का यह धर्म हो जाता है कि वह इन दैवी गुणों के अनुरूप कार्य करें तब यह स्वयमेव उसका धर्म हो जाता है कि वह इन दैवी गुणों को अक्षुण भी रखे। मनुस्मृति राजा की दैवी सृष्टि के उपरांत यह कहती है कि उसके प्रजा रक्षण के प्रयोजन की सिद्धि के लिए दंड की भी सृष्टि की गई है। यह दंड ब्रह्मतेज से युक्त था (इसकी भी ईश्वरीय सृष्टि थी) तथा यह धर्म का रूप था। इसी दंड के भय से सभी प्राणी अपने स्वाधिकार के भोग में समर्थ होते थे तथा वे अपने धर्म से विचलित नहीं होते थे।[1]

दंड के इस उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दंड की सृष्टि प्राणी मात्र में धर्म[2] की स्थिति बनाये रखने के लिये थी। ऊपर यह कहा जा चुका है कि मनु, राजा के देवत्व के साथ साथ कर्म को भी आवश्यक रूप से महत्व देकर उसके कर्मों को उसका धर्म बना देते हैं। राजा भी एक प्राणी है इसलिए उसके धर्म को भी अक्षुण्ण बनाये रखना दंड की सृष्टि का एक प्रयोजन कहा जा सकता है। अतएव काशी प्रसाद जी का यह तर्क कि मनु ने राजा को पहिले स्वेच्छाचारी बनाया और तब उसकी स्वेच्छाचारिता को ठीक न समझ कर उसके ऊपर दंड का नियंत्रण लगा दिया, असंगत प्रतीत होने लगता है। राजा, राजा की सृष्टि, उसका धर्म तथा दंड का विधान ये सब एक ही सूत्र में गुँथे हुए हैं इन्हें अलग-अलग करके नहीं देखा जा सकता है। जायसवाल जी इन सबको अलग-अलग लेकर ही मनुस्मृति में असंबद्ध सिद्धान्त निरूपण का दोष लगाते हैं। मनु ने बहुत ही तार्किक योजना का परिचय देते हुये राजा के ईश्वरत्व तथा दंड आदि के सिद्धान्त को प्रकाशित किया है। अपनी इसी तार्किक योजना को दृष्टि में रख कर ही मनु बालक राजा की भी, अवहेलना न करने की विधान करते हैं। मनु की योजना में स्वेच्छाचारी राजा का कोई स्थान नहीं है इसीलिए बालक राजा को भी समान महत्व दिया गया है; यह बालक राजा भी मनु की आयोजना के अनुसार भविष्य में अपने धर्म के अनुसार ही आचरण करेगा। यदि कोई राजा किन्हीं कारणों से स्वेच्छाचारी हो जाता है तो उसके लिए मनु ने वेन आदि का उदाहरण सामने प्रस्तुत कर दिया है। इन उदाहरणों का महत्व राजा और प्रजा दोनों ही के लिए है। राजा के लिए यह एक ऐसा उदाहरण करता है

---

१. तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम् ।
ब्रह्मतेजोमयंदंडम सृजत् पूर्वमीश्वरम् ॥ मनु० ७।१४.

२. यहाँ धर्म शब्द का प्रयोग विस्तृत अर्थ में किया गया है। इसके विशेष अर्थ के लिए द्वितीय अध्याय देखिये।

जिसके कारण वह स्वेच्छाचारी होकर राज्यच्युत किया जाना नहीं चाहेगा अतएव अपनी सीमा के ही भीतर रहेगा। प्रजा के लिये इसका महत्व यह है कि राजा के स्वेच्छाचारी और अन्यायी होने पर उसे दैवी गुणों से सम्पन्न न समझ कर उसके अत्याचारों को सहन करने के स्थान पर उसे पदच्युत करना अपना अधिकार समझेंगे। यह प्रसंग यह भी सिद्ध करता है कि राजा का देवत्व उसके कर्मों पर आधारित है, तथा उसके कर्म और उसका देवत्व दो विभिन्न अस्तित्व नहीं रखते हैं। उपर्युक्त विवरण से कहीं पर यह ध्वनि नहीं निकलती है कि मनुस्मृति के ये सिद्धान्त किसी विप्लवकारी राजा के राज्य में उस राजा को देवत्व प्रदान करके प्रजावर्ग के विरोध को देव विरुद्ध बताने के लिये लिखा गया है और न यही निष्कर्ष निकालना उचित होगा कि मनुस्मृतिकार ने पहिले राजा को असीमित और निरंकुश शक्ति प्रदान कर दी और बाद में उसके ऊपर नियंत्रण लगा दिया।

मनुस्मृति तथा नारदस्मृति के राजा के देवत्व संबंधी विचारों का देखने से यह ज्ञात होता है कि दोनों ही स्मृतियाँ राजा के कर्मों में देवत्व का साम्य स्थापित करती हैं। यह संभव है कि स्मृतियों की रचना से पूर्व प्राचीन भारत में राजा अपने सदाचरण और न्यायप्रियता के कारण उपर्युक्त गुणों के अनुरूप कार्य करता था। भारतीय विचारधारा के अनुसार देवत्व सभी प्राणियों में रहता है परन्तु विभिन्न देवताओं के विभिन्न गुणों के अनुरूप आचरण करने के कारण उस व्यक्ति में (राजा में) उन देवताओं की प्रधानता आ जाती है। इसी प्रकार जब राजा के कर्मों में विभिन्न लोकपालों के गुणों का सामंजस्य दृष्टिगत होने लगा तब उसे इन लोकपालों का अंशभूत कहा गया। यह नारदस्मृति में प्राप्त होने वाले राजा के देवत्व सम्बन्धी विचारों से स्पष्ट हो जाता है। नारद राजा के देवत्व के सम्बन्ध में कहते हैं कि वह अपने कर्मों के अनुसार पाँच स्वरूप ग्रहण करता है—जब वह विजय की आकांक्षा से उत्साह पूर्वक शस्त्र उठाकर शत्रुओं पर आक्रमण करता है तब वह इन्द्र के समान है—आदि।[1] यह स्पष्टरूप से पूर्व कथित तथ्य पर प्रकाश डालता है—अर्थात् वह एक विशेष प्रकार का कार्य कर रहा है इसलिए उस समय उसमें इन्द्र के ईश्वरांश की समता है। कालांतर में यही एक सिद्धान्त बन गया और राजाओं को भी उसी सिद्धान्त के अनुसार विभिन्न लोकपालों के सदृश कर्म करने के आदेश मिलने लगे। इस तथ्य के अनुसार सिद्धान्त की निर्मिति उस समय हुई होगी जब वास्तविकता के अनुरूप ही ग्रंथ-रचना आरम्भ हुई होगी। मनुस्मृति में भी इसी को दृष्टि में रखते हुये

---

१. इस प्रसंग का उल्लेख पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। वहीं इसका प्रमाण भी दृष्टव्य है।

राजपद को दैवी गुणों से युक्त कहा गया है। यही एक प्रमुख कारण है कि प्राचीन देवी सिद्धान्त में तथा पाश्चात्य देवी सिद्धान्त में महान् अंतर है। यहाँ पर राजा देवताओं का प्रतिनिधि बनकर शासन नहीं करता था, वह अपने गुणों और कर्मों के कारण ही दैवी-शक्ति-सम्पन्न माना जाता था। यदि वह अपने गुणों को अक्षुण्ण न रखते हुये विपरीत आचरण करता था तो उसे राज्य से च्युत किया जा सकता था। वह अपनी निरंकुशता का भी व्यवहार नहीं कर सकता था। भारतीय दैवी सिद्धान्त असीमित राजसत्ता का पोषक नहीं था।

पाश्चात्य दैवी-सिद्धान्त से तुलना—अब तक के विचार-विमर्श से यह स्पष्ट हो जाता है कि स्मृतियों में प्रतिपादित दैवी सिद्धान्त राजा को न तो देवताओं से श्रेष्ठ सिद्ध करता है और न राजा को ईश्वर का प्रतिनिधि ही घोषित करता है। उसमें दैवी गुणों का समावेश रहता है और उससे यह आशा की जाती है कि वह अपने इन दैवी गुणों में व्यतिक्रम या विकार नहीं आने देगा। परन्तु पाश्चात्य दैवी सिद्धान्त भारतीय दैवी सिद्धान्त से सर्वथा भिन्न हैं, यहाँ पर राजा ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था। यदि राजा अत्याचारी होता या तब भी प्रजा को उससे किसी भी प्रकार का प्रश्न करने का अधिकार न था। उसके अत्याचार प्रजा के ही पापों के प्रायश्चित स्वरूप समझे जाते थे। राजा के देवत्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित सिद्धान्त प्रचलित थे।

१—राज्य की निर्मित ईश्वरीय विधान से हुई है।

२—राज्य के शासकों की भी नियुक्ति दैवी शक्ति से हुई है।

३—वे (शासक) किसी अन्य के प्रति उत्तरदायी नहीं हैं, केवल ईश्वर के प्रति हैं।

जेम्स प्रथम ने इन्हीं के आधार पर यह कहा था कि यह ठीक ही कहा गया है कि राजा देवता है। क्योंकि वह (राजा) ईश्वर के समान पृथ्वी पर शक्ति धारण करता है। ईश्वर को यह शक्ति प्राप्ति है कि वह सृष्टि करे अथवा उसका संहार करे, उत्पन्न करे अथवा नष्ट करे, जीवन प्रदान करे या मृत्यु, अपनी ही इच्छा के अनुसार सभी न्याय करे और किसी के भी प्रति उत्तरदायी न हो। इसी प्रकार की शक्ति राजाओं में भी है।[1] जेम्स प्रथम आगे चलकर यहाँ तक कह

---

१. 'The kings are justly called gods; for they exercise a manner of resemblance of divine power upon earth. God hath power to create or destroy, make or unmake

जाता है कि राजा ईश्वर का केवल प्रतिनिधि ही नहीं है प्रत्युत देवताओं के द्वारा भी वह ईश्वर कह कर संबोधित किया जाता है।[1]

सैंट पाल के उपदेशों में उक्त सिद्धान्त की उपलब्धि होती है[2]। उनके अनुसार, आत्मा को श्रेष्ठतर शक्ति के आधीन रखना चाहिये, क्योंकि ईश्वर की शक्ति के अतिरिक्त और कोई शक्ति नहीं है, जो भी शक्तियाँ है वे सभी ईश्वर प्रदत्त हैं, इसलिए जो भी कोई उनका उल्लंघन करता है वह ईश्वर का उल्लंघन करता है और इस प्रकार से उल्लंघन करने पर अपना पतन वे स्वयं निश्चित करते हैं। अतः राजा की शक्ति का आधार भी ईश्वर ही हो जाता है। उसके अधिकार की अवहेलना भी ईश्वर की अवहेलना हो जाती है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि राजा की शक्ति का उल्लंघन न केवल राजनैतिक अपराध है बल्कि अधार्मिक कृत्य भी है। जेम्स प्रथम ने संभवतः इसी को आधार बनाकर दैवी अधिकारों की परिकल्पना की थी। संभवतः इसी कारण उसने (जेम्स प्रथम) पार्लियामेंट में कहा कि राजा यदि अत्याचारी भी हो तब भी उसका उल्लंघन नहीं करना चाहिये, वरन यह समझना चाहिये कि ईश्वर ने उस अत्याचारी शासक को प्रजा के पाप पूर्ण कार्यों के दंड के लिये भेजा है, और शाप स्वरूप भेजे गये इस राजा से निवृत्ति पाने का एक ही मार्ग

---

at his pleasure, to give life or to send death, to judge all and to be accountable to none, and the like powers are king's. page 14, 15 as cited in "Political Thought in England" by G. P. Gooch.

१. 'For kings are not only God's lieutenants upon earth but even by god himself they are called gods'. Ibid. Page 15.

२. 'Let every soul be subject unto the higher power; for there is no power but God; The powers that be are ordained of god. Whosoever therefore resisteth the power resisteth the ordinance of God and they that resist shall receive to themselves damnation,' as quoted by Appaddorai, in Substance of Political Science.

है—धैर्य, आचरण के सुधार तथा प्रार्थना के द्वारा ईश्वर को प्रसन्न करके उससे छुटकारा पाने का प्रयास करें। यही नियमानुकूल है।[1]

जेम्स प्रथम के इन उद्गारों में उसकी असीमित सत्ता की गंध स्पष्ट है। प्रजा राजा के दुर्व्यवहारों को भी अपने ही पाप के प्रायश्चित स्वरूप मानती जाय यही उसका आशय है। राजा के अत्याचारों का विरोध करना ईश्वर के प्रति विद्रोह करना है। प्रजा का मूक भाव से शासन सत्ता के आगे झुक जाना ही पाश्चात्य दैवी सिद्धान्त का मूल मंत्र है। राजा का यह अधिकार है कि न्याय तथा शासन व्यवस्था को बनाये रखे। इसीलिए प्रजा का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह राजा के इस अधिकार क्षेत्र का उल्लंघन न करे। दैवी सिद्धान्त की इस सीमा के ही कारण इंगलैंड के स्टूअर्ट राजाओं में और प्रजा में सौहार्द्र न हो सका। जेम्स ने तो यहाँ तक कह डाला कि किसी भी दैवी-राजा के प्रति प्रजा को अनादर-युक्त वचन कहना भी उचित नहीं है चाहे वे उस समय एक दूसरे के साथ युद्ध में ही क्यों न प्रवृत्त हों। इसका तो यही आशय निकलता है कि व्यक्ति घर में बैठे हुए, साधारण वार्तालाप करते हुए भी राजा को भगवान् के समान ही मानें। तब यह अवश्य है कि दैवी सिद्धान्त को यह स्वरूप जेम्स प्रथम ने ही दिया था और उस समय की पार्लियामेंट इस प्रकार के निरंकुश तथा असीमित दैवी सिद्धान्त को मानने के लिए कथमपि तैयार नहीं थी।

प्राचीन भारत का दैवी सिद्धान्त इससे सर्वथा भिन्न था। जहाँ एक ओर **"बालोपि नावमंतव्य"**—आदि कह कर राजा के बालक होने पर भी देवत्व समझकर अवमानना न करने का आदेश प्रदान किया गया था वहाँ यह भी आदेश दिया गया था कि प्रजा राजा अपने दैवी गुणों का उत्तरोत्तर विकास करते हुए प्रजा के हित में ही शासन करेगा। इसके अतिरिक्त राजा निरंकुश तथा असीमित शक्ति संपन्न नहीं था वह सर्वथा दंड के आधीन था। राजा के निरंकुश आचरण करने अथवा असीमित सत्ता धारण करने का विचार वेन आदि के उपाख्यानों के रहते हुए असंभव था। राजा में देवत्व उसी अवसर

---

१. 'A king can never be monstrously vicious even if the king is wicked, it means, God has sent him, as a punishment for the people's sins and it is unlawful to shake off the burden which God has laid upon them. Patience, earnest prayer and amendment of their lives are the only lawful means to make God to relieve them of their curse'. Ibid.

तक रहता था जब तक वह अपने दैवी गुणों को अक्षुण्ण रखता था। मनु ने स्पष्ट शब्दों में ही वेन आदि राजाओं का अविनय के कारण नष्ट हो जाने का उदाहरण देकर यही आदेश दिया है कि यदि राजा अपनी दैवी शक्ति की आड़ में अत्याचार का व्यवहार करता है तो उसे भी राजसिंहासन से च्युत कर देना चाहिए। भारतीय दैवी सिद्धान्त में राजा को देवता का प्रतिनिधि नहीं माना है और न उसके अत्याचारों के विरोध को ईश्वर के प्रति विद्रोह ही कहा गया है। यहाँ पर राजा धर्म विरुद्ध नियम निर्माण नहीं कर सकता था और न दण्ड को ही केवल अपने ही हित के लिए प्रयोग कर सकता था। उसे केवल धर्म के नियमों को जनता के द्वारा पालन कराने का अधिकार था। राजा की और दंड की सृष्टि ईश्वर के द्वारा ही हुई थी इसी कारण राजा स्वयं भी दंड का उल्लंघन नहीं कर सकता था। इस विषय में श्री वरदाचार्य महोदय का मत माननीय है।[१]

राजत्व की प्राप्ति

सामान्य रूप से प्राचीन भारत का राजतंत्र वंशानुक्रम पर ही आधारित प्रतीत होता है। यह प्रसंग विशेषरूप से पुराण-साहित्य में विभिन्न राजाओं की वंशपरंपराओं को देखने से अधिक स्पष्ट होता है। शतपथ ब्राह्मण में भी एक प्रसंग के अन्तर्गत कहा गया है कि एक राजा अपने दुष्कर्मों के कारण पदच्युत कर दिया गया था इस राजा को दस पीढ़ियों के उपरान्त राज्य उपलब्ध हुआ था। राजपद की प्राप्ति पर विशेष रूप से स्मृतियों ने कोई सिद्धान्त निरूपित नहीं किया है। साधारण सामग्री के आधार पर वह अवश्य कहा जा सकता है कि वंशानुक्रम और ज्येष्ठता के सिद्धान्त का ही अनुमोदन है। ज्येष्ठ पुत्र के महत्व का उल्लेख अनेक स्थानों में आया है और उसी आधार पर उक्त निष्कर्ष पल्लवित होता है।

---

१. "It was in the Shastras that it was God that created Dand (the principle of coerciue authority or sanction) and he also created the king to wield the Dand. The theory is, however, very defferent from the Divine Right theory of the west. Here the king was as much subject to the Law as the citizen. He could not make or alter the Law because it was assumed to be of divine origin. He could only enforce the Law" S. Verdachariar 'Hindu judicial System' pp 22–23.

रामायण काल में संभवतः यह सिद्धान्त विकसित हो चुका था क्योंकि वहाँ पर इक्ष्वाकु वंश में ज्येष्ठ पुत्र ही राजा होता है इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है"[1] वशिष्ठ के इन वचनों के ही आधार पर राम को युवराज घोषित किया गया था। परन्तु राम के वनगमन और भरत के युवराज घोषित किये जाने से यह शंका उत्पन्न होती है कि क्या उक्त वंशानुक्रम का सिद्धान्त इतना अधिक लचीला था कि राजा (दशरथ) अपनी स्वेच्छा से उसमें परिवर्तन कर सकता था। वस्तुतः सामान्य नियम में यह परिवर्तन नहीं किया गया था, यहाँ पर भरत का युवराजत्व इस सिद्धान्त के संशोधन के आधार पर नहीं घोषित किया गया था[2] और न राजा दशरथ के ही पास कोई ऐसी शक्ति ही थी कि वे केवल अपने वरदान को (जो उन्होंने केकयी को दिया था) पूरा करने के लिये एक विशिष्ट परम्परा को ही संशोधित कर दें। राम का वनवास राम की ही स्वेच्छा पर आधारित था। राम ने पितृभक्ति से प्रेरित होकर यह ऐच्छिक त्याग किया था, यह जानते हुये कि उनके इस प्रकार से राजत्व त्यागने पर ही पिता के वचनों का निर्वाह हो सकेगा। यदि इसके विपरीत कोई अर्थ लिया जाय तो उसमें अनेक आपत्तियाँ हो सकती है, उदाहरण के लिये राजपरंपराओं के अनुपालन में प्रजा का भी हाथ रहता है; ययाति ने अपने कनिष्ठ पुत्र को युवराज घोषित कर दिया था, इस कार्य के औचित्य के स्पष्टीकरण की प्रजाजनों के प्रतिनिधियों ने मांग की। राजा ने अपने कार्य को स्पष्ट करते हुये कहा कि पुत्र वही समझा जाता है जो आज्ञाकारी हो। यहाँ पर मेरे सभी पुत्र (पुरु को छोड़ कर) मेरी आज्ञाओं का अनुपालन नहीं करते हैं, तथा मेरे इस कार्य का अनुमोदन महर्षि शुक्राचार्य ने भी किया है। इन तर्कों से आश्वस्त होकर ही प्रजाजन पुरु के युवराजत्व को स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार महाभारत में भी अन्य स्थल पर युवराजत्व के मतभेद में प्रजा के मत को पर्याप्त महत्व दिया गया है। युधिष्ठिर और दुर्योधन के मध्य में युवराजत्व के मतभेद में प्रजा ने युधिष्ठिर को ही राजा मानने की अभिलाषा व्यक्ति की।[3] इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि राम के ऐच्छिक त्याग

---

१. इक्ष्वाकूणां हि सर्वेषां राजा भवति पूर्वजः ।
   पूर्वजो नावरः पुत्रो ज्येष्ठो राजाभिषिच्यते ।।

२. अधिक विस्तार के लिये देखिये :
   N.N. Law, "Aspects of Ancient Indian Polity"

३. ते वयं पाण्डव ज्येष्ठं, आदि पर्व—१४१-२७ तथा ३२.
   अभिषिंचाम साध्वद्य सत्यकारुण्य वेदिनम्। भीष्म को भी अपनी प्रतिज्ञा के द्वारा ही अपने युवराजत्व का त्याग करना पड़ा था और उस प्रतिज्ञा (जो केवल

के अभाव में दशरथ का भरत को युवराज घोषित करना असंभव था। राम के वियोग में पुरवासी कितने विह्वल थे, वे दशरथ के कार्य का विरोध करते।

स्मृतियों में यह स्पष्ट रूप से उपलब्ध नहीं होता है कि मृत्यु के पश्चात् कौन व्यक्ति राजपद प्राप्त करेगा। परन्तु यत्र-तत्र विकीर्ण सामग्री के आधार पर वंश परम्परा तथा ज्येष्ठता आदि के सिद्धान्त प्राप्त हो जाते हैं। मनु नवें अध्याय के अंत में राजा के लिये यह आदेश देते हैं कि पुत्र को राज्य समर्पित करके युद्ध में प्राणत्याग के हेतु प्रयाण करना चाहिये।[1] इससे वंश परम्परा के सिद्धान्त का आभास मिलता है। एक और स्थान में मनु कहते हैं कि शत्रु के पराजित हो जाने पर पराजित राजा के वंश में उत्पन्न हुए व्यक्ति को उसपर (सिंहासन पर) स्थापित करना चाहिए।[2] इन विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनु राजा के लिए वंश परम्परा का सिद्धान्त मानते थे।

मनुस्मृति में दो ही ऐसे प्रसंग हैं, जिनके आधार पर राजपद को वंश परंपरा पर आधारित कहा जा सकता है। मनु के अतिरिक्त नारद आदि अन्य स्मृतिकार इस विषय पर में कोई भी सामग्री प्रस्तुत नहीं करते हैं। इन स्मृतिकारों के मौन की स्वीकृति का लक्षण मानकर यह कहा जा सकता है कि वे वंश परंपरा के सिद्धान्त को मानते थे। ज्येष्ठता के सिद्धान्त की उपलब्धि भी परोक्षरूप से ही होती है। स्पष्टरूप से यह नहीं कहा गया है कि ज्येष्ठ पुत्र ही सिंहासन का अधिकारी होगा। इस सिद्धान्त की झलक मनुस्मृति से भी बहुत प्राचीन ग्रन्थों में मिलती है। ऐतरेय ब्राह्मण में यह कथन मिलता है कि पुत्र पिता की आत्मा है।[3] मनुस्मृति में इसी आशय का कथन मिलता है। वहाँ (मनुस्मृति) में यह कहा गया है कि पुत्र अपना ही शरीर होता है।[4] पुत्रों में भी ज्येष्ठ का अधिक महत्व है। नवम अध्याय में मनु कहते हैं कि ज्येष्ठ ही पिता के अशेष धन को ग्रहण करे;[5] तथा ज्येष्ठ पुत्र ही कुल की वृद्धि करता है तथा उसका

स्वेच्छा का प्रतीक था) के उपरान्त ही शांतनु अपनी अभिलाषा पूर्ण कर सके थे, अन्यथा शांतनु स्वयं भीष्म के अधिकार को समाप्त कर देते।

१. मनु० ९–३२३.

२. मनु० ७–२०२

३. आत्मावै जायेत पुत्रः॥ ऐतरेय ब्राह्मण। तस्मात् ज्येष्ठं धनेन निरवासयंति॥ तै, ब्रा०.

४. पुत्रः स्वका तनुः॥ मनु० ४–१८४, अन्यत्र, आपदि ऐश्वर्यं ज्येष्ठ भागी तु पूज्यते। कौ०—१–१७.

५. मनु० ९–१०५.

विनाश भी। ज्येष्ठ ही संसार में पूज्यतम होता है तथा वही (ज्येष्ठ) साधुओं के द्वारा अनिंदित होता है।[1] इसके अतिरिक्त नवम अध्याय में जिस स्थान में मनु कहते हैं कि राज्य को पुत्र को समर्पित करके युद्ध में जाना चाहिए(९-३२३) वहाँ पर "पुत्रे" का प्रयोग करते हैं अर्थात् एक वचन का ही प्रयोग होने के कारण यह नहीं कहा जा सकता है कि राज्य को पुत्रों में विभाजित करके तब जाय। यह स्पष्ट रूप से एक ही पुत्र को राज्य समर्पित करके जाने का विधान करता है। इस श्लोक के आधार पर तथा सातवें अध्याय के २०२वें श्लोक के अनुसार यह कहा जा सकता है कि वंशानुक्रम के साथ-साथ ज्येष्ठता का भी सिद्धान्त प्राप्त होता है।[2] मनु के अतिरिक्त अन्य तीनों ही स्मृतिकार इस विषय में कुछ भी प्रकाश नहीं डालते हैं।

वंशानुक्रम और ज्येष्ठता के सिद्धान्त का सामान्यरूप से पालन होता था, परन्तु इस सामान्य नियमके अपवाद के रूप में जात्यंधत्व, वैराग्य, कुष्ठ अथवा पुत्र की अनुशासन-हीनता आदि के कारण ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार को अमान्य समझा गया। महाभारत में वर्णन है कि देवापि ज्येष्ठ होते हुये भी राज्याभिषिक्त न हुये और शांतनु (छोटे होते हुए भी) राजा हो गये। इसी प्रकार धृष्टराष्ट्र राजत्व की अधिकारिता रखते हुये भी जन्मांधत्व के कारण उसे प्राप्त न कर सकें।[3] जन्मांधता अथवा अन्य जन्मजात शारीरिक विकार राज्य प्राप्ति के लिये व्यक्ति को अनधिकारी सिद्ध कर देता था।[4]

एन० एन० ला महोदय ने उक्त विवरण देते हुये हाप्किंस के मत का उल्लेख

---

१. मनु० ९-१०९.

२. दत्वा धनं तुविप्रेभ्यः सर्वदंडसमुत्थितम्।
पुत्रे राज्यं समासृज्य कुर्वति प्रायणं रणे॥ मनु० ९-३२३.
सर्वेषां तु विदित्वैषां समासेन चिकीर्षितम्
स्थापयेतत्र तद्वंश्यं कुर्याच्च समय-क्रियाम्॥ मनु० ७-२०२.

३. प्रज्ञाचक्षुरचक्षुष्ट्वाद् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः
राज्यं न प्राप्तवान् पूर्व स कथं नृपतिर्भवेत्। आदि प० १४१-२५.
राजा प्रतीप के तीन पुत्र थे—देवाभि, शांतनु और वाल्हीक। देवापि धर्मचरण के उद्देश्य से बन में चले गये। देवापिश्चय प्रवव्राज तेषां धर्महितेप्सया॥ महा० आ०९-९६।६२ देवापिकाप्रसंग महाभारत के अतिरिक्त भी विभिन्न स्थानों में मिलता है। कहीं पर वह कुष्ठ पीड़ित है तो कहीं पर वैरागी हैं।

४. ज्येष्ठोपि वधिरः कुष्ठी मूकोन्धः राज्यार्हो भवन्नैव। तथा मनु-१-२१,। में "अनंशौजात्यंध बधिरो" कह कर सामान्य नियम प्रतिपादित किया है।

किया है। हाप्किस के अनुसार जन्मांधत्व ऐसा दोष न था जससे अधिकार का हनन हो सके। ला महोदय की समीक्षा उपयुक्त है कि हाप्किस का उक्त निश्कर्ष दृष्टद्युम्न के आख्यान पर तथा धृतराष्ट्र की वास्तविक राजशक्ति के उपयोग पर आधारित थी। दृष्टद्युम्न का राज्य जब छीन लिया गया था, वे बन में जाकर तपस्या करने लगे थे। तपश्चरण के काल में ही उन्हें नेत्र प्राप्ति हो गई थी (इसका ज्ञानपुरवासियों को नहीं था)। जब उसके मंत्री आक्रामक को हटाकर पुनः राज्य लाभ कर सके, वे तथा अन्य पुरवासी राजा दृष्टद्युम्न को वापस लाने के लिये जाते हैं। हाप्किस इसीसे निश्कर्ष निकालते हैं कि दृष्टद्युम्न के अंधे होते हुये भी उन्हें पुनः राज्य पर प्रतिष्ठत करने का उपक्रम अंधे होने से राज्य प्राप्ति के अयोग्य होने के सिद्धान्त का खंडन करता है। वस्तुतः यह निष्कर्ष दोषपूर्ण ही है क्योंकि दृष्टद्युम्न राज्य को नवीन से प्रथम बार प्राप्त नहीं कर रहे थे। राज्य तो वैधानिक रूप से उन्हें उस समय प्राप्त हुआ था जब वे नेत्र विहीन नहीं थे, इस समय तो उसी वैधानिक राजसत्ता को ही मान्यता देना था न कि नवीन-रूप से राज्य ग्रहण। ला महोदय का यह निष्कर्ष ठीक ही है कि राज्य प्राप्ति के बाद यदि कोई दोष (शारीरिक दोष अंधा होना आदि) आ जाते हैं तो वे राज्य से च्युत नहीं करा सकता है।

राजा की योग्यता तथा गुण

प्राचीन भारत के राजशास्त्र से सम्बन्धी प्रायः सभी ग्रंथ राजा के गुणों में तथा उसमें अपेक्षित योग्यता में विशेष प्रश्रय दिया गया है। अर्थशास्त्र तथा धर्मशास्त्र आदि तो उसके गुणों का वर्णन करते ही हैं, ब्राह्मण ग्रन्थों में भी इस विषय में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध होती है। राजा के लिये उदारचेता महाउत्साही आदि तो होना ही चाहिये, साथ ही साथ विभिन्न विद्याओं में भी उसे विष्णात होना चाहिये। राजा की शिक्षा-दीक्षा आदि भी इसी उद्देश्य को लेकर सुनियोचित होती थी। ऐसे अनेक प्रसंग उपलब्ध होते हैं जनमें राजत्व प्राप्ति के पूर्व किशोरावस्था में (ब्रह्मचर्यावस्था) ही शिक्षा प्राप्ति के लिये राज्यपुत्रों को ऋषि आश्रमों में भेज दिया जाता था—जहाँ से साधारण गृहस्थ बालकों के पुत्रों के समान रहकर गुरु शुश्रूषा के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास करते थे। गुरु का सान्नध्य उन सभी अपेक्षित गुणों को, जिनका अभिनिवेष राजा में आवश्यक समझा जाता था, प्राप्त करने का एकमात्र साधन समझा जाता था।

महाभारत में अनेक स्थलों पर राजा के अभीष्ट गुणों का उल्लेख मिलता है, शांतिपर्व में भीष्म राजा को किस प्रकार के गुण सम्पन्न मंत्रियों को रखना चाहिये, बतलाते हुये राजा के गुणों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत करते हैं। राजा को वीर, क्षमा-

शील पुरुषार्थ का ज्ञाता ऊहापोह विशारद होना चाहिये। उसे मेधावी, वेदज्ञ, प्रियभाषी, इंद्रियसंयमी, न्यायोचित कार्य करने वाला होना चाहिये, आदि. . .।[1]

कौटिल्य ने राजा के गुणों के अनेक प्रकार पर रखा है। सर्वप्रथम वे उसे उच्च कुलोत्पन्न होने तथा इसके आनुषंगिक रूप में प्रजा के हृदय में स्थान प्राप्त करने वाला कहते हैं। उसे इस प्रकार का होना चाहिये जिसमें साधारण व्यक्ति की भी पहुंच उस तक हो सके, इतना अधिक भयानक व्यक्तित्व का न होना चाहिये कि लोगों का साहस उस तक पहुँचने का न हो सके। इसी प्रसंग में वे उसे दैवीय उत्साही तथा वृद्धसेवी होना भी कहते हैं। दूसरे प्रकार के गुणों को उन्होंने "अभिगामिक गुण कह कर संबोधित किया है। इसके अंतरगत गुणी, सत्यवादी, आत्मसंयमी आदि गुणों का निर्देश है। इसके अतिरिक्त उन्होंने राजा में बौद्धिक, साहसिक आदि गुणों का होना भी बतलाया है। इन गुणों से युक्त होने पर ही राजा "आत्मसंयत" की प्राप्ति का अधिकारी हो सकता था। विभिन्न प्रकार के गुणों का विवरण प्रस्तुत करते हुये[2] महा पंडि तभारतरत्न श्री काने महोदय ने एक स्थान पर कहा है कि महाभारत के अनुसार ३६, कामंदकीय नीतिसार के अनुसार १९, तथा अग्निपुराण के अनुसार २१ गुणों का राजा में होना अपेक्षित था, इन्हीं गुणों के द्वारा उसका व्यक्तित्व पूर्णता की ओर अग्रसर हो सकता था।[3]

राजा की योग्यताओं का विधान राजत्व की अधिकारिता का एक भाग है। युवराज की शिक्षा भी उतना ही महत्वपूर्ण स्थान रखती है, इसी कारण राज-शिक्षा को द्वितीय भाग की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में मूल अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण बाद के अर्थशास्त्र के आचार्यों से अंतर रखता है। कौटिल्य अपने परवर्ती आचार्यों और उनके अनुदायों का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि मानवों (मनु के अनुयायी) के अनुसार राजा की शिक्षा के लिए त्रयी, वार्ता तथा दंडनीति, ये तीन विद्यायें थीं। तथा त्रयी का ही एक भाग आन्वीक्षिकी विद्या थी। बार्हस्पत्यों (बृहस्पति के अनुयायी) के अनुसार वार्ता तथा दंड नीति ही विद्यायें तथा औशनस के अनुसार केवल दंडनीति ही विद्या थी, इस अनुदाय के अनुसार सभी विद्याओं का लक्ष्य दंडनीति में ही

---

१. धीरो मर्षा शुचिस्तीक्ष्णः कालेपुरुषकारवित् ।
शुश्रूषः श्रुतवान्श्रोता ऊहापोहविशारदः ।। महा० शांति–पं० ११८।१७.
मेधावी धारणायुक्तो यथान्यायोपपादकः ।
दान्तः सदा प्रियभाषांवी. . . . . । महा ० ११८।१८—२८.

२. कौटिल्य–६–१.

३. P.V. Kane, History of Dharmshastra, Vol III, page 45.

समन्वित था। उन सबका उद्देश्य अंततोगत्वा दंडनीति में आचार्यत्व प्रदान करता था। परन्तु बार्हस्पत्य सूत्र में कौटिल्य का उक्त उद्धरण उपलब्ध नहीं होता है, वहाँ प्रथम अध्याय के तृतीय सूत्र में कहा गया है कि दंडनीति ही केवल एक विद्या है।[1]" यह दृष्टिकोण औशनस के विचारों के अनुरूप ही है और प्राचीन अर्थशास्त्रीय दृष्टिकोण से केवल प्रशासकीय विज्ञान अथवा व्यावहारक राजशास्त्र को ही, अन्य विद्याओं की तुलना में, मान्यता प्रदान करता है। कौटिल्य का दृष्टिकोण इससे भिन्न है। इसके अनुसार आन्विक्षिकी, त्रयीवार्ता तथा दंडनीति का अध्ययन विहित था। ये विचार अन्य धर्मशास्त्रीय आचार्यों के मतों से समता रखते हैं। बार्हस्पत्य सूत्र के समान कौटिल्य वेद के अध्ययन को तिरोहित नहीं करता है, वह आन्वीक्षिकी के अंतरगत सांख्य, योग और लोकायत को ग्रहण करता है।"[2] अतएव यह कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने अपने विचारों में पूर्ववर्ती अर्थशास्त्र के आचार्यों के विचारों तथा धर्मशास्त्र के दृष्टिकोण का समन्वय प्रस्तुत किया है। सामान्य, रूप से धर्मशास्त्र अर्थशास्त्र तथा पुणाणादि का सम्यक् ज्ञान राजा के लिये अपेक्षित था।

स्मृतियों में राजपद के देवत्व को देखते हुये उक्त शीर्षक असंगत सा जान पड़ता है। परन्तु जहाँ पर एक ओर स्मृतियाँ राजा को देवपद पर प्रतिष्ठित करती हैं वहां उनमें राजा की योग्यता के संबंध में भी बहुत कुछ कहा गया है। जहाँ तक राजत्व के आदर्श का प्रश्न है, स्मृतियों ने उसे देवत्व प्रदान किया है, परन्तु राजत्व केवल आदर्श पर ही आधारित नहीं रह सकता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि उक्त आदर्श के साथ-साथ राजा में व्यवहार कुशलता आदि के गुणों का भी निवेश किया जाय। राजकाज की दुरुहता को देखते हुए यह उचित ही जान पड़ता है कि राजा में कुछ विशेष योग्यताओं की अपेक्षा की जाय; इसके अतिरिक्त मनुस्मृति द्वारा प्रदत्त देवत्व राजा से यह आकांक्षा रखता है कि वह अपने देवत्व का अपने सामान्य व्यवहार में प्रयोग करेगा। यह तभी संभव है जब कुछ निम्नतम योग्यतायें निर्धारित की जायं।

याज्ञवल्क्य राजधर्म प्रकरण का प्रारंभ ही राजा की योग्यता के प्रकाशन से करते हैं।[3] उनके अनुसार बतायी गई योग्यताओं को दो भागों में बाँटा जा सकता है।

---

१. दंडनीतिरेव विद्या। अध्याय १, ३.

२. साख्यं योगो लोकायतं चेत्वान्वीक्षिकी। अर्थ–१–२.

३. यह ज्ञातव्य है कि याज्ञवल्क्य राजा के देवत्व के संबंध में मौन हैं, इसलिए वे राजा की योग्यता से ही राजधर्म के सिद्धान्त बताने का श्रीगणेश करते हैं। यह उनकी (याज्ञवल्क्य की) आदर्श की अपेक्षा व्यावहारिकता का परिचायक है।

प्रथम कोटि में आने वाली राजा की योग्यताओं राजनैतिक योग्यतायें कही जा सकती हैं। इस कोटि की योग्यतायें, उसके राजा होने के लिए अत्यन्त आवश्यक कही जा सकती हैं क्योंकि इन्हीं योग्यताओं के ही ऊपर राज्य की सुरक्षा, स्थिति तथा समृद्धि निर्भर करती है। द्वितीय कोटि में आने वाली योग्यतायें यद्यपि साधारण महत्व की हैं किन्तु वे सामान्य योग्यता की कोटि में रखी जा सकती हैं। क्योंकि ये सभी व्यक्तियों के लिए समान रूप से अपेक्षित हैं। दूसरे, ये राजा की सामाजिक स्थिति से संबंधित है (न कि राजनैतिक) इसलिए इन्हें सामान्य योग्यताओं की कोटि में रखा गया है।

याज्ञवल्क्य राजा की प्रथम कोटि में आने वाली योग्यताओं के संबंध में कहते हैं कि उसे महाउत्साही, पंडित, शूरवीर, रहस्यों को जानने वाला (वेद आदि के रहस्यों को जानने वाला), राज्य की शिथिलता को छिपाने वाला (यहाँ मिताक्षराकार का मत उल्लेखनीय है वे कहते हैं कि राज्य के सप्तांग में कोई विकार आ जाने से जो प्रवेश द्वार बन गया है उसको छिपाने वाला), राजनीति में निपुण, त्रयी (तीनों वेद) वार्ता तथा दंड नीति में प्रवीण होना चाहिये।[1] मनुस्मृति में भी राजा की राजनैतिक योग्यता के संबंध में यह कहा गया है कि उसे तीनों वेदों का ज्ञाता तथा वार्ता, दंडनीति आदि का मर्मज्ञ होना चाहिए।[2] मनु तथा याज्ञवल्क्य उसके उपाय तथा षाड-गुण्यमंत्र के ज्ञाता होने का भी उल्लेख करते हैं। ये योग्यतायें राजा के लिए आवश्यक हैं। राज्य की अभिवृद्धि और सुरक्षा इन्हीं के ऊपर पूर्ण रूप से आधारित हैं।

सामान्य योग्यता संबंधी विधानों में राजा के लिए कहा गया है कि वह आन्वीक्षिकी (आत्मविद्या, तर्कशास्त्र आदि) में निष्णात, विनीत, स्मृतिमान् (स्मरण-शील) सत्यवादी, वृद्धों का आदर करने वाला, अश्लील और कठोर वाणी से रहित, धार्मिक तथा अन्य व्यावहारिक वस्तुओं का (जैसे कृषि कार्य, धनोपार्जन आदि के कार्यों

---

१. महोत्साहः स्थूललक्षः कृतज्ञो वृद्धसेवकः ।
विनीतः सत्यसंपन्नः कुलीनः सत्यवाक् शुचिः ।। या० स्मृति, १–३०९.
अदीर्घसूत्रः स्मृतिमानक्षुद्रोऽपरुषस्तथा ।
धार्मिकोऽव्यसनश्चैव प्राज्ञः शूरो रहस्यवित् ।। या० स्मृति, १–३१०.
स्वरंध्रगोप्तान्वीक्षिक्यां दंडनीत्यां तथैव च ।
विनीतस्त्वथ वार्त्तायां त्रय्यां चैव नराधिपः ।। या० स्मृति, १–३११ तथा इन्हीं श्लोकों पर मिताक्षरा की टीका ।

२. त्रैविद्येभ्यस्त्रयीं विद्यां दंड नीतिं च शाश्वतीम् ।
आन्वीक्षिकीं चात्मविद्यां वार्तारंभांश्च लोकतः ।। मनु० ७–४३.

का) ज्ञाता होना चाहिए। इन योग्यताओं के अतिरिक्त राजा को जितेन्द्रिय भी होना चाहिए।[1] मनु तथा याज्ञवल्क्य के द्वारा बताई गई ये योग्यतायें साधारण व्यक्ति के लिए भी है, (जैसा कि अन्यत्र कहा जा चुका है)। नारद राजा की योग्यता के संबंध में स्पष्ट रूप से तो कुछ नहीं कहते हैं परन्तु प्रसंगवश उन्होंने, एक स्थान पर कहा है कि राजा अपने विनय और सदाचरण से ही प्रजा पर प्रभुत्व प्राप्त करता है।[2] इस तरह वे भी राजा के लिये विनयी और नम्र होने की योग्यता बतलाते हैं।

राजा के देवत्व को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि राजा केवल राज्याभिषेक के ही द्वारा देवत्व की प्राप्ति नहीं करता था, उसके देवत्व की पूर्णता इन्हीं योग्यताओं के ही द्वारा होती थी। सामान्य दृष्टि से देखने पर भारतीय विचारधारा के अनुसार सभी प्राणियों में ही देवत्व रहता है, परन्तु राजा में प्राकृतिक शासन करने वाले प्राण-देवताओं का प्राधान्य रहता था तथा वह अपने आचरण में अपनी योग्यता के द्वारा विभिन्न लोक-पालों के विशेष गुणों को प्रतिबिंबित करता था। अतएव स्मृतियों की योजना में राजा का देवत्व उसकी योग्यता से संश्लिष्ट है। मनुस्मृति विशेष कर जहाँ एक ओर राजा के देवत्व की संयोजना बहुत ही युक्तिपूर्ण रूप से रखती है वहीं पर वह विनय आदि गुणों को भी बहुत महत्वपूर्ण स्थान देती है राजा के लिए अविनयी होना बहुत ही बड़ा दोष समझा गया है। मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि अनेक राजा परिषदों से युक्त (मंत्रि-परिषद् आदि) होने पर भी अविनय के कारण नष्ट हो गये, तथा ऐसे बहुत से राजा हुये हैं जो परिषद से हीन होने पर भी केवल अपने अच्छे व्यवहार के ही द्वारा राज्य प्राप्त कर सके। अविनय से नष्ट होने वाले राजाओं में मनु, वेन, सुदास, नहुष तथा निमि आदि का उल्लेख करते हैं तथा अपने अच्छे व्यवहार के द्वारा राज्य प्राप्त करने वालों में वे पृथु और कुबेर आदि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।[3]

उपर्युक्त योग्यताओं और शिक्षा के आदर्श पाठ्यक्रम का उद्देश्य स्पष्ट है। राजा न केवल शासन शक्ति को धारण करने वाला रह जाता है बल्कि वह एक महान व्यक्तित्व का भी प्रतिनिधित्व करता है। विभिन्न विद्याओं के अध्ययन से उसे अपने अधिकार की सीमा का ज्ञान होता है। और इसके द्वारा वह अपने गुरुतर उत्तरदायित्वों को निभाने में सफल हो सकता है। केवल देवत्व अथवा राजत्व ही पर्याप्त नहीं समझा गया था है। उसके मस्तिष्क को शिक्षा के द्वारा ऐसी परिधि के भीतर लाकर देवत्व और

---

१. मनु० ७, ३७, ३८, ३९, ४३, ४४; या० स्मृति १–३०९, ३१०.
२. नारदस्मृति अ० १७ (१८) श्लोक २५ जाली द्वारा अनूदित।
३. मनु० ७।४०, ४१, ४२.

राजत्व का अभिनिवेश किया जाता था जिससे उसके यथेच्छारी होने की कल्पना भी समुत्पन्न न हो सके। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि यह आदर्श पाठ्यक्रम और योग्यतायें उसे "राजर्षि के पद पर प्रतिष्ठित करता था। श्री पी० वी० काने महोदय ने इस प्रसंग की व्याख्या प्रस्तुत की है। वे कहते हैं कि प्राचीन भारतीय ग्रंथकार युवराज की शिक्षा के आदर्श पाठ्यक्रम प्रस्तुत करने में संभवतः उन्हीं भावनाओं से प्रेरित थे जिन भावनाओं को प्लेटो ने अपने रिपब्लिक में, साक्रेटीज में निहित किया था। प्लेटो के विचारों का सारांश इस प्रकार है "जब तक दार्शनिक राजा नहीं होते हैं, अथवा विश्व के राजाओं और युवराजों में दर्शन की "शक्ति" और "सार" तथा राजनैतिक महत्ता और ज्ञान एक रूप नहीं होते हैं अथवा जो साधारण प्रवृत्ति, जिसके द्वारा दोनों में से एक को छोड़ कर अनुपालन करते हैं, को अलग रहने के बाध्य न किया जाय...नगर दुर्दशा से नहीं बच सकते हैं...।[1] प्लेटो के अनुसार दार्शनिक शासक की परिकल्पना उसके शिक्षा के सिद्धान्त का ही प्रतिफल है। आदर्श शिक्षा के ही द्वारा रिपब्लिक की व्यवस्था विकसित होती है। धर्म की संस्थापना तथा रक्षा राजा के सम्यक् बौद्धिक विकास पर ही आधारित रहती है। प्लेटो का दार्शनिक राजा भी इसी प्रकार अपने आदर्श राज्य में धर्म (जस्टिस) का संस्थापकत्व पूर्ण करता है। भारतीय राजदर्शन के आचार्यों ने अपने ज्ञान में उन आवश्यक तत्वों को प्रतिफलित किया है जिनकी उपादेयता को निसंदिग्ध भाव से अनेक विद्वानों ने स्वीकार किया है। अतएव इन विचारों को सार्वकालिक कहा जा सकता है।

राजा के कर्तव्य तथा उत्तरादयित्व

राजा के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए गौतम कहते हैं कि राजा का प्रमुख उत्तरदायित्व सबको सुरक्षा प्रदान करना, वर्णाश्रम को सुरक्षित रखना, उचित दंड प्रदान करना है।[2] सुरक्षा प्रदान करना तो राजा का जीवन भर का यज्ञ ही है, प्रत्येक स्थल पर महाभारत में उपलब्ध होता है कि राजा को प्रजा की रक्षा करना चाहिये, राजा का धर्म है कि वह वर्णाश्रम धर्म को सुरक्षित रखे तथा आंतरिक सुख-शांति को प्राप्त करने में सहायक हो। राजा धर्म के लिये होता है न कि भोग साधन के लिये, राजा संपूर्ण जगत् का रक्षक है। जो राजा अच्छी तरह धर्म का अनुपालन करता है वही पृथ्वी-

---

१. वी० पी० काणे, वाल्यूम ३ पृ० ५२.
२. गौतम—१०–७ ८.

पति होता है, समस्त संसार धर्म पर आधारित हैं तथा धर्म राजा पर आधारित है।[1] कौटिल्य भी वर्णाश्रम को सुरक्षित रखना राजा का उत्तरदायित्व बतलाते हैं। राजा लोगों को अपने कर्तव्य पथ से विचलित न होने दे, प्रजा के सुख में ही राजा का सुख निहित रहता है, प्रजा के कल्याण में ही उसका कल्याण है जो केवल उसे ही अच्छा लगता है उसे वह अच्छा नहीं समझेगा तथा जो प्रजा को अच्छा लगता है उसे वह अच्छा समझेगा।[2] इसलिये राजा अपने कर्तव्यों को पूरा करने के लिये निरंतर सक्रिय रहेगा। सम्पत्ति का मूल सक्रियता है। राजा के कर्तव्यों का यह एक महान् आदर्श है। स्वयं उसकी सत्ता जनहिताय है। उसकी कर्तव्यबुद्धि में अपने सुखचिंतन का कोई महत्व नहीं है, वह निरंतर जनहिताय में ही राजकार्य की ओर सक्रिय रहता है। राजा का यह स्वरूप राजतंत्र के स्वभावगत दोषों का अनायास ही परिहार कर देता है। यह लोक कल्याणकारी राज्य का चित्र प्रस्तुत करता है, आवश्यक तथा तात्कालिक महत्व के कार्यों को वह उसी समय सुनेगा, उसे बाद में करने के लिये छोड़ेगा नहीं क्योंकि इस प्रकार से छोड़ दिये जाने पर वे कभी भी पूरे नहीं हो सकते हैं।[3] केवल समाज में शांति व्यवस्था बनाये रखना ही राजा का कर्तव्य नहीं था, उसके कर्तव्यों को विशाल सूची यह स्पष्ट संकेत करती है कि वह समाज में ऐसा वातावरण प्रस्तुत करेगा जिससे सामाजिकों के लिये यह संभव हो सके कि वे अपने-अपने धर्मों का अनुपालन करते हुये अंतिम लक्ष्य की ओर अग्रसर हो सकें। इसी को स्पष्ट करते हुये महाभारतकार कहते हैं कि सभी भोग राजधर्म में निबद्ध हैं सभी योग राजधर्म में प्रयुक्त हैं, सभी विद्यायें राजधर्म में ही जानी जाती हैं (प्रसिद्ध हैं) तथा सभी राजधर्म यहीं प्रविष्ट हैं अर्थात सभी धर्मों का मूल राजधर्म है।[4] यदि राजधर्म सुप्रयुक्त न हो तो किसी प्रकार का योग, कोई भी विद्या अथवा कोई भी धर्म (वर्णाश्रम) आदि प्रयुक्त न हो सकेगा। राजधर्म के समुचित प्रयोग के द्वारा ही लौकिक और पारलौकिक सुख समृद्धि संभव थी। शंख लिखित स्मृति ने राज्य कल्याणकारी स्वरूप के अन्य पहलू पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि यदि क्षत्रिय अथवा वैश्य भी अपने विहित

---

१. धर्माय राजा भवति न कामकारणाय तु।
माधातरिति जानीहि राजा लोकस्य रक्षिता ॥ महा० शांति ० ९०।३-५.

२. प्रजा सुखे सुखे राज्ञः प्रजानांच हिते हितं।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानांनु प्रियं हितं ॥ कौटि अर्थ-२१-३९।

३. कौटि० अर्थ० २१-३९.

४. सर्वे भोगाः राजधर्मे निबद्धाः सर्वे योगाः राजधर्मे प्रयुक्ताः।
सर्वा विद्या राजधर्मे प्रसिद्धाः सर्वे धर्मा राजधर्मे प्रविष्टाः ॥

धर्म के अनुपालन से जीविकोपार्जन में समर्थ न हो पा रहे हों तो उन्हें राजा के पास जाना चाहिये, राजा उनकी जीविका की प्राप्ति के लिये सहायता करेगा। ऐसे समय में उन्हें राजा के लिये कार्य करना होगा, इसी प्रकार शूद्र भी राज्याश्रित होने पर अपने कला-कौशल का प्रयोग राजा के लिये करेगा।[1] ऐसे कार्य निसंदेह समाज कल्याणकारी वर्तमान कार्यों से श्रेष्ठसमता रखते हैं। शंखलिखित स्मृति का आदेश बेरोजगारी की अवस्था में सभी को राजकीय सेवा में सम्मिलित करने का है। इस प्रसंग पर भारत रत्न श्री काने महोदय का अनुशीलन विशेष महत्व रखता है।[2] राजा का शरीर ग्रहण तो महान क्लेश के लिये होता है न कि भोग के लिये।[3]

राजा की सृष्टि समाज में अराजकता को दूर करने के लिए हुई थी। राजा अपने राजत्व मात्र से ही अराजकता को दूर करके शांति और व्यवस्था रखने का उत्तरदायी था। उसके कर्तव्यों के उक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिए, मनु राजा को सभी लोकपालों के गुणों के अनुरूप कार्य करने का आदेश देते हैं। उसके इन कर्तव्यों को व्रत कहा गया है। मनु कहते हैं कि जिस प्रकार इन्द्र भगवान् चार मास तक संसार में जल की अभिवर्षा करते हैं उसी भांति राजा को भी अपनी प्रजा में आनन्द तथा सुख की अभिवर्षा करनी चाहिये। इस प्रकार इन्द्र के व्रत का आचरण करना चाहिए।[4] तथा जिस प्रकार आठ मास पर्यन्त सूर्य अपनी किरणों के द्वारा जल का हरण करता है संग्रहण करना चाहिये।[5]

---

१. P. V. Kane; 'History of Dharmshastra', Vol III, Page 51.

२. In ancient India though there were naturally no acts of parliament quaranteeing the above serives to the Subjects, the public openion, the views of eminent writers and the practice of.the best kings created an atmosphere in which it was thought that it was imperative for the king representing the state...... to encourage learning...... to give employnent to those who were unemployed . . . etc, etc. P.V. Kane, 'History of Dharmshatra', Vol III. p.52.

३. राज्ञा शरीरग्रहणं न भोगाय महीयते।
क्लेशाय महते पृथ्वीस्वधर्मपरिपालनाय ।। महाभारत.

४. मनु० ९।३०४.

५. मनु० ९।३०५.

अर्थात् राजा को कर ग्रहण इतने धीरे-धीरे करना चाहिए कि किसी को भी कर देने का कष्ट ज्ञात न हो सके। पुनः जिस प्रकार वायु (मारुत) सब प्राणियों के अन्दर प्रवेश करता है उसी प्रकार राजा को भी चाहिए कि चारों ओर (प्रत्येक स्थान में) चरों को भेज कर मारुत व्रत का आचरण करे।[1] जिस प्रकार यम प्रिय तथा द्वेष करने वाले में मृत्यु-समय में कोई अंतर नहीं रखते उसी प्रकार राजा को भी पक्षपात रहित हो कर न्याय व्यवस्था करनी चाहिए।[2] वरुण जिस प्रकार पापियों पर पाश का व्यवहार करते हैं उसी प्रकार राजा को भी पापाचरण करने वाले व्यक्तियों के पाप को रोकने के लिए उन्हें शासित करना चाहिए।[3] जिस प्रकार लोग पूर्ण चन्द्र (संपूर्ण कलाओं से युक्त) को देख कर आह्लादित होते हैं उसी प्रकार राजा को भी व्यक्तियों को आह्लाद प्रदान करना चाहिये।[4] यह यह एक विशेष बात है कि याज्ञवल्क्यादि अन्य तीनों स्मृतिकार राजा के उक्त प्रकार के कार्यों के विषय में कुछ नहीं कहते हैं। नारद अवश्य ही ऐसे कर्मों के करने की ओर तो संकेत नहीं देते हैं परन्तु राजा के स्वयंमेव ऐसे कर्म करने पर उसे विभिन्न देवताओं के समान कहते हैं।

इन कर्मों को तो उसे अपने देव गुणों से युक्त होने के कारण करना अपेक्षित था ही परन्तु इसके अतिरिक्त भी उसके कुछ प्राथमिक कर्तव्य थे जिन्हें उसे राजा होने के कारण करना आवश्यक था। इन द्वितीय प्रकार के कर्तव्यों के अंतर्गत उसे आदेश मिलता है कि नित्यप्रति प्रातःकाल उठकर तीन वेदों को जानने वाले ब्राह्मणों की उपासना करके उनके आदेशों का पालन करना चाहिए।[5]

याज्ञवल्क्य तथा नारद राजा के कर्तव्यों के संबंध में केवल राजशास्त्रीय दृष्टिकोण रखते हैं। उनके अनुसार राजा का यह कर्तव्य होता है कि वह प्रजा को चोर, डाकू, तथा इन्द्रजाल (जादूगीरी के द्वारा ठगना) के द्वारा ठगने वालों से रक्षा करे। यहाँ पर (१-३३६) याज्ञवल्क्य प्रजा को कायस्थों से विशेषरूप से रक्षा करने का उल्लेख करते हैं।[6] कायस्थ शब्द कुछ भ्रांति उत्पन्न कर सकता है। वर्तमान समय में कायस्थ शब्द

---

१. मनु० ९।३०६.
२. मनु० ९।३०७.
३. मनु० ९।३०८.
४. मनु० ९।३०९.
५. मनु० ७, ३६, ३८, ३९.
६. चाटुतस्कर दुर्वृत्तमहासाहसिकादिभिः ।
पीड्यमानाः प्रजाः रक्षेत्कायस्थैश्च विशेषतः ॥ या० स्मृति १।३३६.

जातिवाचक है, परन्तु याज्ञवल्क्य ने इसे जातिवाचक के रूप में नहीं ग्रहण किया है, वे उसे कर्मसूचक अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। कायस्थों से याज्ञवल्क्य का तात्पर्य लेखकों (लेखपालों-विभिन्न प्रकार के राजकीय विवरणों को परिलिखित करने का कार्य करने वाले व्यक्ति) से तथा गणना आदि का हिसाब रखने वालों से है। मिताक्षराकार भी इस मत का समर्थन करते हैं। इन लेखकों से प्रजा की विशेष रूप से रक्षा करने का आशय यह है कि ये थोड़ी सी शब्दावली को परिवर्तित करके प्रजा वर्ग को धन सम्पत्ति की हानि पहुंचा सकते हैं। इसका बहुत ही सुंदर उदाहरण मिलता है—एक स्थान पर किसी व्यक्ति ने कुछ सम्पत्ति बेची थी, सम्पत्ति के विक्रय के लेख में एक वाक्य प्रयुक्त हुआ था "कूपरहितं" अर्थात् कूप से रहित। खरीदने वाले व्यक्ति ने लेखक आदि को उत्कोच (घूस) "देकर" रहित को सहित करवा लिया था। इस तरह से वह कुंए का भी स्वामी बन गया। इस प्रकार विरोध होने पर यह व्यवहार राजा के न्यायालय में लाया गया। राजा ने विभिन्न उपायों से लेखपाल के उक्त कार्य का पता लगा कर उचित न्याय किया। अतएव याज्ञवल्क्य का कायस्थों से विशेष प्रकार से रक्षा करने का विधान उचित ही है।

राजशास्त्र से संबंधित ग्रन्थों में राजा के कर्तव्यों तथा उत्तरदायित्वों को लेकर बहुत अधिक विचार-विमर्श किया गया है। अनेक ग्रंथों में तो पुनरुक्ति दोष भी आ जाता है, उदाहरण के लिये महाभारत में शांतिपर्व में ही ऐसे कई स्थल हैं जिनमें प्रसंग भिन्नता को लेकर राजा के कर्तव्यों का वर्णन बार-बार होता है। अपने वर्णन के ढंग तथा विस्तार के अनुसार इनमें भिन्नता रहती है परन्तु सामान्यरूप से कहा जा सकता है प्राचीन भारतीय राजशास्त्रवेत्ता मुख्य-मुख्य बातों में प्रायः एकमत ही रहते थे। ऐसे कर्तव्यों की सूची में कहा जा सकता है कि राजा को वेद का अध्ययन करने वाला, आत्म-संयमी वर्णावस्था तथा आश्रम व्यवस्था को अक्षुराण रखना, वृद्धसेवी, नीतिकुशल, योग्य मंत्रियों की नियुक्ति करने वाला, राष्ट्र की सुरक्षा का समुचित प्रबंध करने वाला आदि होना चाहिये। इन्हीं कर्तव्यों में हेर-फेर तथा विस्तार और संकोच के साथ राजा का वर्णन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार प्रायः सभी स्मृतिकार राजा के लिये सप्तांग की व्यवस्था, आश्रम तथा वर्णव्यवस्था की रक्षा, न्याय व्यवस्था तथा न्यायकर्म, युद्धादि के अवसरों में किये जाने वाले कार्यों आदि का उल्लेख करते हैं। उत्साही और क्रियाशील राजा की प्रजा भी उसी के समान होती है. इसके विपरीत होने पर न केवल प्रजा में दोष आता है बल्कि वह सरलता से शत्रु द्वारा पराभव को प्राप्त हो सकता है। इसलिये उसे हमेशा जागरुक रहने का आदेश है।[1]

---

१. अर्थशास्त्र—१९—३८.

यह पूर्व में उल्लिखित है कि राजा का जीवन ही एक महान यज्ञ है तथा उसका शरीर ग्रहण क्लेश के लिये होता है न कि भोग के लिये। उसके इस उत्तरदायित्व की पूर्ति के लिये ही विभिन्न ग्रन्थों में राजा की दिन और रात्रिचर्या को किस प्रकार होना चाहिये इसका सूक्ष्म और विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। कौटिल्य के अनुसार राजा अपने समय (दिन और रात को) आठ समान भागों में बाँटेगा, अतः रात और दिन मिलाकर सोलह भाग हो जाते हैं। इसमें, प्रथम भाग में रक्षापुरुषों की नियुक्ति करने के उपरान्त आय-व्यय को स्वयं देखेगा। यहाँ पर, तात्पर्य यह है कि रक्षा की व्यवस्था समुचित है अथवा नहीं इसके लिये वह किसी पर निर्भर नहीं होगा। तथा आय-व्यय के व्यक्तिगत निरीक्षण से राष्ट्रीयधन के समुचित प्रयोग की सर्वाधिक संभावना रहती थी।[1] द्वितीय भाग में प्रजाजनों के कार्यों को देखेगा, तृतीय भाग में स्नान भोजन तथा स्वास्थ्य के कार्य करेगा, चतुर्थ भाग में स्वर्ण ग्रहण करेगा (कर रूप) में तथा कर्मचारियों की नियुक्ति करेगा, पाँचवें भाग में, मंत्रियों के साथ दूतों के हाथ पत्र भेजना तथा भेजे गये गुप्तचरों, दूतों के द्वारा लाई गई गुप्त खबर ग्रहण करना। छठें भाग में अपने प्रिय आमोद-प्रमोद तथा स्वाध्याय करना। सातवें भाग में हस्ति-पदाति आदि सेना के अंगों को देखना तथा आठवें भाग में सेनापति के साथ सैन्य व्यवस्था संबंधी विषयों का चिन्तन करना, दिन के समाप्त होने पर संध्या करना।

रात्रि के प्रथम भाग में गुप्त कार्यों को करने वालों (जासूस, गुप्तचर आदि) से मिलेगा। द्वितीय भाग में स्नान भोजन तृतीय भाग में शंखध्वनि के साथ सोने के लिये जायगा। चौथे और पाँचवें भाग में वह सोता रहेगा। छठे भाग में शंख ध्वनि के साथ उठेगा तथा अपने दैनिक कृत्यों को याद करने के साथ शास्त्रचिंतन करेगा। आठवें भाग में ऋत्विक् पुरोहित तथा आचार्यों का आशीर्वाद ग्रहण करेगा, तथा राजवैद्य, ज्योतिषी तथा प्रमुख रसोइयों को देखकर (अर्थात इनसे विचार विमर्श करके) गो आदि के दर्शन करके सभा में प्रविष्ट हो। यह विस्तृत दैनिक कार्यक्रम राजा को बहुत अधिक व्यस्त रखने वाला है। ऐसे कार्यक्रम में इस बात का कोई स्थान नहीं है कि राजा जनहित और राष्टहित के अतिरिक्त भी कुछ सोचे। यह राजा की अपनी सामर्थ्य पर निर्भर करता था कि वह किस प्रकार इस कार्यक्रम को पूरा करे। इस कठिनाई को देखते हुये भी संभवतः कौटिल्य ने इस आदर्श कार्यक्रम के अंत में यह कहा कि वह (राजा) अपनी सामर्थ्य के अनुसार इसमें हेर फेर करके अपने कर्तव्यों को पूरा करें।[2] इस कार्यक्रम को देखते हुये

---

१. कौट० १९-३८.
२. कौटि० १९-३८.

यह समझना अनुचित होगा कि अर्थशास्त्र के होने के कारण कौटिल्य ने राजा को अत्यधिक व्यस्त रखा है। ठीक इसी प्रकार का आदेश याज्ञवल्क्य स्मृति में भी मिलता है।[1]

याज्ञवल्क्य के अनुसार राजा उठकर रक्षा की व्यवस्था करने के उपरान्त आय-व्यय को स्वयं देखे, तदुपरान्त व्यवहारों को देखकर स्नान करे, स्नान के बाद भोजन इसके बाद स्वर्ण लाने वालों के द्वारा लाये गये स्वर्ण को ग्रहण करके भांडागार रखे। इसके बाद चरों को देखे (गूढ़चर, गुप्तचर), इसके बाद दूतों को (संदेशवाहक) भेजे (मंत्रियों के साथ), इसके बाद आमोद-प्रमोद अथवा विश्वस्त मंत्रियों के साथ-हास परिहास। इसके बाद सेना (बल) का निरीक्षण करके सेनापति के साथ विचार विमर्श करे। तदुपरान्त संध्योपासना करके चरों द्वारा लाये गये विवरणों को सुने। इसके बाद कुछ देर नृत्य-गीत करके भोजन करके स्वाध्ययन करे। शंखध्वनि के साथ सोने जाय तथा इसी प्रकार शंख-ध्वनि के साथ उठे। उठने पर शास्त्रचिंतन करे तथा दैनिक कृत्यों का स्मरण करे। याज्ञवल्क्य स्मृति का विवरण कौटिल्य के विवरण से बहुत अधिक नैकट्य रखता है। यहाँ पर प्रायः वे सभी कार्य याज्ञवल्क्य ने राजा की दिनचर्या में सम्मिलित किये हैं जिनका कौटिल्य ने समय के विभाजन के साथ उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य समय का विभाजन नहीं करते हैं। संभवतः समय का विभाजन राजा की अपनी सुविधा के ऊपर छोड़ दिया गया हो। प्रायः इसी प्रकार का विवरण मनुस्मृति में उपलब्ध होता है।

मनुस्मृति के अनुसार—"राजा को रात्रि के पश्चिम भाग में अर्थात् रात्रि के अंतिम प्रहर-ब्राह्मणमुहूर्त में) उठकर शौचादि से निवृत्त होकर अग्निहोत्रादि करके ब्राह्मणों की पूजा करके सभा में प्रविष्ट होना चाहिये। यहाँ पर टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने सभा का अर्थ आमात्य आदि को देखने अर्थात् उनसे मिलने के स्थान (घर) से लिया है।[2] वहाँ पर दर्शनार्थ आये हुए प्रजाजनों को संभाषण आदि के द्वारा अभिनंदित करके वर्सजित करे, तदुपरान्त मंत्रियों के साथ संधिविग्रह आदि पर मंत्रणा करे।[3] राजा

---

१. कृतरक्षः समुत्थाय पश्येदायव्ययौ स्वयम् ।
व्यवहारास्ततो दृष्ट्वा स्नात्वा भुंजीत कामतः ॥ १–२३७.
हिरण्यं व्यापृतानीतं भांडागारेषु निक्षिपेत् ।
पश्योच्चरास्ततो दूतान्प्रेषयेन्मन्त्रिसंगतः ॥ १–३२८ से ३२२ तक ।

२. उत्थाय पश्चिमे यामे कृतशौचः समाहितः ।
हुताग्निर्ब्राह्मणांश्चार्य प्रविशेत्स शुभांसमाम् । मनु० ७–१४५.
"सभाममात्यादिदर्शन गृहं प्रविशेज्" कुल्लूक भट्ट ।

३. तत्र स्थितः, प्रजाः सर्वाः प्रतिनंद्य विसर्जय त् ।
विसृज्य च प्रजाः सर्वा मंत्रयेत्सह मंत्रिभिः ॥ मनु० ७–१४६.

दोपहर में अथवा आधी रात के समय आराम करके (थकावट दूर करके) मंत्रियों के साथ अपना अकेले ही धर्म, अर्थ और काम का चिंतन करे,[1] परस्पर विरोधी धर्म, अर्थ और काम में उनके परस्पर विरोध को दूर करते हुये किस प्रकार उनका अर्जन किया जाय यह विचार करें तथा विवाह योग्य कन्या के लिये योग्य वर के संबंध में तथा कुमारों की उचित शिक्षा के सम्बन्ध दे ध्यान दें, दूत संप्रेषण करें[2] तथा और जो कार्य शेष हो उन्हें पूरा करे, अंत:पुर की चेष्टाओं पर तथा गुप्तचरों की गतिविधि पर विचार करें।[3]

इसके बाद मनुस्मृति का महत्वपूर्ण आदेश है कि सम्पूर्ण आठ प्रकार (अष्टविध कर्म) के कर्म, पंच-वर्ग तथा राज-मण्डल की चेष्टा—किसका किससे मेल अथवा विरोध है इस पर ध्यान दे।[4] राजमण्डल के सम्बन्ध में युद्ध प्रकरण में उल्लेख हुआ है। यहाँ अष्टविध कर्म तथा पंचवर्ग का स्पष्टीकरण करना ही प्रसंगानुकूल है।

अष्टविध धर्म

ये आठ प्रकार के कर्म कौन हैं जिन पर विचार करने का राजा को आदेश दिया गया है इस पर टीकाकारों में मतभेद है। मनु ने स्वयं इसका स्पष्टीकरण नहीं किया है। मनुस्मृति के प्रसिद्ध टीकाकार मेधातिथि का मत इस प्रकार से है।[5]

१—जिस कार्य को प्रारंभ नहीं किया गया है उसका प्रारंभ करना।
२—प्रारंभ किये हुए कार्य को पूर्ण करना।
३—प्रारंभ किए हुए कार्य में विशेषता सम्पादित करना।
४—किए हुए कार्य का फल संग्रह करना। तथा (५) साम (६) दान (७) भेद और (८) दंड-इन आठों के सम्बन्ध में विचार करना।

अथवा

१—व्यापारियों की सुविधा के लिए मार्ग निर्माण करना।
२—जल में सेतु (पुल) बनवाना।
३—दुर्ग का निर्माण कराना।
४—बने हुए का संस्कार (मरम्मत, संशोधन आदि) कराना।
५—खान खुदवाना।

---

१. मनुस्मृति—७—१५१.
२. मनुस्मृति—७—१५२.
३. मनुस्मृति—७—१५३.
४. मनु०—७।१५४.
५. मनु०—७।१५४ पर मेधातिथि की टीका।

६—शून्य (जन रहित) स्थान को बसाना।

७—हाथियों के पकड़वाने की व्यवस्था करना तथा,

८—घने जंगल कटवाना।

दूसरे टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने इस सम्बन्ध में उशना का वचन उद्धृत किया है। जिसके अनुसार अष्टविध कर्म इस प्रकार होंगे :—

१—आदान, अर्थात् कर ग्रहण करना।

२—विसर्ग-दान, पुरस्कार आदि देना।

३—अमात्य आदि को उचित आज्ञा देना।

४—अनुचित कार्यों का निषेध करना।

५—संदिग्ध विषय में निर्णय देना।

६—व्यवहार का देखना।

७—उचित दंड की व्यवस्था करना तथा,

८—पाप कर्म की शुद्धि के लिए प्रायश्चित की व्यवस्था।

इस प्रकार यद्यपि टीकाकारों में मतैक्य नहीं है तो भी यह निर्विवाद है कि ये सभी कार्य राजा के कर्तव्य की कोटि में आते हैं और इनके सम्बन्ध में चिन्तन तथा मंत्रणा करना राजा के लिए आवश्यक है।

पंच वर्ग—कुल्लूक भट्ट ने पंचवर्ग से पाँच प्रकार के चरों (भेदिया) को लिया है।[1] ये चर छद्मवेष में गुप्त रीति से पता लगाने के लिए नियुक्त किये जाते थे। इनका कर्तव्य अपने देश में होने वाले षडयंत्र का (प्रजा अथवा राज-कर्मचारियों के सम्बन्ध में) पता राजा को देना था। अतः उन चरों की सूचना के सम्बन्ध में मंत्रणा अथवा विचार करना भी राजा के आवश्यक कृत्यों में से था। इन पाँच प्रकार के चरों का उल्लेख इस प्रकार है—

१—कापटिक–यह प्रायः छद्मवेश में कोई छात्र होता था। वह इस राजा से वृत्ति और पुरस्कार पाता था और छात्र के वेष में रह कर अपने राष्ट्र में अथवा परराष्ट्र में निवास करके गुप्त सूचना राजा को पहुंचाता था।

२–उदासीन– जो पहिले संन्यासी हो गया हो परन्तु बाद में किसी कारण से उस आश्रम से गिर गया हो वह उसी वेश में राजा से आश्रय पाकर किसी मठ आदि में अड्डा जमा कर इसी प्रकार रहस्य का भेदन करके अपने स्वामी राजा को समय-समय पर सूचना दिया करता था।

३—गृहपति—गृहस्थ के वेष में यह रहता था। दिखावे के लिए कृषि आदि से

---

१. ऊपर के श्लोक पर कुल्लूक भट्ट की टीका।

अपनी जीविका करता था तथा गुप्त रीति से यह भी भेद लेता रहता था और समय-समय पर राजा को सूचना देता था। वह भी राजा से वृत्ति पाता था। अपने राष्ट्र में रहने पर अपने यहाँ की तथा परराष्ट्र में बस कर वहाँ के रहस्य की सूचना देना उसका कार्य था।

४ वैदेहिक—वाणिज्य व्यवसाय करने के बहाने जो रहस्य का पता लगाने के लिए नियुक्त रहता था।

५ तापस—जटाधारी अथवा मुंडित तपस्वी के वेष में रह कर जो भेद लेता रहता था। राजा ने इन कर्मों का उल्लेख केवल मनु में ही प्राप्त होता है।

अष्टविध कर्म और पंचवर्ग का उल्लेख इस प्रकार से किसी और ने नहीं किया है। मनु इसी प्रसंग में राजमंडल की रक्षा आदि का किस प्रकार से चिन्तन करना चाहिये इसका भी उल्लेख करते हैं।[1] मंत्रियों के साथ उक्त प्रकार से मंत्रणा करके, व्यायाम करके, स्नानादि से निवृत्त होकर, भोजन के लिये अंत:पुर में प्रविष्ट होना चाहिये।[2] भोजन करके वहीं अंत:पुर में भार्या के साथ मनोविनोद करे। यहाँ पर मनु के "यथा कालं" का टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने यह अर्थ लिया है कि दिन के सातवें भाग को इस प्रकार व्यतीत कर आठवें भाग में पुन: कार्यों का चिंतन करे।[3] विश्राम के बाद अलंकृत होकर सैनिकों, हस्ति, अश्व आदि वाहनों को तथा शस्त्रादि को देखे अथवा उनका निरीक्षण करे, इस कार्य के बाद, संध्योपासना से निवृत्त होकर, शस्त्रधारण करके भीतर के कमरे में जाकर चरों से उनके अपने-अपने कार्यों का विवरण सुने। चरों से निवृत्त होकर पुन: भोजन करने के लिये अंत:पुर में प्रवेश करे, भोजन करके गीत आदि के द्वारा मनोविनोद करके पुन: प्रात:-काल उठने के लिये सोने जाय।[4]

यह आदेश रोगरहित राजा के लिये है यदि वह अस्वस्थ है तो यह आवश्यक नहीं है कि अपने शरीर की चिंता न करते हुए वह इस प्रकार की कठोर दिनचर्या का पालन करे। अस्वस्थ होने पर वह सारा कार्य भृत्यों पर छोड़ सकता है।[5] मनुस्मृति में उपलब्ध राजा की दिनचर्या से सबसे अधिक विस्तार मिलता है। मनु और याज्ञवल्क्य, कौटिल्य के समान राजा को समय की परिधि में बाँध कर दिन चर्या का उल्लेख नहीं करते हैं,

---

१. मनुस्मृति ७।१५४–२१५.
२. मनु० ७।२१०.
३. "सप्तमे दिवसस्याभागेतत्र विहृत्याष्टमे भागेपुनः कार्याणिचिंतयेत्"
मनु० ७।२२१ तथा उस पर टीका।
४. मनुस्मृति ७–२१२, २२३, २२४, २२५.
५. मनुस्मृति ७।२२६.

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कि वे दोनों राजा को इतनी सुविधा प्रदान करते हैं कि वह उक्त कार्यों को अपने सामर्थ्य से दिन के किन्हीं भी मागों में करे, किन्तु करे अवश्य ।

राजा को अपनी सुरक्षा का भी पर्याप्त ध्यान देना उसके प्रमुख कर्तव्यों में से था। राजा यदि स्वयं अपनी सुरक्षा की व्यवस्था करने में असमर्थ रहता है तो उसके लिये यह संभव नहीं होगा कि वह अपनी प्रजा की सुरक्षा का समुचित प्रबंध कर सके। इसके अतिरिक्त राजतंत्र में अन्य तंत्रों की अपेक्षा सबसे अधिक षडयंत्र का स्थान रहता है। इसका प्रमुख कारण राजत्व का उत्तराधिकार का सिद्धान्त ही कहा जा सकता है। उत्तराधिकार को लेकर, अनेक षडयंत्र और रक्तपात के उदाहरण इतिहास में भरे पड़े हैं। अतः यह कोई नवीनता नहीं है कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्र भी इस विषय पर्याप्त सतर्कता का व्यवहार करते हैं। राजा की सुरक्षा के विधान में अर्थशास्त्र में कुछ अधिक विस्तार मिलता है ।[1]

अर्थशास्त्र राजा को पुत्र और स्त्री से सर्वाधिक बचके रहने (इनसे रक्षा के लिये) का आदेश देते हैं। राजपुत्र के विषय में कौटिल्य कहते हैं कि राजा को पुत्र के जन्म से ही अपनी सुरक्षा की चिंता करनी चाहिये, क्योंकि ये पुत्र केकड़े के समान होते हैं, केकड़े का यह स्वभाव माना गया है कि वह अपने जनक को ही खा जाता है। इसी प्रकार राजपुत्र भी जनक भक्षी होते हैं। कौटिल्य पूर्वाचार्य भारद्वाज आदि के विचारों का भी उल्लेख करते हैं। भारद्वाज के अनुसार जब पुत्र में पितृस्नेह का अभाव दिखे तब उसका गुप्त रूप से वध कर देना चाहिये। विशालाक्ष के अनुसार, उक्त प्रकार से वध करना क्रूरता है इसलिये उन्हें समीप के किसी एक स्थान पर अवरुद्ध (कैद) कर देना चाहिये। पाराशर के अनुसार, इस प्रकार समीप में ही कैद करके रखना तो सर्प से उत्पन्न भय के समान है। जिस तरह से घर में कहीं सर्प के होने से यह भय बना रहता है कि कहीं यह काट न ले, इस प्रकार से समीपस्थ बंदी राजपुत्र से भी वह भय बना रह सकता है कि कब वह अवसर प्रतिकार के लिए उद्यत हो जाय, इसलिए उसे दूर के दुर्ग में रखना उचित है अथवा सीमारक्षकों के पास भेज दें। परन्तु पिशुन के अनुसार यह भी अनुचित है क्योंकि वह अपनी इस स्थिति के कारणों को जानकर उन सीमारक्षकों से मैत्री करके भय उत्पन्न कर सकता है, इसलिये उसे अपने देश से बाहर दूर किसी विदेशी सामन्त[2] के

---

१. कौटि० अ० अधि० १–अध्याय १७, पूरा

२. शामशास्त्री ने कौटिल्य के पद का इस प्रकार अनुवाद किया है। 'Hence it is better to throw him inside a fort belonging to foreign King far away from his own state.
तस्मात्स्वविषयादपकृष्टे सामंतदुर्गं वासः श्रेयानिति ॥

दुर्ग में निवास कराना ही ठीक है। कौणापदंत इसका भी विरोध करते हैं, यह गाय के बछड़े को दूसरे के हाथ में दे देने के समान हैं, जिस प्रकार बछड़े के द्वारा ही गाय को दुहा जाता है (बछड़े की सहायता से) उसी प्रकार वह सामंत राजपुत्र के द्वारा राजा को (पिता को) दुहेगा (अर्थात हानि पहुँचायेगा) इसलिये यह उचित है कि राजकुमार की माता के बंधुओं के पास उसे रखा जाय। वातव्याधि को यह व्यवस्था भी उपयुक्त नहीं मालूम होती है, वे इसे ध्वजा के समान समझते हैं जिसकी सहायता से भिक्षा एकत्र की जाती है। संभवतः यहाँ यह तात्पर्य है कि जिस प्रकार से विभिन्न संप्रदायों के ध्वज विशेष तथा वस्त्रविशेष होते हैं तथा जिनकी सहायता से ये साम्प्रदायिक भिक्षा एकत्र करते हैं। उसी तरह से राजपुत्र को भिक्षा एकत्र (धन एकत्र) करने के लिये प्रयोग कर सकते हैं। इसलिये उसे ग्राम्यधर्म (विषय भोग) में लिप्त करा दे, सुख में आसक्ति होने पर पुत्र पिता से द्रोह नहीं कर सकेगा।

कौटिल्य स्वयं उक्त पूर्वाचार्यों के मत से सहमत नहीं है। वे स्वयं अपने विचार बहुत ही मनोवैज्ञानिकता पर आधारित करते हुये कहते हैं कि विषय भोग में राजकुमारों को लगाना तो जीवित ही मरे के समान है—जब रानी ऋतुमती हो तब ऋत्विज इंद्र और बृहस्पति के लिये चरु दें। (गर्भाधान संस्कार) ? गर्भवती होने पर कौमार भृत्य[1] गर्भ के पुष्ट (पुंसवन ?) होने तथा सुखपूर्वक उत्पन्न होने के लिये यत्न करें। प्रजजन के बाद पुरोहित पुत्र संस्कार करें, जब वह कुछ समर्थ होता है तब विद्वानों के पास (शिक्षा ग्रहण के लिये) ले जाना चाहिये। इस अवस्था में आम्भीय आचार्य के अनुसार उसका एक साथी[2] मृगया, मद्य, जुआ, स्त्री आदि की ओर आकर्षित करके कहे कि अपने पिता के ऊपर आक्रमण करके राज्य ले लो, दूसरा सत्त्री उसे ऐसा करने से मना करे। कौटिल्य इस मत का विरोध करते हुये कहते हैं कि यह बहुत बड़ा दोष है कि सरलबुद्धि बालकों के मस्तिष्क पर कुटिल विचारों की छाप डालना, इसलिये सरलबुद्धि बालक को सच्चा धर्म और अर्थ का ही उपदेश देना चाहिये यदि वह उसमें बुरी आदतें आने लगें तो उसे मनोवैज्ञानिक तरीके से दूर करना चाहिये—यदि मद्यपान का दोष हो तो मद्य में ऐसा पदार्थ मिला

---

१. शिशु चिकित्सक.
२. सत्त्रिन् "one who contantly performs sacrifices, or liberal house holder–" Sanskrit English Dictionary –V.S.Apte. शामशास्त्री ने इसका अनुवाद Classmates spies किया है। लेकिन साथी ही उपयुक्त शब्द जान पड़ता है।

कर पिलाया जाय जिससे उद्विग्नता न बढ़े, इसी प्रकार अन्य दोषों का प्रतीकार कौटिल्य बतलाते हैं। कौटिल्य राजा को राजपुत्रों से सतर्क रहने में विशेष विस्तार दिखलाते हैं। पूर्वाचार्यों के मतों का उल्लेख इस बात की ओर संकेत नहीं करता है कि कौटिल्य उनका उल्लेख केवल उनके मतों का खंडन करने के ही लिये कर रहे हैं। यह संभव है कि एक विचार के रूप में वह भी राजा के सामने रहता है और यदि राजा अन्य साधनों से पुत्रों को उचित मार्ग में लाने में असमर्थ होता है तब अंततोगत्वा इन साधनों का भी वह प्रयोग कर सकता है। अयोग्य पुत्र राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता था, उसे अपनी अयोग्यता के कारण राज्य से निकाला भी जा सकता है।[1]

इसी प्रकरण के २१वें अध्याय में पुनः राजा की व्यक्तिगत सुरक्षा को किस प्रकार से संयोजित करना चाहिये इस पर भी कौटिल्य विशाल सामग्री प्रस्तुत करते हैं। विस्तार भय से उन सबका यहाँ उल्लेख संभव नहीं है। उदाहरण के रूप में दो एक आदेशों का उल्लेख किया जा सकता है। भोजन में मिले विष से बचने के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि खाने से पूर्व भोजन का कुछ भाग अग्नि को समर्पित (बलि) करे तथा पक्षियों को बलि रूप में देने क बाद भोजन प्रारंभ करे। यदि भोजन विषयुक्त होगा तो अग्नि में डालने पर नीले रंग की लपट और धुंवा चट, चट शब्द के साथ निकलेगा। इसी प्रकार पक्षियों को दिया जाने पर उनकी मृत्यु हो सकती है। इस परीक्षा से विषाक्त भोजन है या नहीं इसका ज्ञान करके भोजन करना चाहिये।[2] ऐसे पेड़-पौधे और पशुओं का भी वर्णन उपलब्ध होता है जिनको घर में रखने से सर्प का भय नहीं रहता है।[3]

मनु भी राजा को अपनी सुरक्षा के लिये सतर्क रहने का आदेश देते हैं। भोजन आदि में विष मिलाकर कोई उसके प्राण लेने का यत्न न करे इसके लिये विशेष परिचारकों आदि के द्वारा अन्न का भली-भांति परीक्षण कराने के बाद उसका ग्रहण करें। पुनः संपूर्ण भोज्य पदार्थों में विष नाश करने वाली औषधि को नियोजित करे। इसके अतिरिक्त विष दूर करने वाले रत्नों को भी सर्वदा धारण करे।[4] स्नानादि के कार्यों में भी सुपरीक्षित

---

१. न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत् । अर्थ–१–१८–५३.
एकस्थमथ संरुन्ध्यात्पुत्रवान्वा: प्रवासयेत् ॥ १–१९–२०.
२. तद्‌द्वारा तथैव पुस्तिभुंजीत पूर्वमग्नयो वयोभ्यश्च बलिंकृत्वा । १–२१–९.
अग्नेर्ज्वाला धूमनीलता शब्दस्फोटनं च विषयुक्तस्य वयसां विपत्तिश्च ॥ १-२१-१०.
३. जीवन्ती श्वेता—सर्पविषाणि वा न प्रसहन्ते ॥ १–२०–९.
मर्जारमयूरनकुल—सर्पान्भक्षयंति ॥ ९–२०–१० आदि.
४. मनु० ७–२१२.

स्त्रियों की ही नियुक्ति होनी चाहिए ।[1] क्योंकि ऐसा भी संभव हो सकता है कि आभरण आदि के अंदर अस्त्र रखे हों अथवा उसके आभरण ही विषयुक्त हों। इस प्रकार राजा को अपनी रक्षा हर प्रकार से करनी चाहिए। मनु ने तो इस आत्मरक्षा के सिद्धान्त को बहुत ही आगे तक बढ़ा दिया है। वे कहते हैं कि आपत्ति निवारण के लिए राजा को धन का रक्षण करना चाहिए, अपनी स्त्री की रक्षा धन की हानि सह कर भी करनी चाहिए, परन्तु अपनी रक्षा तो निरन्तर करनी चाहिये, धन और स्त्री के मुकाबले में भी ।[2] पुनः अपने संरक्षण के लिए स्वभूमि त्याग भी यदि करना पड़े तो वह भी करना चाहिए, भले ही वह भूमि अत्यधिक उपजाऊ तथा हर प्रकार से सम्पदादायिनी हो ।[3] राजा की आत्मरक्षा का महत्व और भी अधिक इस कारण हो जाता है कि राजा के नष्ट हो जाने पर तो अन्य वस्तुओं का कोई महत्व ही नहीं रह जाता । उनका महत्व तो राजा के राजा रहने पर है।

राजा काल का कारण होता है

प्राचीन भारत के राजनीति शास्त्र के आचार्यों ने राजा को कहीं युगप्रवर्तक तथा कहीं पर उसे काल का कारण बतलाया है।[4] इसका यह अर्थ नहीं होता कि राजा में ऐसी शक्ति रहती है कि वह कलियुग को सत्ययुग आदि अन्य युगों में परिवर्तित कर दे। मनु ने राजा को युग प्रवर्तक कहने के स्थान पर राजा को ही युग कहा है। अपनी चेष्टा विशेष के ही द्वारा वह सत्य, त्रेता, द्वापर तथा कलि आदि को अपने राज्य में स्थापित करता है। मनु के अनुसार राजा के प्रसुप्त रहने पर कलियुग रहता है, यहाँ पर राजा के प्रसुप्त होने का तात्पर्य राजकाज (शांति व्यवस्था आदि) के प्रति सचेत न रहने से है, अवश्य ही ऐसे राजा के राज्य में सभी प्रकार की अव्यवस्था संभव है। जब राजा जागृत रहता है (परिस्थितियों को जानता है), परन्तु तदनुकूल कार्य नहीं करता है तब द्वापर, राजा के कर्म में लगे होने पर (कर्म अथवा संधि विग्रहादि के कार्यों में लगे होने पर) त्रेता युग तथा शास्त्रों के अनुसार आचरण करने पर सत्ययुग कहा गया है।[5] दूसरे शब्दों

---

१. मनु० ७–२१८.
२. मनु० ७–२१९.
३. मनु० ७–२१३.
४ कृतं त्रेतायुगं चैव द्वापरं कलिरेव च ।
राज्ञो वृत्तानि सर्वाणि राजा हि युगमुच्यते ॥ मनु० ९।३०१.
ठीक यही श्लोक महाभारत में भी उपलब्ध होता है। शा० प० ९१।६.
५. कलिः प्रसुप्तो भवति स जाग्रद्द्वापरं युगम् ।
कर्मस्वभ्युद्यतस्त्रेता विचरंस्तु कृतं युगम् । मनु० ९ –३०२.

में राजा अपने प्रशासकीय कौशल से समाज में ऐसी स्थिति ला सकता है जिसके द्वारा प्रजावर्ग को उक्त युगों के समान ही स्थिति जान पड़ेगी। राजा के प्रमाद करने पर राज्य नरक में परिवर्तित हो सकता है तथा वहीं एक अच्छे राजा के द्वारा स्वर्गीय सुखों के साधन प्रस्तुत किये जा सकते हैं। यही राजा का युगप्रवर्तकत्व है। सामाजिक स्तर का नीचे गिरना तथा उसमें वृद्धि होना यह सब राजा के ही ऊपर निर्भर करता है। मनुस्मृति में ही इन सब का उदाहरण भी दिया गया है। मनु वर्णसंकर तथा नियोग आदि के विषय में अपने विचार प्रकट करते समय इन सबका कारण वेन का कुशासन बतलाते हैं। इसी तरह पृथु आदि का भी वे राज्य की सामाजिक स्थिति ठीक करने वालों के रूप में उल्लेख करते हैं। राज्य की अशांति, अव्यवस्था आदि सब राजा पर ही निर्भर करती है।[1] इसीलिए राजा को काल का कारण, युगप्रवर्तक तथा युगरूप आदि कहा जाता है। इस प्रसंग का राजा के उत्तरदायित्व के रूप में भी लिया जा सकता है, सभी प्रकार की व्यवस्था अथवा अव्यवस्था के लिये राजा का ही उत्तरदायित्व रहता है।

सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि राजा राज्य की शक्ति को धारण करता है तथा उसकी सृष्टि मनु आदि विचारकों के अनुसार समाज में बढ़ती हुई अराजकता को दूर करने के लिये की गयी थी। अतएव राज्य अथवा राजा का सर्वप्रथम उत्तरदायित्व समाज की परंपरागत सामाजिकता को अक्षुराण बनाये रखना था। उक्त समाज वर्णाश्रम धर्म पर आधारित था। इस व्यवस्था को स्थिर रखना राजा का प्रारंभिक उत्तरदायित्व था। समाज की धर्मस्थ व्यवस्था में होने वाले व्यतिरेक का शमन "दंड" के उचित और अनुकूल प्रयोग के द्वारा विहित था। ब्रह्मतेजमय दंड की सृष्टि भी दैवीय थी तथा इस सृष्टि का उद्देश्य राजा को उसके उत्तरदायित्वों को भली-भाँति पूरा कर सकने की शक्ति प्रदान करना था। दंड के प्रयोग के द्वारा ही वह धर्म की रक्षा कर सकता था, धर्म और दंड को सहोदर की भाँति संज्ञा दी गई है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि "धर्म" के लिये "राजा" है तथा राजा का हितसाधक दंड है परन्तु दंड का प्रयोग भी धर्मानुकूल ही विहित था अतः धर्म के अभाव में दंड का प्रयोग अनिष्टकारी था; तथा दण्ड के अभाव में धर्म की संस्थापना तथा सुरक्षा असंभव थी, इसी तरह से धर्म और दंड, दोनों के अभाव में राजा निरवीर्य थे। इस प्रकार से राजा, धर्म, तथा दंड, ये तीनों ही एक सूत्र में संबद्ध थे, अतएव अन्योन्याश्रित थे। दंडशक्ति के प्रयोग के कारण राजा हो को "काल का कारण" कहा गया है। यह महाभारत के एक प्रसंग से और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।

---

१. के० वी० आर० आयंगर "सोशल एण्ड पोलिटिकल आसपेक्टस आफ मनुस्मृति" पृ० १७८।

राजधर्मानुशासन पर्व (शांतिपर्व ७४) में युधिष्ठिर भीष्म से प्रश्न करते हैं, "दंडनीति तथा राजा दोनों मिलकर ही कार्य करते हैं, इनमें से किसके क्या करने से कार्य-सिद्धि होती है, यह मुझे बताइये ?"[1] इस प्रश्न के उत्तर में भीष्म दंडनीति के प्रयोग के द्वारा वर्णाश्रम धर्म आदि की रक्षा का उल्लेख करते हुये कहते हैं कि काल राजा का कारण है अथवा राजा काल का कारण है इसमें तुम्हें संशय नहीं होना चाहिये, राजा ही काल का कारण है।[2] जब राजा दंडनीति का पूरा-पूरा तथा भलीभाँति प्रयोग करता है, तब वह कृतयुग (सत्य) नाम के काल की सृष्टि करता है।" दंडशक्ति को सम्यक् प्रयोग करने पर केवल धर्म ही धर्म इस युग में दिखलाई देता है (०८६) अधर्म नहीं दिखलाई देता है; जब राजा दंडनीति के तीन चौथाई अंश का ही प्रयोग करता है, एक चौथाई अंश को छोड़ देता है, तब त्रेतायुग प्रारंभ होता है (८७)। साधारण रूप से कहा जा सकता है कि इस युग की विशेषता यह रहती है कि इसमें तीन चौथाई धर्म के साथ-साथ एक चौथाई अधर्म भी पीछे लगा रहता है। जब राजा दंडनीति का पूर्णप्रयोग न करके केवल आधे का ही प्रयोग करता है तब वह द्वापर युग का प्रवर्तक होता है (८९)। इस युग में धर्म अधर्म बराबर रहते हैं। तथा कलियुग का प्रारंभ उस समय होता है जब राजा दंडनीति का पूर्णतया त्याग करदे तथा अनुचित साधनों से प्रजा को कष्ट दे (९१)।[3] इसलिये राजा ही सत्ययुग की सृष्टि करने वाला होता है तथा अन्य युगों का भी वही कारण होता है (९८)। यदि दंडनीति के सम्यक् प्रयोग के द्वारा वह "कृतयुग" का प्रवर्तक होता है तो वह अक्षय स्वर्ग प्राप्त करता है,[4] तथा त्रेतायुग का प्रवर्तक होने पर अक्षय स्वर्ग नहीं मिलता है; द्वापर में पुण्य के अनुपात से स्वर्ग प्राप्ति होती है, परन्तु कलियुग के स्रष्टा को अत्यन्त पाप का भागी होना पड़ता है। (९८–१००)

उक्त प्रसंग राजा, दंड तथा धर्म के परस्पर एक दूसरे के ऊपर आधारित रहने

---

१. दंडनीतिश्च राजा च समस्तौ तावुभावपि ।
कस्य किं कुर्वतः सिद्धयेत् तन्मे-ब्रूहिपितामह ॥

२. कालोवा कारणं राज्ञो राजा वा कालकारणम् ।
इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम् ॥ शां–९१, ७९.

३. ऐसा प्रतीत होता है कि यह प्रसंग मनु० ९–३०२ का (जिसका विवरण आयुका है) ही भाष्य हो ।

४. 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यं विशंतिजनाः' के अनुसार पुण्य समाप्त होने पर स्वर्ग से लौट कर मर्त्यलोक में आना पड़ता है, परन्तु कृतयुग के प्रवर्तक का पुण्य कभी क्षीण नहीं होता है—यह भाव यहाँ प्रतीत होता है ।

को ही स्पष्ट करते हैं। दंड और धर्म का प्रयोग करने वाला राजा ही है। जिस प्रकार से और जिस अनुपात में वह इनका सामंजस्य रखते हुये प्रयोग करेगा, उसी प्रकार के युग का वह प्रवर्तक कहा जायेगा। यदि वह दंड और धर्म के प्रति जागरूक रहके उनके प्रयोग संस्थापन में दत्तचित्त रहता है तब समाज की दशा उस स्थिति से भिन्न होगी जिसमें वह (राजा) केवल अपने स्वार्थ साधन के लिये ही अपनी शक्ति का प्रयोग करता है। यह विचारधारा राजा पर एक महान उत्तरदायित्व का आरोप करती है। उसे हर समय यह देखते रहने का आदेश (इससे) मिलता है कि ऐसी परंपरायें तो नहीं विकसित हो रहीं जिनसे वर्णाश्रम धर्म को आघात पहुँच सकता है अथवा राजकर्मचारी उचित न्याय न करके दोषी को दोष मुक्त करते हों तथा निर्दोष को दंडित करते हों, आदि, सामाजिक, राजनैतिक, न्यायिक तथा धार्मिक आदि सभी क्षेत्रों में सूक्ष्म तथा व्यापक दृष्टि रखने का उत्तरदायित्व उस पर आ जाता था। स्वस्थ परंपराओं के विकास में सहयोग देना तथा अनुचित का शमन कर धर्मशास्त्रों द्वारा विहिता मर्यादा को समाज में संस्थापन करना उसके राजत्व का एक भाग हो जाता है। राजा स्वयं तो कानून का निर्माता नहीं होता था परन्तु उसकी जागृत और शुषुप्तावस्था आचार (usages) और अनाचार के द्वारा शास्त्रीय विधियों में पर्याप्त प्रभाव डाल सकती थीं। आचार को परम धर्म कहा गया है। वह तभी तक है जब वह शास्त्रों से अनुमोदित हो। इसकेलिये राजा के सलाह-कार के रूप में विद्वान ब्राह्मण और पुरोहित आदि (वह स्वयं भी वेदज्ञ होता था) श्रुति और स्मृति का अर्थ प्रस्तुत करने के लिये सदैव तत्पर रहते थे, इनके अनुसार ही वह बढ़ते हुये अनाचार को दंडशक्ति के द्वारा रोकता था। वेन का अति प्राचीन प्रसंग है, उसके समय में नियोग आदि कुप्रथायें सामान्य हो गई थी, (नियोग का शास्त्रीय विधान था, परन्तु उस समय उसका शास्त्रीय महत्व समाप्त हो गया था) और एक प्रकार की अराजकता आ गई थी। इसके विपरीत पृथु का (वेनु पुत्र) समय धर्मानुकूल समाज का प्रतीक माना जाता है। इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि राजा अच्छी और खराब परंपराओं का प्रोत्साहित करके अच्छे अथवा बुरे समाज का स्रष्टा हो सकता है। और इसीलिये उसे उन उन कालों का बनाने वाला अथवा कारण कहा जाता है। इसी विचारधारा के परिणामस्वरूप ही विभिन्न हिन्दू राजाओं को सक्रिय प्रेरणा मिली जिनसे उन्होंने हिन्दुत्व के पुनरुत्थान का प्रयास किया।[1]

---

१. के० एम० पणिक्कर "ओरीजिन एण्ड इवेलूशन, आफ किंगशिप पृ० ७७। "It was this doctrine of being makers of the age which gave to the idea of Hindu kingship the dynamic

राजा की निरंकुशता के दमन के उपाय

राजा की वास्तविक स्थिति को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि वह निरंकुश नहीं था। परन्तु यह भी सत्य ही है कि राज्य का संपूर्ण उत्तरदायित्व तथा संपूर्ण शक्ति राजा के ऊपर ही थी। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि राजा निरंकुश क्यों नहीं था? यह भी मान्य है कि राज्य में कोई ऐसी शक्ति नहीं थी जो राजा को स्ववश में रख सकती। इन स्वाभाविक शंकाओं का समाधान दो प्रकार से है, प्रथम, राज्य में धर्म ही एक ऐसा नियम था जिससे सब विषय नियमित होते थे। समाज में ये धार्मिक नियम ही समाज का समाजकत्व स्थिर रखते थे। ये धार्मिक नियम धर्मशास्त्रों आदि के द्वारा ऋषि महात्माओं आदि के द्वारा संचालित रहते थे। राजा के हाथ में यह अधिकार नहीं था कि वह उन धर्म के नियमों में जरा भी परिवर्तन ला सके। वह धर्म की व्याख्या कर सकता था। धार्मिक विवादों को ठीक कर सकता था। परन्तु उनमें परिवर्तन नहीं कर सकता था। वही कारण है कि सामाजिक व्यवस्था, वर्ण व्यवस्था तथा धर्म उसकी निरंकुशता के लिए बहुत ही बड़े निरोधक थे। द्वितीय, राजा को दंडशक्ति के आधीन कहा गया है। उस दंडशक्ति को राजा का भी राजा कहा गया है। राजा की निरंकुशता को दूर करने के लिये धर्म तथा दंड शक्ति ऐसे अंकुश थे जिनके कारण राजा का निरंकुश होना संभव नहीं था, और यदि वह (राजा) निरंकुश होने का प्रयत्न करता तो उसकी गति वेन आदि के समान ही हो सकती थी।

उपर्युक्त विचार-विमर्श के निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि राजा असीमित शक्ति संपन्न नहीं था। शास्त्रीय विधान उसके कार्यों के नियामक थे। राजा को विधि से श्रेष्ठ समझने की कोई विचारधारा उपलब्ध नहीं होती है। इस प्रसंग पर श्री प्रमथनाथ बनर्जी महोदय ने ह्वेनसांग के एक संस्मरण का उल्लेख किया है, ह्वेनसांग ने बिंबसार के बारे में एक कथा सुनी थी, राजधानी में अग्निकांड बहुत होते थे, उन्हें रोकने के लिये बिंबसार ने यह आज्ञा प्रचारित की कि जिसके घर में आग लगेगी उसे ठंडे जंगल में निर्वासित कर दिया जायगा। एक दिन राजमहल में ही आग लग गई, इस पर

---

quality which enabled such historic dynasties as the Bharshivas, Vakatakas and Guptas to take up the reform of Hinduism—that gave the Vijainagar dynasty its impetus reorganising national life in the Deccan and the Marattas their claim to reorganise a revival of Hinduism......"

राजा ने मंत्रियों से कहा मुझे स्वयं ही निर्वासित होना चाहिये और उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य देकर निर्वासन ग्रहण करते हुए कहा कि मैं राज्य के नियमों को मान्यता देना चाहता हूँ इसलिये मैं स्वयं ही निर्वासित हो रहा हूँ।[1] यह प्रसंग यदि अन्य तथ्य की ओर संकेत नहीं करता है तो कम से कम यह अवश्य ही स्पष्ट हो जाता है कि राजा स्वयं अपने राजशासन से आबद्ध रहता था। उसके "राजशासन" (ordinances) की विज्ञप्तियां प्रथम तो शास्त्रानुमोदित ही होती थी दूसरे वह स्वयं नियम बनाने पर स्वयं को भी उसके आधीन समझकर व्यवहार करता था। अर्थात् इन साधारण नियमों के बनाने में अथवा उनमें परिवर्तन करने में राजा अपने स्वार्थ को दृष्टि में रखकर नहीं करता था। वह नियम और विधान को दण्ड के द्वारा पालन कराता था, साथ ही उनका अनुपालन भी करता था। यह एक आदर्श है जो केवल राजर्षि के लिये ही संभव है, राजर्षि होने का ही आदर्श, प्राचीन भारतीय राजशास्त्रीय ग्रंथ प्रस्तुत करते हैं। किस प्रकार उसकी शिक्षा-दीक्षा तथा समस्त वातावरण बनाया जाय जिससे राजत्व के साथ-साथ ऋषित्व का भी अभिनिवेश उसमें हो सके, आदि को ही दृष्टि में रखकर राजधर्म का प्रतिपादन होता था।[2]

अभिषेक समारोह के अन्तर्गत, एतरेय ब्राह्मण में राजा की एक शपथ का उल्लेख है, इसमें राजा यह प्रतिज्ञा करता है कि यदि मैं अत्याचार करता हूँ तो जिस दिन मैं उत्पन्न हुआ हूँ और जब मरूँगा, इस समय के बीच किये गये मेरे समस्त पुण्य नष्ट हो जायं। [3]इसका भी तात्पर्य यही है कि राजा राज्यासन पर बैठने के पूर्व अपने सदाचरण के उत्तरदायित्व की घोषणा कर देता था। व्यावहारिक दृष्टि से इसका महत्व अधिक है, ऐसे समारोह के अवसर पर इस प्रकार की घोषणा राजा के व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होती थी; राजसूय आदि समारोह राजत्व के आवश्यक भाग थे तथा इनमें न केवल राज्य के ही प्रतिष्ठित और श्रेष्ठ व्यक्ति उपस्थित रहते थे बल्कि, बाहर के राजागण भी उपस्थित रहकर समारोह में भाग लेते थे। इसीलिये भी राजा के ऊपर प्रारंभिक नियंत्रण की स्वीकारोक्ति का महत्व उसके सीमित राजतंत्र का द्योतक हो जाता था। मनुस्मृति

---

१. पी० एन० बनर्जी, "पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शेण्ट इण्डिया" पृ० ७४ पाद टिप्पणी।

२. राजा होने के लिये आवश्यकता योग्यता, उसकी शिक्षा, उसके कर्तव्य तथा "राजा काल का कारण है" आदि पूर्व में उल्लिखित कतिपय विषय इसी भाव का समर्थन करते थे।

३. के० पी० जायसवाल "हिन्दू पोलीटी" पृ० १९८ तथा पी० एन० बनर्जी, पृ० ७४.

महाभारत आदि में इस प्रकार के वाक्यों का उद्धरण तो नहीं है परन्तु जहाँ भी अवसर प्राप्त हुआ है वहाँ राजा को धर्म और दंड के आधीन कहकर उसे चेतावनी दी गई है कि यदि धर्मानुकूल दंड का प्रयोग नहीं किया गया तो दंड उसे बंधु-बांधवों सहित नष्ट कर देगा। राजा के कर्तव्यों के वर्णन के साथ-साथ इस प्रकार की उद्घोषणाओं का महत्व बहुत अधिक रहता था। कौटिल्य भी राजा को दंड के समप्रयोग का उपदेश देते हैं; तथा अर्थशास्त्र का सातवाँ अध्याय राजर्षि के व्यवहार के ही ऊपर है। राजत्व और ऋषित्व का सम्मिलित स्वरूप क्या होगा इसका विषद विर्णन मिलता है।[1] राजा अमात्यों और आचार्यों को अपनी सीमा बनाये, अर्थात् अपने आरचण को इनके (अमात्य तथा आचार्य) अनुसार नियोजित करे, तथा यदि राजा बुराइयों की ओर जाता था, उसे रोकने के लिये भी कौटिल्य आदेश देते हैं कि उसे (राजा को) उसके समय-विभाजन (दैनिक कार्यों की सूची) का ज्ञान करा कर रास्ते में लाने का प्रयास किया जाना चाहिये।[2] आमात्यों के राज महत्व को गाड़ी के दूसरे पहिये के समान कहा है। [3]अमात्यों और आचार्यों के अनुसार कार्य करने का आदेश देने का तात्पर्य केवल एक ही है, राजा कभी भी सर्वतंत्र स्वतंत्र नहीं हो सकता था। अमात्यगण उसे उसके सीमित अधिकारों का ज्ञान कराते रहने के लिये ही थे। यदि वह सीमित अधिकार संपन्न न होता तब यह कथमपि नहीं कहा जा सकता था कि राजा और अमात्य दोनों एक गाड़ी (राज्यरूपी) के दो पहिये हैं और न राजा को अमात्य और आचार्यों के अनुसार अपनी मर्यादा (सीमा) स्थापित करने के लिये ही कहा जाता।

राजा में राजर्षित्व की भावना का सन्निवेश, उसका तत्वज्ञानी होना तथा प्रबुद्ध रहना, अन्य संवैधानिक नियंत्रणों के अभाव में भी उस पर पर्याप्त नियंत्रण रखते थे, उसके मस्तिष्क को इस प्रकार की भावनाओं से आवृत्त करने के ही लिये उसे अनुचित कार्य करने पर पाप, उचित कार्य करने पर पुण्य के उपदेश दिये गये हैं। उसके उपदेशों के द्वारा, शिक्षा के द्वारा मंत्रियों के साथ मंत्रणा कर काम करने के द्वारा, इसी विचार को व्यवहारिक स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया जाता था। पग-पग पर अन्याय पूर्ण राज्य करने की विभीषिका प्रस्तुत की जाती थी। यह विचारधारा

---

१. कौटिल्य–अर्थशास्त्र, १, ४, १० तथा १, ७.
२. मर्यादां स्थापयेदायापनिमात्यान्वा।।१, ७, १२
य एनंसवानस्थानेभ्यो दारयेपुः।। १, ७, १३
३. सहायसाध्यं राजत्व चक्रीकं न वर्तते
कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषा च श्रुणुयानमतम्।। १, ७, १५

राजा को प्रबुद्ध तथा जागरूक रखती है। अन्य बाहरी वैधानिक व्यवधान के अभाव में उससे उचित रूप से कार्य कराने का यह मार्ग था। वह पाप का भागी होगा अथवा मोक्ष न प्राप्त कर सकेगा आदि की भावना उसकी शिक्षा-दीक्षा, वातावरण आदि के द्वारा उसके अंदर प्रविष्ट करा देने से ही उसे व्यावहारिक रूप प्राप्त हो सकता था। उसके अंदर सबका एक गहन विश्वास जमा देने के बाद ही वह अधिक संभव था।[1] मनु के समान ही याज्ञवल्क्य भी कहते हैं कि राजा अन्यायी होने पर बंधु-बांधवों के साथ शीघ्र नष्ट हो जाता है।[2] राजा के विभिन्न कर्मों तथा अधिकारों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि राजा वास्तव में राजा था। संस्कृत साहित्य के अंतर्गत प्रजा का रंजन करने वाले व्यक्ति को राजा कहते हैं। मनुस्मृति के वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा ही समाज में सुख, समृद्धि, शांति तथा विपत्ति, अशान्ति आदि का कारण होता था। समाज का समाजकत्व राजा के ही कारण स्थिर रहता था। वही वर्णों, आश्रमों आदि की व्यवस्था का रक्षक तथा नियमित करने वाला होता था।[3] वस्तुतः वही एक व्यक्ति है जो प्रजा के विभिन्न वर्गों, विभिन्न व्यवसायियों को शासन के एक सूत्र में ग्रंथिक करता था।

प्राचीन भारत के राजा इस आदर्श को (प्रजा का रंजन करना ही राजा का कर्तव्य है) महाकवि कालिदास ने अभिज्ञान शांकुतल में बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रित किया है। यों तो इस नाटक में अनेक ऐसे स्थल हैं जो राजा के आदर्श का चित्रण करते हैं; परन्तु यहाँ पर केवल एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। षष्ठ अंक में राजा दुष्यन्त यह आज्ञा प्रचारित करने को कहते हैं कि प्रजा में जो व्यक्ति जिस-जिस प्रिय बंधु

---

१. "The provision of enlightenment and a conscience to a king who has no external constitutional check, is the obvious way of making him act properly. Telling him that he will incur sin, or will lose his chance of salavation will be effective only if by his training temperament and environment a deep rooted belief in these has been generated in him." K.V,R, Aiyangar. Social and Political Aspects of Mnusmriti page 179.

२. अन्यायेन नृपो राष्ट्रात्स्वकीयं योभिवर्धयेत् ।
सोऽचिराद्विगतश्रीको नाशमेति सबांधव ॥ या० स्मृति १–३४०.

३. वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥ ५।३५ मनु०.

से बिछुड़ गया हो वह, पाप कर्म को छोड़ कर, दुष्यन्त को अपना प्रिय बंधु समझे।[1] अर्थात् यदि कोई पिता अपने पुत्र से रहित हो गया है तो वह उस पुत्र के रूप में दुष्यन्त को समझे। इसी भाँति यदि किसी पुत्र का पिता स्वर्गत हो गया है तो वह पिता के रूप में दुष्यन्त को समझ ले। परन्तु यह सब संबंध पाप को छोड़ कर होना चाहिए। यह महाकवि की ही कल्पना है कि उसने इस छोटे से श्लोक में प्राचीन भारत के सम्पूर्ण कर्तव्यों को भर दिया है। वस्तुतः राजा का यही आदर्श है कि प्रजा को हर प्रकार से सुखी रखे, उनके दुखों में भी हिस्सा बटाये। प्रजा को किसी भी भाँति दुखों का अनुभव न होने देने में ही उसका रंजन है।

---

१. येन येन वियुज्यन्ते प्रजाः स्निग्धेन बंधुना ।
स स पापादृते तासां दुष्यन्त इति घुष्यताम् ।। १५७ ।।
षष्ठ अंक कालिदास अभिज्ञान शाकुन्तलम् ।

षष्ठ अध्याय

मंत्रि परिषद्

पिछले अध्याय में राज्य के सप्तांग का उल्लेख किया जा चुका है। राज्य के सप्तांग में मंत्री अथवा अमात्य का द्वितीय स्थान है। मनु स्पष्ट रूप से सभी अंगों की, अपने-अपने स्थान में महत्ता स्वीकार करते हैं। परन्तु पूर्वापर सम्बन्ध की दृष्टि से राजा का महत्व प्रथम कोटि में आता है तथा अमात्य उसके पश्चात् आते हैं; यह उचित ही है। राज्य संचालन, साधारण कार्यों की अपेक्षा अधिक दुरूह है।अत: जब साधारण कार्यों में भी दो व्यक्तियों की राय को एक व्यक्ति की राय से अधिक श्रेष्ठ मानने का सामान्य नियम है तब इस दुरूह कार्य (राजकार्य) के लिए भी सहायकों का होना आवश्यक है। मनु मंत्रिपरिषद् की उपादेयता में यही तर्क उपस्थित करते हैं, तथा इसी लिए राजा के बाद ही सप्तांग के क्रमिक महत्व में इसे स्थान प्रदान करते हैं।[1] चारों स्मृतियों में केवल मनु और याज्ञवल्क्य ही सचिवों की स्थिति पर प्रकाश डालते हैं।

मंत्रिपरिषद् की स्थिति मनुस्मृति आदि की रचना के बहुत पहिले से प्राप्त होती है। ऋग्वेद १०—११-८ में प्राप्त होने वाले उल्लेख के आधार पर कहा जा सकता है कि इसकी स्थिति (मंत्रिपरिषद् की) देवताओं के मध्य में भी रही होगी। वैदिक साहित्य में "सभा" शब्द का प्रयोग मिलता है। इस सभा को एक प्रकार से मंत्रि-परिषद् का प्रारंभिक स्वरूप कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्राचीन साहित्य में समिति, संगति, विदथ, परिषद् आदि का भी उल्लेख मिलता है।[2] इससे अनुमान

---

१. स्वाम्यामात्यौ पुरं राष्ट्रं कोषदंडौ सुहृत्तथा।
   सप्त प्रकृतयोह्येताः सप्तांगं राज्यमुच्यते।। मनु० ९—२९४.
   अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम्।
   विशेषतोऽसहायेन किंनु राज्यं महोदयम्।। मनु० ७—५५.

२. The Council as a part of the administrative machinery had its origin in very early times. The terms indicative of the cxistence of the institution are abundant in

किया जा सकता है कि मंत्रिपरिषद् प्राय: राजतंत्र में आवश्यक समझी जाती थी। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति के पश्चात् के ग्रन्थों में भी इसको उचित स्थान प्रदान किया गया है। उदाहरण के लिए शुक्र ने भी, जो अपेक्षाकृत अर्वाचीन कहे जा सकते हैं, इसके महत्व का निरूपण किया है। शुक्र, राजा के योग्य होने पर भी उसके लिए मंत्रिपरिषद् से विचार-विनिमय करना आवश्यक बताते हैं; बुद्धिमान् राजा के लिए भी, सर्वदा अपने सभासद्, अधिकारीगण, अमात्य आदि की सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिये; शुक्र तो मंत्रियों से सलाह लेने को बहुत अधिक महत्व प्रदान करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य में स्वभावत: बुद्धि वैभव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है, अतएव राजा को कभी भी अपने ही मत का अनुसरण नहीं करना चाहिये।[1] महाभारत तथा वाल्मीकि रामायण भी मंत्रिपरिषद् पर सामग्री प्रस्तुत करते हैं। दोनों ही ग्रन्थ मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता तथा उपयोगिता स्वीकार करते हैं।[2] कौटिल्य तो यहाँ तक कहते हैं कि राज्य एक रथ है जिसमें राजा केवल एक पहिया है; राज्य रूपी रथ राजा रूपी एक पहिये से नहीं चल सकता है; इसलिए मेरा मत है कि राज्य के संचालन के लिए सचिव रूपी दूसरे पहिये की आवश्यकता होती है। अतएव राजा को मंत्री अवश्य रखने चाहिए और उनकी मंत्रणा लेनी चाहिये।[3] इस प्रकार से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत के लगभग समस्त प्रमुख राजशास्त्रीय ग्रन्थों ने मंत्रिपरिषद् की महत्ता स्वीकार की है।

मंत्रिपरिषद् की रचना

मनुस्मृति अथवा याज्ञवल्क्यस्मृति "मंत्रिपरिषद्" शब्द का उल्लेख नहीं

---

early Sanskrit Literature. Among them may be mentioned Sabha, Samiti, Sangati, Vidath, Parishad, etc. The reference to the existence of this institution among the Gods also points to the use in Rigved. 11-8. N.N. Law. 'Aspects of Ancient polity'-page 24.

१. शुक्रनीति, २, १—४.

२. मंत्रिणां मंत्रमूलं हि राज्ये राष्ट्रं विवर्धते।। ४८, १५; महा० सभापर्व. तथा, वा० रा० स० १०० श्लो०—१८—२६.

३. सहाय साध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।
कुर्वीत सचिवांस्तस्मांतेषां च शृणुयान्मतम्।।
अर्थशास्त्र, श्लोक १५ अ० ७ अधि० १.

करती हैं। मनुस्मृति "सचिव" शब्द का तथा याज्ञवल्क्य स्मृति "मंत्री" शब्द का उल्लेख करती हैं। "सचिवान्" शब्द का प्रयोग बहुवचन में किये जाने के कारण इसे मंत्रिपरिषद् कहा जा सकता है। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि मंत्रि-परिषद् राजशास्त्र के सिद्धान्तों में एक महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। यह ज्ञातव्य है कि राजा वंशानुक्रम के आधार पर राजत्व प्राप्त करता था तथा स्मृतियां निर्वाचित कार्य-कारिणी का किसी भी प्रकार से उल्लेख नहीं करती हैं। इसी भांति शासन के प्रमुख सहायकों का भी निर्वाचन पद्धति पर आधारित नहीं था। वे मनोनीत होते थे। मनु तथा याज्ञवल्क्य दोनों ही स्मृतिकार राजा को उससे प्रमुख कर्तव्यों में से एक कर्तव्य के रूप में मंत्रियों की नियुक्ति करने का आदेश देते हैं, परंतु मंत्रियां की नियुक्ति पूर्णरूप से राजा के स्वविवेक पर ही आधारित नहीं थी: दोनों ही स्मृतियां मंत्री पद के लिए विशेष योग्यतायें निर्धारित करती हैं। राजा के कार्य में परामर्श देने का कार्य बहुत महत्व का होता है। उचित परामर्श से राज्य की उन्नति अवश्यंभावी होती है तथा अनुचित परामर्श से क्षति की संभावना अत्यधिक हो जाती है। राजा को जैसा परामर्श मिलेगा वह उसी के अनुसार उचित अथवा अनुचित शासन करेगा। इसके इतना महत्वपूर्ण होने के कारण ही प्राचीन भारत के राजनीतिशास्त्र प्रणेताओं ने मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति के संबंध में विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। मनुस्मृति में भी हमें इसी के कुछ सिद्धांत उपलब्ध होते हैं।

सचिवों की योग्यता

भारतीय परम्परा के अन्तर्गत संस्कार का एक विशेष स्थान है। संस्कार कुलो-द्भूत होते हैं। उच्च कुल में उत्पन्न होने वाले व्यक्ति की बुद्धि तथा उसकी क्षमता नीच-कुलोद्गत व्यक्ति से स्वभावतः अधिक होगी। मनुष्य की विचारधारा पर परिवार के संस्कार की एक विशेष तथा स्पष्ट छाप पड़ना मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त के प्रतिकूल नहीं है। इसीलिए प्राचीन भारत में राज्य के अधिकारियों तथा मंत्रिपरिषदों की नियुक्ति के अवसर में इस सिद्धान्त का विशेष स्थान था। कुछ परम्परा के अनुसार पार्षदों की नियुक्ति होती थी। मनु तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार मंत्रिपरिषद् के सदस्य अच्छे कुल में उत्पन्न हुये व्यक्ति ही होने चाहिए।[1] परन्तु केवल कुल को ही सब कुछ

---

१. मौलान्शास्त्रविदः शूरांल्लब्धलक्षान् कुलोद्गतान्॥ मनु० ७। ५४.
स मंत्रिणः प्रकुर्वीत प्राज्ञान्मौलान्स्थिरान्शुचीन्॥ या० स्मृति १। ३१२.
"मौलान्" शब्द का एक और अर्थ होता है, कौटि० १—२—९ में सैनिकों के

मान कर सचिवों की नियुक्ति नहीं होती थी। मनु सचिवों को उच्च कुलोद्गत होने के साथ ही साथ शूरवीर होने की भी योग्यता की अपेक्षा करते हैं। शास्त्रविद् होना भी आवश्यक था। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि वंश परम्परा के उत्तम होने के साथ ही साथ व्यक्ति में अन्य गुणों का भी समावेश होना चाहिए। यहाँ पर यह अर्थ लेना कथमपि युक्तियुक्त न होगा कि केवल कुलीन होने पर ही कोई व्यक्ति सचिव होने का अधिकारी हो जाता था। कुलीनत्व के साथ अन्य योग्यताओं का, जिनकी उपलब्धि व्यक्ति के व्यक्तित्व से संबंध रखती है, होना भी आवश्यक है।

मंत्रिपरिषद् के मंत्रियों की नियुक्ति का यह सिद्धान्त प्राचीन भारत के अन्य अनेक राजनीति शास्त्र से संबंधित ग्रन्थों में भी मिलता है। शुक्रनीति में मंत्रियों की नियुक्ति में, कुल, गुण, शील आदि का होना निर्दशित है।[1] महर्षि बाल्मीकि द्वारा विरचित रामायण में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन दिखाई पड़ता है। राम जब बन चले जाते हैं तब भरत, पीछे से उन्हें मनाने के हेतु चित्रकूट जाते हैं। राम शंका करते हैं कि कहीं प्रजा ने विद्रोह तो नहीं कर दिया है और इसी कारण वे प्रश्न करते हैं कि तुमने कुलीन व्यक्तियों को ही मंत्री पदों के लिए नियुक्त किया है न ?[2] इसी के बाद और अनेक प्रश्नों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बाल्मीकि रामायण में भी कुल की उच्चता के सिद्धान्त का ही अनुमोदन हुआ है। महाभारत तथा अर्थशास्त्र में इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गयी है।[3]

मनु तथा याज्ञवल्क्य स्मृति अन्य योग्यताओं के साथ-साथ आयु संबंधी योग्यता भी बताती हैं। परन्तु योग्यता का विधान प्रकारांतर से प्राप्त होता है। सचिवों के प्रसंग में तो उनके अवस्था प्राप्त (वृद्ध) होने का उल्लेख नहीं मिलता है। परन्तु अन्य स्थल पर राजा के लिए उपदेश मिलता है कि वह वेद-विदांबर (वेदज्ञों में श्रेष्ठ) तपस्या से वार्धक्य को प्राप्त हुए ब्राह्मणों के साथ मंत्रणा आदि करे। इसके अतिरिक्त

प्रकारों को बतलाते हुये "मूल" को भी एक प्रकार के रूप में बताया है। इसका अर्थ परंपरागत सैनिक होता है, अतएव यह अर्थ भी लिया जा सकता है कि मंत्री परंपरागत सैनिक हों।

१. कुल-गुण-शील-वृद्धान शूरान्भक्तान्प्रियंवदान्।। ८ ।। अ० २ शुक्रनीति.
२. कुलीनाश्चेंगितज्ञांश्च कृतास्ते तात मंत्रिणः। बा० रा० अयोध्याकाण्ड १००—१५.
३. कुलीनकुल उत्पन्नाः—म० भा० शांतिपर्व ८३—१६.
अभिजातः अमात्यसंपत्।। बाता । अ० ९ अधि० १ अर्थशास्त्र.

राजा के वृद्ध सेवी होने का भी आदेश मिलता है।[1] वृद्ध ब्राह्मणों का आदेश इस कारण दिया गया था कि ब्राह्मण सात्विक वृत्ति के थे तथा स्वभावतः अध्ययनशील होते थे। अतः वृद्धावस्था प्राप्त होते-होते उनकी बुद्धि स्वभावतः अत्यन्त परिपक्व हो जाती थी और ये अपने विशाल अनुभव से प्रत्येक प्रकार की जटिल समस्याओं का समाधान करने की क्षमता रखते थे। राज्य की शासन सम्बन्धी समस्यायें अत्यन्त जटिल होती हैं। उनका अनुभवहीन व्यक्ति कभी भी समाधान नहीं कर सकता है। इस प्रसंग को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि अनुभवी और वृद्ध व्यक्तियों को सचिवों के लिए नियुक्त किया जाने का विधान इन स्मृतियों में प्राप्त होता है।

आयु का विधान प्रायः सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने किया है। रामायण तथा महाभारत में भी मंत्रियों का वयोवृद्ध होना उल्लिखित है। केवल अनुभव, ज्ञान तथा कुल के ही आधार पर व्यक्तित्व का मूल्यांकन नहीं किया जाता है। व्यक्तित्व का निर्माण तथा उसका प्रभावशाली होना चरित्र पर निर्भर करता है। यही कारण है कि मंत्रि-परिषद के सदस्यों के लिए चरित्रवान होना भी एक विशेष योग्यता मानी गई है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी यदि देखा जाय तो यह बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त ज्ञात होता है। यदि किसी के चरित्र का मनोवैज्ञानिक निरीक्षण किया जाय तो उसके प्रत्येक कार्य में उसकी बुद्धि तथा उसकी विचारधारा का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ेगा। यही कारण है कि प्राचीन भारत में चरित्र की उच्चता का विशेष स्थान है। याज्ञवल्क्य चारित्रिक योग्यता को ही दृष्टि में रखकर 'पवित्र' (शुद्ध) मंत्रियों की नियुक्ति करने का आदेश राजा को देते हैं। मनुस्मृति में भी चरित्र की उच्चता पर महत्व देते हुए लिखा है कि सब मंत्रियों में अधिक विशिष्ट स्थान प्राप्त ब्राह्मण मंत्री के साथ राजा को संधि-विग्रह की आदि मंत्रणा करनी चाहिए। यहाँ पर टीकाकार कुल्लूक भट्ट के अनुसार ब्राह्मण का निर्देश उसके सात्विक वृत्तिवाला होने के कारण हुआ है।[2] मंत्रियों की नियुक्ति भलीभांति परीक्षा करने के पश्चात करने का आदेश दोनों ही स्मृतियों में मिलता है। अन्य मंत्रियों की नियुक्ति भी सुपरीक्षित होनी चाहिए।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुस्मृति के अनुसार मंत्रिपरिषद के सदस्य सुपरीक्षित तथा चरित्रवान होने चाहिए। यह भी एक आवश्यक तथा अनिवार्य योग्यता थी क्योंकि इसका उल्लेख

---

१. वृद्धांश्च नित्यं सेवेत विप्रान्वेदविदः शुचीन्।
वृद्ध-सेवी हि सततं रक्षोभिरपि पूज्यते॥ ३८ ॥ ११७.

२. मनु० ७ । ५८.

३. मनु० ७ । ६०.

अनेक स्थलों में मिलता है। मनुस्मृति के बाद वाले ग्रन्थों में चारित्रिक योग्यता के ऊपर विशेष महत्व प्रदर्शित किया गया है। महाभारत में भी सचिवों की योग्यता के विषय में यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि वे ऐसे होने चाहिए जो काम, क्रोध, लोभ, भय आदि विकारों से संत्रस्त होने पर भी धर्म का त्याग न करते हों।[1] मंत्रियों की नियुक्ति के पूर्व उनकी भलीभांति परीक्षा करने का अभिप्राय यह ज्ञात होता है कि संभव है कि निर्धारित योग्यता वाले व्यक्ति भी कुछ ऐसी अयोग्यतायें रखते हों जो राज्य के लिए घातक हों; उदाहरणार्थ देशद्रोहिता आदि। इसके अतिरिक्त इस प्रकार से परीक्षित होने पर उनकी बुद्धि का झुकाव किस ओर है यह सहज ही में ज्ञात हो जायगा और तब उनकी योग्यतानुसार उनको कार्य प्रदान किया जा सकेगा। जिस स्थान के कार्य करने की योग्यता जिसमें रहती थी उसी कार्य में उस व्यक्ति को रखने का प्रयत्न किया जाता था। धनोत्पादन के स्थान में वही व्यक्ति अधिक सफल हो सकता है जो धन के उपार्जन की कला से अभिज्ञ हो। इसके लिए मनु का स्पष्ट आदेश है कि अर्थ मंत्री के पद पर उसी व्यक्ति को होना चाहिए जो अर्थोत्पादन करना जानता हो।[2] परन्तु यह भी संभव है कि जो व्यक्ति अर्थोत्पादन में तो निपुण हो और वीरत्व आदि स्वाभाविक गुणों से हीन हो, तो उसके अर्थ लोलुप होने की भी संभावना हो सकती है। इसके लिए मनुस्मृति में स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि उन्हीं सचिवों को अर्थ के पद पर नियुक्त करना चाहिये जो शूर हों, दक्ष हों, उत्तम कुलोद्गत हों तथा पवित्रता से धन निस्पृह होकर कर्म करते हो। सुवर्ण आदि के उत्पत्ति-स्थान में, धान्यादि संग्रह-स्थलों में तथा अंतःपुरादि में धर्म भीरु व्यक्ति की ही नियुक्ति करनी चाहिए।[3] इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि प्राचीन भारत में मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति केवल राजा की स्वेच्छा पर ही निर्भर नहीं थी वरन् राजा अनेक धार्मिक अनुबंधों से इस प्रकार विवश था कि उसकी मंत्रीपरिषद् में अयोग्य व्यक्ति का स्थान एक प्रकार से असंभव था। गुणी तथा प्रतिभावान् व्यक्तियों का राज सम्मान प्राचीन भारत की एक राज प्रथा थी। उस युग में गुणी और गुणज्ञ का साक्षात्कार प्रकृतितः होता था। किसी को किसी के लिए भ्रमित नहीं होना पड़ता था। यही उस काल की सामाजिक शांति का बीज मंत्र था।

---

१. यो न कामाद् भयाल्लोभात् क्रोधाद्वा धर्ममुत्सृजेत ।। २७ ।।

अ० अ० शा० प० महाभारत.

२. मनु० ७ । ६०.

३. मनु० ७ । ६२.

मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या

मन्त्रिपरिषद् का प्रधान कर्तव्य राजा को शासन संबंधी विषयों में परामर्श देना था। राजकीय महत्व के विषयों में उचित परामर्श के लिए एक या दो व्यक्तियों की अपेक्षा कुछ अधिक व्यक्तियों के परामर्श को अधिक महत्व प्रदान किया जाता है। परन्तु ये विषय जहाँ एक ओर अन्य मंत्रियों के परामर्श की अपेक्षा रखते हैं वहीं दूसरी ओर इस परामर्श का महत्व इनके गुप्त रहने में ही होता है। इस दृष्टि से मंत्रियों की सदस्य संख्या अधिक होनी भी हानिकारक सिद्ध हो सकती है। मनु ने मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या उक्त औचित्य के अनुरूप ही रखी है। मनु के अनुसार सात या आठ सचिव होने चाहिए।[1] सात या आठ संख्या बहुत ही उपयुक्त संख्या है। इस संख्या से दो लाभ हैं, एक तो ये बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न संख्या होने के कारण अपने विभाग विशेष की जटिल समस्याओं को सुलझाने में उचित परामर्श दे सकते थे। दूसरे यह संख्या कदापि इतनी अधिक नहीं कही जा सकती है कि जिससे यह अपने विचार-विमर्श को गुप्त न रख सकें। इन दोनों ही गुणों की उपलब्धि इस संख्या से पूर्णरूप से प्राप्त हो सकती थी। याज्ञवल्क्य मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के प्रति मौन हैं। परन्तु राजशास्त्र से संबंधित अन्य प्राचीन ग्रन्थों में इसकी पर्याप्त विवेचना मिलती है।

कौटिल्य एक स्थान पर विभिन्न विद्वानों के अनुसार निर्धारित सदस्य संख्या का उल्लेख करके अपना मत प्रकट करते हैं। वे अपने ग्रन्थ में लिखते हैं कि मनु के अनुयायियों के अनुसार बारह मंत्रियों को रखना चाहिये; बृहस्पति के अनुयायियों के अनुसार सोलह; शुक्र के अनुयायियों के अनुसार बीस सदस्य संख्या आवश्यकतानुसार रहनी चाहिये।[2] यहाँ पर मनु के मत का उल्लेख करते हुये कौटिल्य ने सचिवों की संख्या बतलाई है जब कि मनुस्मृति ७। ५४ के अनुसार केवल सात या आठ ही सचिव होने चाहिये। कौटिल्य का उपरोक्त उद्धरण वर्तमान मनुस्मृति के अनुकूल नहीं जान पड़ता है। परन्तु एक तर्क से कौटिल्य के मत को भी ठीक ही कहा जा सकता है। मनु ७।५४ में सचिवों की संख्या सात या आठ बतलाते हैं। तथा पुनः ७।६४ में वे कहते हैं कि अन्य मंत्रियों को भी राजा नियुक्त करे। इस प्रकार सचिवों की नियुक्ति के विषय

---

१. मनु० ७। ५४.

२. मंत्रिपरिषदं द्वादशामात्यान्कुर्वीतेति मानवाः।

षोडशेति बार्हस्पत्याः॥

विंशतिमित्यौशनसाः॥

अर्थ० वार्ता ५३, ५४, ५५ अ० १५.

में दो स्थानों में विचार प्रकट किये गये हैं—एक स्थान में संख्या निश्चित है तथा दूसरे स्थान पर इस संख्या के अतिरिक्त भी मंत्रियों की नियुक्ति का विधान है। संभव है कौटिल्य ने इन दोनों स्थानों में प्राप्त होने वाले विधानों को बारह की संख्या देकर सामान्य रूप से मनु को उद्धृत किया है।

महाभारत में मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के सम्बन्ध में अप्रत्याशित रूप से विस्तार प्राप्त होता है। शांतिपर्व में, भीष्म के अनुसार मंत्रिपरिषद् में चौंतीस सदस्य होने चाहिये।[1] इस मंत्रिपरिषद् की एक और विशेषता यह है कि इसमें सभी वर्णों का समुचित प्रतिनिधित्व किया गया है। चार वेदज्ञ ब्राह्मण, आठ शूरवीर क्षत्रिय, इक्कीस श्रेष्ठ वैश्य, आठ अच्छे स्वभाव के वैश्य तथा एक विनयशील शूद्र, होने चाहिये। यह सामान्य मंत्रिपरिषद् से भिन्न जान पड़ती है। इसमें संसद का सा रूप दिखाई पड़ता है। अग्रिम प्रसंग के अनुसार इससे राष्ट्रीय विषयों पर राजा का विचार-विमर्श करके राष्ट्र के लोगों को इसकी सूचना दी जाय।[2] अर्थात् राष्ट्र को इस बात की जानकारी देना आवश्यक है विशिष्ट राष्ट्रीय विषयों में इसका प्रतिनिधित्व पूर्ण संस्था की सलाह से ही निर्णय लिया गया है। इस विधान का व्यवहारिक महत्व इस रूप में देखा जा सकता है कि सभी वर्णों का प्रतिनिधित्व होने के कारण सामान्य रूप से ऐसे निर्णय प्रजा के द्वारा सहज ही में स्वीकृत होंगे तथा इन निर्णयों में भी सामान्य हित की भावना विशेष रूप से परिलक्षित होगी। यहाँ पर मंत्रिपरिषद् केवल औपचारिक संस्था ही नहीं रह जाती है। वह राजा और प्रजा के बीच में सौहार्द करने वाली मध्यस्थ वृत्ति को धारण करती है। अन्य महत्व की दृष्टि से कहा जा सकता है कि इतनी बड़ी संख्या के होने से राजा की शक्ति बहुत कुछ विकेन्द्रित हो जाती थी, इस कारण निरंकुशता की संभावना भी कम हो जाती है। परन्तु भीष्म स्वयं ही इस प्रसंग के अंत में यह निर्दिष्ट करते हैं कि विशिष्ट योग्यता संपन्न सात मंत्रियों से राय लेकर कार्य करें। संभव है यह अंतरंग मंत्रिपरिषद् का उल्लेख हो तथा इस निर्णय को तात्कालिक महत्व दिया जाता रहा हो और सामान्य अवसरों के लिये बृहत् मंत्रिपरिषद् की व्यवस्था हो। अथवा अंतरंग मंत्रिपरिषद् बृहत् परिषद् के निर्णयों को कार्यान्वित करने वाली संस्था हो। यह प्रसंग अधिक स्पष्ट नहीं मिलता है। वाल्मीकि रामायण में दशरथ के वर्णन को देखने से यह ज्ञात होता है कि उनकी मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या आठ थी।[3] शुक्रनीति

---

१. महा० भा०, शा० प० ५ ७, ८.

२. महाभारत० शां० प० ८५, ७—१४

३. अष्टौ बभूवुर्वीरस्यामात्याः॥ वा० रामायण, बा० का०, ७, २.

के अनुसार भी मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या सात या दस होनी चाहिए।[1] इन सब उदाहरणों को देखते हुये यह कहा जा सकता है कि मनु ने सामान्य रूप से सात या आठ की एक ऐसी संख्या निर्धारित की है जो कि संभव है तत्कालीन राजतंत्र में प्रचलित रही हो, यदि प्रचलित नहीं भी थी तो भी यह संख्या सामान्य रूप से विद्वानों के द्वारा अनुमोदित थी।

मंत्रिपरिषद् के अधिकार तथा कर्तव्य

मंत्रिपरिषद् के महत्व की दृष्टि से मनु तथा याज्ञवल्क्य एकमत होकर उसे राजा के बाद द्वितीय महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। परन्तु याज्ञवल्क्य मनु की भांति इस विषय में विशद विवेचना प्रस्तुत नहीं करते हैं। राज्य के ये सातों अंग अपने गुणों के कारण एक दूसरे से विशिष्ट नहीं हैं। सातों अंगों का अपने-अपने स्थान में समान अधिकार और महत्व है। ये सातों अंग एक दूसरे के सहारे सही स्थित रह सकते हैं जिस प्रकार तीन दंडे एक दूसरे के सहारे पर खड़े रह सकते हैं।[2] सातों अंगों का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। परन्तु इसका यह अर्थ कथमपि नहीं होता है कि ये सातों अंग एक ही स्तर पर थे। महत्व अपने-अपने स्तर पर था। शरीर के विभिन्न अंगों का महत्व तो समान होता है परन्तु उनका स्तर भिन्न होता है। प्रत्येक अंग अपने-अपने कार्य के सम्पादन में विशेषता रखता है। तथा जो अंग जिस कार्य को करता है उस कार्य में वही श्रेष्ठ समझा जाता है।[3] उपर्युक्त मनु के विचारों से यही निष्कर्ष निकलता है कि ये सातों अंग अपने-अपने स्थान में विशेष महत्व रखते हैं। परन्तु मनु ने एक स्थान में इन अंगों के पारस्परिक महत्व को और अधिक स्पष्ट कर दिया है। वे कहते हैं कि राज्य की इन सात प्रकृतियों में जिस क्रम से वे वर्णित हैं, पूर्व की प्रकृति उसके बाद की प्रकृति से महत्व ज्ञात होता है कि स्वामी (राजा) की गुरुता अमात्य आदि से अधिक है, और यह स्वाभाविक भी है।

इन सचिवों के साथ राजा को राज्य की विभिन्न विकट परिस्थितियों में तथा सामान्य संधि विग्रहादि, राष्ट्र की रक्षा तथा सत्पात्रों आदि को धन देने के कार्य में नित्य परामर्श करना चाहिए। इस प्रकार से परामर्श करने में ही राज्य की उन्नति सम्भव है। ब्राह्मण का मंत्रिपरिषद् में विशेष स्थान था। इसी कारण मनु कहते हैं

---

१. अष्टप्रकृतिभिर्युक्तो नृपः।। शुक्र २, ७.

२. मनु० ९।२१६.

३. मनु० ९।२९५.

कि राजा ब्राह्मण मंत्री में विश्वास करके जो कार्य करें उसे उसके ऊपर छोड़ दें। और उसके पश्चात् उसीकी सलाह से समस्याओं को निश्चित करके कार्यारम्भ करें।[1] याज्ञवल्क्य भी भविष्य जानने वाले, दंडनीति में कुशल, विद्वान् तथा गृह शांति आदि के कार्य में कुशल ब्राह्मण को पुरोहित के रूप में रखने का विधान करते हैं।[2] अन्य राजशास्त्र के विद्वान् भी न्यूनाधिक रूप में इन्हीं योग्यताओं का वर्णन करते हैं। यह पुरोहित, अथवा मनु के अनुसार ब्राह्मण मंत्री, मंत्रिपरिषद् में विशेष महत्व का स्थान रखता था। सभी जटिल समस्याओं में तो इस पद का परामर्श अपना महत्व रहता ही था परन्तु धर्मशास्त्र से सम्बन्धित विषयों में इसका अन्य मंत्रियों की अपेक्षा विशिष्ट स्थान था, क्योंकि ब्राह्मण मंत्री धर्मशास्त्र के विषय में अधिकार के साथ अपना परामर्श अंतिम वाक्य के रूप में दे सकता था। इस ब्राह्मण पुरोहित की स्थिति की एक प्रकार से इंगलैंड के प्रारंभिक प्रधान मंत्रियों से तुलना की जा सकती है।

दोनों ही स्मृतिकार भीष्म तथा कौटिल्य आदि राजा को सभी विषयों में मंत्रिपरिषद् से परामर्श लेने का विधान करते हैं। परन्तु यह राजा के अपने विवेक पर निर्भर करता था कि वह मंत्रिपरिषद ही सलाह को माने अथवा न माने। राजा मंत्रिपरिषद् के निर्णयों से बाध्य नहीं था। याज्ञवल्क्य १।३१२ में तथा मनु ७।५७ में इसी को स्पष्ट करते हुये कहते हैं कि राजा को सभी विषयों का मंत्रिपरिषद् के साथ चिंतन करना चाहिये तथा उसके बाद वह स्वयं अपनी बुद्धि के अनुसार कार्य करे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि राजा के लिए मंत्रिपरिषद् के साथ विचार-विमर्श करना तो आवश्यक था परन्तु इस विचार-विमर्श के अनुसार कार्य करने अथवा न करने में वह स्वतंत्र था। इस विधान का यह अर्थ नहीं लिया जा सकता कि मंत्रिपरिषद राजा के समक्ष कोई अतित्व ही नहीं रखती थी। यह सप्तांग वर्णन से प्रसंग में कहा जा चुका है कि राज्य के सातों अंग पूर्वापर की दृष्टि से तो क्रमिक महत्व रखते ही हैं साथ ही साथ अपने-अपने स्थान में अपने वैभागिक कार्य की विशेष प्रकृति के कारण सभी श्रेष्ठ हैं, कोई भी एक दूसरे से अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। इस तथ्य को दृष्टि में रखने के उपरान्त, राजा और मंत्रिपरिषद का सम्बन्ध कुछ भिन्न प्रकार का हो जाता है। राजा सैद्धान्तिक रूप से तो यह अधिकार रखता था कि मंत्रिपरिषद के परामर्श के उपरान्त अपने विवेक से कार्य करे परन्तु इन मंत्रियों के वैभागीय विशेषज्ञ होने के कारण राजा के स्वविवेक के व्यवहृत होने का क्षेत्र सीमित हो जाता है। यह बाद के एक प्रसंग से कुछ अधिक स्पष्ट

---

१. मनु० ७।५८.
२. या० स्मृति १, ३१२.

हो जाता है। मनु ७।५६, ५७ में राजा को यह आदेश देते हैं कि वह मंत्रियों से सामूहिक तथा व्यक्तिगत रूप से परामर्श ले। व्यक्तिगत रूप से मंत्रियों का परामर्श लेना तथा सामूहिक रूप से उनका परामर्श लेने का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि यदि मंत्रि-परिषद के परामर्श में एकरूपता नहीं है तो वह व्यक्तिगतरूप से उनके अभिप्रायों को जान कर तब जो सबसे उत्तम हो उसे करे। अतः यह कहा जा सकता है कि सामान्य रूप से राजा मंत्रिपरिषद के निर्णयों का तिरस्कार नहीं करता था, वह इन निर्णयों के विपरीत उस समय जाता रहा होगा जब या तो इन निर्णयों में स्वतः विरोध रहता हो अथवा जब वह अपने विवेक से मंत्रिपरिषद की अपेक्षा अधिक अच्छी प्रकार से राज्य का हित समझता था। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि मंत्रिपरिषद के निर्णय का स्वरूप राजा के तथा विभिन्न मंत्रियों के व्यक्तित्व पर निर्भर करता था। मंत्रिपरिषद की यह स्थिति अस्वाभाविक नहीं कही जा सकती है। प्रायः जहाँ भी कहीं राजतंत्र के साथ मंत्रिपरिषद को देखा जाता है वहाँ पर प्रारम्भ में इसकी स्थिति अप्रधान ही रहती है। इंगलैंड की वर्तमान समय की मंत्रिपरिषद् को उसकी प्रारम्भावस्था में देखने पर यह ज्ञात होता है कि स्मृतियों द्वारा निर्दशित मंत्रिपरिषद् उसकी अपेक्षा कहीं अधिक महत्वपूर्ण स्थान तथा अधिकार रखती थी। इस मंत्रिपरिषद् का एक वैधानिक महत्व था। ऐसा संभव प्रतीत होता है कि स्मृतियों के काल में भी कुछ राजनैतिक परम्परायें प्रचलित हो गई होंगी। और इन्हीं परम्पराओं के अनुसार व्यावहारिक कार्य-क्षेत्र में मंत्रिपरिषद् और राजा के सम्बन्ध विनिर्णीत होते रहे होंगे। इन्हीं परम्पराओं में से एक का अस्पष्ट उल्लेख भी प्राप्त होता है। मनु जहाँ मंत्रिपरिषद् के साथ विचार करने के उपरान्त राजा को अपने विवेक से कार्य करने का विधान करते हैं वहीं पर कहते हैं कि विश्वास प्राप्त ब्राह्मण मंत्री के ऊपर सभी कार्यों को छोड़ दे तथा उसी के साथ निश्चय करके कार्य करना प्रारम्भ करे।[1] इससे यह स्पष्ट है कि मंत्रिपरिषद् के निर्णय के उपरान्त भी राजा अपने कार्यों में ब्राह्मण मंत्री के साहाय्य की अपेक्षा रखता था। इससे यह आभास मिलता है कि उस समय एक ऐसी परम्परा रही होगी जिसके अनुसार मंत्रि-परिषद् का सामूहिक परामर्श तो राज्य के वैधानिक रूप से बंधन का कार्य नहीं करता था परन्तु राजा उनको कार्य रूप में करने अथवा न करने में ब्राह्मण मंत्री की प्रत्येक अवसर में सलाह लेता था; इसी कारण राजा के लिए मंत्रिपरिषद् के परामर्श के उपरान्त अपने आप कार्य करने के विधान के साथ ही साथ ब्राह्मण मंत्री से भी सलाह

---

१. नित्यं तस्मिन्समाश्वस्तः सर्वकार्याणि निक्षिपेत् ।
तेन सार्धं विनिश्चित्य ततः कर्म समारभेत् ॥ मनु ७। ५९ तथा ५। ५८.

लेता था; इसी कारण राजा के लिए मंत्रिपरिषद् के परामर्श के उपरान्त अपने आप कार्य करने के विधान के साथ ही साथ ब्राह्मण मंत्री से भी सलाह लेने का विधान कर दिया गया है। यदि राजा मंत्रिपरिषद् के परामर्श को त्याग कर अपने विवेक तथा ब्राह्मण मंत्री की सलाह से ऐसा निर्णय करता था जिसके अनुसार प्रजा का कल्याण और भी अधिक संभव हो जाता था तो इसका यह अर्थ कथमपि नहीं लिया जा सकता है कि राजा को मंत्रिपरिषद् के परामर्श को त्याग देने का सार्वकालिक अधिकार था। राज्य के लिए जिस भी तरह संभव हो अधिक से अधिक कल्याणप्रद कार्य किया जायगा, तथा यही मंत्रिपरिषद् के परामर्श का मापदंड था। राजा अपनी स्वेच्छाचारिता के लिए मंत्रिपरिषद् के परामर्श को त्यागने का अधिकार नहीं रखता था। मनुस्मृति में ऐसे उदाहरण प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर उक्त तथ्य की पुष्टि होती है। मनु तथा याज्ञवल्क्य राजा को विनयवान् होने का आदेश देते हैं। राजा के विनयी होने का यहाँ पर यही अर्थ युक्तिसंगत ज्ञात होता है कि वह अपनी कार्य-प्रणाली का निर्धारण सचिवों के परामर्श से तथा अपने बुद्धि वैभव से प्रजा के ही हितार्थ करे। सचिव अपने विभाग के विशेषज्ञ होते थे, तथा राजा में भी सभी विभागों की परिस्थितियों को समझने की योग्यता रहती थी। इसी कारण से मंत्रियों के द्वारा विभाग विशेष की परिस्थिति अधिक पूर्णता साथ ज्ञात हो सकती थी। इसके पश्चात् राजा का यह कर्तव्य हो जाता था कि वह विभिन्न सचिवों के विभिन्न मतों में देश, काल की परिस्थितियों में ध्यान में रखते हुए सामंजस्य स्थापित करे। इस प्रकार की नीति का निर्धारण तभी सम्भव हो सकता था जब राजा विनयी हो। परन्तु यदि राजा इस परम्परागत रूढ़ि का परित्याग करके निरंकुशता का वरण करता है तो उस राजा को राज्य से च्युत होना पड़ता है। मनु ने भी ऐसे कुछ उदाहरण दिये हैं जिनसे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। वे कहते हैं कि वेन, नहुष तथा यवन राजा सुदास अपने अविनय के ही कारण नष्ट हो गये।[१] इसी के पश्चात् का दृष्टान्त विनयी राजाओं का मिलता है। पृथु ने अपने विनय के द्वारा ही राज्य प्राप्त किया; कुबेर ने भी अपने विनय के कारण ही धनाधिपतित्व का पद प्राप्त किया। अपने विनय के ही कारण गाधिपुत्र ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया।[२] मनुस्मृति के ये दो श्लोक परिषद् और राज्य का परस्पर संबंध निश्चित करते हैं। राजा मंत्रिपरिषद् के प्रस्तावों से शास्त्रानुसार बाध्य नहीं है। परन्तु उसकी यह

---

१. मनु० ७ । ४१.
२. मनु० ७ । ४२.

स्वेच्छाचारिता यदि सीमोल्लंघन करती थी तो उसे राज्य से हटाया भी जा सकता था। बेन और पृथु का प्रसंग इसी बात का द्योतक है। जब बेन के अत्याचार और निरंकुशता अत्यधिक बढ़ गए तब वह राज्य से च्युत कर दिया गया और उसका पुत्र पृथु, जो बहुत ही विनयी था, राजा बनाया गया। सचिवों की यह शक्ति छिपी हुई रहती थी। प्रकट रूप से इस शक्ति का विधान न करना भी एक महत्वपूर्ण सत्य का द्योतक था। शासक, शासित तथा मंत्रिपरिषद् के बीच में शांति, सुव्यवस्था तथा सौहार्द का भाव स्थित रखने के लिए उपर्युक्त सिद्धान्त (अप्रकट समर्थन) व्यवहार में लाया गया। इसके समर्थन के कारण ही प्राचीन भारत में राज्य व्यवस्था सुख और शांतिदायिनी थी। इंगलैंड के स्टुअर्ट राजा चार्ल्स प्रथम तथा जेम्स द्वितीय के उपाख्यानों से भी यही ज्ञात होता है कि वहाँ की पालियामेंट को भी इसी प्रकार का अधिकार प्राप्त था। परन्तु पालियामेंट का यह अधिकार प्राचीन भारत के सिद्धान्त से सर्वथा विपरीत था। प्राचीन भारत में राजाओं ने न तो कभी अपनी असीमित सत्ता को निरंकुशता तक पहुंचाने की ही कोशिश की और न तो मंत्रियों ने ही राजा के साथ अधिकार प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया। यदि मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो इस सिद्धान्त का परोक्ष रहना ही सुख और शांति का कारण था। यदि यह अपरोक्ष रूप से स्वीकृत होता तो यह संभव था कि दोनों ही (राजा और मंत्रिपरिषद्) एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते इससे अविश्वास की भावना बढ़ती, एक दूसरे के कार्यों में छिद्रान्वेषण करके दबाने का प्रयत्न होता और अंत में वही दृश्य उपस्थित होता जो इंगलैंड के स्टुअर्ट राजाओं के काल में था। इस संपूर्ण मनोमालिन्य को दूर रखने का श्रेय इस सिद्धान्त का परोक्ष रहना ही है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष रूप से मंत्रिपरिषद् को सभी प्रकार के विषय में परामर्श देने का अधिकार था परन्तु राजा उस मंत्रणा से बाध्य नहीं था। मेकडौनल तथा कीथ महोदय के अनुसार भी मंत्रिपरिषद् को सभी विषयों में परामर्श देने, नीति निर्धारण में प्रकाश डालने, नियम निर्धारण तथा न्याय व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार था।[1] मैकडोनल और कीथ का कथन

---

१. According to Macdonal & Keith it is reasonable to assume that the business of the council was general deliberation on policy of all kinds, legislation so far as the vedic Indians cared to legislate and judicial work. As cited by N.N. Law page 26.

वैदिक काल के लिए है परन्तु यह मनु के काल के लिए भी उचित है।

मंत्रिपरिषद् की कार्य प्रणाली

इस प्रकार अब तक के विचार-विमर्श से यह निष्कर्ष निकलता है कि मंत्रिपरिषद् के अधिकार राजा को सलाह देना, राज्य की बिभिन्न परिस्थितियों को भलीभांति सम्हालना तथा अन्य अनेक इसी प्रकार के कार्य थे। प्रश्न यह उठता है कि इन अधिकारों का इस समय किस प्रकार प्रयोग होता था। किस-किस अवसर पर मंत्रिपरिषद् परामर्श देती थी? तथा किस स्थान पर मंत्रिपरिषद् और राजा का परामर्श होता था? इन प्रश्नों का उत्तर मनु ने भलीभांति दिया है। वे कहते हैं कि राजा को अपने दैनिक कृत्य करने के बाद सभा भवन में प्रवेश करना चाहिए।[1] इस श्लोक की टीका में कुल्लूक भट्ट कहते हैं कि सभा भवन में प्रवेश करने का उद्देश्य अमात्यों आदि को दर्शन देना था। सभा में पहुंचने के पश्चात् उसके (राजा के) दर्शनार्थ आई हुई प्रजा का दर्शन, भाषण आदि से अभिनन्दन करने के पश्चात् उनको विदा करना चाहिए; जब वे चले जायं तब अपने मंत्रियों के साथ संधि-विग्रह आदि विभिन्न राजनीतिक विषयों का अनुशीलन करे।[2] परन्तु यह मंत्रणा का स्थान सभा भवन से भिन्न था। नीति निर्धारण के हेतु आमंत्रित मंत्रिपरिषद् की मंत्रणा का स्थान तो ऐसा होता था जहाँ पर शाब्दिक रूप से मंत्रणा संभव हो सके तथा उसको गुप्त रखा जा सके। इसके लिए मनु कहते हैं कि राजा को मंत्रिपरिषद् से मंत्रणा करने के लिए पर्वतीय शिखर पर आरोहण करके अथवा प्रासाद (महल) के एकान्त में, अथवा जनरहित वन में स्थित भवन में अथवा ऐसे ही किसी एकान्त स्थल में जाना चाहिए।[3] मनु का तात्पर्य यह है कि मंत्रणा का स्थान ऐसा होना चाहिए जहाँ पर मंत्र भेद की संभावना न हो सके। मंत्र भेदन करने वाले व्यक्तियों से अनुपलक्षित स्थान में मंत्रणा करनी चाहिए। मंत्र भेद तभी संभव हो सकता है जब मंत्रियों में से ही कोई ऐसा करने का प्रयत्न करे। परन्तु मंत्रियों के सुपरिक्षित होने के कारण इस प्रकार से मंत्र भेद होना संभव नहीं था। मंत्रणा के गुप्त रहने में ही राज्य तथा राजा की उन्नति निर्भर करती है। मनु कहते हैं कि जिस राजा की मंत्रणा (नीति) को उसके (राजा) तथा मंत्रियों के अतिरिक्त अन्य जन न जान सकें वह राजा क्षीण कोष होने पर भी उन्नति ही करेगा, सारी पृथ्वी का

---

१. मनु० ७। १४५—मनु०, टीका कुल्लूक भट्ट

२. मनु० ७। १४६.

३. मनु० ७। १४७।

उपभोग करेगा।[1] यहाँ पर मनु ने सारी पृथ्वी (कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते) के उपभोग करने का प्रयोग लाक्षणिक किया है, उनका तात्पर्य राज्य के उन्नतिशील होने से है। वस्तुतः मंत्रणा की पूर्ति उसके गोपनीय रहने से ही होती है। यदि मंत्र गुप्त नहीं है तो वह मंत्र नहीं है।[2] याज्ञवल्क्य भी राज्य का आधार मंत्रणा मानते हैं। याज्ञवल्क्य मंत्रणा के गुप्त रहने का आदर्श इसमें समझते हैं कि जिस कार्य विशेष के लिए कोई मंत्रणा की गई हो उसको केवल उसके फल के ही द्वारा जाना जाय, फल प्राप्ति के पूर्व मंत्रणा के विषय में किसी को भी किसी प्रकार का आभास न मिले।

मनु ने कुछ प्राणियों को मंत्रणा के स्थान से निश्चित रूप से हटाने का संकेत किया है। दूसरे शब्दों में उन्होंने कुछ अयोग्यतायें निर्धारित कर दी हैं जिनके कारण वे (अयोग्यताधारी पुरुष) कथमपि मंत्रणा के स्थान में नहीं रह सकते। बुद्धि, नेत्र, वाक्, चक्षु तथा कर्ण आदि से विकल व्यक्ति को, पक्षियों की योनि में उत्पन्न (शुक सारिका आदि), अतिवृद्ध, स्त्री, म्लेच्छ, रोगी तथा अंगहीन आदि को मंत्रणा के समय हटा देना चाहिए।[3] मनु ने इनको हटाने का कारण भी बतलाया है। वे कहते हैं कि ये पक्षि-योनि में उत्पन्न होने वाले मंत्रभेद करते हैं; स्त्रियां आदि अस्थिर बुद्धि होने के कारण मंत्र भेद कर देती हैं।[4] उपर्युक्त अयोग्यताधारी व्यक्ति को मंत्रणा के स्थान से हटा देना चाहिए। यह विधान कठोर नहीं है। आजकल भी यह देखा जाता है कि जो अंग विहीन होता है वह इधर की बात उधर करते रहने में अत्यधिक पटु होता है और स्त्रियों के लिए यह प्रसिद्ध ही है कि यदि किसी समाचार को शीघ्रता पूर्वक प्रवाहित करना हो तो उसके लिए सबसे अच्छा साधन यह है कि किसी स्त्री से वह समाचार कह दें। वह बहुत ही शीघ्र फैल जायगा। अतः मनु द्वारा निर्धारित अयोग्यतायें निरर्थक नहीं है। मंत्रणा के स्थान आदि के विनिर्णय के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि किस-किस समय में मंत्रणा करनी चाहिए। इस विषय में मनु कहते हैं कि राजा को दिन के मध्य में अथवा रात्रि के मध्य में विगतश्रम (शारीरिक श्रांति को दूर करके) होकर एकान्त में धर्म, अर्थ, काम तथा अन्य विषयों में मंत्रणा करनी चाहिए।

---

१. मनु० ७। १४८.
२. मंत्र मूलं यतो राज्यं तस्मान्मंत्रं सुरक्षितम् ।
   कुर्याद्यथास्य न विदुः कर्मणामाफलोदयात्॥ या० स्मृति, १, ३४५.
३. मनु० ७। १४९.
४. मनु० ७। १५०.
५. मनु० ७।१५१.

ब्राह्मणमंत्री का विशेष स्थान

महाभारत में ब्राह्मण मंत्री का पुरोहित के रूप में विशद वर्णन मिलता है।[1] शांतिपर्व का वर्णन ब्राह्मण मंत्री की उपादेयता पर प्रकाश डालते हुये कहता है कि जो राजा पुरोहित विहीन होता है वह जूठन (अपवित्र) के समान होता है, इसीलिये राजा को चाहिये कि धर्म को अच्छी तरह समझने वाले विद्वान को नियुक्त करें। यदि वह अपनी उन्नति चाहता है, तो ऐसे निस्वार्थी और विद्वान् ब्राह्मण को जो भी भूमि वह विजय में प्राप्त करता है, उसे सौंप दें। अकेले राजा के लिये यह संभव नहीं है कि वह अपनी शक्ति का धर्मानुकूल प्रयोग कर सके। राजशक्ति के निरपेक्ष भाव से प्रयुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि कोई निरपेक्ष शक्ति राजशक्ति का मार्ग प्रदर्शन करे, इसीलिये निरपेक्ष ब्राह्मण पुरोहित राजा के प्रमुख सलाहकारों में आता है। इसी प्रकार ब्राह्मण वर्ण भी राजा के बिना उत्सन्न हो जायगा क्योंकि धर्म में व्यवस्थित रखने के लिये राजशक्ति के द्वारा ही धर्म की मर्यादा सुरक्षित रहती है। इसी को स्पष्ट करते हुये भीष्म कहते हैं कि जब ब्राह्मण क्षत्रिय का अथवा क्षत्रिय ब्राह्मण का त्याग कर देते हैं, तब समृद्धि समाप्त होकर अवनति प्रारम्भ हो जाती है। न तो ब्राह्मण वेदाध्ययन का कार्य सुचारु रूप से चलाकर ज्ञान पुंज को अक्षुण्ण रख सकेंगे और न क्षत्रिय ही राजोचित मर्यादा में रह कर जनहित की भावना के अनुकूल कार्य कर सकेंगे। वे साधारण दस्युओं की भाँति आर्थिक उपलब्धि को ही अपना पुरुषार्थ समझने लगेंगे। इसलिये ब्राह्मण तथा क्षत्रिय अथवा ब्राह्मण पुरोहित तथा राजा अन्योन्याश्रित रह कर ही कार्य कर सकते हैं। रजोगुण प्रधान राजा सत्वगुण प्रधान ब्राह्मण पुरोहित से धर्मशास्त्रानुकूल व्यवस्था का ग्रहण कर उन्हें व्यावहारिक रूप प्रदान करेगा तथा तभी आदर्श की सुरक्षा संभव है। शांति पर्व में वर्णित राजा मुचकुंद की कथा का प्रसंग भी इसी बात की पुष्टि करता है। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही ब्रह्मा जी से समुन्नत हैं, यदि उन लोगों का शक्ति विधान अलग-अलग हो जाय तब संसार की परिपालना नहीं की जा सकती है। ब्राह्मण में तप और मंत्र का बल तथा क्षत्रिय में अस्त्र और बाहुबल रहता है—दोनों को मिलाकर ही प्रजा की परिपालना करनी चाहिये।[2]

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्यस्मृति पुरोहित का उल्लेख विशेष रूप से करती हैं, परन्तु दोनों स्मृतियों के वृत्तांत कुछ भिन्नता लिये हुये हैं। याज्ञवल्क्य मनु की अपेक्षा,

---

१. महाभारत शां प०, ७२, १–१३, १४, १७, ७३, १—१६.

२. महा० भा०, शा०, ७४.

अधिक स्पष्टता से पुरोहित के परंपरागत गौरव का चित्रण करते हैं। मनुस्मृति में पुरोहित का उल्लेख आया है, परन्तु यह उल्लेख प्राचीन परिपाटी के अनुकूल नहीं है। मनु ने पुरोहित के अतिरिक्त ब्राह्मण मंत्री का भी उल्लेख किया है, इस मंत्री की स्थिति बहुत महत्वपूर्ण दिखलाई गई है। याज्ञवल्क्य पुरोहित की योग्यताओं के साथ-साथ उसके दंडनीति में कुशल होने का भी उल्लेख करते हैं। इस योग्यता से यह आभास मिलता है कि वह (पुरोहित) राजा को उसके राजकीय कार्यों में भी सहायता पहुंचाता रहा होगा।[1] याज्ञवल्क्य स्मृति का यह वृत्तांत परंपरागत कहा जा सकता है। वस्तुतः ऐतिहासिक काल में पुरोहित राजत्व की शक्ति का प्रतीक था तथा वह सभी सार्वजनिक कार्यों में बहुत अधिक प्रभाव रखता था; न्याय कार्य तथा अन्य राजकीय कार्यों में उसका स्थान महत्वपूर्ण था।[2] बाल्मीकि रामायण में भी पुरोहित के इस महत्व का उल्लेख करते हैं। राम के वन चले जाने पर महाराज दशरथ जी की मृत्यु हो जाती है। भरत और शत्रुघ्न अपने मामा के घर में हैं। राज्य का भार संभालने वाला कोई नहीं रह जाता है। उसी समय कुछ प्रख्यात अमात्य और ऋषिगण राज द्वार पर आते हैं और वशिष्ठ से कहते हैं कि महाराज के जीवित रहने पर भी हम लोग आपके वचनों का अतिक्रमण उसी प्रकार नहीं करते थे जिस प्रकार समुद्र अपनी मर्यादा का। अब भी आप ही इक्ष्वाकु कुमारों में से किसी एक को अथवा किसी अन्य को राज्य में अभिषिक्त कर दीजिये, इत्यादि।[3] इन अनेक प्रसंगों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजपुरोहित का राज्य में क्या स्थान था, उसके क्या अधिकार थे तथा उसका कितना महत्व था।

---

१. या० स्मृति १। ३१३.

२. In the Vedic Index it is stated "The Purohita is in all religious matters the Alter-ego of the king. In historical times, he represented the real power of the kingship and may safely be deemed to have exercised great influence in all public affairs such as administration of justice and the king' s conduct of business." S. Varadacharya–Hindu judicial System p. 73.

३. जीवत्यपि महाराजे तवैव वचनं वयम्।
नातिक्रमामहे सर्वे वेलां प्राप्येव सागरः॥ अयो० ३७—६७
कुमारमिक्ष्वाकुसुतं तथान्यं राजानमिहाभिषेचय ॥ अयो० ३८—११

याज्ञवल्क्य पुरोहित को उक्त महत्वपूर्ण स्थिति को स्पष्ट रूप से नहीं कहते हैं; परन्तु वे उसके लिए ऐसी योग्यता का विधान करते हैं जिससे वह राजा का प्रमुख परामर्शदाता बन सकता है। मनुस्मृति में पुरोहित की नियुक्ति का विधान है; परन्तु उसकी नियुक्ति के साथ-साथ उसकी गृह्य तथा वैतानिक (यज्ञादि) कर्मों को संपादित करने की योग्यता का भी विधान है।[1] यह विधान पुरोहित को ऋत्विक की कोटि में रख देता है। मनु याज्ञवल्क्य की भाँति, पुरोहित के लिये दंडनीति में कुशल होने की योग्यता नहीं रखते हैं। मनु ने पुरोहित के अतिरिक्त ब्राह्मण मंत्री का उल्लेख विशेष रूप से किया है। यह ब्राह्मण मंत्री विभिन्न अधिकारों से विभूषित था। मनु के अनुसार ब्राह्मण के साथ षाड्गुण्य मंत्र का परामर्श करना चाहिये, एक प्रकार से यह ब्राह्मण प्रत्येक राजकीय विषय में प्रमुख परामर्शदाता था। मनु राजा को आदेश देते हैं कि इस व्यक्ति के ही ऊपर सभी कार्यों को छोड़ दे (आश्वस्त होने पर) तथा उसी की सलाह से सभी कार्यों को प्रारंभ करे।[2] यह विधान, एक प्रकार से, ब्राह्मण मंत्री के ऊपर संपूर्ण राज्य की व्यवस्था का उत्तरदायित्व रख देता है। एक अन्य स्थान पर, मनु इस ब्राह्मण मंत्री को राजा के प्रतिनिधि के रूप में चित्रित करते हैं; यदि राजा कार्य दर्शन करने में असमर्थ रहता था तब ब्राह्मण मंत्री उसके स्थानापन्न के रूप में कार्य दर्शन करता था।[3] निःसंदेह ये विधान ब्राह्मण मंत्री को विशेष महत्व का स्थान प्रदान करते हैं। मनु के इस ब्राह्मण मंत्री की वर्तमान समय के प्रधानमंत्री से तुलना करना अनुपयुक्त न होगा।

इंगलैंड की पार्लियामेंट ही आजकल की पार्लियामेंट प्रणाली की जन्मदात्री कही गई है अतः उसी के प्रधानमंत्री से प्राचीन कालीन, ब्राह्मण मंत्री की तुलना करना युक्तियुक्त होगा। वस्तुतः प्रधानमंत्री की उत्पत्ति समय की रूढ़ियों के साथ हुई है। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्षों में प्रधान मंत्री का महत्व माना गया तथा उसका पद आदर की दृष्टि से देखा जाने लगा। यदि प्रधान मंत्रित्व के प्रारम्भिक दिनों की ओर दृष्टिपात करें तो उसकी स्थिति का और अच्छी तरह से मूल्यांकन हो सकता है। प्रधानमंत्री वालपोल ही ऐसा प्रथम व्यक्ति था जो इस पद को प्रकाश में लाया। उसके पहले हाउस आफ कामन्स के पास ऐसा कोई व्यक्ति नहीं था जिसके माध्यम से वे

---

१. पुरोहितं प्रकुर्वीत......चर्त्विजः।
......कुर्युर्वैतानिकानि च॥ मनु ७—७८.

२. मनु० ७—५८, ५९.

३. मनु० ८—९.

सामूहिक रूप से नीति निर्धारण या अन्य विषयों में राजा को परामर्श देने का अधिकार का उचित प्रयोग करते। बालपोल को भी एक विशेष प्रकार का अवसर मिला जिसके कारण वह प्रधान मंत्रित्व के पद की वृद्धि कर सका। बालपोल के समय में इंगलैंड का शासन जर्मनी ने हनोवर वंशीय जार्ज को दे दिया गया। जार्ज प्रथम की अवस्था उस समय अधिक हो चुकी थी और वह अंग्रेजी रीति-रिवाज नहीं जानता था। बालपोल ही उनसे किसी प्रकार विचार-विनिमय करने की क्षमता रखता था। इसके अतिरिक्त उसका (जार्ज) झुकाव अपने हनोवर के राज्य की ही ओर अधिक था। यहाँ आने पर उसने पार्लियामेंट के स्वतंत्र विकास को दबाने का जरा भी प्रयत्न नहीं किया जैसा कि इसके पहले के अनेक शासकों ने किया था। जार्ज द्वितीय भी प्रथम की ही भाँति इंगलैंड के शासन की ओर उदासीन था। यही कारण है कि प्रधान मंत्री का पद प्रकाश में आया। आगे चलकर सिद्धान्त प्रचलित हो गया कि जिस दल की कामन्स में अधिकता हो उसी का नेता प्रधान मंत्री बनाया जाय। परन्तु प्रारम्भ में ऐसा न था।

वर्तमान प्रधानमंत्री पद के विकास को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्राह्मण मंत्री का पद उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण तथा अधिकार संपन्न था। वस्तुतः यह ब्राह्मण मंत्री ही राज्य का सर्वोच्च पदाधिकारी जान पड़ता है। वर्तमान समय में प्रधानमंत्री ही सर्वाधिक अधिकार संपन्न कहा जायगा, परन्तु उसे (प्रधान मंत्री को) ये अधिकार तब प्राप्त हो सके जब राजतंत्र पूर्णरूपेण सीमित राजतंत्र हो गया। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि जब राजा के अधिकार उसके पास से चले गये तभी प्रधान मंत्री पद की प्रतिष्ठा स्वीकृत हो सकी। परन्तु मनुस्मृति के ब्राह्मण मंत्री की स्थिति ऐसी न थी। यहाँ ब्राह्मण मंत्री की स्थिति वैधानिक थी; राजा के पास अधिकार रहते हुये भी ब्राह्मण मंत्री पद की प्रतिष्ठा पर्याप्त थी। यह व्यवस्था राजा और ब्राह्मण मंत्री में अन्योन्याश्रित संबंध होने का आभास देती है। राजा क्षत्रिय है; उसमें रजोगुण की मात्रा अधिक है; अतएव वह शक्ति के कार्य में अधिक कुशल है। इसके विपरीत ब्राह्मण में सत्वगुण की प्रधानता है; सत्वगुण के कारण ही उसकी बुद्धि निर्मल, शांत तथा व्यवस्थित है। इसके अतिरिक्त उसका वर्णधर्म उसे, अन्य वर्णों की अपेक्षा, ज्ञान भंडार के अधिक निकट रखता है। इससे स्पष्ट है कि राजा तथा ब्राह्मण मंत्री के गुणों के कारण (सत्व तथा रजोगुण) ब्राह्मण मंत्री की स्थिति श्रेष्ठ समझी जायगी। इसीलिये ब्राह्मण मंत्री से सलाह लेने का विधान महत्वपूर्ण समझा गया। परन्तु यह ब्राह्मण मंत्री भी राजा के साहचर्य से ही कार्य कर सकता था क्योंकि रजोगुण के अभाव में ब्राह्मण से राजकीय प्रभाव की आशा नहीं की जा सकती है। राजा भी ब्राह्मण मंत्री की उपेक्षा नहीं कर सकता था क्योंकि इस उपेक्षा से यह संभावना बनी रह सकती थी कि

राज्य व्यवस्था प्रजा के हित में न होकर केवल राजा के ही हित में हो। ब्राह्मण मंत्री तथा राजा की यही स्थिति दोनों को अन्योन्याश्रित बना देती है। यहाँ अन्योन्याश्रित संबंध, दोनों की स्थिति तथा गुण को लेकर था; उनकी स्थिति की यह परिकल्पना एक अपूर्व समन्वय की ओर संकेत करती है। यह समन्वय बौद्धिक तथा शारीरिक शक्तियों का था। वर्तमान कालीन प्रधानमंत्री का पद उक्त दार्शनिक पृष्ठभूमि के अभाव में विशेष महत्व का नहीं जान पड़ता है।

सप्तम अध्याय

राष्ट्र तथा प्रशासन

राज्य के सप्तांग वर्णन में "राष्ट्र" को भी एक अंग माना गया है। राष्ट्र से राज्य के क्षेत्र से तात्पर्य है। आधुनिक समय में भी राज्य के क्षेत्र को भी एक आवश्यक तत्व माना गया है। राष्ट्र शब्द का उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है।[1] अन्य वैदिक संहिताओं में भी राष्ट्र शब्द का उल्लेख मिलता है।

राष्ट्र को सप्तांग में रखने के अतिरिक्त मनु उसके विभिन्न प्रादेशिक नामों का भी उल्लेख करते हैं। सरस्वती तथा दृशद्ती नदियों के मध्य का प्रदेश "ब्रह्मावर्त" नाम से अभिहित था, इस प्रदेश के रहने वालों को मनु ने आचारवान् कहा है। कुरुक्षेत्र मत्स्य, पांचाल, शूरसेन (मथुरा) यह ब्रह्मर्षि देश कहलाता था। हिमालय तथा विंध्याचल के बीच विनशन (सरस्वती के अंतर्हित होने का देश कुरुक्षेत्र) के पूर्व तथा प्रयाग के पश्चिम का प्रदेश मध्यप्रदेश कहलाता था। पूर्व समुद्र तथा पश्चिम समुद्र तथा हिमालय और विंध्याचल के मध्य के प्रदेश का नाम आर्यावर्त था। आर्यावर्त एक प्रकार से ब्रह्मावर्त तथा ब्रह्मर्षि देश को भी अपने में सम्मिलित करता था। मनु ने म्लेच्छ देश का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार जहाँ पर काला मृग स्वभाव से विचरण करता हो अर्थात् जहाँ काले मृग स्वाभाविक रूप से पाये जाते हों वह "यज्ञिय" प्रदेश कहलाता है। इसके बाद का प्रदेश "म्लेच्छदेश" कहलाता है। "याज्ञिय" और म्लेच्छदेश का वर्णन देखने से यह जान पड़ता है कि मनु ने एक बहुत ही मोटी परिभाषा के द्वारा दोनों में पार्थक्य स्थापित किया है। जहाँ कहीं भी स्वाभाविक रूप से कृष्ण मृग विचरण करते होंगे वह प्रदेश अवश्य ही शिष्ट, आचारवान् तथा धार्मिक पुरुषों से आसेवित होगा तथा जहाँ के रहने वाले क्रूर तथा हिंस्र प्रवृत्ति वाले होंगे वहाँ पर इन मृगों का पाया जाना ही संभव नहीं है। इसी हिंस्र प्रवृत्ति के आधार पर ही मनु ने याज्ञीय तथा म्लेच्छ देशों का विभाजन किया है।

---

१. ममद्विता राष्ट्रं क्षत्रियस्य। ऋ०, ४—४२—१

मनु का भारत का इस प्रकार का विभाजन एक प्रकार से प्रादेशिक विभाजन कहा जा सकता है; इसका आभास मनु के ब्रह्मर्षि तथा ब्रह्मावर्त प्रदेश के वर्णन से होता है। मनु ने ब्रह्मर्षि प्रदेश की सीमा निर्धारित करने में यह कहा है कि कुरुक्षेत्र, पांचाल, शूरसेन आदि को मिलाकर ब्रह्मर्षि देश बनता है। यह स्पष्ट करता है कि कुरुक्षेत्र, पांचाल आदि प्रदेशों की भी स्थिति थी। इसी प्रकार से मध्यप्रदेश, आर्यावर्त और ब्रह्मावर्त के वर्णन से भी ज्ञात होता है कि इनमें विभिन्न मान्यता प्राप्त प्रदेश थे। इन सब से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उक्त देशों का वर्णन प्रशासकीय इकाइयों के रूप में किया गया है।

मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति राज्य की प्रशासन सम्बन्धी व्यवस्था की ओर भी संकेत करती हैं। प्रशासन की दृष्टि से ग्राम को ही निम्नतम इकाई समझा जाता था। प्राचीन काल से भारत की प्रगति में ग्राम का विशेष महत्व रहा है। कृषि प्रधान देश के लिए ग्रामों की समुन्नति की ओर विशेष दृष्टिपात करना एक प्रकार से आवश्यक ही था। मनुस्मृति में ग्रामों को प्रशासकीय संगठन की इकाई के रूप में भी चित्रित किया गया है। राष्ट्र का अंतिम विभाजन ग्राम के रूप में विभिन्न इकाइयों में किया गया था। इन ग्रामों में शांति व्यवस्था, तथा अन्य आवश्यक कार्यों की देख-रेख के लिए "ग्रामिक" नामक पदाधिकारी की नियुक्ति की जाती थी।[१] "ग्रामिक" ही प्रशासकीय शृंखला की सबसे नीचे की कड़ी थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि "ग्रामिक" पद का उल्लेख ऋग्वेद में भी प्राप्त होता है। ऋग्वेद में ग्रामिक के स्थान पर "ग्रामिणी" शब्द का व्यवहार किया गया है; इस प्रसंग में मनु को ही ग्रामिणी कहा गया है। इससे यह आभास मिलता है कि ग्राम को ऋग्वेद के समय में भी प्रशासकीय महत्व प्राप्त था। ग्राम के इस पदाधिकार को ग्राम के मुखिया के रूप में ही चित्रित किया गया है। ऋग्वेद के ५—१०७, ५ में यह मिलता है कि वह ग्रामवासियों के आगे आगे चलता है।[२] ग्राम के इस अधिकारी का महत्व प्राचीन भारत में बहुत अधिक था।[३]

ग्राम का यह अधिकारी ग्रामपति अथवा ग्रामिक ग्राम में उत्पन्न होने वाले दोषों

---

१. मनु० ७—११५ से १२० तक।

२. In R.V. X 107.5 it is said that the gramini, who is endowed with (or dispenses) dakshina (cows or wealth) walks in front (of the village people) P.V. Kane. History of Dharmashastra. Vol. III. p. 153.

३. Ibid. page 152–155.

आदि को स्वयमेव ठीक करने का प्रयत्न करता था। ग्राम के दोषों को दूर करने के अधिकार का तात्पर्य यह प्रतीत होता है कि—ग्राम की शांति व्यवस्था को यदि कोई भंग करता हो, अथवा ग्राम की उचित सुरक्षा का अभाव हो अथवा कृषि कार्य में ही किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित हो गया हो आदि। तब वह उन्हें दूर करने का स्वयं-मेव प्रयत्न करता था। यदि वह इस कार्य में करने को किसी कारण अक्षम रहता था तब उसे यह अधिकार था कि वह उन विषयों को अपने से ऊपर के अधिकारी (दश ग्रामों के अधिपति) के समीप भेज दे।

ग्रामिक अपनी जीविका के लिए ग्रामवासियों पर ही निर्भर करता था। मनु के अनुसार ग्रामवासी द्वारा अन्न, ईंधन, आदि जो भी राजा को देने वाली वस्तुएं है वे प्रतिदिन ग्रामिक को प्रदान की जायंगी। यह विधान, राजकीय कोष के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से ग्रामिक की जीविका को निर्धारित नहीं करता है; परन्तु अप्रत्यक्ष रूप से ग्राम से प्राप्त होने वाले राजा के भाग में से ही वह (ग्रामिक) अपनी जीविका प्राप्त करता था। व्यावहारिक दृष्टि से यह विधान अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।

राजा के द्वारा पहले अपने भाग को ग्रहण करके ग्रामिक को वेतन देने में कुछ व्यावहारिक त्रुटियों संभाव्य थीं। सर्वप्रथम इसमें समय और शक्ति का व्यर्थ का अपव्यय होता। दूसरे, ऐसी व्यवस्था में ग्रामिक ग्रामवासियों से निकट का संबंध नहीं कर सकता था। ग्रामिक की अथवा किसी भी राजकीय पदाधिकारी की सफलता अपने अधिकार क्षेत्र के साथ तादात्म्य स्थापित करने में हो सकती है। जिस समय ग्रामिक अपनी जीविका के लिए ग्रामवासियों पर निर्भर करता है, उसके लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह ग्राम की उन्नति को ही अपनी उन्नति समझे। वे अपनी जीविका के स्रोत (ग्रामोन्नति) की किसी भी स्थिति में उपेक्षा नहीं कर सकते थे, क्योंकि उसकी उपेक्षा का प्रभाव सर्वप्रथम उन्हीं पर पड़ता—राज्य पर इसका प्रभाव बाद में पड़ता। अतः यह व्यवस्था अधिकारी वर्ग में अपने कर्तव्य के प्रति उपेक्षा की प्रवृत्ति को रोकने के लिए एक महान् प्रयास कही जा सकती है। यह व्यवस्था शासन और शासित के संबंधों को स्पष्ट करती है; उनका सम्बन्ध नित्य का सम्बन्ध था। जनता का हित उनका सुख तथा उनकी समृद्धि के साथ राज्य के हित का तादात्म्य था। इस अन्योन्याश्रित संबंध का दूसरा उदाहरण अन्य देशों में पाना सर्वथा असंभव है।

ग्रामिक के बाद दूसरा प्रशासकीय पदाधिकारी दस गांवों का अधिपति होता था; उसे "दशाधिपति" कहते थे। प्रशासन की दूसरी इकाई दस ग्रामों के समूहों को मिलाकर बनती थी। दशाधिपति दस ग्रामिकों के ऊपर होता था। ये (दशाधिपति) अपने अधीनस्थ ग्रामिकों के द्वारा प्रेषित विषयों को; (ये ऐसे विषय होते थे जिनको

ग्रामिक ठीक नहीं कर पाता था) देख कर ठीक करने का कार्य करते थे। इसके अतिरिक्त, ये अपने अधिकार क्षेत्र की उन्नति, समृद्धि तथा शांति व्यवस्था के लिए भी उत्तरदायित्व रखते थे। इस पदाधिकारी के कर्तव्यों के विषय में मनु स्पष्ट रूप से केवल इतना ही कहते हैं कि ग्रामिक जिन दोषों को दूर करने में असमर्थ हो उसे दशाधिपति के समीप भेज दे तथा दशी भी यदि उन्हें ठीक करने में असमर्थ हो तो अपने से उच्च अधिकारी विशंती के पास भेज दे। इससे केवल यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि दशी ग्रामिकों के कार्यों का निरीक्षण करने का अधिकार रखता था। अपने इस अधिकार के द्वारा ही उसका यह कर्त्तव्य हो जाता था कि ग्रामों की उन्नति के प्रति दत्तचित्त रहे।

दशी की जीविका भी ग्रामों के ऊपर ही निर्भर करती थी। मनु दशी की जीविका के संबंध में कहते हैं कि उसे एक "कुल" का भोग प्राप्त करने का अधिकार था। यहाँ "कुल" शब्द विशेषार्थवाची है। मनुस्मृति के टीकाकार कुल्लूक भट्ट के अनुसार दो हलों के द्वारा जितनी भूमि जोती जा सके वह एक कुल कहलाता है अर्थात् दशी को दो हलों से जितनी भूमि जोती जा सकती है उससे उत्पन्न होने वाली उपज को वेतन के रूप में प्राप्त होता था। इससे दो बातें स्पष्ट होतीं हैं—एक, दशी भी ग्रामिक के ही समान ग्राम पर निर्भर करता था, दूसरी दो बैलों से जोती जाने वाली भूमि में इतनी उपज होती थी कि एक परिवार की आवश्यकतायें भलीभांति पूरी हो सकती थीं। दशी की जीविका ग्रामिक की अपेक्षा अधिक निश्चित नहीं थी। उसे भूमि के अधिक उपजाऊ होने पर अधिक तथा कम उपजाऊ होने पर कम प्राप्ति होती थी; परन्तु ग्रामिक को अन्न तथा ईंधन आदि ग्रामवासियों से मिलने के कारण कुछ अधिक निश्चित प्राप्ति होती थी। दशी की जीविका की यह अनिश्चितता ही उसे भूमि को हर प्रकार से उपजाऊ बनाने तथा उसके लिये सिंचाई आदि के प्रबन्ध को ठीक करने के लिये प्रेरित करती रहती थी। कृषि की उन्नति तभी संभव हो सकती है जब उसकी उन्नति के मार्ग में आने वाली बाधाओं को समझकर दूर करने का प्रयत्न किया जाय। दशी कृषि संबंधी असुविधाओं का प्रत्यक्षदर्शी होता था तथा वह स्वयं भी ग्रामीण ही रहता होगा, अतएव ग्राम की असुविधाओं को दूर करने में वह अधिक सफलता प्राप्त कर सकता था।

दशी के ऊपर 'विशंती'' नामक पदाधिकारी होता था। यह पदाधिकारी बीस ग्रामों को अपने अधिकार क्षेत्र में रखता था। बीस ग्रामों का समूह प्रशासन की तीसरी इकाई थी। इस अधिकारी के अधीन दो दशी तथा बीस ग्रामिक होते थे। पद की दृष्टि से यह आधुनिक कालीन तहसीलदारों के समान था। विशंती के अधिकार और कर्तव्यों

के विषय में भी अधिक विस्तार नहीं मिलता है। इस विषय में केवल इतना ही मिलता है कि ग्रामिक के द्वारा दशी को दिये गये विषय को यदि वह (दशी) ठीक करने में असमर्थ होता था तो उसे विशंती के पास भेज दिया जाता था। विशंती उसे ठीक करने का प्रयत्न करता, यदि वह भी उसे ठीक करने में असमर्थ रहता तो उसे यह अधिकार था कि वह उस विषय को अपने से उच्च पदाधिकारी के समीप भेज दे। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि विशंती से नीचे दो प्रकार के अधिकारी थे जिनकी कुल संख्या बाइस होती थी; इस प्रकार से बीस ग्रामों में विशंती को मिला कर तेइस अधिकारी हो जाते हैं। अतएव यह संभव प्रतीत होता है कि विशंती के पास केवल वे ही कार्य थे जिनकी कि उसके पास अपील की गई हो। यदि ग्रामिक और दशी अपने कार्यों को उचित रूप से करते हों तथा ऐसे कोई भी विषय न हों जिनकी कि अपील विशंती के पास की जा सके तब इस पदाधिकारी के पास वस्तुतः कुछ कार्य ही नहीं रह जाता है; संभव है कि यह पदाधिकारी केवल अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के ऊपर निगरानी करने तथा उन्हें सचेत करने का अधिकार रखता हो। यह बहुत संभव है कि इनके अधिकार तथा कर्तव्य परिपाटियों और परम्पराओं के ऊपर आधारित हों। पदाधिकारियों की व्यवस्था होना अधिक महत्व का विषय है, उनके विभिन्न अधिकारों का प्रश्न गौण है। यदि उनके पास अन्य अधिकार न भी हों तो भी वह बाइस पदाधिकारियों की कार्यवाही को देखने का अधिकार रखता ही था।

विशंती की जीविका के लिये मनु कहते हैं कि उसे पांच कुलों के भोग को प्राप्त करने का अधिकार था। इससे यह आभास मिलता है कि विशंती का सम्मान दशी की अपेक्षा कम से कम पच गुना तो अधिक था ही।

विशंती के ऊपर "शती" नामक पदाधिकारी रहता था। यह सौ ग्रामों को अपने अधिकार क्षेत्र में रखता था। सौ ग्रामों का समूह प्रशासन की चौथी इकाई थी। शती के अधीन पांच विशंती, दस दशी तथा सौ ग्रामिक होते थे। विशंती इसी अधिकारी को अपने द्वारा ठीक न किये जा सकने पर विभिन्न विषयों को निवेदित करता था। इस पदाधिकारी के अधिकार भी सुनिश्चित नहीं हैं; परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह अपने अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यकलापों के ऊपर देखरेख रखने का महत्वपूर्ण अधिकार रखता रहा होगा। मनुस्मृति शती की जीविका के लिये एक गांव का विधान करती है। यह स्पष्ट नहीं है कि उसे एक ग्राम से राजा को जितनी आय होती है उतना प्राप्त करने का अधिकार है अथवा साधारण कोटि के ग्रामों में जितनी भूमि होती है उतना उसे प्राप्त करने का अधिकार है। इसमें पूर्वगत ही अधिक उपयुक्त जान पड़ता है। इनकी स्थिति एक प्रकार से जागीरदारों के समान थी। विशंती

के द्वारा जो विषय शती के पास निवेदित किये जाते थे, उन्हें यदि ठीक करने में असमर्थ होता था तो वे सहस्त्राधिपति के पास निवेदित किये जाते थे।

सहस्त्राधिपति शती के ऊपर होता था। यह एक हजार गांवों के ऊपर अपना अधिकार रखता था। इसके अधीन सौ शती, पांच सौ विशंती, सौ दशो तथा एक हजार ग्रामिक होते थे अथवा इसके अधीन सोलह सौ कर्मचारी होते थे। इस पदाधिकारी की तुलना जिलाधीश से की जा सकती है। इस पदाधिकारी के अधिकार के विषय में भी सुनिश्चित रूप से कुछ नहीं प्राप्त होता है; सहस्त्राधिपति की जीविका के लिए एक "पुर" का विधान है; संभव है इसे जागीर के रूप में एक पुर (कस्बा) प्राप्त होता था।

ग्रामों का प्रशासकीय संगठन सहस्त्राधिपति के साथ ही समाप्त हो जाता है। इसके उपरान्त नगर प्रशासन आता है। मनुस्मृति के अनुसार प्रत्येक नगर में एक "सर्वार्थचिंतक" नामक (अथवा ऐसा पदाधिकारी जो सर्वार्थचिंतक हो) पदाधिकारी की नियुक्ति करनी चाहिए। इस पदाधिकारी को घोर रूप तथा नक्षत्रों में ग्रहों के समान होना चाहिए। सारांश में इस पद पर प्रभावशाली व्यक्ति को ही होना चाहिए। सर्वार्थचिंतक के कार्यों के विषय में मनु कुछ अधिक स्पष्ट हैं।[1] यह सहस्त्राधिपति आदि विभिन्न पदाधिकारियों के ऊपर होता था। इसका प्रमुख कर्त्तव्य इन पदाधिकारियों का निरीक्षण करना होता था। यह निरीक्षण दो प्रकार से किया जाता था, वह स्वयं व्यक्तिगत रूप से उनके कार्यों का निरीक्षण करे अथवा चरों (गुप्तचरों) के माध्यम के उनके कार्यों की जानकारी प्राप्त करे। नगराधिपति का यह अधिकार बहुत ही महत्वपूर्ण था; विशेष कर जब वह अपना यह अधिकार गुप्तचरों के माध्यम से करता हो। ऐसी व्यवस्था में सहस्त्राधिपति आदि विभिन्न कर्मचारियों के लिये यह संभव नहीं रह जाता कि वे अपने कर्तव्यों के प्रति किसी भी प्रकार की उपेक्षा दिखायें। व्यक्तिगत रूप से कार्यों का निरीक्षण भी उतना ही महत्वपूर्ण है, परन्तु एक सर्वार्थचिंतक के अधीन इतने अधिक पदाधिकारी होते थे कि उसके लिए व्यावहारिक दृष्टि से यह संभव नहीं रह जाता कि वह व्यक्तिगत रूप से सब के कार्यों का निरीक्षण कर सके। परन्तु गुप्तचरों के माध्यम से यह कार्य अधिक सुचारु रूप से संपादित हो सकता है। इस पदाधिकारी के वेतन आदि के विषय में कुछ भी प्राप्त नहीं होता है।

प्रशासकीय संगठन का उपर्युक्त वर्णन राजकीय व्यवस्था के केवल एक ही भाग को स्पष्ट करता है। इस व्यवस्था के दूसरे भाग के अंतर्गत ग्रामों की सुरक्षा के लिए

---

१. मनु० ७—१२१, १२२ तथा टीका कु० भट्ट.

सैनिक व्यवस्था का भी आदेश मिलता है। मनुस्मृति के अनुसार दो, तीन अथवा पांच ग्राम के मध्य में एक "गुल्म" की स्थापना करनी चाहिए। गुल्म का तात्पर्य सेना की एक टुकड़ी से है; इसे आधुनिक काल की पुलिस चौकी कहा जा सकता है। इन दो, तीन अथवा पांच ग्राम के मध्य में स्थापित गुल्मों के अतिरिक्त प्रत्येक सौ ग्राम में विशेष रूप से सैन्य संगठन किया जाता था।[1] राज्य की सुरक्षा के लिए यह व्यवस्था बहुत अधिक लाभदायक थी। स्थानीय अशांति को दूर करने के लिये ये "गुल्म" पर्याप्त थे, इनसे किसी प्रकार से अशांति का दमन न हो पाता था तो उसके लिए प्रत्येक सौ ग्राम में विशेष सेना का प्रबन्ध था। यह व्यवस्था चोर, डाकू आदि से ग्रामवासियों की रक्षा करने में विशेष लाभदायक सिद्ध होती रही होगी।

ग्राम का इस प्रकार से संगठन प्रशासन की सफलता का द्योतक था। संगठन की उपर्युक्त पद्धति को देखने से यह ज्ञात होता है कि राज्य सर्वप्रथम विभिन्न नगरों में विभाजित किया गया है, प्रत्येक नगर को एक प्रशासकीय विभाग मान लिया गया है, तथा इस नगर क्षेत्र के अंतर्गत कम से कम एक हजार ग्राम नियत रहते थे। इसके उपरान्त ग्राम को प्रकाशन की निम्नतम इकाई मान कर नगर के अधिपति अथवा सर्वार्थचिंतक से इस इकाई को विभिन्न पदाधिकारियों के द्वारा श्रृंखलाबद्ध किया जाता था। कृषि प्रधान देश के लिए ग्राम को ही निम्नतम प्रशासकीय इकाई मानना प्रशासकीय कौशल का परिचायक है। सर्वार्थचिंतक को एक प्रकार से एक विभाग का अध्यक्ष कहा जा सकता है। इसके तथा इसके अधीनस्थ कर्मचारियों के कार्यों की देख-रेख राजा का एक मंत्री करता था। इस सचिव के उपरान्त राजा प्रशासकीय श्रृंखला के सर्वोच्च पदाधिकारी के रूप में आता था।

प्रशासन के ये पदाधिकारी अपने कार्यों में अनुचित रीति को न अपनायें, इसका उत्तरदायित्व राजा के ऊपर रहता था। मनुस्मृति तथा याज्ञवल्क्य स्मृति में उत्कोच ग्रहण करने वालों (घूस ग्रहण करने वालों) के विषय में भी कुछ नियम उपलब्ध होते हैं।[2] प्रायः ये राजकीय पदाधिकारी लोभवश उत्कोच ग्रहण करने लगते हैं; राजा का यह कर्त्तव्य है कि वह इन उत्कोचग्राहियों से प्रजा की रक्षा करे। उत्कोचग्राहियों के दंड के लिए मनुस्मृति में बहुत कठोर नियम प्राप्त होते हैं; उत्कोचग्राहियों का संपूर्ण धन हरण करके उन्हें देश से निकाल देना चाहिये। उत्कोच के अपराध का यह दंड कठोर अवश्य था परन्तु यह बहुत ही प्रभावशाली नियम रहा होगा। राज्य के अधिकारी

---

१. मनु० ७—११४.
२. मनु० ७-.१२४; याज्ञ० १-.३३८, ३३९.

उत्कोच के माध्यम से एक प्रकार से प्रजा के रक्त का ही पान करते हैं (जिस प्रकार जोंक धीरे-धीरे रक्त का पान करती है उसी प्रकार); अपने इस कृत्य से वे प्रजा को निर्जीव बना देते हैं। उत्कोच ग्रहण के द्वारा प्रजा के धन का तो अनुचित रीति से हरण होता ही है, साथ ही साथ प्रजा में राज्य के प्रति असंतोष की भावना उत्पन्न होने लगती है; प्रशासन की असफलता में यह एक महत्वपूर्ण कारण होता है। जनता का सहयोग तभी प्राप्त हो सकता है जब प्रशासन उचित रीति से उनके अधिकारों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करे। प्रजा के सहयोग के अभाव में, केवल शक्ति के आधार पर राजकार्य नहीं चल सकता है। अतएव अधिकारी वर्ग को एक बहुत बड़े मानवीय दोष से बचाने के लिये कठोर दण्ड का विधान किया गया था। सर्वस्वहरण तथा राज्य से निष्कासन की व्यवस्था इतनी पर्याप्त थी कि साधारण रूप से कोई उत्कोच की ओर अग्रसर नहीं हो सकता था।

प्रशासकीय संगठन के उपरान्त प्रशासन की रीति निर्धारण का प्रश्न आता है। मनु राजा को आदेश देते हैं कि वह जातिधर्म, देशधर्म, श्रेणिधर्म तथा कुलधर्म (वंशपरंपरागत धर्म) को देखकर तदनुसार उनके अपने धर्मों की व्यवस्था करे। याज्ञवल्क्य भी इसी भांति कुल, जाति, श्रेणि, गण, जनपद के धर्मों के अनुसार कार्य करने का आदेश देते हैं। नारद भी राजा को इन्हीं के अनुसार कार्य करने का आदेश देते हैं।[1]

कोष

राज्य व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि राज्य में समृद्ध कोष हो। कोष को सप्तांग में रखकर इसी महत्व को प्रकट किया गया है। कोष की समृद्धि का प्रमुख आधार कर ग्रहण ही होता है। स्मृतियों में कोष की समृद्धि के लिए राजा को कर ग्रहण करने का अधिकार था। धन की व्यवस्था इसी पर आधारित थी। मनु तथा याज्ञवल्क्य धन के महत्व तथा उसकी गंभीरता को दृष्टि में रखकर ही यह आदेश देते हैं कि कोष के अध्यक्ष को ऐसा होना चाहिये जो सच्चरित्र, उच्च कुलोत्पन्न तथा श्रेष्ठ हो। इस पद के लिये यह योग्यता इसलिए है कि वह कोष का अपव्यय न करे अथवा प्रजा को उसके लिये पीड़ित न करे।

कर ग्रहण के द्वारा भी राजकोष में बहुत अभिवृद्धि होती थी। करों को लगाने के पहले यह देख लिया जाता था कि जिस व्यक्ति से यह कर लिया जा रहा है, उसको

---

१. मनु० ८—४१; याज्ञ० १—३६१; नारद.

अपने मूलधन में से तो नहीं देना पड़ रहा है। अर्थात् यह केवल लाभ के ही ऊपर लगाया जाता था। मनुस्मृति के अनुसार राजा को व्यापारियों पर कर लगाने के पूर्व इस बात का भली-भांति ध्यान रखना चाहिए कि व्यापारियों को उनका मूलधन, विक्रय संबंधी व्यय, पालन-पोषण के लिए पर्याप्त धन के अतिरिक्त आय पर शुल्क ग्रहण करना चाहिए।[1]

कर ग्रहण करने का एक और सिद्धान्त मनु प्रतिपादित करते हैं। कर निर्धारित करने के साथ इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कर प्रजा पर भार स्वरूप न हो जाये। कर इतना ही होना चाहिए जितना देने में प्रजा को किंचित् मात्र भी क्लेश न हो। इस सिद्धान्त को मनु ने दो उदाहरण देकर स्पष्ट किया है। एक में वे कहते हैं कि राजा को कर ग्रहण करते समय सूर्य के समान आचरण करना चाहिये। जिस प्रकार सूर्य आठ मास तक अपनी किरणों के द्वारा जल संचय करता रहता है और मालूम नहीं हो पाता कि वह जल संचय कर रहा है उसी प्रकार राजा को भी करना चाहिए। दूसरे उदाहरण में वे कहते हैं कि राजा को कर इस प्रकार एकत्र करना चाहिये जिस प्रकार भौंरा फूल पर बैठ कर रस ले लेता है और फूल को मालूम भी नहीं हो पाता है।[2]

धन ग्रहण करने के विधान में मनु अन्य स्मृतियों की अपेक्षा कुछ अधिक विस्तार दिखलाते हैं। उनके धन ग्रहण करने के साधनों को निम्नलिखित शीर्षकों में रखा जा सकता है—(१) भाग (२) दंड (३) आकर-कर (४) शुल्क। इनका संक्षिप्त विवरण अप्रासंगिक न होगा।

१. भाग—कृषि की उपज के ऊपर राजा का भाग निश्चित रहता था इसीलिये इसे "भाग" कहा जाता था। मनु के अनुसार कृषि की उपज पर व्ययों को निकाल कर आठवां, छठा व बारहवां भाग राजा को राजकोष के लिए ग्रहण करना चाहिए।[3] याज्ञवल्क्य भी कृषि की उपज का छठा भाग ग्रहण करने का विधान करते हैं। इस कर का नाम ही भागकर है क्योंकि यह राजा को भाग (हिस्से) के रूप में प्राप्त था। राजा, अपने राजा होने के कारण तथा प्रजा की रक्षा करने के कारण इसका अधिकारी हो जाता था। प्राचीन भारत के अन्य राजनीति शास्त्र से संबंधित ग्रन्थों में भी इस भागकर ग्रहण की पुष्टि मिलती है। महाभारतकार ने राजा को धान्य का दसवां भाग कर रूप में ग्रहण

---

१. मनु० ७—१२७.
२. मनु० ७—१२९
३. मनु० ७—१३०

करने का आदेश दिया है।[1] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी धान्य का षष्ठ भाग ग्रहण करने का विधान मिलता है।[2]

२. दण्ड—दंड के रूप में प्राप्त धन के द्वारा भी कोष की वृद्धि होती थी। मनु ने दंड के दस स्थान माने हैं उनमें से एक स्थान धन का भी है। दंड के दस स्थानों का वर्णन करते हुए यह स्पष्ट व्यवस्था दी गई है कि दंड के अनुबंध को समझ कर, देश काल को ठीक जानकर और दोषों को सामर्थ्य एवं उसके अपराध को देख कर राजा को दंड के योग्य व्यक्तियों को दंड देना चाहिए।[3] व्यक्ति के दोष और उसकी सामर्थ्य को देखकर अर्थदंड भी दिया जाता था। इस प्रकार से प्राप्त धन राज्य के कोष की वृद्धि करता था।

३. आकर कर—राजकोष की वृद्धि का एक यह भी साधन था। खानों से प्राप्त धन के ऊपर भी मनु ने यह कर लगाया था। मनु कहते हैं कि स्वर्ण के लाभ का पचास भाग प्रजा को राजकोष के निमित्त प्रदान करना चाहिए। तथा वृक्ष, मांस, मधु, स्नेह वाले पदार्थ, गंध, औषधि, रसपुष्प, मूलफल, पत्र, शाक, तृण, चर्म और मट्टी व पत्थर की वस्तुओं की आय का छठा भाग राजा को राजकोष के लिये प्रदान करना चाहिए। महाभारत में भी हमें इसी प्रकार का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारतकार स्वर्ण के ऊपर आकर कर का वर्णन करते हुये कहते हैं कि स्वर्ण के लाभ का पचास भाग राजकोष में देने की व्यवस्था है।[4]

४. शुल्क कर—मनुस्मृति के अनुसार व्यापारियों से उनके क्रय-विक्रय, रक्षा संबंधी तथा उसके भरण-पोषण संबंधी व्ययों को देख कर ही उससे ऊपर कर लिया जाता था।[5] नारद स्मृति केवल इतना ही कहती है कि व्यापारियों को बिना कर दिये नहीं जाना चाहिये।[6] व्यापार के ऊपर लिया जाने वाला कर इस प्रकार से लगाया जाता था जिससे व्यापारी तथा राजा, दोनों ही को हानि न हो। अर्थात् न तो यह इतना अधिक रहता था कि व्यापारी को किसी प्रकार की असुविधा हो और न यह इतना कम ही रहता कि व्यापारी को तो

---

१. धान्यस्य दशमं भागं दास्यामः कोषवर्धनम्। २४। शा० पर्व—महाभारत.
२. धान्यषड्भागं। अर्थशास्त्र ७ । १३ अ०
३. मनु० ७—१३०—१३२.
४. पंचाशद्भिरायस्य तथैव च ।२२८। शा० पर्व—महाभारत.
५. मनु० ७।१२७, १२८.
६. नारद—३—१२.

अत्यधिक लाभ हो तथा राजा को हानि हों। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि व्यापार पर लगने वाला कर बहुत संतुलित होता था।

नदियों को पार करने पर अथवा पुल का व्यवहार करने पर भी संतरण कर लिया जाता था। मनुस्मृतियों के अनुसार पुल पर ले जाने वाली गाड़ी से एक पण कर के रूप में लिया जाता था। तथा भारयुक्त मनुष्य से आधा पण, गाय, बैल पशु तथा स्त्री पर चौथाई पण और बिना भार धारण किये हुए मनुष्य पर पण का आठवां भाग शुल्क लेने का विधान था। पुल पर भार से लदी गाड़ी का शुल्क बोझ के अनुसार लेना चाहिए।[१] दो महीनों से ऊपर की गर्भिणी स्त्री, संन्यासी, वानप्रस्थ, ब्रह्मचारी और ब्राह्मण संतरण शुल्क से मुक्त थे।[२]

श्रमजीवियों से कर लेने के विषय में मनु का मत बहुत ही महत्वपूर्ण है। उनका मत है कि राजा को लोहार, बढ़ई तथा दासादि से महीने में एक कर के स्थान में एक दिन काम करा लेना चाहिए।[३] इनके अनुसार इन श्रमजीवियों से कर के रूप में कार्य करा लेने से उनको अपने कार्य में प्रोत्साहन मिलेगा तथा कार्य की भी उन्नति होगी। यही कारण है कि वे कर के रूप में धन नहीं देते थे; प्रत्युत उसी के अनुसार कार्य ही करते थे। प्राचीन भारत की राजनीति से संबंधित अन्य ग्रन्थ भी इसी का समर्थन करते हैं। शुक्रनीतिसार में भी हमें ठीक इसी प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं। शुक्राचार्य कहते हैं कि कारीगर और शिल्पी आदि से पंद्रह दिन में एक दिन बिना कुछ दिये कार्य करा लेना चाहिए।[४]

इन उपर्युक्त साधनों से राजकोष की वृद्धि होती थी। राजा को अपना अथवा राजस्व का संबंध बनाये रखने के लिए यह स्पष्ट आदेश था कि वह इन करों को अवश्य ही ग्रहण करे क्योंकि इसी के द्वारा प्रजा से उसका संबंध स्थिर रहता है। अत्यन्त क्षुद्र दरिद्र, शाक-भाजी आदि बेचने वाले तथा साधारण से साधारण व्यक्ति से भी वार्षिक कर कुछ न कुछ अवश्य ही लेना चाहिए।[५] इन साधनों के अतिरिक्त भी राजकोष की वृद्धि विजय आदि के द्वारा होती रहती थी। यहाँ पर यह भेद स्मरण रखना चाहिए कि मनु ने जो ये वार्षिक कर राजा के द्वारा ग्रहण किये जाने वाले बतलाये हैं, वे पूर्व

---

१. मनु० ८—४०४.
२. मनु० ८—४०७.
३. मनु० ७—१३८.
४. शुक्रनीति ४—२३२.
५. मनु० ७—१३७.

कथित ग्रामिक आदि के दैनिक जीवन संबंधी सामग्री से भिन्न थे। यह कर तो राजकोष में कर के रूप में जाता था और इसका कर ग्रहण करने वाले कर्मचारियों से कोई व्यक्तिगत संबंध न था। इस कथन की पुष्टि इस सत्य से होती है कि जिस स्थान में मनु ने इन ग्रामिकों की दैनिक जीवन संबंधी आवश्यकता को ग्रामवासियों की सहायता से पूरी किये जाने का आदेश दिया है वहाँ पर यह कहीं नहीं कहा है कि यह सहायता कर-ग्रहण के रूप में होगी और न करग्रहण के प्रकरण में ही उनकी सहायता के बारे में कुछ उल्लेख है। इसी से उनके भिन्न होने का निष्कर्ष निकलता है। यह करग्रहण राजा उनकी (प्रजा की) रक्षा करने के लिये लिया करता था। यदि कोई राजा करग्रहण तो कर लेता था किन्तु प्रजा की रक्षा में असावधानी का आचरण करता था, तब उसके लिए यह कहा जाता था कि वह नरकगामी होगा अथवा पापों का भागी होगा।[१] धर्म-मय जीवन में इस प्रकार का कहा जाना ही एक महान् दंड के समान था। इसी धर्म व्यवस्था की महानता के ही कारण राजा के लिए यह आदेश मिलता है कि राजा को कर ग्रहण करने के पूर्व, कर्म के कर्ता को तथा उसके कार्य के फल को देखने के बाद ग्रहण करना चाहिए।[२] क्योंकि यदि राजा कर ग्रहण के अवसर में यह दृष्टि में न रखे कि अमुक व्यक्ति को अब की लाभ के स्थान में हानि ही हुई है तो इससे अन्याय होने की संभावना स्वाभाविक ही है। इसी को दूर करने के लिए ही ऐसा आदेश दिया गया है।

मनु तथा याज्ञवल्क्य धर्मपूर्वक उचित रीति से ही कोष संग्रह करने का विधान करते हैं, अन्याय से कोष की वृद्धि करने वाला राजा बांधवों सहित नरकगामी होता है। अर्थशास्त्रों ने भी इस मत का खंडन किया है प्रत्युत अनुमोदन ही किया है। तथा इतना अवश्य है कि अर्थशास्त्रों में यह भी विधान है कि आवश्यकता पड़ने पर अवैध उपायों से भी करग्रहण किया जा सकता है। इस संबंध में श्रीयुत आयंगर लिखते हैं कि जो कर अवैध है तथा धर्मशास्त्र जिनका अनुमोदन नहीं करता उनका ग्रहण करना अर्थ-शास्त्रों में आपद्धर्म के अनुसार माना गया है तथा अर्थशास्त्र में ही उसे अधार्मिक माना गया है तथा यह व्यवस्था की गई है यह अधार्मिक कर भी उन्हीं लोगों से लेना चाहिए जो अधार्मिक तथा दूष्य हैं अर्थात् जिनका अर्थ संग्रह अन्याय के द्वारा चोर बाजार आदि में हुआ है।[३]

---

१. मनु ८–३०७.

२. मनु० ७–१२८.

३. While by advising concentration in the pursuit of wealth (Arth) like a heron manu stresses its

इसके विपरीत मनु आदि यह विधान करते हैं कि राजा महापातकियों का धन ग्रहण न करे। जो दंड राजा अन्याय से ग्रहण करे वह वरुण देवता के निमित्त जल में फेंक दे या ब्राह्मणों को बांट दें।[१] इसी प्रकार अपने स्वयं के अपराध में अपना अर्थदंड करके वरुण या ब्राह्मणों को अर्पण कर दे, यह अन्यत्र लिखा जा चुका है। क्योंकि दण्ड प्रदान करने का साधारण ढंग अर्थदंड ही था। इसलिये राजा को इस प्रलोभन पर नियंत्रण रखने के लिये कहा गया है कि वह इसे अनुचित रूप से धन संग्रह करने का साधन न बनाये, इसीलिये अर्थदंड की सीमा भी निर्धारित कर दी गई थी।[२] जिससे राजा अपने इस अधिकार का दुरुपयोग न कर सके।

मनु तथा नारद ने श्रोत्रिय ब्राह्मण (नारद ने केवल ब्राह्मण कहा है) को कर-दान से सर्वथा मुक्त रखा है। वे लिखते हैं कि राजा मरता हो तब भी अर्थात् घोर संकट में भी श्रोत्रिय से कर न ले। इतना ही नहीं, उनके देश में श्रोत्रिय भूख से कभी कष्ट न पावे। जिस राजा के राज्य में श्रोत्रिय भूख से कष्ट पाता है तो उसकी क्षुधा के पाप से संपूर्ण राष्ट्र नष्ट हो जाता है। इसलिए उसके श्रुत, विद्या और आचरण जानकर उसके लिये उचित वृत्ति का प्रबन्ध कर दे; तथा अपने औरस पुत्र के समान उसकी सब प्रकार से रक्षा करे।[३] श्रोत्रिय वह कहलाता है जो वेद का अध्ययन करने वाला हो (श्रोत्रियश्छंदोधीते)[४] वेद पढ़ने का अधिकार तीनों वर्णों को था। अतः श्रोत्रिय

---

value. Kautilya inveighs against the transiteriness of wealth when compared with more vital aims of life. The questionable expedients, that are not endorsed by Dharmashastra are specifically qualified as improper by Kautilya himself, they are to be used only for unavoidable emergencies and on no other occassions. Improper taxation is to be aimed only at the accumulation of profiteers and other anti-social elements. Aiyangar P.P. 7-3.

१. मनु० ९, २४४, याज्ञ० २—३०७.

२. As the commonest punishment is fining, the king is warned to resist the temptation to make it a source of income and the fixing of the scale of fines is obviously intended to prevent an abuse of the power.-Aiyanger.

३. मनु०-७-१३३, १३४, १३५

४. पाणिनि अष्टाध्यायी—५—२—८४.

मात्र को करमुक्त कर देने का अर्थ यहाँ अनुपपन्न है। वेदाध्ययन करने वाले तीनों वर्णों के ब्रह्मचारी को करमुक्त करने में कोई अर्थ नहीं है क्योंकि कर तो व्यवसाय करने पर आय के अनुसार लगाया जाता था। ब्रह्मचारी भिक्षा वृत्ति करता था अतः उसे कर-मुक्त करने का प्रश्न नहीं उठता। ब्राह्मण मात्र से कर न लिया जाय यह भी व्यवस्था न थी। अतः इसका समाधान इसी रूप में हो सकता है कि जो श्रोत्रिय ब्राह्मण वेदाध्ययन करके वेदोक्त आधिदैविक तत्वों की वैज्ञानिक परीक्षा में संलग्न रहता था, वह कर देने से मुक्त तो रहता ही था उसकी जीविका का प्रबंध भी राज की ओर से होता था, जिससे वह अर्थ चिन्ता से रहित होकर एकाग्र चित्त से लोक हितकारी वैज्ञानिक तत्वों के आविष्कार में अपना सब समय तथा शक्ति लगा सके।

(ञ) अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध

मनु तथा याज्ञवल्क्य अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध निर्धारित करने से पूर्व "मंडल" का सिद्धान्त बतलाते हैं।[1] इस सिद्धान्त के अनुसार प्रारम्भ में ही यह निर्णीत कर लिया जाता है कि कौन राज्य शत्रु की कोटि में तथा कौन राज्य मित्र की कोटि में स्वभावतः आता है। कुछ राज्य स्वभावतः मित्र कोटि में माने गए हैं, कोई शत्रु कोटि में तथा कुछ उदासीन राज्य की सीमा से मिले हुए तथा उसके परवर्त्ती राज्यों को मंडल के रूप में मानकर उनका स्वाभाविक सम्बन्ध शत्रु, मित्र आदि का माना गया है। मंडल में जो राज्य सीमा से मिला हुआ रहता है वह स्वाभाविक शत्रु माना गया है। क्योंकि सीमा के सम्बन्ध में उसके साथ विवाद (झगड़ा) बना ही रहता है। यह स्वाभाविक है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उनसे सर्वदा झगड़ा ही बना रहेगा और वे

---

१. (अ) मनु० ७—१५४—१५९, या० स्मृ० १—३४५.
(ब) Common frontiers are fertile source of conflict. The neighbours, on four sides of a kingdom are therefore its natural foes. Their neighbours, being potential enemies of theirs, may be regarded as united by common enmity to the same person or state by the first named kingdom. A kingdom whose boundaries march together with those of two others which are on terms of hostility, is forced into a position of neutrality. Aiyangar- Page 193.

मित्र या सहायक कोटि में आ ही नहीं सकते। कृत्रिम रूप से उनके साथ भी सहयोग होता ही है। कभी सामान्य प्रबल शत्रु के आक्रमण के समय ये दोनों राज्य स्वाभाविक वैर भाव भुलाकर एक साथ मिलकर प्रतापी शत्रु के विरुद्ध प्रयत्न करते हैं। इसी प्रकार अन्यान्य कारणों से संधि हो सकती है। अतः मंडल के राज्यों के सम्बन्ध में स्वभाव-सिद्ध बात बताई गई है। राज्य की सीमा से मिला हुआ राज्य स्वाभाविक शत्रु होगा। उस दूसरे राज्य की सीमा से मिला हुआ राज्य जो प्रकृत राज से एकान्तरित होगा वह इसका स्वाभाविक मित्र होगा, क्योंकि मध्यवर्ती राज्य इन दोनों का—सीमा से साक्षात् सम्बन्ध होने के कारण—समान रूप से शत्रु होगा, अतः शत्रु का शत्रु मित्र कोटि में आता है। इसके बाद जो चतुर्थ राज्य होगा वह न शत्रु होगा और न मित्र। उसे उदासीन कहा जाता है। यह संमुख भाग राज्यों के सम्बन्ध में कहा गया है। इसी प्रकार पृष्ठ भाग में भी शत्रु मित्र आदि हो सकते हैं, उनकी पार्ष्णिग्राह, आक्रन्द आदि संज्ञाएं की गई हैं; इस प्रकार से शत्रु, मित्र तथा उदासीन की एक शृंखला बन जाती है। इन सब राज्यों की गतिविधि पर सर्वथा लक्ष्य रखना और तदनुसार अपना संबंध निर्धारण करना राज्य का अत्यन्त आवश्यक और महत्वपूर्ण कार्य है। राजा की दिनचर्या में इस बात पर जोर दिया गया है कि प्रजा के अभ्युदय के लिए अष्टविध कर्म तथा पंचविध कर्म (इन दोनों का वर्णन राजा की दिनचर्या के प्रकरण में किया गया है) तथा मंडल के प्रकार का चिन्तन करे; वहां जो पांच प्रकार के चर (भेदिया) पंचवर्ग में बताए गए हैं उनके द्वारा भिन्न-भिन्न राष्ट्रों की जानकारी करके उनके चिकीर्षित को दृष्टि में रखकर अपनी नीति का निर्धारण करे। उनके साथ नीति किस प्रकार की होनी चाहिये इसको चार प्रकारों में विभाजित किया है और इन सब को 'उपाय' शब्द से अभिहित किया जाता है।

विभिन्न राज्यों को उक्त प्रकार से शत्रु मित्र आदि में विभाजन करना ज्योतिष-शास्त्र पर आधारित जान पड़ता है। ज्योतिषशास्त्र के आचार्य बराहमिहिर ने अपनी पुस्तक—वृहज्जातक में ग्रहों में भी इस प्रकार नैसर्गिक शत्रु, मित्र तथा उदासीन की स्थिति बतलाई है।[१]

राज्यों के उक्त सम्बन्ध-निर्धारण के उपरान्त उनके साथ सम्पर्क स्थापित किया जाता था। राज्यों से सम्बन्ध स्थापित करने में दूत प्रथा का प्रमुख स्थान था। ये दूत गण राजा के द्वारा नियुक्त किये जाते थे। कभी-कभी विशेष अवसरों के लिए विशेष दूतों की भी नियुक्त होती थी। दूत का पद बहुत ही महत्वपूर्ण होता था। आधुनिक काल

---

१. बराहमिहिर—बृहज्जातक, अध्याय २

में जिस प्रकार दूत दूसरे देश में, अपने देश की प्रभुत्व शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है, उसी प्रकार प्राचीन भारत में दूत का पद सर्वथा माननीय था। वह एक गौरवपूर्ण पद समझा जाता था। अपनी इस गुरुता को निभाने के लिये आजकल की ही भांति उस समय भी, वे विशेष सुविधा तथा सम्मान अथवा विशेषाधिकारों से विभूषित रहते थे। मनु ने भी दूत के इस गौरवमय सांस्कृतिक पद का संस्कृति के अनुकूल ही वर्णन किया है परन्तु याज्ञवल्क्य दूत का उल्लेख मात्र ही करते हैं।[1] दूत के पद के लिये उन्होंने विशेष योग्यताएँ निर्धारित की हैं, उन्हीं योग्यताओं को धारण करने वाला व्यक्ति इस गौरवमय पद को प्राप्त कर सकता था।

दूत की योग्यताएँ

मनुस्मृति के अनुसार ऐसे व्यक्ति को दूत बनाना चाहिये जो सर्वशास्त्रविशारद हो, आकार और चेष्टा को समझने वाला हो, पवित्र आचरण वाला हो, दक्ष हो, उत्तम कुलोत्पन्न हो, राज्य में अनुरक्त हो, स्मरण शक्ति से सम्पन्न हो, सुन्दर शरीर वाला हो, निर्भीक हो, समस्त शास्त्रों में निपुण हो तथा बोलने में चतुर हो।[2] मनु द्वारा प्रतिपादित योग्यता का अन्य ग्रन्थों ने भी समर्थन किया है। परन्तु अन्य तीन स्मृतियों में इसका अभाव है। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में तथा शुक्र ने अपनी शुक्रनीति[3] में मनु का ही एक प्रकार से समर्थन किया है! दूत के इस महान् पद के लिए प्राचीन भारत के विद्वानों में वैमनस्य नहीं मिलता है। कौटिल्य ने इस पद के लिये व्यक्ति की विशेष योग्यता के अनुसार तीन प्रकार का विभाजन किया है।[4]

दूत के कार्य

दूत में ऐसी शक्ति होती है जिससे वह विभिन्न राज्यों में जो एक दूसरे के विपरीत हैं संधि संपादन करने में समर्थ होता है। वह संधि द्वारा एकीभूत राजाओं में

---

१. —या० स्मृ० १--३२८.

२. मनु०—७।६३.

३. इंगिताकारचेष्टज्ञः स्मृतिमान् देशकालवित्।
षाड्गुण्यमंत्रविद बीतभीर्दूत वाग्मी इष्यते॥ शुक्रनीति सार २—५६.

४. अमात्यसम्पदोपेतो निसृष्टार्थः। कौटिल्य वार्ता—अध्याय १६ अधि० १.
पादगुणहीनः परिमितार्थः—३—१६—१.
अर्धगुणहीनः शासनहरः—४—१६—१.

भेद भाव भी उसी निपुणता से उत्पन्न कर सकता है। अर्थात् दूत संधि और विग्रह दोनों के करने की सामर्थ्य रखता है।[1] वह एक राजा का अन्य राजाओं से सम्बन्ध तथा अन्य राजाओं के विभिन्न कर्त्तव्यों को जानता है। इन रहस्यों को जानने के लिये वह भृत्यों आदि के हाव-भाव से, तथा स्वयं राजा के इंगिताकारों से अथवा अन्य परिजनों के व्यवहार से सामग्री एकत्रित करके उनके समन्वय के रूप में अपना अभिप्राय सिद्ध करता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि दूत इन राजनैतिक रहस्यों को समझने के लिये राजा के चारों ओर मनोवैज्ञानिक निरीक्षण करता है और उसी में उसे रहस्यों का उद्घाटन भी प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार पर-राजा की चेष्टाओं से उसके मनोभावों को अथवा उसकी नीति को जानने के बाद उसे (दूत) ऐसे प्रयत्न करने चाहिये जिससे अपने ऊपर कोई संकट न आये और अपने राजा का भी कार्य सम्पन्न हो जाय।[2] इस प्रकार यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दूत का पद तथा उसका कार्य अत्यन्त महत्वपूर्ण था। यही कारण है कि मनु ने राजा के दैनिक कृत्यों के अंतर्गत दूत संप्रेषण के कार्य को भी महत्व-पूर्ण स्थान दिया है। अन्य देशों के साथ सौहार्द स्थापित करने में तथा संधि आदि के कार्यों में दूत अवश्य ही प्रभाव डालता था। वास्तव में राज्य की वैदेशिक नीति को क्रियान्वित करने का महत्वपूर्ण कार्य दूत के अधीन था। संधि-विग्रहिक मंत्री का वही प्रतिनिधि था और उसके अधिकार भी अधिक थे।

कौटिल्य ने दूत पद के तीन भेद किए हैं उसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। जो पूर्ण अधिकारयुक्त अमात्य की कोटि का होता था वह निसृष्टार्थ कहलाता था। उसे अपने राजा की ओर से महत्वपूर्ण विषयों पर राजाओं से परिस्थिति के अनुसार संधि-विग्रह आदि के सम्बन्ध में बातचीत करने की स्वतंत्रता थी। उससे कम अधिकार वाले को, एक सीमित विषय में अधिकार रखने वाले को परिमितार्थ कहा गया है। वास्तव में अधिकार में मात्रा का भेद है। दोनों एक ही से हैं। तीसरा शासनहर कहलाता है वह केवल अपने राजा का संदेश दूसरे राजा के पास पहुँचाता है। वाद-विवाद करके विषय को निर्धारित करने का उसे अधिकार नहीं रहता है। शासनहर प्रायः युद्ध प्रारम्भ करने से पूर्व अंतिम बार युद्ध के रोकने के प्रयत्न के लिए भेजा जाता था। श्री विज्ञानेश्वर ने याज्ञवल्क्य के १।३२८ (मिताक्षरा) की टीका में उक्त प्रकारों का उल्लेख किया है।

भारतीय शास्त्रों में परस्पर राज्यों के विवाद को दूर करने के लिए युद्ध को

---

१. मनु० ७।६६.
२. मनु० ७।६८.

अंतिम साधन माना गया है। साम, दान और भेद इन तीन उपायों से जब काम न चलता था तब अन्त में कोई गति न होने पर ही युद्ध का आश्रय लेना पड़ता था। मनु ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि (७—७, ८—९९—१००) साम, दान और भेद इन तीनों के अलग अलग अथवा एक साथ प्रयोग के द्वारा शत्रु को जीतने का प्रयत्न करे, युद्ध के द्वारा कदापि नहीं। इसीलिए अंत में युद्ध के मैदान में उपस्थित होने के पूर्व तक एक बार दूत भेजकर अंतिम उपाय युद्ध रोकने के लिये किया जाता था। महाभारत युद्ध से पूर्व कृष्ण के समान सम्माननीय व्यक्ति दूत बनकर गए थे। रावण की लंका पर आक्रमण करने से पूर्व रामचन्द्र जी ने बालिपुत्र अंगद को दूत बनाकर रावण के पास भेजा था। इससे पूर्व हनूमान जी ने भी युक्ति के साथ बंधन में पड़कर रावण की सभा का निरीक्षण किया था तथा उसे समझाया था। यद्यपि उनका यह दूत कार्य उस समय उचित अधिकार के साथ न था क्योंकि वे उस समय वास्तव में सीता की खोज करने के लिये नियुक्त थे। परन्तु अवसर प्राप्त करके उन्होंने युद्ध को रोकने का उद्योग करना उचित समझा।

दूत का कार्य शांतिपूर्ण रीति से सम्बन्ध बनाना था। इसके अतिरिक्त अन्य राज्यों की प्रगति तथा सैन्यबल की जानकारी प्राप्त करने के लिये चरों को भेजने की भी प्रथा थी। ये चर गुप्त रूप से अन्य राज्यों में जाकर वहाँ का भेद अपने राजा को देते थे। युद्ध आदि के अवसरों पर इनके द्वारा प्रदत्त जानकारी विशेष रूप से महत्वपूर्ण होती थी। याज्ञवल्क्य राजा को चरों को भेजने का आदेश देते हैं;[1] मनु ने दूतों के महत्व को बतलाते हुए कहा है कि इनके द्वारा ही दूसरे राज्यों के साथ संधि संभव होती है तथा इसी के द्वारा अन्य राज्यों की एकता विनष्ट हो सकती है। यह दूत अन्य राज्य के कामों को तथा उनकी चेष्टाओं को विभिन्न प्रकार से जानने का प्रयत्न करता था। इस प्रसंग में मनु दूत के कार्यों को तथा कार्य करने के साधन को कुछ इस प्रकार बतलाते हैं जिससे यह जान पड़ता है कि वे "दूत" तथा "चर" में कोई भेद नहीं रख रहे हैं।[2]

(ब) अन्य राष्ट्रों से सम्बंध (युद्धादि सम्बन्धी)

स्मृतियों के अनुसार शांतिपूर्ण अवसर में पर राष्ट्रों से किस प्रकार सम्बन्ध निर्धारण होता था, इसकी विवेचना करने के उपरान्त राज्य की युद्ध के अवसर में किस प्रकार की व्यवस्था रहती थी, इसकी विवेचना करना अनुपयुक्त न होगा।

राज्य के सप्तांग में "दंड" को भी एक स्थान दिया गया था। यहाँ दंड का

---

१. या० स्मृ०, १–३२८
२ —मनु० ७।६६—६९.

तात्पर्य हस्ती, अश्व आदि की सेना से है। सेना को राज्य का एक आवश्यक अंग माना गया था। वस्तुतः सैन्य शक्ति के आधार पर ही उस समय के राज्यों को स्वस्थ राज्य की कोटि में रखा जाता था। राजा सम्पूर्ण सेना का अधिपति होता ही था परन्तु वह सैन्य व्यवस्था के लिए एक अमात्य की नियुक्ति करता था। इसको सेनापति के नाम से विभूषित किया जाता था। इसका पद राजा से नीचे होता था, परन्तु युद्ध के विषयों में अथवा अन्य सेना से संबंधित विषयों में इस सेनापति का मत अनिवार्यतः लिया जाता था। राजा के लिये भी ऐसा आदेश मिलता है कि वह इन सेनापति आदि अमात्यों से शासन से संबंधित किसी भी समस्या पर संकोचहीन होकर तथा निष्कपट होकर परामर्श करे। उन्हीं के परामर्श के अनुसार युद्ध प्रणाली नियत करनी चाहिये। मनुस्मृति के अनुसार इस सेनापति अथवा बलाध्यक्ष को सारी दिशाओं में संघर्ष करने के लिये नियोजित करना चाहिए तथा जिस दिशा की ओर से विशेष भय हो उस दिशा की ओर उसे पहले प्रस्थान करना चाहिए। सम्पूर्ण देश की सेना का संगठन सेनापति के हाथ में केन्द्रीभूत था। इस केन्द्रीभूत शासन सूत्र को "सैनिक महत्व" के लिए विशेष प्रकार से विकेन्द्रित किया गया था। मनु कहते हैं कि स्थान-स्थान में "गुल्मों" की स्थापना करनी चाहिए। गुल्मों को अपने विशेष संकेतों को भी निर्धारित करना चाहिए। इस तरह के गुल्मों की स्थापना, सेनापति को चारों ओर शत्रुओं की गतिविधि को दृष्टि में रखने के लिए करनी चाहिए।[1]

दुर्ग

प्राचीन भारत में युद्ध के साधन भी आजकल के साधनों से सर्वथा भिन्न थे। उस समय की सेना के मुख्य अस्त्र-शस्त्रों में धनुष, बाण, तलवार आदि ही होते थे। यही कारण है कि उस समय दुर्ग आदि का महत्व बहुत ही अधिक रहता था। मनुस्मृति में भी दुर्ग के महत्व के ऊपर विशेष जोर दिया गया है। दुर्ग में रहकर एक ही सैनिक सौ शत्रु सैनिकों से और सौ सैनिक दस सहस्र शत्रु सैनिकों से युद्ध कर सकते हैं।[2] दुर्गों की महत्ता के साथ ही मनु ने अनेक प्रकार के दुर्गों का तथा उनकी उपयोगिता का वर्णन किया है। मनु के अनुसार छः प्रकार के दुर्ग होते हैं।[3]

१. धन्वदुर्ग—उसे कहते हैं जिसके चारों ओर पांच योजन तक बालू ही बालू तथा जनहीन भूमि हो।

---

१. मनु० ७, १७९—१८०.
२. मनु० ७, ७०, ७४।.
३. मनु० ७, ७०.

२. महीदुर्ग—इसमें दुर्ग चारों ओर से पत्थर की चहार दिवारी से घिरा रहता है। यह चहारदिवारी बारह हाथ से कम नहीं होनी चाहिए। चहारदिवारी के ऊपर इतना स्थान रहना चाहिए कि जिससे युद्ध किया जा सके तथा उसे गवाक्ष (झरोखे) आदि से युक्त होना चाहिए।

३. जलदुर्ग—इसमें दुर्ग चारों ओर अगाध जल से घिरा होना चाहिए।

४. वृक्ष दुर्ग—इसमें, दुर्ग के चारों ओर एक योजन तक बड़े-बड़े महावृक्षों तथा कटीली गुल्म लताओं (झाड़ियों) को घिरा होना चाहिये।

५. नृदुर्ग—इस प्रकार के दुर्ग में, दुर्ग के चारों ओर हाथी, अश्व तथा पैदलों की महान् सेना नियोजित करनी चाहिए।

६. गिरि दुर्ग—यह दुर्ग अतिदुरारोह पर्वत शिखर के ऊपर होता है।

उपर्युक्त छः प्रकार के दुर्गों में मनु ने अंतिम प्रकार के गिरि दुर्ग को विशेष महत्व दिया है। वस्तुतः प्राचीन भारत में इन पर्वतीय दुर्गों की ही प्रधानता थी। बाल्मीकि रामायण में लंका को अनेक प्रकार के दुर्गों से (प्राकृतिक तथा कृत्रिम) सुरक्षित बताया गया है।[1] मनु के अतिरिक्त अन्य स्मृतिकार (नारद तथा पाराशर) दुर्ग के विषय में कुछ भी नहीं कहते हैं। याज्ञवल्क्य दुर्ग के विषय में केवल इतना ही कहते हैं कि राजा को कोष तथा शरीर रक्षा के लिये ऐसे दुर्ग में आवास करना चाहिए जो रम्य हो तथा जंगल में हो।[2] इन्होंने भी दुर्ग के प्रकारों का उल्लेख नहीं किया है।

प्राचीन भारत में युद्ध भी एक धार्मिक कृत्य समझा जाता था। अतः युद्ध के नियमों का भी धर्मानुकूल होना स्वाभाविक ही है। मनु तथा याज्ञवल्क्य ने धर्मानुकूल युद्ध के जिन नियमों का वर्णन किया है वे नियम संग्राम के अवसर में योद्धाओं के द्वारा परिपालनीय थे। इनको दृष्टि में रखते हुए युद्ध करना धर्मानुकूल कहलाता था। मनु कहते हैं कि भूमि पर खड़े हुए व्यक्ति (अर्थात् रथादि से हीन) को नहीं मारना चाहिए। यहाँ पर उनका यह अर्थ नहीं है कि पैदल सैनिक पैदल को न मारे वरन् उनका अभिप्राय यह है कि उस व्यक्ति को रथारूढ़, वाहनयुक्त योद्धा न मारे जिसके युद्ध में रथादि वाहन नष्ट हो गये हों, अंजलि बांधे हुए को, नपुंसक व्यक्ति को, बिखरे केश वाले को, बैठे हुए व्यक्ति को और "मैं तुम्हारा हूँ" ऐसा कहने वाले को नहीं मारना चाहिए। इनके अतिरिक्त यदि सैनिक सोते हों तो उन्हें नहीं मारना चाहिए। आयुध

---

१. लंका पुनर्निरालंबा देवदुर्गा भयावहा।
देवं पार्वतं चान्य कृत्रिमं च चतुर्विधम्॥ वा० रा० य० का०—३—२०.

२. या० स्मृति १—२२१

आदि से विहीन को भी धर्मयुद्ध में नहीं मारना चाहिए। संग्राम के स्थल में ऐसे भी व्यक्ति रहते हैं जो किसी भी तरफ से युद्ध करने के लिये नहीं उपस्थित होते वरन् उनका उद्देश्य केवल युद्ध को देखना ही रहता है। इनके लिए भी मनु कहते हैं कि इन्हें नहीं मारना चाहिए। युद्ध करते समय यदि कोई अधिक क्षत-विक्षत हो जाय तो उसे नहीं मारना चाहिए। तथा जो युद्ध स्थल से भागता हो उसे भी नहीं मारना चाहिए। घिरे हुए व्यक्ति को भी नहीं मारना चाहिए।[1]

युद्ध के ये नियम प्राचीन भारतीय संस्कृति के द्योतक हैं। इन नियमों का उल्लेख प्राचीन भारत की राजनीति से संबंधित अनेक ग्रन्थों में मिलता है। किसी किसी में तो शब्दार्थ के साथ-साथ शब्द चयन भी एक ही से मिलते हैं। इस अभिन्नता का मुख्य कारण यह था कि ये विभिन्न सांग्रामिक सिद्धान्त हमारी संस्कृति के अंग स्वरूप थे। अतः सभी ग्रन्थकारों ने ग्रंथ को संस्कृति के अनुकूल ही विरचित किया था। इसलिए उनके वर्णन में समता का होना आश्चर्य का द्योतक नहीं है।[2] इन वर्णनों से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय संस्कृति का विकास उस समय कितना व्यापक था। युद्ध जैसे भयंकर कृत्य को भी धर्म के नियमों से जकड़ कर उसकी भयानकता को निर्मूल कर दिया गया था। योद्धा उसी समय मारा जा सकता था जब वह युद्ध कर रहा हो तथा बराबर का ही युद्ध हो। अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग में भी नियंत्रण था। सामान्य अस्त्रों से ही युद्ध करना न्यायानुकूल माना जाता था। भयानक अस्त्रों के प्रयोग करने में नैतिक नियमों का विरोध था। राजा को शत्रुओं के मारने के लिए कूट आयुधों का प्रयोग न करने का विधान था। अर्थात् ऐसे अस्त्रों का प्रयोग न हो जो साधारण रूप से देखने से सामान्य अस्त्र (काष्ठ निर्मित आदि) ज्ञात होते हैं परन्तु उनके अंतस्तल में भयानकता छिपी रहती है (गुप्ती आदि) पुनः, ऐसे बाणों का प्रयोग भी वर्ज्य था जो या तो विष से बुझे हों अथवा जिनके आगे अग्नि प्रज्वलित हो;[3] तथा उन बाणों का

---

१. मनु० ७—९१—९३ तथा या० स्मृ० १—३२६.

२. न तु युक्तं रणे हन्तुं दिव्यैरस्त्रैः पृथग्जनम्।
आर्जवेनैव युद्धेन विजेष्यामो वयं परान्॥ १५ उद्योगपर्व। महाभारत.
अयुध्यमनस्त्रं प्रच्छन्नं प्रांजलिं शरणागतम्।
पलायमानमनस्त्रं वा न हन्तुं त्वमिहार्हसि॥ ३९॥ युद्ध काण्ड–रामायण-अ० ८०।
न च हन्यात्स्थलारूढं न क्लीबं न कृतांजलिम्।
न मुक्तकेशमासीनं न तवास्मीति—वादिनम्॥ ११७॥ ४ शुक्रनीति॥

३. मनु० ७—९०।

भी प्रयोग नहीं करना चाहिए जिनका फल टेढ़ा-मेढ़ा हो (कर्णी फल वाले बाण जिनके लगने के बाद बाहर निकलने में अंतड़ी आदि भी निकल आती है)।[1] इन अनुबंधों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि प्राचीन भारत में युद्ध का स्वरूप आजकल से सर्वथा भिन्न था, जहाँ आजकल युद्ध में एक यही सिद्धान्त रहता है कि बस किसी भी प्रकार जीतना है, नैतिकता का सर्वथा युद्ध से बहिष्कार दिखता है वहाँ प्राचीन भारत में युद्ध का उद्देश्य धर्म के अनुसार ही विजय प्राप्त करना था। यह प्राचीन सिद्धान्त था कि जिस तरफ धर्म होगा उसी तरफ विजय होगी। "यतो धर्मस्ततो जयः"। इसी कारण उक्त यौद्धिक विधान को देखते हुए इस प्रकार के युद्धों को धार्मिक युद्ध कहा जा सकता है।

मनु ने धर्म युद्ध को ही प्रधानता दी है। परन्तु वैदिक काल के मायावी पर्वतीय दस्युओं के साथ युद्ध का ऋग्वेद में जो उल्लेख मिलता है उससे पता चलता है कि इन्द्र ने उन मायावी दस्युओं को मारने के लिए माया (छल) का आश्रय लिया था। ऋग्वेद में अनेक स्थानों में इन्द्र की स्तुति में कहा गया है कि आपने मायावी दस्युओं का माया से वध किया।[2] इस प्रकार उस समय "शठे शाठ्यं समाचरेत्" अर्थात् दुष्ट के साथ दुष्टता का व्यवहार किया जाय यह नीति भी पाई जाती थी। वैदेशिक आक्रमणों के द्वारा कटु अनुभव होने पर काव्यों तक में इस प्रकार की नीति का उल्लेख मिलता है। भारवि ने लिखा है कि मूढ़ बुद्धि वाले जो मायावी शत्रु के साथ मायावी नहीं बनते वे पराभव को प्राप्त होते हैं। शठ लोग ऐसे लोगों के भीतर प्रवेश करके (विश्वास उत्पन्न करके) उसी प्रकार उनका हनन कर डालते हैं जिस प्रकार तीक्ष्ण बाण उन लोगों के शरीर का घात कर देते हैं जिनके अंग (कवच से) ढके नहीं हैं।[3]

कौटिल्य ने मनु के समान ही धर्म युद्ध का समर्थन किया है।[4] महाभारत में भी

---

१. मनु० ७—९०

२. त्वं मायाभिरप मायिनो धमः स्वधाभिर्ये अधि शुप्तावजुह्वत।
त्वं पिप्रोर्नृमणः प्रारुजः पुरः प्र ऋजिश्वानं दस्युहत्येष्वाविथ। ऋग्वेद १—५१—५
मायाभिरिन्द्र मायिनं त्वं शुष्णमवातिरः।
विदुष्टे तस्य मेधिरास्तेषां श्रवांस्युत्तिर॥ ऋ० १—११—७

३. व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृतांगान्निशिता इवेषवः। किरा-तार्जुनीय

४. पतित-पराङ्मुखाभिपन्नविकचेभ्यश्चाभय-
मयुध्यमानेभ्यश्च दद्युः। कौटिल्य वा० ६८—अ० ४—१६

युद्ध से पूर्व युद्ध के नियमों का धर्मपूर्वक निर्णय कर लिया गया था। यद्यपि उसमें अपवाद भी बहुत मिलते हैं, जैसे अकेले और शस्त्रहीन अभिमन्यु का अनेक योद्धाओं के द्वारा वध; त्यक्त शस्त्र द्रोणाचार्य का वध अथवा, शस्त्ररहित कर्ण का वध। ये अपवाद ही हैं।

श्रीयुत आयंगर जी ने इस सम्बन्ध में बहुत अच्छा विवेचन किया है।[1] वे लिखते हैं कि मध्य युग में युद्ध के नियमों में जो कमी दिखाई देती है जिसे मनुस्मृति में हीन और अधार्मिक बतलाया है उसका कारण यह है कि ये युद्ध बर्बर आक्रमणकारियों के विरोध में थे जो बिलकुल सिद्धान्तहीन थे और जिनके प्रति वीरत्व का उच्च आदर्श दिखाना निरर्थक था। तो भी उच्च आदर्श बिल्कुल नष्ट नहीं हुआ था। हाल में पठानों की विजय के सम्बन्ध में जो अनुसंधान हुआ है उसके अनुसार हिन्दुओं के पराभव के दो

---

१. The deterioration in standards which we notice in medieval times and the pursuit of war by methods that were condemned by Manusmriti as unregenerate and unallowed are the consequences of the struggles against barbarous invaders, who fought without any scruples and against whom the rules of chivalrous were positively futile. Still the higher ideals did not die out. A recent study of the Pathan conquest of India reckons the causes of the Hindu collapse before the invaders as two : inferior military equipment and inferior war technique, the latter refers to the conduct of war according to Smriti Rules. There is a disadvantage of being chivalrous to an unchivalrous foe. It was seen in former invasions of India, like those of Huns. There was some degeneracy after the Gupta epoch, but it was not comparable to what followed foreign conquest by an enemy, alien in both, tradition, culture and religion like the Arabs and Pathans. K. V. R, Aiyangarl "Social & Political Aspects of Mnusmriti." P. 192.

कारण थे। एक तो फौजी साधन की न्यूनता और दूसरा युद्ध संचालन की त्रुटि। यह दूसरा कारण स्मृति के नियमों का पालन था। जो शत्रु शौर्य के नियम के विरुद्ध आचरण करता है उसके साथ उदारता का व्यवहार करना सुविधाजनक नहीं होता। पुराने आक्रमणों में—उदाहरण के लिए हूण लोगों के युद्ध में भी यही दोष था। गुप्त काल के बाद ही कमी आ गई थी; परन्तु बाद में आक्रमणकारियों के विषय में जो स्थिति हुई उसकी तो तुलना ही नहीं हो सकती। क्योंकि वे पठान और अरब सरीखे वैदेशिक तथा भिन्न संस्कृति वाले थे। गजनी के मुहम्मद गोरी के साथ युद्ध में पृथ्वीराज ने जो उदारता बार-बार दिखाई उसका कितना भयंकर परिणाम हुआ यह इतिहास प्रसिद्ध है।

मनु ने सर्वत्र यही सिद्धान्त स्थिर किया है कि जहाँ तक हो सके युद्ध का आश्रय न लिया जाय। मनुस्मृति के नवम अध्याय में एक श्लोक है जिसका अर्थ यह है कि राजा को चाहिए कि दंड के द्वारा जितना धन प्राप्त हुआ हो वह सब ब्राह्मणों को दान करके तथा पुत्र पर राज्य का भार समर्पण करके युद्ध में प्राण त्याग दे।[1] श्रीयुत आयंगर जी इसे उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि मध्यकालीन भारत में छोटे स्तर में युद्ध करने की चाल हो गई थी। उसका कारण यह था कि स्मृति में यह उत्तेजना मिलती थी कि राजा अथवा क्षत्रिय के लिए रण में मरना-वृद्धावस्था अथवा व्याधि के कारण मरने की अपेक्षा श्लाघनीय है। परन्तु मनु ने इससे पूर्व भी सप्तम अध्याय में उल्लेख किया है कि जो राजा लोग युद्धों में एक दूसरे को वध करने की इच्छा से पूरी शक्ति के साथ युद्ध करते हैं तथा पीछे नहीं लौटते वे स्वर्ग प्राप्त करते हैं।[2] याज्ञवल्क्य तथा पाराशर भी युद्ध में मरने वाले योद्धाओं को स्वर्ग पाने का अधिकारी बतलाते हैं।[3] गीता में भी श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं कि यह आप से आप स्वर्ग का खुला हुआ द्वार उपस्थित हो गया है। हे अर्जुन सुखी (भाग्यशाली) क्षत्रिय ही इस प्रकार से युद्ध को प्राप्त करते हैं। इसी के आगे फिर कहते हैं कि यदि तुम मारे जाओगे तो स्वर्ग प्राप्त करोगे और यदि विजयी

---

१. Constant war on a small scale was a feature of medieval India. It was due to the incitement contained in the Smriti dictum that death in battle was the ideals for the king or Kshatriya (IX-323) rather than death by old age or desease—Aiyangar. page. 192.

२. मनु० ७,८९.

३. या० स्मृति १, ३, २४। पा० स्मृति ३, ३२, ३७.

होगे तो राज्य का भोग करोगे।[1] पाराशर स्मृति में भी यही भाव व्यक्त किया गया है।[2] इससे यह स्पष्ट होता है कि युद्ध होने पर पीछे न हटना तथा सम्मुख युद्ध में लड़ते हुए प्राण त्याग देना क्षत्रियों के स्वर्ग प्राप्ति का साधन कहा गया है और उसके लिए प्रोत्साहित किया गया है। इसका यह आशय नहीं निकलता कि इस प्रकार युद्ध में प्राण देने के लिए ही जान-बूझ कर अन्य प्रयोजन के बिना युद्ध छेड़ दिया जाय। मनु ने ही स्पष्ट शब्दों में युद्ध को अंतिम साधन माना है और आदेश किया है जहाँ तक संभव हो सके उससे बचा जाय। इसका उल्लेख ऊपर हो चुका है। मनु ने राजा का प्रधान कर्तव्य प्रजा रक्षण माना है। वही प्रजा रक्षण राजा का तप कहा गया है।[3] ऐसी स्थिति में राजा का अपना मुख्य कर्तव्य दूसरे को (पुत्र को) समर्पण करके अपनी स्वर्ग प्राप्ति के स्वार्थ से वशीभूत हो निरर्थक युद्ध छेड़ना असंगत है। मनु ने युद्ध को प्रोत्साहन दिया नहीं है। मध्यकालीन भारतीय विद्वानों ने भी मनु के आशय को समझने में भूल नहीं की है। कुल्लूक भट्ट टीका में लिखते हैं कि यह रण में प्राण देने का विधान (९--३२३) उस दशा के लिए है जब राजा असाध्य व्याधि आदि से पीड़ित हो। तथा युद्ध के अभाव में अनशन आदि के द्वारा प्राण त्याग करे।[4] इससे यह आशय निकलता है कि यदि युद्ध उपस्थित हो तो उसमें जूझ जाय, युद्ध को इसी निमित्त से प्रारम्भ न करे।

युद्ध की परिसमाप्ति पर भी राजा को किस प्रकार का व्यवहार करना चाहिए इसका विशद विवेचन मिलता है। उदाहरणार्थ, विजित देश की सम्पति आदि के विषय में मनु कहते हैं कि जो राजा जिस वस्तु को युद्ध में जीतता है वह उसी की हो जाती है। रथ, अश्व, हाथी, छत्र, धन, धान्य, पशु, स्त्रियां तथा स्वर्ण आदि पदार्थ

---

१. यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम् ।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ।। गीता २—३२।
हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्। गीता २—३७

२. पा० स्मृ० ३—३९.

३. प्रजानां रक्षणादानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः।। मनु ०१—८९
ब्राह्मणस्य तपो ज्ञानं तपः क्षत्रस्य रक्षणम्।। मनु ११—२३६

४. यदा तु विशिष्टदर्शनेन अचिकित्सितव्याधिना वा आसन्नमृत्युर्भवति
तदा फलातिशयप्राप्तये संग्रामे प्राणत्यागं कुर्यात्।
मनु० ९—३२३ टीका कुल्लूक भट्ट

जीतने वाले के ही हो जाते हैं। और यदि ये स्वर्ण आदि धन धान्य राजा की ओर से योद्धाओं द्वारा जीते गये हों तो उन्हें राजा को समर्पित कर देनी चाहिए। यह नियम, मनु कहते हैं, वैदिक काल से चला आ रहा है। इन विजित पदार्थों को राजा को समर्पण कर देने के बाद, यह उसका (राजा का) कर्तव्य हो जाता था कि वह उन द्रव्यों को सैनिकों में पृथक-पृथक विभाजित कर दे। याज्ञवल्क्य भी राजा का यह परम धर्म बतलाते हैं कि वह विजय से प्राप्त धन का सब ब्राह्मणों में वितरित करे। शत्रु देश को जीतने के पश्चात् राजा का यह सर्वप्रथम कर्तव्य हो जाता है कि वह ब्राह्मणादि का पूजन करने के बाद विजित देशवासियों के लिए अभयदान की घोषणा करे। इस घोषणा का राजनीतिक महत्व यह था कि इससे युद्ध के उपरान्त होने वाली स्वाभाविक खलबली शान्त हो जायगी। एक प्रकार से शांति का प्रवाह होने लगेगा। इस घोषणा के उपरान्त राजा को चाहिए कि वह विजित राज्य के अमात्य आदि सभी व्यक्तियों के अभिप्राय को संक्षिप्त रूप से समझे और उसको समझने के बाद उसी राज्य के किसी एक वंशज को राजसिंहासन पर स्थापित करे और यदि उचित हो तो सामयिक नियमों में भी समय के अनुरूप संशोधन आदि कार्य करे।[1]

उपर्युक्त विधान के व्यावहारिक गुणों का मूल्यांकन सहज ही में किया जा सकता है। सर्वप्रथम ऐसी अवस्था में उसका (राजा का) आधिपत्य निर्विरोध हो जायगा, विजय के उपरान्त विजित देशों के नागरिकों के स्वाभाविक विरोध से उत्पन्न होने वाली अशांति का भी दमन हो जायगा। छोटी-छोटी स्वाभाविक घटनाएं तथा छिप कर हमला करने की प्रवृत्ति भी इसी से दब जायगी और इस प्रकार राजा की नियुक्ति के पश्चात् उससे संधि आदि की भी व्यवाहारिक कार्यवाही की जा सकती है। विजित राज्य में राजा की नियुक्ति करने के पश्चात् विजयी राजा को चाहिए कि वह अन्य प्रधान पुरुषों के साथ ही साथ (धन आदि दान के रूप में देकर) राजा को सम्मानित (पूजित) करे।[2] क्योंकि यह स्वाभाविक होता है कि किसी से कोई वस्तु ले ली जाय तो उसे अच्छा नहीं लगेगा इसी के विपरीत यदि उसे कुछ दान के रूप में प्राप्त हो जाय तो उसे अच्छा लगता है। आज का यह दान आगे चल कर (भविष्य में) विशेषता उत्पन्न करता है अथवा सौहार्द का कारण बनता है। पुनः कर्म, दैवी और मानुषी दो प्रकार के होते हैं; दैवी के विषय में तो कुछ कहा ही नहीं जा सकता

---

१. मनु० ७।९७, २०१, २०२ या० स्मृति० १—३२३ तथा के० वी० आयंगर—'सोशल एण्ड पोलिटिकल एस्पेक्ट्स आफ मनुस्मृति' पृ० १९०.

२. मनु० ७, २०३.

है परन्तु मानुषी कर्म में तो यह ज्ञात रहता है कि किससे किस प्रकार का सम्बन्ध स्थिर कर रहे हैं। इसीलिए मनु ने विजित राज्य के राजा की नियुक्ति के पश्चात दानादि करने का आदेश दिया है।

इसी नीति के कार्यान्वित होने के प्राचीन भारत में अनेक उदाहरण मिलते हैं। कंस का वध करने के बाद, उसी के पिता उग्रसेन को राजा बनाया गया। मगध राज जरासंध को मारकर उसके पुत्र सहदेव को राजा बनाया गया; जिसका प्रभाव यह पड़ा कि महाभारत युद्ध के समय सहदेव अपना दल-बल लेकर पाण्डवों की सहायता के लिये आया। आयंगर जी लिखते हैं कि युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद बदला लेने की दृष्टि से संधि की शर्तों को असंभव बना देने का परिणाम यह होता है कि उससे युद्ध की शांति नहीं होती, प्रत्युत विद्वेष की आग धीरे-धीरे सुलगती रहती है और वह नए युद्ध का कारण बनती है। अपने वंश के राज्य का विस्तार, विजित राज्यों को हड़प कर लेना, युद्ध के दंड रूप में धन लेना, एक राज्य पर दूसरे राज्य का आधिपत्य स्थापित करना अथवा उत्कृष्ट संस्कृति के बहाने अपने राष्ट्र की संस्कृति लादना तथा विजित राज्य के नियमों को बदल कर उनके स्थान पर अपने राज्य के कानूनों का लागू करना इत्यादि विषयों को धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र दोनों ने दोष माना है। वे इनका निषेध केवल अनुचित और अन्याय समझ कर ही नहीं करते किन्तु वे यह मानते हैं कि ये मनुष्य की स्वाभाविक प्रकृति के प्रतिकूल और सभी स्थायी अभ्युदय के विरुद्ध हैं।[1]

---

१. War crimes, like war revenge imposing impossible peace terms are less likely to end a war than to provide it. Dynastic ambitions; the desire to annex the conquered territories, the exaction of war indemnities, the imposition of the power of state on State and of one people on another, and in the name of superior culture, attempts to uproot the culture, laws and tradition of a conquered country and to impose on it those of the conqueror, are evils in the view of Dharmashastra as well as Arthashastras. They condemn them not only as inexpedient and unwise but as contrary to the higher instincts of man and lasting interests of all concerned—Aiyangar, page. 191.

कौटिल्य ने भी इसी सिद्धान्त को मान्यता दी है। वे लिखते हैं कि युद्ध में मृत राजा के पुत्र को उसके स्थान में प्रतिष्ठित करे।[1] मृत राजा की भूमि, द्रव्य, स्त्रियों, पुत्र आदि पर अधिकार न करे।[2] जो राजा शत्रु को मार कर या कैद कर उसकी भूमि, स्त्री, पुत्र आदि पर अधिकार करता है तो उसके मंडल के राजा कुपित हो जाते हैं और उसके नाश के लिये उठ खड़े होते हैं।[3]

शुक्र की नीति में इस सम्बन्ध में थोड़ा अन्तर है। वे लिखते हैं कि इस प्रकार शत्रुओं को जीत कर उनसे कर ग्रहण कर अथवा राज्य का अंश अथवा सम्पूर्ण राज्य आत्मसात् करे तथा प्रजा को आनंदित करे।[4] यहाँ प्रजा को आनंदित करे इससे शुक्र का अभिप्राय यह दिखता है कि जहाँ की प्रजा अपने राजा के अत्याचार से पीड़ित हो तथा उससे और उसके वंशजों से विरक्त होकर विजेता राजा का अभिनन्दन करती हो उसी दशा में राज्य अथवा अथवा राज्यांश पर अधिकार करना चाहिए। यह कार्य प्रजा के हित को दृष्टि में रख कर होना चाहिए, स्वार्थदृष्टि से नहीं। ऐसा होने से प्रकृति अथवा मंडल के राज्य उद्विग्न न होंगे। साथ ही शुक्र का यह भी आदेश है कि मृत राजा के पुत्रादि गुणी और वशंवद हों अन्यथा राज्य को अपने अधीन करके उनके लिए बत्तीसवां भाग जीविका निर्वाह के लिए देने की व्यवस्था कर दे।[5] याज्ञवल्क्यस्मृति इस प्रसंग में अधिक विस्तार के साथ नियम निर्धारण नहीं करती है; वहाँ केवल (इस प्रसंग में) इतना ही कहा गया है कि इससे बढ़ कर राजा का कोई धर्म नहीं है कि युद्ध में विजय के द्वारा मिले धन को ब्राह्मणादि में बांट दे।[6]

परन्तु ये सब समस्यायें तो युद्ध करने और जीतने के पश्चात् व्यवहार में आती थीं। ऐसे भी अवसर आते थे जब युद्ध को टाला जाता था। संधि का प्रस्ताव सभी अवसरों में नहीं किया जाता था। संधि उसी अवसर पर की जाती थी जब उसके द्वारा कुछ लाभ हो। अन्य गौण लाभों के अतिरिक्त तीन प्रमुख लाभ देखे जाते थे। उनमें

---

१. कर्मणि मृतस्य पुत्रं राज्ये स्थापयेत्। कौ० वा० ४४—१६—७

२. न च हतस्य भूमिद्रव्यपुत्रदारानभिमन्येत। कौ० वा० ४२—१६—७

३. यस्त्वुपनतान् हत्वा बधदा वा भूमिद्रव्य पुत्र-
दारनभिमन्येत तस्योद्विग्नमण्डलमभावायोत्तिष्ठते। कौ० वा० ४६—१६—७

४. विजित्येव रिपूनेवं समादद्यात्करं तथा।
राज्यांशं वा सर्वराज्यं नन्दयति ततः प्रजाः॥ शुक्रनीतिसार—४—११९१

५. शुक्रनीति सार—४—११९१.

६. या० स्मृति अ० १,३२३.

से किसी भी एक की प्राप्ति होने पर संधि का प्रस्ताव किया जा सकता था; अथवा संधि प्रस्ताव स्वीकृत किया जा सकता था। वे लाभ क्रमशः इस प्रकार थे, मित्र, हिरण्य (स्वर्णादि) तथा भूमिखंड। युद्ध की यात्रा में यदि इन तीन प्रकार के फलों में से किसी एक प्रकार के यात्रा-फल की प्राप्ति होती हो तो राजा को संधि करके उस राजा के साथ चलना चाहिए।[1] परन्तु संधि कर लेने के पश्चात भी उससे सतर्क होकर चलना चाहिए। यह भी संभव हो सकता है कि संधि द्वारा मित्रीभूत राजा अथवा कोई अन्य अमित्र राजा, आगे जाने पर पीछे से आक्रमण कर दे। परन्तु उक्त तीन प्रकार के यात्रा लाभ में मनु ने प्रथम (मित्र) को ही अधिक महत्व प्रदान किया है। क्योंकि हिरण्य अथवा भूमि को प्राप्त करके राजा (अथवा कोई भी व्यक्ति) उतनी वृद्धि को नहीं प्राप्त करता है जितनी एक सत्य और अचल मित्र को प्राप्त करके करता है। भले ही वह मित्र उस समय कृश हो (क्षीण हो) परन्तु वह परिणाम में अवश्य ही लाभदायक होता है।

मनु के युद्ध सम्बन्धी नियम सार्वकालिक महत्व के कहे जा सकते हैं। मनु के ये नियम आजकल भी अध्ययन करने योग्य हैं तथा उन्हें व्यवहार में भी लाया जा सकता है; क्योंकि इस समय विश्वयुद्ध ने बर्बर राग-द्वेष उत्पन्न कर दिया है और मनुष्यता की जड़ उखाड़ दी है तथा मानवता की राष्ट्रीय अन्तरात्मा को मृत प्राय बना दिया है। हाल के विश्व संग्राम में जो उपाय व्यवहार में लाए गए हैं उनमें से बहुत से प्राचीन भारत के नियमों के अनुसार अन्याय माने जायंगे। यद्यपि मनु भी शत्रु राज्य को ध्वंस करने तथा उसकी उत्पादक शक्ति के नष्ट करने का समर्थन करते हैं तथापि वे, जो लोग युद्ध क्षेत्र से बाहर हैं उन पर किसी प्रकार का अत्याचार होने का अनुमोदन नहीं करते। मेगस्थनीज़ ने भारत में युद्ध के प्रचार के समय भी भारतीय कृषक की शांतिमय स्थिति का आश्चर्यपूर्वक उल्लेख किया है। वह वास्तविक युद्ध क्षेत्र का वर्णन न होकर सैनिकों के अभियान के सम्बन्ध में हो सकता है। सैनिकों को यह आज्ञा थी कि वे अपनी यात्रा में शांतियुक्त प्रजा पर अत्याचार न करें। वृक्षों को भी नष्ट न करें। जिन लोगों के हाथ में शस्त्र होते हैं उनमें स्वेच्छाचारी होकर कानून की अवहेलना करने की प्रवृत्ति हो जाती है और वे अपने को विशेष अधिकार सम्पन्न मानने लगते हैं। इस प्रवृत्ति का दमन किया जाता था। प्रत्येक योद्धा चाहे वह किसी वर्ण का हो उस स्थिति में क्षत्रिय वर्ग के नियमों के अनुसार अपना कार्य और आचरण करता था। क्षत्रिय का धर्म युद्ध से पीछे न हटना तथा सम्मुख समर में जूझ जाना तो है ही क्योंकि उससे स्वर्ग

---

१. मनु० २०६—२०७, ७, १६३.

मिलता है, साथ ही उसका धर्म भी यह था कि वह प्रजा का रक्षण करे। इस प्रकार अनुशासन तभी संभव हो सकता है जब कि सेना सर्वोच्च स्वामित्व सैनिक अधिकारी पर न होकर असैनिक के अधिकार में हो, तथा सैनिकों पर अनुशासन करने के लिए शासन संस्था मजबूत हो। इसीलिए जब कि राजा तथा सेनानायक प्रायः क्षत्रिय वर्ग में से थे, जो मंत्री संधि और विग्रह का सर्वोच्च अधिकारी रहता था जो महासंधिविग्रहिक कहलाता था वह ब्राह्मण वर्ण में से हुआ करता था।[1]

व्यूहादि वर्णन

युद्ध के मैदान में सेना को विशेष प्रकार से संयोजित करने को व्यूह रचना कहते हैं। उस समय के सम्मुख युद्ध में व्यूह रचना का विशेष महत्व था। इस व्यवस्था से शत्रु पक्ष के सैनिकों का अधिक क्षय होता था तथा अपने पक्ष का कम। स्मृतिकारों में केवल मनु ने ही व्यूह रचना का उल्लेख किया है, नारद आदि ने नहीं किया है। मनु ने छः प्रकार के व्यूहों का वर्णन किया है। वे निम्न प्रकार से हैं :

(१) दण्ड व्यूह—यह दंड की आकृति का होता है। इसमें सेना के अग्र भाग में सेना के विभिन्न अध्यक्षगण रहते हैं। मध्य में राजा और सबसे पीछे सेनापति आदि रहते हैं। दोनों पार्श्वों में हाथी, उसके बाद घोड़े और घोड़ों के बाद पैदल सेना रखी जाती थी। इस प्रकार से रचना करने से इसका आकार बहुत दीर्घ हो जाता था और तब वह सेना दण्ड का आकार ग्रहण कर लेती थी। मनु के अनुसार इस प्रकार की व्यूह रचना करके उस समय यान करना चाहिए जब चारों ओर मार्ग में भय हो।

(२) शकट व्यूह—(३) वराह व्यूह तथा (४)—मकर व्यूह—इन तीन प्रकार के व्यूहों में सेना उसी प्रकार रखी जाती थी जिस प्रकार दंड व्यूह में, परन्तु ये व्यूह अपनी आकृति में भिन्नता रखते थे। राजा, सेनापति तथा अन्य सेना के अध्यक्षों की नियुक्ति दंड व्यूह के ही समान होती थी परन्तु अन्य सेना के संग संगठन इस प्रकार नियोजित होता था कि प्रत्येक व्यूह अन्य प्रकार के व्यूह से आकृति में भिन्न हो जाता था। शकट व्यूह में सेना का अग्रिम भाग सूची समान बहुत ही पतला होता है और अंतिम भाग बहुत ही पृथुल। इस व्यूह

---

१. Social & Political Aspects of Manusmriti—K.V.R. Aiyangar. 191.

को उस समय बनाकर चलना चाहिए जब पीछे से आक्रमण का भय हो। वराह व्यूह में सेना का अंतिम और पृष्ठ भाग अत्यन्त सूक्ष्म होता है तथा मध्य का भाग बहुत ही पृथुल। वराह व्यूह का ही विपरीत मकर व्यूह होता है; जब आगे-पीछे तथा दोनों ओर से भय हो तब इसे बनाकर चलना चाहिए।

(५) गरुड़ व्यूह—यह भी वराह व्यूह के समान होता है परन्तु यह मध्य में बहुत पृथुत्तर होता है। यह उस अवसर पर लाभप्रद होता है जब दोनों पार्श्वों में भय का आधिपत्य हो।

(६) सूची व्यूह तथा पद्म व्यूह—इस व्यूह की रचना चींटियों की पंक्ति के समान होती है। यह उस अवसर पर बनाकर चलना चाहिए जब आगे से भय की आशंका हो।[1] यदि इसके अतिरिक्त राजा को किसी दिशा विशेष से भय की आशंका हो अथवा भय दिखता हो तो उसे उस ओर सैन्य दल को बढ़ाना चाहिए और स्वयं अपने को मध्य में रखना चाहिए। इसे पद्म व्यूह कहते हैं। कुछ लोगों का मत है कि इसमें राजा को पुर से निकल कर कपट वेश में रहना चाहिए। उसे (राजा को) चाहिए कि वह सूची नामक व्यूह (जिसे वज्र व्यूह भी कहते हैं) में सेना को बहुत ही संहत करके (छितरी हुई नहीं) युद्ध करे, फिर जैसी आवश्यकता हो उसके अनुसार सेना का विस्तार करे।[2]

मनु के अनुसार कुछ व्यूहों के सम्बन्ध में ऊपर लिखा गया है। इसी प्रकार अन्यान्य अनेक प्रकार के व्यूह रचे जा सकते हैं। शुक्रनीति में इसका अधिक विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। महाभारत युद्ध में चक्र-व्यूह का वर्णन है। अर्जुन पुत्र अभिमन्यु ने उसका भेदन करके उसमें प्रवेश किया था; परन्तु बाहर निकलने में असमर्थ होकर तथा अकेला होने के कारण वहीं वह निहत हुआ था। शुक्र ने चक्र-व्यूह का लक्षण भी दिया है।[3] व्यूह रचना युद्ध की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से की जाती थी। व्यूह रचना का गुण यह था कि उसके द्वारा थोड़ी सेना भी अधिक कार्यक्षम हो सकती थी। शत्रु को उसके भेदन करने में वही कठिनाई होती है जो एक दुर्ग पर आक्रमण करने में होती है। एक प्रकार से व्यूह को युद्धस्थल का दुर्ग कहा जा सकता है। शुक्र ने व्यूहों के जो नाम और लक्षण दिए हैं उनके सम्बन्ध में वे लिखते

---

१. मनु० ७—१८८। टीका कुल्लूक भट्ट.

२. मनु० ७, १९१.

३. चक्रव्यूहश्चैकमार्गो ह्यष्टधा कुण्डलीकृतः। शुक्रनीतिसार ४—११, १३.

हैं कि एक दो या तीन को मिलाया भी जा सकता है।[1] वास्तव में व्यूह रचना भारतीय कला की उत्कृष्टता का सुन्दर उदाहरण है।

ऋग्वेद में यद्यपि व्यूह शब्द से उल्लेख नहीं है तथापि यह मिलता है कि इन्द्र की सेना ने दस्युओं पर आक्रमण किया था उस समय कौन सेनापति अपनी सेना सहित किस दिशा में व्यवस्थित था।[2] बाल्मीकि रामायण में भी व्यूह रचना का उल्लेख मिलता है।[3]

किसी विशेष सिद्धान्त तथा आकार-प्रकार से व्यूह रचना करने के अतिरिक्त भी सेना को व्यावहारिकता की दृष्टि से नियोजित किया जा सकता था; तथा युद्ध क्षेत्र की अपनी प्रकृति के अनुसार भी सैन्य व्यवस्था में अन्तर हो सकता था। मनु ने समतल भूमि में, पानी वाली भूमि में तथा जंगल आदि में किस प्रकार से युद्ध करने चाहिए इस पर भी प्रकाश डाला है। मनुस्मृति के अनुसार समतल भूमि में रथ तथा अश्व आदि से युद्ध करना चाहिए; नदी आदि में नाव के द्वारा युद्ध करना चाहिए; जंगल में अथवा ऐसे स्थान में जहाँ लतायें झाड़ियाँ आदि हों वहाँ धनुष बाण से युद्ध करना चाहिए, तथा समतल स्थल में तलवार आदि के द्वारा युद्ध करना चाहिए।[4]

युद्ध नीति

युद्ध के नियम तथा युद्ध की नीति दो विभिन्न विषय हैं। अब तक के वृतान्त से यह स्पष्ट हो जाता है कि युद्ध के नियम युद्ध करने के समय व्यवहार में लाये जाने वाले नियम थे, ये प्रतिद्वन्द्वी राजाओं के एक दूसरे के सम्बन्धों को निर्धारित करते थे। युद्ध की नीतियाँ राजाओं को अपनी विषय प्राप्ति के लिये मार्ग प्रदर्शन का कार्य करती थीं; ये नीतियां युद्ध में उपस्थित होने] वाली बाधाओं को दूर करने के लिए अथवा अपने पक्ष को प्रबल रखने के लिए व्यवहार में लायी जाती थीं। जहाँ एक ओर युद्ध के नियम युद्धस्थल में विरोधी योद्धाओं के अस्त्र-शस्त्रों के व्यवहार को नियमित करते

---

१. सैन्यमल्पं बृहद् वापि दृष्ट्वा मार्गरणस्थलम्।
व्यूहैर्व्यूहेन व्यूहाभ्यां संकरेणापि कल्पयेत्॥ शुक्रनीतिसार ४—१११६

२. इंद्र आसां नेता बृहस्पतिर्दक्षिणा यज्ञः पुर एतु सोमः।
देवसेनानामभिभंजतीनां जयंतीनां मरुतो यन्त्वग्रम्॥ ऋग्वेद—१०-१०३-८

३. बाल्मीकि रामायण युद्ध कांड २४-.९, ३०—१२, ३७—२४।

४. स्यंदनाश्वैः समे युध्येदनूपे नौद्विपैस्तथा।
वृक्षगुल्मावृते चापैरसिचर्मायुधैः स्थले॥ मनु ७, १९२॥

थे वहाँ दूसरी ओर युद्धनीति युद्ध आदि में सैन्य संचालन में पटुता प्रदान करती थी। युद्ध की नीति में प्रमुख रूप से "उपायों" और गुणों का उल्लेख किया जाता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य दोनों ही स्मृतिकार उक्त नीतियों का उल्लेख करते हैं; परन्तु मनु की अपेक्षा याज्ञवल्क्य का वृत्तांत संक्षिप्त ही है।[1]

"उपाय" के चार भेद प्राप्त होते हैं (१) साम (२) दान (३) भेद तथा (४) दण्ड।

साम

यह प्रथम उपाय माना गया है। जहाँ दूसरे राजा से विशेष नैतिक विरोध नहीं है परन्तु किसी अवसर पर किसी कार्य को भ्रम से अन्यथा समझ कर शत्रुता उत्पन्न हो गई हो वहाँ उस भ्रम को दूर कर देने से विरोध दूर हो सकता है। शत्रु को समझा-बुझा कर राजी करने का उपाय साम कहलाता है। निरर्थक अथवा छोटी-छोटी बातों के लिए युद्ध के लिये तैयार हो जाना भारतीय नीति न थी। इसीलिए महाभारत में वर्णित कथानक के अनुसार श्रीकृष्ण जी शिशुपाल के अनेकों अपराधों की उपेक्षा करते रहे और जब उसने अपना भाव नहीं बदला और राजाओं की सभा में बराबर गालियां देता रहा तब अन्त में उन्होंने उसका वध किया। साम का आश्रय इसलिए भी आवश्यक है कि मित्र राज-मंडल अथवा तटस्थ राजा इससे विरक्त न हों, इसलिए सर्व प्रथम साम के द्वारा विरोध को शान्त करना मुख्य उपाय माना जाता था।

दान

यदि साम से काम न चले और देखे कि उस शत्रु राजा से विरोध बढ़ने पर दोनों राज्यों की विशेष क्षति हो सकती है अथवा वह इतना प्रबल है कि उससे युद्ध छिड़ने पर अपने ही राज्य को अधिक हानि होने की संभावना है तो उसे भेंट (धन, हाथी, घोड़ा) आदि देकर अपने अनुकूल कर ले। यह उपाय दान कहलाता है। मध्यस्थ राजा को अपने पक्ष में करने के लिए भी इस उपाय का प्रयोग किया जाता था।

भेद

तीसरा उपाय है भेद। इसके अनुसार शत्रु राज्य की विभिन्न प्रकृतियों में फूट

---

१. मनु० ७—१९७—२०० तथा या० स्मृ० १—३४६.

(झगड़ा) पैदा करा कर उसे दुर्बल किया जाता था। उसके मित्र राजाओं को युक्ति पूर्वक उसके विरुद्ध उभाड़ना भी इसी में आता है।

दण्ड

यह अंतिम उपाय है। यहां दण्ड का अर्थ युद्ध से है। जब पूर्वोक्त तीनों उपायों से काम न निकले तब अन्त में इसका आश्रय अनिवार्य होता था।

उपर्युक्त उपायों का महत्व विजय प्राप्ति में ही है। प्रथम तीन उपायों का चाहे सैद्धान्तिक महत्व न भी हो परन्तु उसके व्यावहारिक महत्व को किसी भी प्रकार से अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। मनु ने युद्धनीति के रूप में ही इन उपायों को चित्रित किया है। मनुस्मृति में राज्य की प्रकृतियों को पर्याप्त महत्व प्रदान किया गया है तथा उनको राजा से अभिन्न नहीं रखा गया है। अतएव विजय प्राप्ति के लिये सर्वप्रथम इन प्रकृतियों को ही नष्ट करने का आदेश मनु ने दिया है।[1] राज्य की प्रकृतियों का नाश उक्त उपायों के ही द्वारा संभाव्य था। राज्य की प्रकृति (अमात्यादि) की चेष्टाओं को जानना, उनमें भेद डालना तथा संगठित न रहने देने की नीति व्यावहारिक महत्व रखती है। इसी प्रकार अन्य राज्य को विवश करके पराजित करना भी व्यावहारिक युद्धनीति कही जा सकती है। इस विषय में मनुस्मृति में कुछ महत्वपूर्ण आदेश प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए इस प्रकार के कतिपय आदेशों का संक्षिप्त वर्णन किया जा सकता है—शत्रु राज्य को चारों ओर से घेर लेना चाहिए, उसके तडाग (जलाशय), घास, अन्न, जल आदि को दूषित कर देना चाहिए। रात्रि में नगाड़ा आदि को बजाने के द्वारा शत्रु को भयभीत रखना चाहिए।[2] उक्त नीति का व्यवहार केवल शत्रु को विवश करने के लिये ही है। अपने सैनिकों का निरन्तर उत्साह बढ़ाते हुए उपर्युक्त नीति के अनुसार युद्ध करना चाहिए।

मनु स्पष्ट शब्दों दे कहते हैं कि साम, दान और भेद इन तीनों का अलग-अलग अथवा एक साथ प्रयोग करके शत्रु पर विजय प्राप्त करने का प्रयत्न करे, युद्ध के द्वारा कदापि नहीं।[3] याज्ञवल्क्य स्पष्ट रूप से दण्ड को अगति की गति कहते हैं अर्थात् जब कोई अन्य साधन न रह जाय तब दण्ड नामक उपाय का आश्रय लेना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि जब तक प्रथम तीन उपायों से काम चल सके, युद्ध के झमेले में न

---

१. मनु० ७—१९७.
२. मनु० ७, १९५, १९६.
३. मनु० ७, १९८.

पड़े। क्योंकि युद्ध अंतिम उपाय है और यह निर्णय करना कठिन है कि युद्ध में विजय अवश्य ही मिल जायगी। युद्ध करने वाले दो व्यक्तियों में विजय किसे प्राप्त होगी यह निश्चय न होने से वह अनित्य है, संदिग्ध है अतएव पराजय भी संभव है। अतः जहाँ तक हो सके युद्ध से दूर रहना चाहिए। जब अन्य गति नहीं रह जाती तब वह अंतिम उपाय है।[1] जब पूर्वोक्त तीनों उपाय काम न दें और युद्ध अनिवार्य ही हो जाय तब ऐसी तैयारी के साथ युद्ध का आरम्भ करे जिससे विजय प्राप्त कर सके।[2]

यह ऊपर कहा जा चुका है कि युद्ध के लिए तभी उद्धत होना चाहिए जब उसके (युद्ध के) अतिरिक्त अन्य कोई साधन न हो। युद्ध को अन्तिम साधन मानने का अभिप्राय एक प्रकार से भाग्यवादिता कही जा सकती है; परन्तु केवल भाग्यवादिता का ही अवलम्बन उपयुक्त नहीं समझा जाता था; भाग्य के साथ पौरुष (पुरुषार्थ) का भी समावेश रहता है। याज्ञवल्क्य, इस प्रसंग में, स्पष्ट रूप से दोनों के अन्योन्याश्रित सम्बन्ध को दिखलाते हैं। उनके अनुसार धर्म की सिद्धि दैव (भाग्य) तथा पुरुषार्थ पर आधारित रहती है। जिस प्रकार रथ के दो चक्र उसकी गति में एक दूसरे के सहायक रहते हैं तथा एक के बिना दूसरा व्यर्थ है उसी प्रकार दैव और पौरुष का भी सम्बन्ध है।[3] युद्ध के लिए चढ़ाई करना तथा "गुणों" के अनुसार कार्य करना पौरुष की कोटि में आते हैं। याज्ञवल्क्य के अनुसार जब पर राज्य शस्य सम्पन्न हो (धान आदि की फसल खड़ी हो) तथा वह (पर राज्य) शक्तिहीन हो और स्वयं शक्तिसम्पन्न हो तब अभियान करना चाहिए।[4] मनु के अनुसार मार्गशीर्ष (अगहन) फागुन अथवा चैत्र मास में अभियान करना चाहिए; अथवा जब विजय सुनिश्चित हो तब अभियान करना चाहिए।[5] युद्ध के लिये अभियान आदि करते समय गुणों के अनुसार कार्य करना चाहिए। ये गुण विशेषार्थवादी हैं। इनको निम्न प्रकार से स्पष्ट किया जा सकता है।

षड्गुण—छैगुण

युद्ध नीति में व्यवहार किये जाने वाले कतिपय सिद्धान्तों को "गुण" की संज्ञा दी गई है। इनको षाड्गुण्य अथवा षड्गुण्य कहा जाता है क्योंकि इनकी संख्या ६

---

१. मनु० ७, १७७.
२. मनु० ७, २००.
३. या० स्मृति १,३४९, ३५१.
४. या० स्मृति १, ३४८.
५. मनु० ७—१८२, १८३.

निर्धारित की गई है। इससे ये षड्गुण कहलाते हैं। इनका मुख्य विषय विजय लाभ में सहायकत्व प्रदान करना है, इसीलिए ये गुण कहलाते हैं। विशेष रूप से इनका मनन (विचार) किया जाता है इस कारण इन्हें मंत्र भी कहा जाता है। मंत्र में जो गोपनीयता (गुप्त रखने का भाव) रहती है वह भी इससे लक्षित होती है। युद्ध की नीति में इन "गुणों" का विशेष महत्व था। मनु तथा याज्ञवल्क्य, दोनों ही इन गुणों के प्रयोग किये जाने पर विशेष जोर देते हैं। मनु ने विद्वान् ब्राह्मण के साथ राजा को इन मंत्रों पर विचार-विमर्श करने का आदेश दिया है। महाभारत में तथा अर्थशास्त्रों में इस षाड्गुण्य का इसी प्रकार वर्णन मिलता है।[1] षाड्गुण्य मंत्रों का परिचय निम्न प्रकार है :

१. **संधि**—संधि का शब्दार्थ है मेल। आपस में विरोध न कर मेल कर लेना संधि है। सभी लोगों ने इसे प्रथम स्थान दिया है। अर्थशास्त्रों में इसे कब करना चाहिए इस सम्बन्ध में बहुत विस्तार से वर्णन है, विशेष कर शुक्रनीति में। परन्तु सब का निष्कर्ष यह है कि दुर्बल राजा के लिये अपने को आपत्ति में व्यस्त देख उस समय समूल नाश होने की अपेक्षा संधि का आश्रय लेना ही श्रेयस्कर है।[2] मनु ने संधि के दो भेद लिखे हैं—१ समान यान कर्मा—अर्थात् जिस संधि के अनुसार एक पर आक्रमण होने पर दूसरा राजा भी सहायतार्थ युद्ध में साथ देगा। दूसरे शब्दों में दो राजाओं में संधि के द्वारा यह निश्चित किया जाय कि तुम इस ओर से और हम उस ओर से एक साथ आक्रमण करेंगे। दूसरा प्रकार है असमान-यान कर्मा। यह तात्कालिक फल की दृष्टि से उसी अवसर के लिये की जाती है।

२. **यान**—युद्ध में चढ़ाई करना—इसके भी मनु ने दो भेद बताये हैं। जहां आवश्यकता पड़ जाने पर, अकस्मात् शत्रु पर आपत्ति आ जाने का लाभ

---

१. (१) षाड्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथा।
यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुंक्ते पृथ्वीमिमाम्।।
महाभारत—शांतिपर्व अ० ६७ श्लोक ६६

(२) संधिविग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीः षाड्गुण्यमित्याचार्याः।
अर्थशास्त्र—वार्ता २, अ० १ अधि० ७ कौटिल्य

(३) संधिं च विग्रहं यानमासनं च समाश्रयम्।
द्वैधीभावं च संविद्यान्मंत्रस्यैतांस्तु षड्गुणान्।।
शुक्रनीतिसार श्लोक १०६५ अ० ४

२. मनु० ७—१६३

उठाकर अकेला ही आक्रमण प्रारम्भ कर दे। दूसरा प्रकार यह है कि मित्र सहित युद्धयात्रा करे।[1] पहिले के अनुसार अकस्मात् अवसर आ जाने पर चढ़ाई की जाती है; दूसरे के अनुसार मित्र आदि के साथ सुनिश्चित योजना के अनुसार चढ़ाई की जाती है।

३. **विग्रह**—युद्ध की घोषणा करने के लिए प्रयुक्त होता है। यह वास्तव में यान का (हमला करने का) पूर्व रूप है। इसे युद्ध घोषणा कहा जा सकता है। यह भी दो प्रकार का है। अपने लिए या मित्र के हेतु।[2] मित्र के लिए युद्ध करने से यहाँ यह तात्पर्य है कि यदि उपर्युक्त वर्णित संधि किसी के साथ की गई है तो उसके हित में युद्धघोषणा की जाय।

४. **आसन**—यह भी दो प्रकार का है। जब पूर्वजन्म—कृत दैव के कारण अथवा इस जन्म की भूल के कारण क्षीण दशा में प्राप्ति हो जाय और यह देखे कि उस समय युद्ध में पड़ने से निश्चय ही अधिक हानि उठानी पड़ेगी तो ऐसे अवसर पर चुप मारकर बैठ जाय तथा अनेक प्रकार के बहानों से युद्ध को टालता रहे जब तक उसे अपनी क्षीण शक्ति को ठीक करने का अवसर न मिल जाय। दूसरा आसन वह है जिसमें अपनी दशा ठीक रहते हुए भी अपने मित्र राजा की क्षीण दशा के अनुरोध से युद्ध को टालता रहे। दूसरे शब्दों में, किन्हीं कारणों से युद्ध में भाग न लेना और अपनी क्रियाओं को अपने तक ही सीमित रखना आसन कहलाता है। जिस प्रकार से आसन का अर्थ बैठना होता है उसी प्रकार से युद्ध में जाने की अपेक्षा अपने ही राज्य में स्थित रहना—आसन नामक गुण कहलाता है।

५. **द्वैधीभाव**—सेना और स्वामी का दो स्थानों में विभाजन करके निवेश करना द्वैधीभाव है। सेनापति को सेना सहित शत्रु राजा के उपद्रव को शान्त करने के लिए एक स्थान में रखे और स्वयं स्वामी (राजा) दुर्ग का आश्रय ले। द्वैधीभाव अर्थात् दो भागों में विभक्त होना।[3] इस शब्द में आचार्यों में मतभेद है।

शुक्र के अनुसार अपनी सेना को अलग-अलग गुल्मों में (टुकड़ियों में) विभाजित करना द्वैधीभाव है।[4]

---

१. मनु० ७—१६५.

२. मनु० ७—१६३. ३. मनु० ७—१६७

४. द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मतः। शुक्रनीतिसार १०–७० अ० ४—

कौटिल्य के अनुसार एक राजा से संधि कर लेना, दूसरे से विग्रह करना द्वैधीभाव है।[1]

आयंगर महोदय लिखते हैं कि इन पदों के शब्दार्थ से वह अर्थ नहीं निकलता जो टीकाकारों ने अर्थशास्त्र के आधार पर दिया है जिनमें इनका विस्तार के साथ विवेचन है, जैसे द्वैधीभाव मनु के अनुसार सेना का विभाजन करना है। कामन्दक ने उसे धोखा देने के अर्थ में लिया है। अर्थात् तैयारी तो करता रहे आक्रमण की और ऊपर से शान्ति की बात चलाता रहे, जैसा कि पर्ल हार्बर पर आक्रमण करते समय जापानियों ने किया था।[2] वस्तुतः द्वैधीभाव का शाब्दिक अर्थ दो भावों का होना है, ये दो भाव सेना-विभाजन में हो सकते हैं अथवा राज्य की शत्रु-मित्र परक नीति में हो सकते हैं अथवा शांति और युद्ध के विचारों में हो सकते हैं। परन्तु मनु में उपर्युक्त विभिन्न प्रकार के द्वैधीभावों की कल्पना का कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वे स्पष्ट रूप से सेना के विभाजन को ही द्वैधीभाव की संज्ञा देते हैं।

६. **संश्रय**—इसे ही शुक्र ने आश्रय कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि जब राजा अपनी दशा हीन देखे और शत्रु प्रबल हो और पराजय की अधिक संभावना हो तो राजा उस दशा में अधिक प्रबल दूसरे राजा का आश्रय लेकर अपनी रक्षा का उपाय करे। मनु ने इसे भी दो भागों में माना है। प्रथम वह है जब शत्रुओं से पीड़ित होने पर दूसरे प्रबल राजा का आश्रय लिया जाता है। दूसरा वह है जिसमें तत्कालीन आवश्यकता न रहने पर सर्वत्र अपना प्रभाव दिखाने के लिए प्रबल राजा से संधि सम्बन्ध स्थापित करके उसका आश्रय लिया जाता है, जिससे सब लोग इस बात से डरते रहें कि इसे प्रबल का आसरा है तथा उसके विरुद्ध आचरण न करे।[3] शुक्र लिखते हैं कि जिन राजाओं से

संधिविग्रहोपादानं द्वैधीभावः। १. अर्थशास्त्र—कौ० वार्ता ११ १—७

२. The literal meaning of these terms does not convey that ascribed to them by commentators following the teachings of the Arthashastra, in which they are elaborated. Thus Dwaidhibhava which Manu interprets as deviding up one's army is taken by Kamandaka as double dealing, taking of peace, when prepared to strike, as the Japanese did at Pearl Harbour. Aiyangar–page 198–

३. मनु० ७—१६८.

रक्षित होने पर दुर्बल राजा भी बलवान् हो जाय उनका सहारा लेना आश्रय कहलाता है।[1] जिस प्रबल राजा का आश्रय लिया जाय उसके सम्बन्ध में यह देखना आवश्यक है कि वह उच्च कुलोत्पन्न हो, सत्य मार्ग में स्थित हो तथा प्रबल हो।[2] मनु ने इसी भाव को धार्मिक कह कर व्यक्त किया है और इसमें सब बातें आ जाती हैं। उसके धार्मिक होने से यह शंका दूर हो जाती है कि इस राजा की क्षीणावस्था का अनुचित लाभ उठाकर वह इसे ही स्वाधीन कर लेगा।[3]

उपर्युक्त विवेचन मनुस्मृति के आधार पर ही है; याज्ञवल्क्य केवल षड्गुणों का उल्लेख मात्र करते हैं, उनके लक्षण नहीं बतलाते हैं। नारद तथा पराशर इस विषय में मौन हैं।

संधि, विग्रह आदि के लक्षण और भेद बताने के बाद इन संधि आदि का अत्यन्त उपयुक्त अवसर कब होगा इसका संक्षेप में स्पष्टीकरण करते हुए मनु लिखते हैं।[4]

१. जब देखे कि वर्तमान में संधि करने से अपनी थोड़ी सी हानि होती है परन्तु बाद में अधिक लाभ की सम्भावना है तो संधि कर ले।

२. जब यह देखे कि उसकी समस्त प्रकृति (अमात्य आदि) बहुत अच्छी स्थिति में हैं और वह स्वयं अत्यन्त उन्नत दशा में, तब विग्रह करे।

३. जब अपने बल (सेना आदि) को हृष्ट-पुष्ट समझे तथा शत्रु की दशा इससे विपरीत हो, तब शत्रु के प्रति यान (चढ़ाई) करे।

४. जब यह देखे कि सेना और वाहन उसके क्षीण दशा में हैं—तथा उनके ठीक होने के लिये कुछ समय अपेक्षित है तो धीरे-धीरे शत्रु की सांत्वना करता हुआ आसन का आश्रय ले, ऐसा करने से उसे क्षतिपूर्ति का अवसर मिल जायगा।

५. जब यह देखे कि शत्रु राजा अधिक बलवान् है तब अपने बल (सेना) को दो भागों में बांट कर (द्वैध का आश्रय लेकर) अपना कार्य साधन करे।

६. जब देखे कि शत्रु इतना बलशाली है कि दुर्ग के आश्रय लेने पर भी रक्षा

---

१. यैर्गुप्तो बलवान् भूयाद्दुर्बलोऽपि स आश्रयः॥ शुक्र० १०६७—२००४

२. कुलोद्भवं सत्यमार्यमाश्रयेत बलोत्कटम्।
विजिगीषोस्तु सहायार्थाः सुहृत्सम्बन्धिबांधवाः॥ शु० ११२१ अ० ४

३. मनु० ७—१७४.

४. मनु० ७, १६९—१७६.

संभव नहीं है तथा पराजित होने का भय है तब शीघ्र ही दूसरे धार्मिक बलवान राजा का आश्रय ले। यहाँ धार्मिक शब्द महत्वपूर्ण है। आश्रयदाता राजा यदि धार्मिक न हुआ, शरणागत की रक्षा करने में धर्म में दृढ़ न हुआ तो यह भय हो सकता है कि वह इस अवसर का लाभ उठाकर राज्य का ही अपहरण कर ले। अतः उसका धार्मिक होना आवश्यक है। यदि यह बलवान् राजा जिसका आश्रय लिया जाय, शत्रु बल का संहार कर सके तथा जिन प्रकृतियों के दोष से इस राजा में क्षीणता आई है उनका निग्रह करने में समर्थ हो तो सब प्रकार से गुरु के समान उसकी सेवा करे।

परन्तु यहाँ भी यदि संश्रय के कारण उसे दोष दिखाई पड़े (अर्थात् लक्षण ऐसा दिखे कि आश्रयदाता इसकी दुरवस्था से अनुचित लाभ उठाना चाहता है) तो निश्शंक होकर शत्रु के साथ युद्ध में भिड़ जाय। जीतने पर राज्य तथा मारे जाने पर स्वर्ग प्राप्ति निश्चित है। जैसा कि गीता में भगवान ने अर्जुन से कहा है।[1]

इस प्रकार साम, दान आदि चार उपाय, तथा विग्रह-संधि आदि ६ गुण राजनीति के प्रधान अंग हैं। इन्हीं के समुचित प्रयोग से राज्य की स्थिति सुदृढ़ बनी रह सकती है। जिस प्रकार प्रजा में क्षोभ उत्पन्न न हो और राज्य में सुख समृद्धि की वृद्धि हो इसके लिये सुशासन व्यवस्था आवश्यक है, उसी प्रकार वैदेशिक सम्बन्ध को अनुकूल बनाकर अपने राज्य की रक्षा करने का कार्य इन्हीं वैदेशिक नीतियों पर निर्भर है। इसमें भूल होने का परिणाम राज्य के लिए घातक होगा। अतः इस सम्बन्ध में सर्वथा सावधान रहने का आदेश धर्म और अर्थ दोनों शास्त्रों के आचार्यों ने दिया है। मनु ने मंत्रियों में श्रेष्ठ ब्राह्मण से एकान्त में सलाह लेने के लिये आदेश दिया है इसका उल्लेख पूर्व में हो चुका है। मंत्र को गुप्त रखने का भी आदेश है। यह विषय अर्थ-शास्त्रों के अनुसार ही विवेचित हुआ है। अन्तर इतना ही है कि वैदेशिक सम्बन्ध के विषय में मनु अधार्मिक नीति का आश्रय लेने के पक्ष में नहीं हैं। इनकी नीति सीधे बर्ताव की है क्यों कि वे यह समझते हैं कि कपट की नीति से कपट ही उत्पन्न होगा। मंत्रिमंडल में प्रधानता ब्राह्मण मंत्री को दी गई है। इसलिए उसकी प्रधानता के कारण मंत्रियों के साथ परामर्श से जो निर्णय होता था वह उच्च कोटि का धार्मिक नीतियुक्त होता था। राजनीति के साथ प्रधानता धर्मनीति की ही थी।

---

१. गीता २—३७

संग्राम में वध

सभी धर्मशास्त्रों ने सम्मुख संग्राम में मृत्यु प्राप्त करने वाले के लिए स्वर्ग की प्राप्ति बतलाई है। भगवद्गीता में इस सिद्धान्त का समर्थन मिलता है। पुराणों में तो पद-पद पर उसका वर्णन है। परन्तु जो रण में शत्रु का वध करता है उसका वह कर्म क्या फल देता है यह विषय विचारणीय है। वध करने वाला प्राणि-हत्या तो करता ही है। धर्मशास्त्रों का यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि जो कर्म निष्काम भाव से किया जाता है वह बंधन का कारण नहीं होता। परन्तु जो कर्म सकाम भाव से किया जाता है उसका फल कर्ता को अवश्य प्राप्त होता है चाहे वह शुभ हो अथवा अशुभ। मनुष्य का वध करना धर्मशास्त्रों में जघन्य पाप माना गया है। तब यह प्रश्न स्वभावतः उठता है कि रणक्षेत्र में जब कोई पराक्रमी योद्धा अपने शत्रु का संहार करता है तब उसे मनुष्य मारण के पाप का फलभागी होना पड़ता है या नहीं। धर्मशास्त्रों ने इस पाप का न तो राजकीय दंड ही बताया है और न उसके प्रायश्चित का ही विधान किया है। वेदों का प्रमाण हिन्दुओं के लिये अकाट्य माना गया है। वेद में प्राणिहिंसा करने का निषेध किया गया है—"**मा हिंस्यात् सर्वभूतानि**"— ऐसी दशा में रण में शत्रु के बध करने की क्या निष्कृति है इस पर विचार आवश्यक है।

वर्तमान युग में जो लोग वेद या धर्मशास्त्र को प्रमाण नहीं मानते वे पुण्य और पाप भी नहीं मानते। वे समाज की सुविधा के अनुसार अच्छे और बुरे कर्म का परिणाम मानते हैं अतः उनकी दृष्टि में समाज की रक्षा के निमित्त सामूहिक हित की दृष्टि से इस प्रकार के वध को हेय नहीं माना जाता। इन लोगों के मत से समाज ही इसका निर्णायक है वह सर्वहित साधन की दृष्टि से इस प्रकार के वध का अनुमोदन करता है। वही वध यदि आपस में मारपीट अथवा डकैती में किया जाता है तो समाज उसे निन्दनीय समझता है तथा वध करने वाले को राजदंड से दंडित करने का समर्थन करता है। इसलिए वर्तमान युग के समाजवादी दल ने तो इस प्रश्न का हल कर लिया। पर पुण्य-पापवादी धर्मशास्त्रों का क्या समाधान है इस पर विचार करना भी आवश्यक है।

भारतीय संस्कृति के अनुसार "क्या कार्य है और क्या अकार्य है" इसकी व्यवस्था शास्त्र के द्वारा ही की जाती है। गीता में मिलता है—"तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ"[1]। मनु ने भी धर्म के लक्षण में वेद और स्मृतियों को प्रथम और द्वितीय स्थान दिया है (मनु० २—१२)। यह भी लिखा है कि मनु ने जिसका जो धर्म बताया है वह सब वेद में कहा गया है (मनु० २—७)। अतः प्राचीन

---

१. गीता—१६—२३.

परिपाटी के पण्डितों के लिए इतना प्रमाण पर्याप्त है कि उस विषय का उल्लेख वेदों में मिल जाय अथवा उसके अभाव में स्मृतिशास्त्र में मिल जाय। इसीलिए अधिकतर टीकाकारों ने विषय-विशेष की संगति दिखाने के लिये युक्ति का आश्रय न लेकर वेद अथवा स्मृतियों को ही उद्धृत किया है। उदाहरण के लिए मनु ६—७८ का तर्क यह है कि ब्रह्मज्ञानी अपना सुकृत अपने प्रिय वर्ग में तथा अपने दुष्कृत को अपने अप्रिय वर्ग में समर्पण करके ध्यान योग के द्वारा सनातन ब्रह्म में लीन होता है। यहाँ टीकाकार कुल्लूक भट्ट ने यह प्रश्न उठाया है कि एक के सुकृत दुष्कृत का संक्रमण दूसरे में किस प्रकार सम्भव माना जा सकता है। इसका समाधान करते हुए वे लिखते हैं कि धर्म और अधर्म की व्यवस्था में शास्त्र ही प्रमाण हैं। पुण्य-पाप का संक्रमण भी शास्त्रमूलक है अतः वह उचित है। शास्त्र के विरुद्ध अनुमान का उत्थान नहीं किया जाता। यहीं पर इन्होंने श्रुति का उद्धरण भी दे दिया है। इसी प्रकार मनु० ७—९४ में लिखा है कि जो योद्धा संग्राम से भागता हुआ शत्रु से मारा जाता है तो उसके स्वामी राजा का जितना पाप है उस सब का वह भागी होता है। इसकी टीका में भी उसी ऊपर वाली श्रुति का आश्रय लेकर समाधान किया गया है।

मनु ने सम्मुख युद्ध में शत्रुवध करने का आदेश दिया है (७—८९) और कुछ अपवाद भी बताए हैं; उस दशा में शत्रुवध करना अधर्म्य बतलाया है। उसी प्रकार अनेक प्रकार के अपराधियों को प्राणान्तक दंड देने की व्यवस्था की गई है और यहाँ तक कठोर आदेश है कि दंडनीय अपराधी को क्षमा करने का अधिकार नहीं है। जो राजा दंड पाने योग्य व्यक्ति को उचित दंड नहीं देता वह अयश और नरक का भागी होता है (मनु ८—१२८)।

परन्तु आधुनिक युग के युक्तिवादी आलोचक को इस प्रमाण से संतोष नहीं होता है। वेद और धर्मशास्त्र के प्रमाण के साथ-साथ ये तर्क और युक्ति को भी काम में लाते हैं। मनु ने कुतर्क (केवल वाद-विवाद के लिए तर्क करना) की निन्दा की है। वे लिखते हैं कि जो हेतुशास्त्र (तर्क) का आश्रय लेकर धर्म के मूल श्रुति और स्मृतियों का अपमान करते हैं वे वेद निन्दक और नास्तिक हैं तथा सज्जनों को चाहिए कि उनका बहिष्कार कर दें। परन्तु युक्तियुक्त (सतर्क) वाद का वे समर्थन करते हैं और यह लिखते हैं कि जो व्यक्ति तर्क के द्वारा धर्म का अनुसंधान करता है वही धर्म के मर्म को समझ पाता है अन्य व्यक्ति नहीं (मनु० १२—१११)। उसी प्रकार मनु ने परिषद् में हेतुवादी को भी स्थान दिया है; (हेतुकः) वह इसी दृष्टि से है जिससे युक्ति के द्वारा यथार्थ मर्म क्या है इसका वह निर्णय कर सके। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संग्राम में वध क्यों निर्दोष माना गया है, इसके लिए केवल वेद का आश्रय ही नहीं युक्ति भी

अपेक्षित है। इस प्रकरण में मनु ने इस सम्बन्ध में कोई युक्ति नहीं दी है परन्तु एक दूसरे प्रकरण में वध को निर्दोष मानने के लिए उन्होंने जो युक्ति दी है वह इस प्रकरण में भी समान रूप से चरितार्थ होती है।

मनु लिखते हैं कि आततायी का वध करने में मारने वाले को कोई दोष नहीं लगता क्योंकि चाहे छिपे रूप से (एकान्त में) हो चाहे प्रकट रूप में, मन्यु (क्रोध) ही मन्यु को नष्ट करता है। आततायी कौन कहलाता है इसके संबंध में मिताक्षराकार प्रमाण देते हैं कि जो व्यवसायी रूप से आग लगाने वाला हो, विष देने वाला हो, शस्त्र लेकर मारने के लिये उद्यत हो, धन हरण करने वाला हो (डाकू) अथवा खेत या स्त्री का बलात्कार से अपहरण करने वाला हो, ये आततायी कहे जाते हैं।[1] मनु इनके वध को निर्दोष मानते हैं; कारण यह देते हैं कि क्रोध ही क्रोध का प्रतिघात करता है। इसका तात्पर्य यह है कि क्रोध की उत्पत्ति रजो गुण से मानी गई है। गीता में लिखा है कि यह काम, यह क्रोध रजोगुण से उत्पन्न होता है। रजोगुण ही प्रवृत्ति का मूल है, वास्तव में रजोगुण के कारण ही यावन्मात्र क्रिया होती है।[2] धर्म और नीति प्रकरण में यह उल्लेख हुआ है कि प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुण रहते हैं और उनकी मात्रा में भेद होता है। आततायी जो शस्त्र लेकर प्राण हत्या करने पर तुला हुआ है उसका क्रोध उसके बढ़े हुए रजोगुण से उत्पन्न हुआ है। इसी प्रकार उसके अत्याचार को देखकर साधु पुरुष का हृदय रजोगुण से क्षुब्ध होता है तथा उसका भी रजोगुण क्रोध में परिणत होता है। परिणाम यह होता है कि दोनों के रजोगुण से क्रोध उत्पन्न हुआ है। मारने वाले का रजोगुण आततायी के रजोगुण में जाकर नष्ट हो जाता है। परिणाम यह होता है कि रजोगुण की हानि से सत्व गुण की अभिवृद्धि होती है अतः उसका वह कर्म सत्वगुण के कारण उत्कर्ष करने वाला हो जाता है। गीता में लिखा है कि सत्व गुण वाले ऊपर उठते हैं।[3] आत्मा को नीचे गिराने वाला कर्म पाप

---

१. अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः।
क्षेत्रदारहरश्चैव षडेते ह्याततायिनः । मिताक्षरा—श्लोक २१ व्यवहा०

२. काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्॥ गीता ३ — ३७.

३. ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१४।१८
यदा सत्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥ गीता—१४ । १४.

या पातक कहलाता है। उसे ऊपर ले जाने वाला कर्म पुण्य या अभ्युदय कहलाता है।

इसी सिद्धान्त के अनुसार युद्ध में परस्पर के बढ़े हुए रजोगुण के नष्ट हो जाने के कारण मारने वाले को पाप का सम्पर्क नहीं होता तथा सम्मुख युद्ध में वीरगति पाने वाला योद्धा स्वर्ग की प्राप्ति करता है। इसलिए मनु ने स्पष्ट कहा है (७—८८) कि युद्धों में एक दूसरे का हनन करने की इच्छा वाले अपनी पूरी शक्ति से युद्ध करते हुए पीछे न लौटने वाले स्वर्ग जाते हैं। इसी सिद्धान्त के अनुसार शस्त्र त्याग कर देने वाले का, भागने वाले इत्यादि का वध न किया जाय यह मनु का अनुशासन है, क्योंकि ऐसी दशा में रजोगुण के शान्त होने का अवसर नहीं रहता अतः वह आत्मा का उत्कर्ष करने वाला कर्म नहीं माना गया है।

यहाँ पर भी प्रश्न हो सकता है कि क्या इस प्रकार वध को प्राप्त होकर आततायी भी स्वर्ग का भागी हो सकेगा। इसका उत्तर यह है कि संग्राम में सम्मुख युद्ध में लड़ने वालों में स्वधर्म की प्रेरणा रहती है अतः उनका बढ़ा हुआ रजोगुण सत्वगुण की विशेषता से युक्त रहता है अतः रजोगुण के दब जाने से सत्व का उत्कर्ष स्वभावतः हो जाता है। परन्तु आततायी का रजोगुण तम की प्रधानता पर रहता है। सत्व की मात्रा उसमें अत्यन्त अल्प रहती है अतः उस दशा में रजोगुण की शक्ति क्षीण होने पर आततायी का तमोगुण स्वभावतः प्रबल हो जाता है और अधःपतन का कारण होता है।

सब का निष्कर्ष यह है कि मनु की राजनीति अधिकांश में धर्म पर ही आधारित है। कूटनीति भी सर्वथा धर्मानुकूल है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में महर्षियों ने मनु महाराज से सब वर्णों के तथा अन्तर-प्रभवों के धर्म के सम्बन्ध में उपदेश देने की प्रार्थना की थी।[1] अन्तिम अध्याय में मनु के अनुसार धर्मोपदेश समाप्त करते हुए भृगु, महर्षियों से कहते हैं कि इस प्रकार भगवान् मनुदेव ने समस्त लोगों के हित की कामना से धर्म के परम रहस्य इस शास्त्र का हमें उपदेश दिया था।[2] इसी के अनुसार मनु का राजधर्म वर्णित है।

---

१. मनु० १—२.

२. एवं स भगवान् देवो लोकानां हितकाम्यया।
धर्मस्य परमं गुह्यं ममेदं सर्वमुक्तवान्॥ मनु० १२—११७

अष्टम अध्याय

न्याय व्यवस्था

स्मृतियों में न्याय-व्यवस्था के विषय में पर्याप्त विचार सामग्री प्राप्त होती है। नारद स्मृति अन्य स्मृतियों की अपेक्षा इस विषय में कुछ अधिक विस्तार रखती है। राज्य में न्याय की समुचित व्यवस्था ही राज्य की अपनी प्रगति का द्योतक होती है। प्रजा के स्वत्व की रक्षा करने वाले विधान ही सभ्यता के मापदंड कहे जाते हैं। स्मृतियों के महत्व का एक कारण उनकी न्याय तथा विधि संबंधी समृद्धि भी है। स्मृतियाँ राजतंत्र के सिद्धान्त का समर्थन करती हैं। यह सिद्धांत राजकीय शक्तियों के विभाजन के सिद्धान्त के प्रतिकूल ही रहता है। अतएव अन्य अधिकारों के साथ ही साथ राजा के पास न्यायिक शक्तियाँ भी निहित रहती हैं। राजा अपनी इस शक्ति के कारण न्याय का स्रोत कहलाने का अधिकारी है। वह स्वयं विधि-निर्माण का अधिकार नहीं रखता। विधि-निर्माण का कार्य धर्मशास्त्रों अथवा विद्वान मनीषियों की अधिकारिता में है, वह केवल इन्हीं धर्मशास्त्रानुकूल विधियों के अनुसार दंड शक्ति का प्रयोग करता है। जिस प्रकार अपने प्रशासकीय कार्यों में वह (राजा) स्वयमेव सभी कार्य न करके मंत्रिपरिषद् आदि की सहायता प्राप्त करता था उसी प्रकार उसके न्याय कार्य के लिए सभा और सभ्यों की भी व्यवस्था थी। सभा और सभ्यों के अतिरिक्त कुछ प्रशासकीय पदाधिकारी भी न्यायशासन में उसको सहायता प्रदान करते थे। इन सब का एक ही उद्देश्य था—राजा के न्याय कार्य की गुरुता को कम करना। राजा के लिए सम्भव यह न था कि वह समस्त न्याय कार्य स्वयमेव देखे। स्मृतियों में वर्तमान समय की भाँति विभिन्न प्रकार के न्यायालयों की व्यवस्था न थी, उनमें प्राप्त होने वाली व्यवस्था अथवा उसकी शृंखला अपना एक अलग ही महत्व रखती थी।

मनुस्मृति में विभिन्न प्रकार के न्यायालयों को संगठित करने का विशेष प्रयास नहीं किया गया है। परन्तु याज्ञवल्क्यस्मृति इस में कुछ अधिक प्रगतिशील है। मनु ने प्रशासकीय पदाधिकारियों को ही न्याय कार्य का भी अधिकार प्रदान कर दिया है। प्रशासकीय पदाधिकारियों में सबसे नीचे की इकाई का अधिकारी ग्रामिक नाम का होता है; ग्रामिक के अधिकारों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह न्यायिक अधिकार

भी रखता था। इसका अधिकार क्षेत्र एक ग्राम ही रहता था। यदि वह अधिकारी उन व्यवहारों को निश्चित करने में असमर्थता का अनुभव करता था तब उसे (व्यवहार को) दस ग्राम के अधिपति के समीप भेजता था। यदि वह पदाधिकारी भी उसका निर्णय करने में असमर्थ रहता था तब वह अपने से उच्च पदाधिकारी, बीस ग्रामों के अधिपति के समीप भेज देता था तथा यह पदाधिकारी शती के पास। शती सहस्राधिपति के पास ऐसी समस्याओं को भेज सकते थे जिन्हें वे स्वयं निर्णीत करने में असमर्थ होते थे। ग्रामिक, दशी, विंशती, शती, सहस्राधिपति आदि सब राजा के द्वारा ही नियुक्त होते थे।[1] मनुस्मृति के वर्णन से यह स्पष्ट नहीं है कि ये प्रशासकीय पदाधिकारी किस प्रकार के विषयों को अपने अधिकार क्षेत्र के अंतर्गत रखते थे। मनुस्मृति केवल ग्राम दोषों का ही उल्लेख करती है; ग्राम दोषों में सभी प्रकार के विषय आ जाते हैं। ऋणदान, सीमा-विवाद, स्वामिपाल-विवाद आदि से लेकर साहस आदि सभी इसके अंतर्गत आ सकते हैं। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि इन प्रशासकीय पदाधिकारियों को शांति तथा व्यवस्था आदि बनाये रखने के लिए उन सभी प्रकार के विषयों को ग्रहण करने का अधिकार था जिनसे ग्राम का सौम्य वातावरण दूषित होता है। इन सभी अवस्थाओं में भी यदि न्याय संभव न हो पाता था तब वह राजा तथा सभा के द्वारा निर्णीत होता था।

याज्ञवल्क्य तथा नारद मनु से कुछ अधिक विस्तार के साथ न्यायालयों के प्रकार का उल्लेख करते हैं। याज्ञवल्क्य ने व्यवहार के निर्णयकर्ताओं को चार श्रेणी में रखा है—राजा के नियुक्त अधिकारी (सभा), पूग, श्रेणी तथा कुल।[2] नारदस्मृति

---

१. Manu 7.115.117.
........and directs that the Governor of (headman) the village shall try all cases of offence occuring therein, Cases which he is not able to decide he shall refer to the Governor (headman) of ten villages. In cases of doubt or incompetency the head of the ten villages shall refer to the head of twenty villages and the latter to the head of the 100 villages, and he too under similar circumstances to the head of 1,000 villages," Hindu judicial System by S. Vardacharia. Page79-80

२. नृपेणाधिकृताः पूगाः श्रेणयोऽथ कुलानि च।
पूर्वं पूर्वं गुरु ज्ञेयं व्यवहारविधौ नृणाम्॥ या० स्मृति, व्य० ३०.

में "पूग" के स्थान में गण का उल्लेख है।[१] याज्ञवल्क्य तथा नारद के ये नियम अस्पष्ट हैं। इन दोनों ही स्मृतियों ने मनु की अपेक्षा एक अन्य प्रकार की न्यायालयों की श्रृंखला प्रस्तुत की है परन्तु यह स्पष्टरूप से नहीं मिलता है कि उपरोक्त न्यायालयों का किस प्रकार से संगठन किया जायगा अथवा इनका अधिकार क्षेत्र कितना रहेगा। यह भी स्पष्ट नहीं है कि इन न्यायालयों में न्यायकर्ता किस प्रकार की योग्यता वाले व्यक्ति होंगे। मिताक्षराकार के अनुसार "पूग" अथवा "गण" भिन्न जाति अथवा भिन्न वृत्ति वालों के समूह को कहते हैं। उदाहरण के लिए ग्राम, नगर आदि में जहाँ भिन्न जाति तथा भिन्न वृत्ति वाले एक समूह में रहते हैं; एक ही प्रकार का व्यवसाय करने वाला व्यक्ति-समूह (चाहे वे किसी भी जाति के हों) "श्रेणी" कहलाता है; "कुल" से जाति, बंधुबांधवों का तात्पर्य है।[२]

उपर्युक्त न्यायालय अपना एक अलग ही महत्व रखते थे। याज्ञवल्क्य तथा नारद ने यह स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है कि इन न्यायालयों के अधिकारी राजा से नियुक्त होंगे अथवा नहीं। यहाँ स्मृतिकारों का अभिप्राय यह जान पड़ता है कि इनमें राजा से नियुक्त अधिकारी नहीं रहेंगे। न्यायकार्य के लिए उक्त प्रकार की संस्थाओं का निर्माण लोकतंत्रीय भावनाओं का द्योतक कहा जा सकता है। अपने कार्यों में ये एक स्थान के रहने वालों, एक ही प्रकार के व्यवसाय करने वालों तथा एक बिरादरी (जाति अथवा बंधुबांधव) के हितों को दृष्टि में रखकर न्याय कार्य करते थे। इनके निर्णयों को राजकीय मान्यता प्राप्त थी क्योंकि यदि ऐसा न होता तब उनके उल्लेख किये जाने का ही प्रश्न नहीं उठता है। इन व्यवहार विधियों की तुलना आधुनिककालीन पंचायतों से की जा सकती है।[३] स्थानीय महत्व के प्रश्नों, स्थानीय परम्पराओं तथा परंपरा विशेष के नियमों का समुचित समादर तभी हो सकता है जब न्यायिक प्रबंध में उनका भी हाथ हो।

---

१. नारद—१-३.

२. विज्ञानेश्वर, मिताक्षरा—श्लोक २, ३०.

३. "Of the puga, Sreni and Kula Mr. Colebrooke says they are different degrees of panchyat, which as is apparent is not in the nature either of a jury or of a rustic tribunal but merely a system of arbitration subordinate to regularly constituted tribunals or courts of justice"
"Hindu judicial System" by S. Vardacharia. Page 100

याज्ञवल्क्य तथा नारद इस दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण सिद्धान्त की ओर प्रकाश डालते हैं। पूग, श्रेणी तथा कुल में पूर्व को पर से अधिक गुरुतर कहकर तथा सबके पूर्व में सभा का उल्लेख किये जाने से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सब एक दूसरे के आधीन रहेंगे तथा अंतिम निर्णय सभा का समझा जायगा। सभा की स्थिति का उल्लेख वैदिक साहित्य में भी प्राप्त होता है।[१] मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद सभा की स्थिति, उसके संगठन तथा कार्यों का विस्तृत विवेचन करते हैं।

नारद ने सभा के आठ अंग बतलाये हैं वे इस प्रकार हैं: राजा, अधिकारी वर्ग, सभासद, धर्मशास्त्र, गणक, लेखक, दिव्य के लिए स्वर्ण तथा अग्नि तथा पीने के लिए जल।[२] मनु तथा याज्ञवल्क्य सभा संगठन में इतना अधिक विस्तार नहीं दिखलाते हैं।

न्याय कार्य के लिये योग्यता :—न्याय का कार्य बहुत दुरूह समझा जाता है अतएव इसके लिए विशेष योग्यता सम्पन्न व्यक्तियों की आवश्यकता रहती है। स्मृतियों में सभासदों की योग्यता के विषय में विशेष रूप से अधिक सावधान रहने का आदेश मिलता है। ऐसे ही व्यक्तियों को इस पद के लिए नियुक्त किया जाता है जो अपने कार्य की गुरुता को उत्तरदायित्व की भावना से वहन कर सकें; सभासदों को समदृष्टि होना चाहिए। शत्रु तथा मित्र में अपने न्यायकार्य के करते समय जो समभाव नहीं रखते हैं उनसे निष्पक्ष न्याय की आशा नहीं की जा सकती है। धर्मज्ञ, सत्यवादी तथा श्रुति आदि के अध्ययन से युक्त पुरुष इस पद का अधिकारी होता था।[३] मनु शूद्रों को इस कार्य के लिए सर्वथा अयोग्य समझते हैं; वे तो यहाँ तक कहते हैं कि केवल जाति से ही जो ब्राह्मण हो (अर्थात् जिसके कर्म ब्राह्मणोचित न हों) उसे भले ही नियुक्त कर लिया जाय, परन्तु शूद्र को किसी भी स्थिति में धर्म प्रवक्ता नियुक्त नहीं करना चाहिए।[४]

---

१. The term Sabhasad occurs in some Vedic Passages and in many Dharmashastras Ibid Page 102.

२. The eight constituent parts of judicial proceeding are the king, his officers, the assessors, the law books, the accountant and scribs gold and fire ordeals and water for refreshment. Narad 1. 16 Trans. by Jolly.

३. श्रुताध्ययन-सम्पन्ना धर्मज्ञाः सत्यवादिनः।
राज्ञा सभासदः कार्या रिपौ मित्रे च ये समाः। या० स्मृ० २, २.

४. जातिमात्रोपजीवी वा कामं स्याद्ब्राह्मणब्रुवः।
धर्मप्रवक्ता नृपतेर्न तु शूद्रः कथंचन ॥ मनु० ८, २०.

अन्यत्र मनु स्वयं, निषिद्ध आचरण करने वाले ब्राह्मणों से (साक्षि के प्रसंग में) शूद्रों के समान ही प्रश्न करने का विधान करते हैं।[1] इस प्रसंग में शूद्रों के सभासद होने में क्या हानि है इस पर उन्होंने विशेष प्रकाश डाला है।[2] निःसंदेह आज की विचारधारा के अनुसार मनु ने एक वर्ग को केवल जन्म के ही आधार पर अयोग्य घोषित कर दिया है। परन्तु मनुस्मृति के समय की सामाजिक स्थिति को दृष्टि में रखने पर यह इतनी बड़ी भूल नहीं जान पड़ती है। वह युग कार्य-विशिष्टता का युग था, जन्मना जाति के साथ ही साथ वह कर्मणा भी थी; कार्य-विशिष्टता तथा कर्म-विभाजन के सिद्धान्त के अनुसार केवल ब्राह्मण ही बौद्धिक वर्ग में आते थे; ऐसे वर्ग का अभाव न था तथा ये कर्मनिष्ठ होते थे। ऐसे ही कर्मनिष्ठ तथा विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त करने का विधान था; ब्राह्मणों के अतिरिक्त क्षत्रिय तथा वैश्य ही वेदाध्ययन के अधिकारी थे, परन्तु वे केवल उतना ही अध्ययन करते थे जितने से उनका सामाजिक उत्तरदायित्व पूर्ण हो सके। वेद तथा धर्मशास्त्र को मनन करने की आवश्यकता उनके लिए नहीं रहती थी। परन्तु ब्राह्मण उसका अध्ययन-अध्यापन तो करता ही था, वह उस पर मनन भी करता था; जो व्यक्ति शास्त्रों का मनन करता है वही उसके रहस्य को भी भलीभाँति समझ सकता है। इसी कारण ब्राह्मण को न्याय कार्य में नियुक्त किये जाने का आदेश मिलता है। संभव है कि कोई शूद्र धर्मशास्त्रों के रहस्य को भी भलीभाँति जानने वाला मिल जाय परन्तु उस आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि शूद्र विद्वान् होते हैं, यह एक अपवाद है। यदि उक्त विद्वान् शूद्र को न्याय कार्य के लिए अधिकारिता प्राप्त हो जाती है तब वह अधिकारिता सामान्य अधिकार के रूप में ही ली जा सकती थी, और उस दशा में यह अधिकार पूरे वर्ण का अधिकार हो सकता था; ऐसी स्थिति में सामान्य शूद्रगण जो विद्वान् और योग्य न होंगे वे भी अपने को न्यायासन के लिए अधिकारी समझने लगेंगे। शूद्रों में पठन-पाठन का कम प्रचलन था।इसके अतिरिक्त एक विद्वान् शूद्र को तो शास्त्र की विरुद्धता बतलाकर समझाया जा सकता है कि वह उक्त पद के लिए अधिकारी नहीं है परन्तु अन्य अल्प बुद्धि शूद्रों को समझाना कठिन हो जाता, अल्प बुद्धि वालों की यही एक विशेषता रहती है कि वे अपने में बुद्धि का अभाव नहीं समझते हैं। परन्तु जब उन्हीं के वर्ण के विद्वान् व्यक्ति को भी अयोग्य सिद्ध किया जायगा तब अविद्वान् शूद्रों को समझाना उतना कठिन कार्य न होगा।संभव है कि इसी कारण को दृष्टि में रखकर मनु ने शूद्रों का विरोध किया हो।

---

१. गोरक्षकान्वणिजांस्तथा कारुकुशीलवान् ।
प्रेष्यान्वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ मनु० ८, १०२.

२. मनु० ८, २१, २२.

सभासदों की योग्यता के प्रसंग में याज्ञवल्क्य ने किसी भी वर्ग विशेष का उल्लेख नहीं किया है, संभव है कि वे किसी भी वर्ग के विद्वान् , वेदविद्, धर्मज्ञ, सत्यवादी, शत्रु-मित्र में समभाव रखने वालों को न्यायासन पर प्रतिष्ठित होने का अधिकार प्रदान करते हों।[1] परन्तु इस श्लोक के पूर्व के श्लोक में याज्ञवल्क्य राजा को ब्राह्मणों के साथ व्यवहार दर्शन करने का आदेश देते हैं, इससे उनका मत स्पष्ट हो जाता है; मिताक्षराकार के अनुसार भी सभासद ब्राह्मण ही होने चाहिए।[2]

नारद ने प्रायः याज्ञवल्क्य के ही समान सभासदों की योग्यता निर्धारित की है। नारद के अनुसार सभ्यों को कुलीन होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वे इनकी नियुक्ति भलीभाँति परीक्षा करने के उपरान्त करने का भी आदेश देते हैं।[3] नारद सभ्यों के सुपरीक्षित होने का विधान करने के कारण अधिक व्यावहारिक महत्व रखते हैं। यहाँ पर भी स्पष्ट रूप से यह नहीं उल्लिखित है कि ब्राह्मणों को ही सभ्य होना चाहिए। वीरमित्रोदयकार मित्र मिश्र उक्त श्लोक की टीका में क्यों सभ्यों को ब्राह्मण ही होना चाहिये, इसका समर्थन करते हैं।

मनु के अनुसार सभ्यों की संख्या तीन होनी चाहिए। परन्तु इस श्लोक को उद्धृत करते हुए वीर मित्रोदयकार मित्र मिश्र कहते हैं कि यह संख्या (तीन) निम्नतम सदस्यों की है अर्थात् इससे कम नहीं होनी चाहिए ; बृहस्पतिस्मृति आदि का आधार लेकर ये ऊपर की संख्या सात निश्चित करते हैं। परन्तु यह खींचातानी ही कही जायगी। मनुस्मृति के अनुसार यह संख्या तीन ही होनी चाहिए। वीर मित्रोदय में याज्ञवल्क्य स्मृति में (१, ८) परिषद् के सम्बन्ध में कहे गये नियम को ही सभ्यों की संख्या के लिए ले लिया गया है।[4] इसके अनुसार परिषद् की संख्या चार, तीन तथा एक होनी चाहिए,

---

१. याज्ञ० २–२.

२. या० स्मृति, २, १ तथा मिताक्षरा टीका।

३. राजा तु धार्मिकान् सभ्यान्नियुंज्यात्सुपरीक्षितान्।
व्यवहारधुरां वोढुं ये शक्ताः पुंगवा इव ॥
धर्मशास्त्रेषु कुशलाः कुलीनाः सत्यवादिनः।
समाः शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदः ॥ वीरमित्रोदय में उद्धृत ना० स्मृति अ० १, ४४; ये श्लोक जाली द्वारा अनूदित ना० स्मृति में उपलब्ध नहीं है।

४. चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पार्षत्त्रैविद्यमेव वा।
स ब्रूते यं स धर्मः स्यादेको वाध्यात्मवित्तमः ॥ या० स्मृति १, ९. तथा वीरमित्रोदय पृष्ठ २७

परन्तु यह प्रकरण व्यवहार का नहीं है; यहाँ याज्ञवल्क्य सामान्य परिषद् के ऊपर विचार कर रहे हैं अतएव याज्ञवल्क्य को भी नारद के ही समान मौन समझना चाहिए।

उक्त प्रकार से संगठित होने वाली न्याय-सभा अंतिम न्यायालय के रूप में रहती थी। इस न्याय सभा में 'प्राड्विवाक' नामक पदाधिकारी का विशेष स्थान रहता था। इसका स्थान प्रमुख न्यायाधीश के समान रहता था, यही सभा की अध्यक्षता ग्रहण करता था। विवाद में प्राड्विवाक प्रश्न करता तथा पुनः प्रश्न करके शांतिपूर्वक बोलता है अतः वह प्राड्विवाक कहलाता है।[१] संभव है कि वैदिक काल के ग्रन्थों में उपलब्ध होने वाला शब्द "प्रश्न-विवाक" ही कालान्तर में प्राड्विवाक बन गया हो। अन्य स्मृतियों में भी इस पर प्रकाश डाला गया है। नारद प्राड्विवाक के महत्व तथा कार्य को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार चिकित्सक शरीर से यत्नपूर्वक कांटा निकालता है उसी प्रकार प्राड्विवाक व्यवहार से दोषों को निकालता है।[३] व्यवहार में सत्य, असत्य का विवेक करके न्याय तक पहुँचना प्राड्विवाक का कार्य होता था। मनु तथा याज्ञ-वल्क्य इस महत्वपूर्ण पदाधिकारी का नामतः उल्लेख नहीं करते; परन्तु सभा में राजा की अनुपस्थिति पर विद्वान् ब्राह्मण को प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त किये जाने का विधान करते हैं। यदि किसी कारण से राजा सभा के कार्यों को स्वयं देखने में असमर्थ रहता है तब वह विद्वान् ब्राह्मण को अपने प्रतिनिधि के रूप में नियुक्त कर सकता था। यह विद्वान् ब्राह्मण सभ्यों की सहायता से सभा का कार्य करता था।[४] इसको प्राड्विवाक

---

१. विवादे पृच्छति प्रश्नं प्रतिप्रश्नं तथैव च।
प्रियपूर्वं प्राग्वदति प्राड्विवाकस्तथा स्मृतः॥ बृह० स्मृति
वीरमित्रोदय में उद्धृत पृ० २४.

२. "It is possible that the term 'Pradvivaka' was suggested by the Vedic term 'Prasnaviaka' which a commentator explains; as he who explains the questions put. S. Vardacharia—'Hindu judicial System' Page 110.

३. यथा शल्यं भिषक्कायादुद्धरेद्यंत्रयुक्तितः।
प्राड्विवाकस्तथा शल्यमुद्धरेद्व्यवहारतः॥ ना० स्मृति ३, १६.
नारद स्मृति का यह श्लोक पराशरमाधवीय तथा वीरमित्रोदय में समान रूप से प्राप्त होता है। परन्तु जाली द्वारा अनूदित ना० स्मृति में यह उपलब्ध नहीं है।

४. मनु० ८, ९, १०, या० स्मृति २, ३.

कहा जा सकता है, परन्तु नारद के वर्णन से तथा अन्य स्मृतियों के वर्णन से यह प्रकट होता है कि इस पदाधिकारी की स्थिति पर राजा की उपस्थिति अथवा अनुपस्थिति का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। नारद ने प्राड्विवाक की परिभाषा इस प्रकार दी है—विवाद में निहित धर्म को जो पूछता है तथा उस पर जो विवेचना करता है वह प्राड्विवाक कहलाता है;[1] इससे तथा इसके पूर्वापर के श्लोकों से प्राड्विवाक का स्वतंत्र अस्तित्व ही परिलक्षित होता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य की भाँति यह पद राजा की अनुपस्थिति में ही प्रतीत नहीं होता। मिताक्षरा में नारदस्मृति का एक श्लोक उद्धृत है जो इस पदाधिकारी की स्थिति पर विशेष रूप से प्रकाश डालता है। वहाँ कहा गया है कि राजा धर्मशास्त्र को सम्मुख करके प्राड्विवाक के मत में स्थित हो तथा स्थिर बुद्धि से व्यवहार को देखे।[2] यह स्पष्ट रूप से प्राड्विवाक तथा राजा की सहस्थिति पर प्रकाश डालता है। इससे प्राड्विवाक का महत्व बहुत अधिक बढ़ जाता है, वास्तव में यही न्याय की दुरूहता का वहन करता था—उस पर मनन करता था तथा राजा उसी की बुद्धि का आश्रय लेकर अंतिम निर्णय देता था। यही कारण है कि इस पद के लिए नारद ने विशेष रूप से योग्यता निर्धारित की है। प्राड्विवाक को व्यवहार के अष्टादश पदों की जानकारी होना, आन्वीक्षिकी आदि विद्याओं में कुशल होना आदि कई एक नवीन प्रकार की योग्यताओं से विभूषित होने का आदेश मिलता है। मनु और याज्ञवल्क्य उस पदाधिकारी को इतना अधिक महत्व नहीं प्रदान करते हैं, संभव है यह अन्तर स्मृतियों के रचना काल के अन्तर के कारण हुआ हो। याज्ञवल्क्य राजा को आदेश देते हैं कि नित्य ही सभ्यों के साथ स्वयं व्यवहारों को देखे। व्यवहार दर्शन की विधि भी कुछ मनोरंजक है। सर्वप्रथम राजा लोकपालों को प्रणाम करके दक्षिण हस्त उठाकर (स्वस्ति-सूचक) धर्मासन पर बैठता है। मनु तथा याज्ञवल्क्य के समस्त उपदेशों को (कि राजा को किस प्रकार की वृत्ति व्यवहार दर्शन के समय धारण करना चाहिए) नारद एक ही वाक्य में संग्रहीत कर देते हैं; उनके अनुसार राजा को वैवस्वत व्रत धारण करना चाहिए।[4] वैवस्वत व्रत की

---

१. विवादसंश्रितं धर्मं पृच्छति प्रकृतं मतम्।
विवेचयति यस्तस्मात्प्राड्विवाकस्तु संस्मृतः।। ना० स्मृति ३, १५.

२. धर्मशास्त्रं पुरस्कृत्य प्राड्विवाकमते स्थितः।
समाहितमतिः पश्येद व्यवहाराननुक्रिमात्।। मिताक्षरा, या० स्मृति २, ३.
यह श्लोक जाली द्वारा अनूदित नारद स्मृति में उपलब्ध नहीं है।

३. नारदस्मृति ३, १४ पृ० माधवीय में उद्धृत।

४. तस्माद्धर्मासनं प्राप्य राजा विगतमत्सरः।
समः स्यात्सर्वभूतेषु विभ्रद्वैवस्वतं व्रतम्।। ना० स्मृति १, ३४.
तथा मनु ८।१, २, ३, २३; या० स्मृति २, १, ३६०.

व्याख्या बृहस्पति स्मृति में की गई है। उसके अनुसार जिस प्रकार यम प्रिय तथा द्वेष्य दोनों को ही काल आ जाने पर समाप्त कर देता है उसी प्रकार राजा को भी प्रजा का नियमन, करना चाहिए—यही वैवस्वत व्रत अथवा यमव्रत कहलाता है।[1] सारांश में कहा जा सकता है कि राजा को न्यायासन पर बैठने के उपरान्त अपने को रागद्वेष, प्रिय, अप्रिय आदि की संकुचित भावना से ऊपर उठाकर वस्तुस्थिति के अंत:स्थल में प्रवेश करना चाहिए। यदि राजा अपनी व्यक्तिगत भावनाओं से अभिभूत होकर न्याय कार्य करे तब उसका निर्णय किसी भी स्थिति में निष्पक्ष नहीं कहा जा सकेगा ; ऐसी स्थिति में जिनको दंड मिलना चाहिए उन्हें नहीं मिलेगा, वे छूट जायेंगे—उसे न्याय नहीं कहा जा सकता है। इसीलिए मनु ने अधर्मयुक्त न्याय की विभीषिकाओं को विस्तार के साथ बतलाया है।[2] राजा के साथ-साथ व्यवहार का सम्यक् दर्शन सभ्यों के लिए भी अपेक्षित था। यदि राजा न्याय मार्ग को छोड़ देता है तब भी सभ्यों को उसका प्रिय कहने की अपेक्षा सत्य ही कहना चाहिए—ऐसा करने से कुन्याय के अपराध से वे मुक्त हो जाते हैं।[3] यदि राजा के अन्यायी हो जाने पर सभ्य भी उसी का अनुसरण करने लगते हैं, तब राजा के ही समान वे भी पाप के भागी होते हैं। यदि वे अपने उत्तरदायित्व को भलीभांति निभाते हुए केवल सत्य का ही अनुसरण करते हैं तब केवल राजा ही दोष का भागी होता है, उस दोष से सभ्य मुक्त रहते हैं।[4]

व्यवहार दर्शन में विशेष परम्पराओं तथा विशेष वर्ग के अपने धर्म को भी मान्यता प्रदान की जाती थी। किसी प्रदेश विशेष की परिपाटी, किसी जाति विशेष की परम्परायें, किसी वर्ग विशेष के परम्परागत नियम तथा कुल विशेष की परम्पराओं को दृष्टि में रख कर ही न्याय किया जाता था। इन परम्पराओं को स्थानीय नियम कहा जा सकता है।

---

१. यथा यमः प्रियद्वेष्यौ प्राप्ते काले नियच्छति ।
तथा राज्ञा नियंतव्याः प्रजास्तद्धि यमव्रतम् ।। ब० स्मृ० पा० भा० में उद्धृत पृष्ठ ३७.

२. मनु० ८।१२, १४, १५, १६, १७ आदि ।

३. न्यायमार्गादपेतं तु ज्ञात्वा चित्तं महीपतेः ।
वक्तव्यं तत्प्रियं नात्र न सभ्यः किल्विषी भवेत् ।। ना० स्मृ०.

४. अधर्मतः प्रवृत्तं तं नोपेक्षेरन् सभासदः ।
उपेक्षमाणाः सनृपा नरकं यान्ति...।।
अन्यायेनापितं यन्ति येनुयांति सभासदः ।
तेपि तद्भागिनस्तस्माद्बोधनीयः सतैर्नृपः ।। नारद स्मृति तथा मनु ८, १९

इन नियमों की मान्यता वे मनु ने स्वीकार किया है।[1] स्थानीय परम्पराओं को मान्यता प्रदान करना न्याय का प्रजा के हित में होना सिद्ध करता है। प्रजा का अपना व्यवहार इन्हीं स्थानीय परम्पराओं पर ही आधारित रहता है। यदि उनके व्यवहारों का मापदण्ड ऐसे नियम हो जाते हैं जिन्हें वे अपने प्रतिदिन के व्यवहार में व्यवहृत नहीं करते हैं तब उन्हें उचित न्याय की प्राप्ति न हो सकेगी। स्वस्थ न्याय के लिए यह आवश्यक है कि स्थानीय परम्पराओं को भी मान्यता प्रदान की जाय। याज्ञवल्क्य तथा नारद ने पूग, श्रेणी, कुल आदि को न्यायिक अधिकार भी प्रदान किये हैं। मनु इनको न्यायिक अधिकार तो प्रदान नहीं करते हैं परन्तु इनके अपने नियमों को न्यायकार्य के लिए आधार-वाक्य अवश्य बनाते हैं। याज्ञवल्क्य तथा नारद के उक्त विधान मनु की अपेक्षा अधिक लोकहितकारी कहे जा सकते हैं।

सभा की कार्यविधि में धर्मशास्त्र ही प्रमुख रूप से आधार रहता है; धर्मशास्त्रों की ही व्याख्या स्मृतियों में रहती है। परन्तु स्मृतियों में भी परस्पर विरोधी व्यवस्था उपलब्ध हो सकती है, अतएव याज्ञवल्क्य के अनुसार स्मृतियों में परस्पर विरोध होने पर "न्याय" को ही बलवान् समझना चाहिए; यहाँ पर न्याय से "इक्विटी" का तात्पर्य है। नारद स्मृति में न्याय के स्थान पर "युक्तियुक्त" का प्रयोग है, इसका भी यही तात्पर्य है।[2] परन्तु यह नियम केवल व्यवहार के लिए ही है। व्यवहार में केवल शास्त्रों के वचन के ही अनुसार निर्णय किये जाने पर उनमें विरोध होने पर एक कठिन समस्या उत्पन्न हो सकती थी। इस समस्या का समाधान नारद तथा याज्ञवल्क्य ने, इक्विटी को मान्यता प्रदान करके किया है। वस्तुतः न्याय का कार्य बहुत ही गहन होता है। इसमें न्यायकर्ता को बहुत ही अधिक सतर्क रहने की आवश्यकता पड़ती है। इक्विटी को मान्यता प्रदान करने से यह आभास मिलता है कि उस समय न्याय कार्य में सर्व प्रथम न्याय के औचित्य का ही

---

१. Thus in Practice customs were the most important of fair divisions of law, and Manu and almost all the other law givers lay it down as the essential principle in the administration of justice that disputes should be decidd according to the customs of countries and districts, of castes, of guilds and families. P.N. Banerjie, Public Administration in Ancient India., Page 151.

२. स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः ॥ या० स्मृति २, २१.
धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः ॥ ना० स्मृति, १, ४०.

ध्यान रखा जाता था। संभव है इक्विटी के उक्त सिद्धान्त के प्रयोग किये जाने के लिए अन्य साधन भी उपस्थित थे, जिनकी सहायता से निर्णय तक पहुँचा जा सकता था। न्याय कार्य में पर्यालोचन आदि के द्वारा भी स्मृतियों के विरोध को दूर किया जा सकता था।[1] इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि स्मृतियां न्यायकार्य में वस्तुतः औचित्य पूर्ण न्याय को ही न्याय समझती थीं।

धर्मशास्त्र तथा अर्थशास्त्र के विरोध में धर्मशास्त्र को ही मान्यता प्राप्त रहती थी। अर्थशास्त्र का व्यवहार में तभी तक महत्व रहता था जब तक वह धर्मशास्त्र के अनुकूल रहता था, परन्तु विरोध होने पर उस (अर्थशास्त्र) की मान्यता समाप्त हो जाती थी।[2] इस प्रसंग में अर्थशास्त्र अपने रूढ़िगत अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ यह धर्मशास्त्र के ही अंतर्गत नीति तथा व्यवहार का बोध कराने वाले शास्त्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है।[3] मनु अर्थशास्त्र और धर्म के परस्पर-बलाबल के विवाद में केवल उदाहरणों के द्वारा ही अपना मत देते हैं। वे नारद तथा याज्ञवल्क्य से सहमत हैं।[4]

व्यवहार के चार पाद अथवा चार अवस्थायें मानी जाती हैं। प्रथम पाद भाषा-पाद कहलाता है; इसमें आवेदन किया जाता है तथा उसके पश्चात् न्यायाधीश तथा प्रतिवादी के सम्मुख उसका भाषण लिखा जाता है, इसी को प्रतिज्ञा भी कहते हैं, द्वितीय पाद उत्तरपाद कहलाता है, इसमें प्रतिवादी को उत्तर देने का अवसर प्राप्त होता है, तृतीय पाद क्रियापाद कहलाता है, इसी में साक्षि की पद्धति आती है, चतुर्थपाद साध्य-सिद्धि पाद अथवा निर्णयपाद कहलाता है।[5] व्यवहार की उक्त चार अवस्थाओं की विवेचना करने से पूर्व यह निश्चित करना युक्तियुक्त होगा कि व्यवहार क्या है? व्यवहार का क्या लक्षण है? भाषण, उत्तर, साक्षि आदि का विवेचन, व्यवहार की विवेचना के उपरान्त ही आता है :

---

१. यहां, पर्यालोचना आदि के कार्यों में साक्षि आदि का हाव-भाव आदि सूक्ष्म तथा मनोवैज्ञानिक निरीक्षण भी आता है—इस पर आगे विशेष प्रकाश डाला गया है।

२. यत्र विप्रतिपत्तिः स्याद्धर्मशास्त्रार्थशास्त्रयोः।
अर्थशास्त्रोक्तमुत्सृज्य धर्मशास्त्रोक्तमाचरेत्॥ ना० स्मृति १, ३९ तथा या० स्मृति २, २१.

३. वीर मित्रोदय, व्यवहार प्रकाश पृ० १४; व्यवहार मयूख पृ० ४.

४. मनु० ८–३५०, ३५१.

५. या० स्मृति २–६ ७, ८ तथा इन्हीं श्लोकों की मिताक्षरा टीका।

व्यवहार का लक्षण—मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ने ही व्यवहार का क्या लक्षण है यह नहीं लिखा है। याज्ञवल्क्य ने व्यवहार पद का लक्षण देते हुए लिखा है कि धर्मशास्त्र तथा लोकाचार के विरुद्ध मार्ग से दूसरों के द्वारा सताया गया व्यक्ति जहाँ (न्याय के लिए) राजा के पास आवेदन करता है वह व्यवहार का पद (विषय) है। यह सामान्य लक्षण है क्योंकि आगे चल कर जहाँ यह नियम किया गया है कि राजा अथवा राजपुरुष स्वयम् व्यवहार का उत्पादन न करे अर्थात् बिना वादी के आवेदन के व्यवहार प्रवृत न करे वहीं कुछ अंशों में राजा या राजपुरुषों को अपराध निर्णय करने का आदेश है। वर्तमान न्याय में नानकाग्निसेबल (अर्थात् बिना अर्थी के आवेदन के जहाँ न्यायिक कार्य न किया जाय) तथा कॉग्निसेबल (जिनमें अर्थी के आवेदन के बिना भी न्याय कार्य किया जा सकता है) के समान ही उपर्युक्त साधारण नियम वादि सापेक्ष (नानकाग्निसेबल) के लिए ही था। मनु ने प्रकरण के प्रारम्भ में ही केवल यह उल्लेख किया है कि व्यवहार के विचार की इच्छा वाला पार्थिव, ब्राह्मणों के तथा मंत्रज्ञ मंत्रियों के साथ विनीत होकर सभा में प्रवेश करे।[1] यह व्यवहार का लक्षण नहीं है। इसके उपरांत ही वे व्यवहार के अठारह पदों की गणना करते हैं।[2] याज्ञवल्क्य ने व्यवहारपद का तो लक्षण दिया है परन्तु पदों की संख्या नहीं दी है। पराशर तो "पृथ्वी का धर्म पूर्वक पालन करे" इसी में सम्पूर्ण व्यवहार का समावेश कर देते हैं। माधवाचार्य ने इसी को मूल लेकर अत्यन्त विस्तार के साथ व्यवहार के समस्त अंग तथा उपांगों का विवेचन किया है। नारद ने लक्षण का संकेत किया है। वे लिखते हैं, जिस समय मनु प्रजापति राज्य का पालन करते थे तब पुरुष धर्मपरायण-सत्यवादी थे। उस समय न व्यवहार था, न द्वेष और न मत्सर। धर्म के नष्ट होने पर मनुष्यों में व्यवहार प्रवृत्त होता है।[3] परन्तु अन्य स्मृतियों में व्यवहार का लक्षण मिलता है। माधवाचार्य लिखते हैं कि "व्यवहार" शब्द का दो प्रकार से अर्थ कात्यायन ने किया है। प्रथम अर्थ रूढ़ है, सांकेतिक है। कात्यायन का आशय है कि शिष्ट सम्मत लौकिक आचरण का उल्लंघन होने पर "यह हमारा धन दूसरे के द्वारा अपहृत हुआ है, इस खेत का नाज (अन्न) हमारा है दूसरे का नहीं है" इत्यादि के विषय में वादी जिसे लेकर प्रवृत्तहोता है वह धन साध्य है (स्वत्व सिद्ध करने योग्य है)। इस मूल को लेकर जो वाद उपस्थित किया जाता है वह व्यवहार कहा जाता है। यह कब उपस्थित होता है इसके लिए पूर्वार्ध में दिया गया है कि जब लौकिक या शास्त्रीय धर्मरूप

---

१. मनु० ८, १.
२. मनु० ४, ७.
३. नारद० १, १–२ (पराशर माधवीय)

स्वत्व का उल्लंघन किया जाता है तब न्याय के लिए वाद उपस्थित करने का अवसर होता है। दूसरा अर्थ कात्यायन ने किया है वह व्यवहार शब्द के निर्वाचन के अनुसार है—व्यवहार में वि, अव और हार तीन अवयव हैं। वि का अर्थ है[1] विविध—अनेक, अव का अर्थ है संदेह तथा हार का अर्थ है हरण। सब मिलाकर यह अर्थ हुआ कि जिस कार्य में अनेक प्रकार के संदेहों को (राज निर्णय के द्वारा) हरण किया जाय, दूर किया जाय वह व्यवहार है।[2] दोनों ही अर्थ उपयुक्त हैं। इसी के लिए राजा को आदेश है कि वादी प्रतिवादी के राग द्वेष मूलक संदेहों का निराकरण करने वाले व्यवहार का वह विचार करे।

राजा अथवा उसके कर्मचारी अपनी ओर से कोई कार्य व्यवहार (मुकदमा) उत्पन्न न करें और न उस व्यवहार को स्वीकार करें जो अन्य व्यक्ति के द्वारा पहुंचाया जाय। यहाँ अन्य व्यक्ति से तात्पर्य यह है कि जो व्यक्ति न वादी हो न प्रतिवादी हो और न उनमें से किसी का प्रतिनिधि हो, उसके द्वारा यदि मुकद्दमा चलाया जाय तो उसे स्वीकार न किया जाय। यहाँ पर ध्यान रखना चाहिए कि यह बंधन उन्हीं व्यवहारों के लिए है जो वादी और प्रतिवादी के व्यक्तित्व से सम्बन्ध रखते हैं अर्थात् जो आज कल के कानून में वादी-सापेक्ष हैं जो स्टेट से साक्षात् सम्बन्ध न होने से उपेक्षणीय कहे जाते हैं। क्योंकि मनु ने स्वयं उन व्यवहारों का अलग उल्लेख किया है जहाँ राजा बिना वादी प्रतिवादी की रिपोर्ट के स्वयं हस्तक्षेप कर सकता है। यहाँ जो बंधन लगा दिया गया है उसका यह तात्पर्य नहीं है कि इस से राजा अपने कार्य को घटाने की दृष्टि से इस अधिकार को काम में लाता है। श्रीयुत बरदाचार्य जी लिखते हैं कि इस नियम का उद्देश्य यह था कि धन के लोभ से अथवा अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए राजा या उसके कर्मचारी प्रजा के आपसी व्यवहार में अनुचित हस्तक्षेप न करें। परन्तु मनुष्य-मारण, साहस, राजद्रोह आदि अनेक अपराध ऐसे थे जिनमें राजकर्मचारियों का अथवा राजा का हस्तक्षेप करना आवश्यक माना गया है। किसी प्रकार अन्य व्यक्ति जिसका उस व्यवहार से कोई सम्बन्ध नहीं है दूसरे की ओर से बिना अधिकार व्यवहार निर्णय की प्रार्थना नहीं कर सकता था। परन्तु जहाँ वादी प्रतिवादी में से कोई किसी कारण से स्वतः कार्य करने में समर्थ न होता था वहाँ अपनी ओर से वह अपना अधिकृत प्रतिनिधि नियुक्त कर सकता था। परन्तु हार जीत का परिणाम प्रतिनिधि पर न पड़कर वादी प्रतिवादी पर ही पड़ता था।[3]

---

१. नोत्पादयेत्स्वयं कार्यं राजा नाप्यस्य पूरुषः।
न च प्रापितमन्येन ग्रसेदर्थं कथंचन ॥ मनु० ८–४३

२. पा० मा० पृ० ६ (व्य०)।

३. There are, no doubt, provisions limiting the cases in

सर्व प्रथम व्यवहार दर्शन प्रारम्भ करने के सम्बन्ध में मनु लिखते हैं कि धर्मासन में स्थित होकर, अपने अंगों को वस्त्र से ढके हुए समाधान चित होकर लोकपालों को प्रणाम कर 'कार्य दर्शन' प्रारम्भ करे ।[१] समाधान होकर रहने का अभिप्राय यह है कि व्यग्रता या उतावली होने से उसका चित्तचंचल रहेगा उस दशा में उचितरीति से व्यवहार दर्शन न हो सकेगा। लोकपालों को प्रणाम करने का अर्थ यह है कि उनके स्मरण से उसे मानसिक बल मिलेगा जिससे वह निष्पक्ष भाव से कार्य करने में समर्थ हो सकेगा।[२] इसके बाद की विधि कात्यायन देते हैं कि समय पर कार्यार्थी से, जो प्रणत होकर (नम्र भाव से) सम्मुख में उपस्थित हो, पूछे कि हे मानव "क्या कार्य है, तुम्हें क्या पीड़ा है, कहो, डरो मत"।[३] अर्थी स्वयं उपस्थित होने में असमर्थ हो तो वह अपना प्रतिनिधि भेज सकता है। नारद कहते हैं—अर्थी (वादी) के द्वारा नियुक्त अथवा प्रतिवादी के द्वारा भेजा हुआ पुरुष जो जिसके लिए प्रतिनिधित्व करता हो, उसी का जय-पराजय माना जायगा।[४] इसके आगे के श्लोक में नारद लिखते हैं कि जो व्यक्ति न भाई हो, न पुत्र हो और न नियुक्त प्रतिनिधि हो वह यदि दूसरे के लिए वादी होकर वक्तव्य देता है तो वह दंडनीय है।[५] इससे यह ध्वनि होती है कि पिता पुत्र अथवा भ्राता अनियुक्त होने पर भी

---

which the King can take cognizance on his own initiative or on that of his officers, and insisting that in other cases he can act only if and when moved by or on behalf of the injured party.

The object of these provisions was not to restrict the cases in which the party wronged could seek redress but to prevent needless interference by the King or his officers merely out of a dasire to add to the revenue or to satisfy any indirect purpose. Vardachariar–Page 85.

१. मनु० ८–२३, माधव पृ० ५२ (कात्यायन)।
२. नारद भी समाहित मति होने का उल्लेख करते हैं—१–३५–३६.
३. पा० मा०, पृष्ठ ५३.
४. अर्थिना सन्नियुक्तो वा प्रत्यर्थिप्रहितोऽपि वा।
यो यस्यार्थे विवदते तयोर्जयपराजयौ। नारद २–२२, माधव ने इसे कात्यायन का वचन कहके उद्धृत किया है परन्तु यह श्लोक नारद स्मृति में भी मिलता है।
५. पा० मा०, पृ० ५४–नारद २–२३.

प्रतिनिधित्व कर सकते थे। वादी का आवेदित अर्थ धर्माधिकरण में यथावत् लकड़ी के बोर्ड आदि में पहिले लिखा जायगा फिर यदि कोई त्रुटि रह गई हो तो उसका संशोधन होने पर कागज में पक्का लेख किया जायगा।[१] इसके बाद न्यायाधीश उस पक्ष (आवेदित अर्थ) पर विचार करेगा। सामान्य रूप से उसकी योग्यता का निर्णय करेगा और यदि उसे पक्ष में कोई स्पष्ट दोष प्रतीत न होगा तो वह प्रतिवादी के आह्वान के लिए आज्ञा देगा। भाषा (वादी के प्रतिज्ञात अर्थ) के दोष नारद बताते हैं—जो भाषा अन्यार्थ हो, अर्थहीन हो, प्रमाण आगम से रहित हो, लेखा स्थान आदि से भ्रष्ट हो तो वह भाषा का दोष समझा जायगा।[२] यहाँ भाषा-प्रतिज्ञा एक ही अर्थ में है। नारद ने इन भाषा दोषों का विवरण भी किया है। ये तो स्पष्ट दोष हुए। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही अभियोक्ता के, चेष्टा व्यवहार आदि से उसके हृदयगत भावों के ज्ञात करने का विधान करते हैं। यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। मनु लिखते हैं कि बाहरी चिन्हों से, स्वर, वर्ण (मुखादि का विवर्ण होना) इंगित, आकार, नेत्र तथा चेष्टा से मनुष्यों के अंतर्गत भावों का निश्चय करे। इसी का स्पष्टीकरण आगे के श्लोक में इस प्रकार करते हैं—आकार से, इंगित से, चष्टा से, भाषण से, नेत्र और मुख के विकारों से अन्तर्गत मन का पता चल जाता है।[३] याज्ञवल्क्य इसे और अधिक स्पष्ट करते हैं—एक स्थान से दूसरे स्थान में जाता है अर्थात् चंचल चित्त है, दोनों ओष्ठ प्रान्तों को जीभ से चाटता है, ललाट में जिसके पसीना आ जाता है, मुख विवर्ण हो जाता है, जिसके ओठ सूख रहे हैं और वचन स्पष्ट न निकलते है या जो बहुत विरुद्ध बातें बोलता है। जो सम्मुख देखने या बोलने का साहस नहीं करता; दोनों ओष्ठों को टेढ़ा करता है, और स्वभावतः मन, वाक् और कर्म से विकार को प्राप्त हो जाता है वह साक्ष्य में अथवा अभियोग में दुष्ट (दूषित) कहा गया है। यहाँ यह दृष्टव्य है कि ये सब कार्य अभियोक्ता अथवा साक्षी के बनावटी (दूषित) होने के गौण कारण माने जायेंगे, ये दूसरे मुख्य प्रमाण में सहायक हो सकते हैं, स्वतः अकाट्य प्रमाण नहीं माने जाते हैं। क्योंकि संभव है कि नए व्यक्ति को प्रथम बार राजसभा में उपस्थित होने पर दुर्बलचित्तता के कारण घबराहट आ जाय और उसके पक्ष के सत्य होते हुए भी उसमें ये विकार उत्पन्न हो सकते हैं तथा इसके विपरीत अभ्यस्त अपराधी के लिए मिथ्या भाषण में किसी विकार की संभावना नहीं रहती। अतः अन्य

---

१. नारद २–१८.
२. नारद २–८.
३. मनु ८–२५, २६.
४. या० स्मृति २–१३, १५

प्रमाणों के साथ में ही इन आनुषंगिक मनोवैज्ञानिक चिन्हों का आश्रय लेना ही उपयुक्त होगा।

आसेध—आवेदन के उपरान्त यदि यह संभावना होती है कि प्रतिवादी उस आवेदन का लाभ उठाकर कहीं भाग जायगा तब इस नियम के द्वारा उसके (प्रतिवादी के) क्रिया-कलापों को नियंत्रित किया जा सकता है; यह नियम उस समय प्रयोग में आता है जब व्यवहार निर्णीत नहीं हो पाता है। व्यवहार के चार पादों में यह प्रथम पाद के ही अंतर्गत आता है। वादी के आवेदन देने पर न्यायाधीश यदि आवश्यक ही समझेगा तो प्रतिवादी के आह्वान करने की अनुज्ञा देगा और तदर्थ "समन्स" भेजेगा, परन्तु यदि इस बात की संभावना दिखेगी कि समन पहुँचने से पूर्व प्रतिवादी भाग जायगा तो वादी प्रतिवादी के अवरोध के लिए भी आज्ञा प्राप्त करके राजपुरुषों की सहायता से प्रतिवादी का आरोप करा सकता था। नारद ने (१-४७-५३) में लिखा है—आसेध चार प्रकार का होता है—१–स्थानासेध अर्थात् प्रतिवादी समन मिलने से पहले स्थानविशेष छोड़ कर (स्वग्राम या घर) अन्यत्र न जा सकेगा। २—कालकृत आसेध—अमुक समय तक वह कहीं न जा सकेगा। ३–प्रवासासेध –देशान्तर जाने से रुकावट। ४–कर्म आसेध–विशेष प्रकार के कार्य करने से, जिससे हानि होने की संभावना है, वह रोका जायगा। यह कहा जा सकता है कि इन चारों प्रकारों में प्रथम तीन प्रायः समान ही हैं और तीनों ही स्थानासेध हैं। अतः दो ही मुख्य विभाग हैं; स्थानासेध तथा कर्मासेध। नारद लिखते हैं कि जो व्यक्ति इस प्रकार आसिद्ध (अवरुद्ध) होने पर उस का उल्लंघन करेगा वह दंडनीय होगा। साथ ही वे (नारद) यह भी व्यवस्था देते हैं कि यदि आसेध करने वाला राजपुरुष मर्यादा का उल्लंघन करे तो वह भी दंडनीय होगा। आगे वे उन अवसरों को गिनाते हैं जहाँ आसेध न होना चाहिए तथा इसके विपरीत जो आसेध करेगा तो वह दंडनीय होगा तथा अतिक्रमण करने वाला आसिद्ध निर्दोष माना जायगा। वे अवसर ये हैं—नदी सन्तार (नौका आदि से नदी पार करते समय), कान्तार (जंगल), दुर्देश (श्मशान आदि अथवा विजय स्थान), उपद्रव जहाँ हो रहा हो, विवाह करने यदि वह जा रहा है; रोगार्त हो यज्ञ कर्म करने का उपक्रम कर रहा है; किसी व्यसन (पुत्र शोकादि आपत्ति) में पड़ा हो, अन्य के साथ व्यवहार में (मुकदमे) अभियुक्त हो अथवा राजकार्य करने में लगा हो। इसी तरह गोपालक (चरवाहा) जब अपने कार्य में लगा हो, किसान जब खेत जोत रहा हो, कोई शिल्पी अपने शिल्प के कार्य के समय, तथा सिपाही युद्ध के समय—आसेध नहीं किए जा सकते। इसके आगे का (१–५४) नारद का वचन माधव ने उद्धृत किया है जिसका अर्थ है कि अप्राप्त व्यवहार (व्यवहार योग्य अवस्था को प्राप्त नहीं हुआ है), दूत, दान करने में तत्पर, व्रती, विषम अवस्था में प्राप्त–इनका भी आसेध और आह्वान न होना चाहिए।

आवेदन की सामान्य रूप से परीक्षा करने के उपरान्त प्रतिवादी का आह्वान किया जाता है। इसी बीच में यदि आवश्यकता प्रतीत होती है तो आसेध का कार्य भी किया जाता है।

भाषा—उत्तर

प्रतिवादी के उपस्थित होने पर उसके समक्ष वादी फिर से अपने आवेदन के अनुसार अभियोग लिखवायेगा। यही भाषा नाम का प्रथम पाद माना जाता है। भाषा तथा प्रतिज्ञा पर्यायवाची ही है! यहाँ वादी अपने विवाद के विषय में पूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है, नाम, जाति तथा समय आदि सब विस्तार के साथ लिखे जाते हैं।[1] घटना का पूर्ण विवरण आवेदन के अनुसार ही होना चाहिए। अर्थी अपने लेख में उस समय तक परिवर्तन करा सकता है जब तक कि वादी ने उत्तर न दे दिया हो अर्थात् प्रथम पाद की समाप्ति के उपरान्त द्वितीय पाद के प्रारम्भ होने के पूर्व तक।[2] यहाँ परिवर्तन के अधिकार का आशय यह नहीं है कि अर्थी अपने आवेदन के आधार को ही परिवर्तित कर दे; यह अधिकार वस्तुस्थिति के स्वरूप को अक्षुण्ण रखते हुए किये जाने वाले परिवर्तन हैं।

भाषा का उत्तर, वादी के ही सम्मुख होता है।[3] प्रतिवादी यदि अपनी शालीनता के कारण अथवा भय आदि के कारण उत्तर देने की अवधि माँगता है तो उसे एक, तीन, पाँच दिन, तथा एक सप्ताह, पंद्रह दिन, चार मास अथवा एक वर्ष तक का समय प्रदान किया जा सकता है।[4] उत्तर देने के लिए इस प्रकार समय देना एक साधारण नियम न था। यह विवाद की गहनता पर निर्भर करता था। यदि विवाद का विषय गहन है अथवा वह ऋण आदि से सम्बन्वित है तब समय दिया जाता था ताकि उस समय के अन्दर उसकी गहनता पर कुछ विचार करने का अवसर मिल जाय।[5] परन्तु साहस आदि के अपराध से सम्बन्वित विवाद में कार्य तुरन्त ही प्रारंभ किया जाता था।[6]

---

१. प्रत्यर्थिनोऽग्रतो लेख्यं यथावेदितमर्थिना।
समामासतदर्द्धाहर्नामजात्यादिचिन्हितम्॥ या० स्मृति २–६.

२. भाषाया उत्तरं यावत् प्रत्यर्थी नाभिलेखयेत्।
अर्थीतु लेखयेत् तावद्यावदस्तु विवक्षितम्॥ ना० स्मृति २–७.

३. या० स्मृति २–४.

४. ना० स्मृति, पा० भा० पृ० ७०

५. गहनत्वाद्धि वादानामसामर्थ्यात् स्मृतेरपि।
ऋणादिषु हरेत् कालं कामं तत्वबुभुत्सया॥ ना० स्मृति १–४४.

६. या० स्मृति २–१२.

उत्तर के पुनः चार पाद होते हैं--प्रथम संप्रतिपत्ति, द्वितीय, मिथ्या (निन्हव), तृतीय प्रत्यवस्कंदन तथा चतुर्थ प्राङन्याय कहलाता है।[1] संप्रतिपत्ति उसे कहते हैं जहाँ प्रतिवादी वादी के अभियोग को सर्वथा मान लेता है, इसमें क्रियापाद अनावश्यक हो जाता है। उत्तर का दूसरा पाद मिथ्या उसे कहते हैं जहाँ प्रतिवादी अभियोग को सर्वथा अस्वीकार करता है; यहाँ प्रमाण देने का भार अर्थी पर रहता है। अर्थी को ही यह सिद्ध करना पड़ता है कि प्रतिवादी का उत्तर मिथ्या है। उत्तर का तीसरा पाद प्रत्यवस्कंदन उसे कहते हैं जहाँ प्रतिवादी यह मानता है कि उसने ऋण लिया है परन्तु उसे वापिस कर दिया है। यहाँ पर प्रमाण देने का भार प्रतिवादी पर रहता है। उसे सिद्ध करना पड़ेगा कि किस प्रकार उसने ऋण अदा किया है। उत्तर के चतुर्थ पाद में प्रतिवादी यह उत्तर देता है कि इसी विषय में वादी न्यायालय से पहिले पराजित हो चुका है। यहाँ भी प्रमाण देने का भार प्रतिवादी पर ही रहता है उसे ही अपने कथन की पुष्टि में जयपत्र आदि उपस्थित करना पड़ता है।

उत्तर के उक्त चार पादों में प्रथम पाद व्यवहार के अन्य पादों को (क्रिया, निर्णय पाद के अतिरिक्त) स्थगित कर देता है; एक प्रकार से वही निर्णय हो जाता है। उत्तर के अन्य तीन पाद व्यवहार विधि की दृष्टि से विशेष महत्व के हैं। इन्हीं के आधार पर व्यवहार के क्रियापाद की क्रियायें प्रारम्भ होती हैं। भारतीय न्याय पद्धति में प्रायः प्रमाण देने का भार एक ही पक्ष पर रहता था तथा उसका निर्णय उत्तर के विभिन्न पदों से ही किया जाता था। परन्तु कुछ ऐसी भी अवस्थायें थीं जिनमें वादी तथा प्रतिवादी दोनों पर समान रूप से प्रमाण देने का भार रहता था। उदाहरण के लिए प्रतिवादी यह तो स्वीकृत करता है कि उसने अनाज लिया है परन्तु वह दस मन के स्थान पर पाँच मन कहता है। इस स्थिति में वादी तथा प्रतिवादी, दोनों को ही अपने अपने भाषणों के लिए प्रमाण देना पड़ता था। उत्तर के मिथ्या पाद के और भी कई उपभेद हैं जिनसे प्रमाण का भार उभय पक्ष पर रहेगा अथवा नहीं रहेगा, इसको निश्चित करने के अतिरिक्त मिथ्या भाषण का दंड भी प्राप्त होगा अथवा नहीं होगा, इसका भी निर्णय किया जाता था। उत्तर पाद के भेदोपभेद भारतीय न्याय व्यवस्था की मौलिकता के परिचायक हैं। प्रतिवादी को उत्तर देने के लिए अवकाश माँगने के नियम इस तथ्य के प्रमाण में रखे जा सकते हैं कि भारतीय न्याय पद्धति में न्यायकार्य बहुत शीघ्रता से किये जाते थे तथा साधारणतया आवेदन के उपरान्त ही आह्वान का कार्य किया जाता था। आह्वान ही न्यायकार्य को एक प्रकार से प्रारम्भ करता है। इसमें विलंब न किये जाने के ही कारण प्रतिवादी को

---

१. ना० स्मृ०, पा० भा० पृ० ७२; तथा मिताक्षरा, या० स्मृ० २, ७.

उत्तर देने के लिए अवसर माँगने की छूट दी गई थी। इसके अतिरिक्त साहस आदि के अपराध में तो अवकाश देने का भी नियम न था—इसमें आवेदन के साथ ही साथ न्याय कार्य भी प्रारम्भ हो जाता था। वर्तमान समय में भारतीय न्याय व्यवस्था में अनेक गुण होते हुए भी दीर्घसूत्रता का एक ऐसा भयंकर दोष आ गया है जिससे न्याय का औचित्य जनहितकारी नहीं हो पाता है। न्याय कार्य की सफलता तो शीघ्र न्याय करने में ही रहती है न कि दीर्घ-सूत्रता में। शीघ्रता से न्याय कार्य करने के कारण प्रजा के अमूल्य समय तथा शक्ति का अपव्यय नहीं होता था। यह शीघ्रता प्रजा को प्रोत्साहित करती है, वह निशंक होकर किसी भी विवाद को लेकर न्यायालय के सम्मुख उपस्थित हो सकती है। वर्तमान समय में न्यायालयों में अत्यधिक विलंब होने के कारण ही अनेक विवाद तथा अपराध जनता के बीच में ही रह जाते हैं उनका समाधान नहीं हो पाता है। न्याय का आदर्श यह नहीं है कि लोग न्याय प्राप्ति में असुविधा का अनुभव करें। प्राचीन भारतीय पद्धति में यह संभव नहीं था।

प्रतिभू

भाषा तथा उत्तर पाद के उपरान्त तथा क्रिया पाद के पूर्व प्रतिभू का विधान भी था। जब वादी तथा प्रतिवादी दोनों पक्ष उपस्थित हों तब इन दोनों को अपना-अपना प्रतिभू (जमानतदार) देना पड़ेगा।[1] यह प्रतिभू न केवल इस बात के लिए उत्तरदायी रहता था कि वादी या प्रतिवादी को न्यायालय में उपस्थित कर दे; वह निर्णय के बाद पराजित होने पर, जिसका वह प्रतिभू है, उससे दिये जाने वाले धन के लिए भी उत्तरदायी था। यदि पराजित व्यक्ति न्यायालय के निर्णयों के अनुसार कार्य नहीं करता था तब प्रतिभू का ही उत्तरदायित्व रहता था कि वह देय धन की पूर्ति करे, ये न्यायालय के निर्णय कार्य में सहायक होते थे। कात्यायन के मत से यदि कोई व्यक्ति अपना प्रतिभू उपस्थित करने में असमर्थ रहता तब वह दिन के अन्त में राजपुरुष के द्वारा रोक लिया जाता था।[2]

---

१. साक्षित्वं प्रातिभाव्यं च दानं ग्रहणमेव च।
विभक्ता भ्रातरः कुर्युर्नाविभक्ताः परस्परम्॥ ना० स्मृति, दाय० प्र० ३९.

२. The texts under the heading 'Suretyship' contemplates even a surety for appearence; but Yag. II. 10. makes an express provision in respect of sureties to be found by the parties to a litigation. No surety was apparently necessary if the matter could be disposed

उक्त प्रकार के प्रतिभू के विषय में केवल नारद तथा याज्ञवल्क्य में ही कुछ सामग्री उपलब्ध होती है। मनु इस प्रतिभू के विषय में कुछ नहीं कहते हैं, परन्तु प्रतिभू का एक और भी प्रकार था; व्यवहार के अतिरिक्त भी प्रतिभू की नियुक्ति होती थी, इसका उल्लेख मनु ने किया है।

इस प्रतिभू के दो प्रकार थे, एक दान-प्रतिभू और दूसरा दर्शन-प्रतिभू। मनु ने केवल दर्शन-प्रतिभू का उल्लेख किया है; ऋणदानादि व्यवहार में जो दर्शन-प्रतिभू हो अर्थात् जो व्यक्ति अपने ऊपर यह भार ले कि अमुक तिथि-समय में अभियुक्त को उपस्थित कर देगा और वह ऐसा न कर सके तो वह अपने पास से विवादविषयीभूत ऋण का देनदार होगा। दर्शन-प्रतिभू यदि इस बीच में मर जाय तो उसके उत्तराधिकारी पुत्र पर यह भार—अभियुक्त को उपस्थित करने अथवा उसके बदले में ऋणादि देने का—न रहेगा।[1] यह उस मृत व्यक्ति का व्यक्तिगत दाय होगा। इसी प्रकरण में मनु यह भी निर्णय देते हैं कि जिस प्रकार प्रातिभाव्य का धन पुत्र को न देना पड़ेगा उसी प्रकार पिता के द्वारा किए गए वृथा दान (परिहासादि में दिए गए), द्यूत में हारा हुआ धन, शराब का उधार या उस सम्बन्ध में दंड अथवा घाट आदि पार करने का शुल्क पुत्र को न देना पड़ेगा। परन्तु यदि वह व्यक्ति दान-प्रतिभू हो अर्थात् यदि वह, इस बात की जमानत लिए हो कि यदि ऋणी पुरुष द्रव्य न देगा तो वह देनदार होगा—तो उसके मर जाने पर द्रव्य उसके उत्तराधिकारी पुत्र आदि को देना पड़ेगा।[2] इसी प्रकार यदि प्रतिभू ने अपनी जमानत के बदले में ऋणी से धन या कोई सम्पत्ति ले ली हो तो उस ऋण का भार पुत्र पर पड़ेगा, क्योंकि यहाँ वह पिता की सम्पत्ति के साथ-साथ ऋणी के उस धन अथवा संपत्ति का भी उत्तराधिकारी होता है। परन्तु याज्ञवल्क्य ने एक और तीसरा प्रतिभू माना है। वह प्रत्यय-प्रतिभू है। वह व्यक्ति जो इस बात का ऋणदाता को विश्वास दिलाता है कि ऋण लेने वाले व्यक्ति के पास इस प्रकार चल-सम्पत्ति है जिससे ऋण सरलता से वसूल किया जा सकता है। यदि उसका दिलाया हुआ विश्वास झूठा निकलता है तो प्रतिभू उसके ऋण के देने के लिये बाध्य होता है। परन्तु उसके मर जाने पर उसके पुत्र

---

of immediately. If sureties could not be found, party who could not find one was to be detained by the court-peon (or in jail) S. Vardachariar, 'Hindu gudicial System' pp. 209–210.

१. मनु० ८–१५८–१५७.

२. मनु० ८–१६०–६१–६२.

पर यह बोझ नहीं पड़ता।[1] स्मृतियों में उपलब्ध होने वाले ये नियम विशेष महत्व रखते हैं; उस समय भी ऋणदान आदि में ऋणदाता को प्रतिभू की अपनी सामाजिक स्थिति से ऋण देने में प्रोत्साहन मिलता था; इसके अतिरिक्त ऋण ग्रहण करने वाले को भी प्रतिभू के माध्यम से ऋण प्राप्त हो जाता था; ऋणदाता का धन प्रतिभू के कारण सुरक्षित रहता था। परन्तु यह प्रतिभू सामान्य सामाजिक आदान-प्रदान के लिये था। व्यवहार के लिये अलग से प्रतिभू की आवश्यकता पड़ती थी। वर्तमान समय में भी प्रतिभू (श्योरिटी) का विधान है।

क्रियापाद

व्यवहार का तृतीय पाद अत्यन्त महत्वपूर्ण होता है, वास्तव में न्याय कार्य इसी पाद आधारित रहता है, इसमें वादी, प्रतिवादी, जिनके ऊपर प्रमाण का भार रहता है, वे अपने समर्थन में साक्षियों को उपस्थित करते हैं; साक्षि के द्वारा विवाद की पूर्ण विवेचना होती है। इसी में वहुत कुछ अंशों में निर्णय प्राप्ति हो जाती है। अपने तथ्यों की पुष्टि में प्रमाण दिया जाना तथा उसकी विवेचना होना व्यवहार को क्रियात्मक स्वरूप प्रदान कर देता है। यह प्रमाण तीन प्रकार से दिया जा सकता है; (१) लिखित प्रमाण, (२) मुक्ति तथा (३) साक्षी। इन्हें क्रियापाद के तीन अंग कहा जा सकता है।[2] अपराध के सत्यासत्य के निर्णय करने में युक्ति, हेतु आदि का आश्रय लिया जाता था पर वे गौण और आनुषंगिक थे। प्रमाणों में प्रमुख स्थान साक्षी का माना गया है। लिखित मुक्ति और साक्षी के द्वारा यदि कार्य न हो तो तब चौथा, दिव्य प्रमाणों में से कोई एक होगा। इन चारों में मुख्यता साक्षी की है। साक्षी वही कहा जायगा जिसने अपनी इंद्रियों, आँख, कान, से उस विषय का अनुभव किया है। यथा, ऋणदान प्रकरण में जिसने नेत्रों से ऋण लेने-देने का व्यवहार देखा है अथवा वाक्-पारुष्य के प्रकरण में अपने कानों से प्रतिवादी को गालीगलीज करते सुना है। जिसने स्वयं अनुभव नहीं किया है उसका न तो पूरा प्रमाण ही माना जायगा और न यथार्थ में वह साक्षी ही कहला सकता है। सुनने वाले की अपेक्षा देखने वालों का प्रमाण आजकल भी माना जाता है। परन्तु

---

१. दर्शने प्रत्यये दाने प्रातिभाव्य विधीयंते ।
आद्यौ तु वितरे दाप्यावितरस्य सुता अपि ॥
दर्शन–प्रतिभूर्यत्र मतः प्रात्ययिकोऽपि वा ।
न तत्पुत्रा ऋणं दद्यु र्दद्युर्दानाय यः स्थितः ॥

२. प्रमाणं लिखितं भुक्तिः साक्षिणश्चेति ते त्रयः।
एवामन्यतमा भावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥ या० ऋणा० ५३–५४

इसका महत्व वैदिक काल से चला आ रहा है। शतपथ ब्राह्मण में यह उल्लेख मिलता है—सत्य ही नेत्र हैं। चक्षु सत्य हैं, इसलिए यदि दो व्यक्ति किसी बात के सत्यासत्य पर विवाद करते हुए आवें और एक कहे कि हमने देखा और दूसरा कहे कि हमने सुना है तो हम उसी की बात पर विश्वास करेंगे जो कहता है कि हमने देखा है।[1] अतः साक्षात देखने वाला ही यथार्थ में साक्षी है। ऊपर जो प्रमाण गिनाए गए हैं साक्षी उनमें से एक है इसमें संदेह नहीं। परन्तु इस अंश में भी साक्षी का विशेष महत्व माना गया है क्योंकि साक्षी के अभाव में काम नहीं चल सकता है। लिखित प्रमाण में भी साक्षी आवश्यक है। इसीलिए मनु आदि ने विशेष रूप से लिखित पत्र में साक्षी की विशिष्ट योग्यता का उल्लेख किया है। भुक्ति की सिद्धि भी बिना साक्षी के सम्भव नहीं है। चतुर्थ प्रमाण दिव्य माना गया है। इसका उल्लेख पृथक होगा; परन्तु हमारा मत है कि यह भी साक्ष्य ही है। इसमें देवताओं की सहायता ली जाती है और यह माना जाता है कि आधिदैविक प्रमाण में भी देवता प्रत्यक्षदर्शी होते हैं। इस प्रकार साक्षी का अर्थात् स्वतः प्रत्यक्ष देखने वाले का प्रमाण मुख्य है। यही कारण है कि साक्षी के द्वारा सत्य भाषण ही हो, उसमें छल कपट की मिलावट न हो, इसके लिए मनु ने अनेक प्रकार से भय दिला कर साक्षी को सावधान करने की चेष्टा की है। यह प्रकरण अन्य धर्मशास्त्रों में अधिक विस्तृत है। इससे यह अर्थ निकलता है कि साक्षी की परीक्षा अनेक उपायों के द्वारा कर लेने पर उससे सत्य निर्णय में विशेष सहायता मिलती थी।

साक्षी के गुण

साक्षी किस प्रकार के होने चाहिए इस सम्बन्ध में साधारण नियम इस प्रकार मिलते हैं कि—वे गृहस्थ हों, पुत्रवान् हों, कुल परम्परा से वहाँ के वासी हों और क्षत्रिय वैश्य तथा शूद्र में से हों।[2] यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि इस श्लोक में ब्राह्मण को साक्षी नहीं माना है। इसका कारण यह नहीं है कि ब्राह्मण में साक्षी होने की योग्यता का अभाव समझा गया। ब्राह्मण का व्यवसाय उस समय अत्यन्त महत्व का माना जाता था। अतः साक्ष्य के लिए राजा की न्यायसभा में जाने से उसके मुख्य तथा आवश्यक कार्यों में बाधा उपस्थित होगी, इस दृष्टि से उसका यहाँ परिगणन नहीं किया गया है।

---

१. शतपथ ब्राह्मण—सत्यं वै चक्षुः। सत्यं हि वै चक्षुस्तस्माद् यदिदानीं यो विवदमानावेयताम्—अहमदर्शम् अहमश्रौषम्। य एव ब्रूयाद् अहमदर्शम् इति, तूष्णीम् एवं श्रद्धध्याम इति।।

२. मनु० ८। ६१–६३

यह साधारण नियम है। इसके आगे के ही श्लोक में यह आदेश है कि सब वर्णों में जो आप्त हों (श्रेष्ठ) सब धर्मों के जानने वाले हों; लोभी न हों उन्हें सब कार्यों में साक्षी बनाना चाहिए, इसके विपरीत जो हों उन्हें वर्जित करना चाहिए। यहाँ सब वर्णों में ब्राह्मण भी आ जाता है। इसके अतिरक्त नारद चारों वर्णों में जो अनिंदित तथा योग्य होवे उसे साक्षि बनाने का स्पष्ट विधान करते हैं।[1] साक्षि की योग्यता के विषय में याज्ञवल्क्य का भी प्रायः यही मत है।[2] मनु तथा याज्ञवल्क्य की अपेक्षा नारद में इस विषय में अधिक विस्तार मिलता है; उनके अनुसार श्रेणी आदि के विवाद में श्रेणी पुरुषों को तथा विशेष विवाद में उसी वर्ग का साक्षि होना चाहिए, बाहर रहने वालों के विवाद में बाहर रहने वालों को ही साक्षि समझना चाहिए; इसी प्रकार स्त्रियों में स्त्रियों को ही साक्षि समझना चाहिए।[3] साक्षियों की इस प्रकार से सूची बना देने का यह अर्थ नहीं है कि अन्य कोई साक्षी हो ही नहीं सकता है। यदि साक्षियों की उक्त सूची से साक्षी उपलब्ध नहीं हो सकते हों तो ऐसे व्यक्ति भी साक्षी बनाये जा सकते हैं जो कि साक्षिपद के लिए अयोग्य सिद्ध कर दिये गये हैं (इसका उल्लेख आगे किया जायगा)।

साक्षि पद के लिये कुछ अयोग्यताएं भी निश्चित की गई थीं।[4] जिनमें निम्नलिखित अयोग्यतायें विद्यमान रहती थीं वे साक्षी पद के लिये योग्य नहीं समझे जाते थे। परस्पर लेन-देन का संबंध रखने वाले इस पद के लिये अयोग्य थे (क्योंकि यह सम्भावना हो सकती है कि धन सम्बन्ध के कारण उचित साक्ष्य देने में संकोच हो), जो अनाप्त हों, मित्र या शत्रु हों; जिनमें कोई दोष देखा गया हो; जो व्याधिपीड़ित हों अथवा जो महापातक आदि दोषों से दूषित हों वे भी साक्षि नहीं हो सकते थे। यहाँ भी अभिप्राय यही है कि इन में असत्य-भाषण आदि की प्रवृत्ति स्वभावतः हो सकती है। राजा को साक्षी नहीं बनाना चाहिए। यह उसके पद की प्रतिष्ठा है। साक्षी होकर उसका न्यायालय में उपस्थित होना अनुचित समझा जायगा। श्रोत्रिय को भी साक्षी न बनाना चाहिए क्योंकि वैदिक कर्म करने में बाधा उपस्थित होगी। ब्रह्मचारी तथा सन्यासी को भी इसी कारण से मुक्त किया गया है। कारीगर, नट, गायक आदि का भी परिहार है। पढ़ने वाले छात्र को भी इसी कारण

---

१. ना० स्मृ० ३–१५२–१५५.
२. या० स्मृति २–६८, ६१
३. श्रेणिषु श्रेणिपुरुषाः सेषु सर्वे चैव वर्गिणः।
बहिर्वासिषु बाह्यश्च स्त्रियः स्त्रीषु च साक्षिणः॥ ना० स्मृति १–१५५.
४. मनु० ६२, ६८, ना० स्मृति ३–१७८, १८७.

वर्जित रखा है। क्रूर-कर्मा तथा कुकर्मरत अपने चरित्र के कारण त्याज्य हैं तथा चाण्डाल भी इसी आधार पर वर्ज्य हैं। वृद्ध, बालक जिसकी इन्द्रिय विकृत है (गूँगा, बहरा आदि) भी वर्जित हैं। जो व्यसन प्राप्त हों अर्थात् किसी इष्ट बंधु की मृत्यु के कारण शोकाकुल हो, मत्त हों (ताड़ी, मदिरा आदि मादक द्रव्य का सेवन किये हों) ; उन्मत्त अर्थात् पागल हों; क्षुधा अथवा प्यास से विकल हों; अधिक श्रम के कारण थके हों; काम-पीड़ित हों, अत्यन्त क्रुद्ध हों अथवा चोर हों, ये सभी वर्जनीय हैं क्योंकि इन लोगों का मन प्रकृतिस्थ नहीं रहता। अतः ये उस समय के व्यवहार को स्मृतिपटल में धारण करने में असमर्थ रहते हैं।

इन सामान्य नियमों का उल्लेख करने के बाद विशेष अवस्था में विशेष प्रकार के साक्षी होने का भी विधान है। स्त्रियों के परस्पर के व्यवहार में स्त्रियाँ साक्षी हो सकती हैं। द्विजों के व्यवहार में सदृश द्विज, शूद्रों के कार्य में शूद्र तथा अंत्यजों के कार्य में अंत्यज (चाण्डाल आदि) साक्षी हो सकते हैं। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य कहते हैं—यथाजाति यथावर्णं सर्वे सर्वेषु वा स्मृताः" यहाँ यह ध्यान देना आवश्यक है कि साक्षियों की योग्यता, अयोग्यता का विचार ऋणदानादि के विषय में ही संभव है। जहाँ पहिले से लेन-देन आदि में (लेख अथवा मौखिक) साक्षी के समक्ष व्यवहार होता है वहाँ उनकी योग्यता देख कर ही साक्षी बनाना चाहिए। परन्तु फौजदारी आदि में जहाँ परीक्षित साक्षी का मिलना सम्भव न हो वहाँ के विषय में मनु का आदेश है कि मकान के भीतर अथवा निर्जन वन में, चोर आदि के उपद्रव में या मारपीट में जो कोई भी उसका अनुभवी हो, देखने वाला हो, वह गवाह हो सकता है। अन्य साक्षी सम्भव न हों तो स्त्री, बाल, वृद्ध, शिष्य, बंधु, दास या काम करने वाला इन में से कोई भी साक्षी माना जा सकता है।[1]

साहस में (डाका, बलात्कार आदि के अभियोग) चोरी में, स्त्री संग्रहण में, गाली-गलौज में अथवा मारपीट में साक्षियों की परीक्षा (गुण-दोष विचार) न करनी चाहिए। ये अपवाद भी लोकव्यवहार को दृष्टि में रख कर किए गए हैं, क्योंकि इन अवसरों पर सुपरिचित योग्य साक्षी का उपलब्ध होना सम्भव नहीं है। अतः जो भी जैसे भी गवाह हों उन्हीं की सहायता से सत्य का निर्णय करना चाहिए।

परन्तु जहाँ पर साक्षियों में परस्पर विरोध हो उसके लिए यह आदेश है कि यदि सब साक्षी समान योग्यता वाले हों तो जिस पक्ष में अधिक संख्या में साक्षी हों वह

---

१. मनु० ८, ७० तथा नास्तेये साहसे चैव पारुष्ये संगमे स्त्रियाः।
सामादीनां प्रयोगे च न दोषः साक्षिषु स्मृतः।

पक्ष मान्य होगा; अथवा यदि दोनों की संख्या समान होगी तो उस दशा में जिस पक्ष वाले गुणों में उत्कृष्ट होंगे वह पक्ष ग्राह्य होगा। गुणियों में भी यदि समानता पाई जायगी तो उनमें जो द्विजोत्तम होंगे वे प्रामाणिक माने जायेंगे। समान योग्यता वाले ब्राह्मण साक्षियों में परस्पर विरोध हो तो उनमें जो श्रौत, स्मृति क्रिया में श्रेष्ठ हो उसे प्रमाणिकता मिलेगी। कुल्लूक भट्ट ने इस सम्बन्ध में बृहस्पति के वचन का उल्लेख किया है 'गुण-द्वैधे क्रियायुक्ताः''—यदि दोनों ही समान रूप से गुणी हों तो उनमें से जो क्रियाशील अधिक होगा अर्थात् यज्ञानुष्ठान आदि धार्मिक कार्यों में विशिष्ट होगा, वह प्रमाण माना जायगा।

ऋणादानादि प्रकरण में जो साक्षी रूप से नियुक्त नहीं हुआ है परन्तु उसने यह व्यवहार देखा है तो पूछे जाने पर उसे भी साक्ष्य देना चाहिए और जैसा उसने देखा या सुना है उसे वह यथावत् बतावे। साहस आदि के अपराध में लोभ रहित, पवित्र एक साक्षी भी प्रामाणिक माना जायगा। इसके अतिरिक्त यदि दोनों पक्ष एक साक्षी के होने में सहमत हों तो एक भी हो सकता है। मनु लिखते हैं कि स्त्रियों की बुद्धि प्रायः अस्थिर रहती है वे ईर्ष्या, द्वेष आदि के वश में शीघ्र आ सकती हैं अतः अनेक स्त्रियों के साक्ष्य के विरुद्ध भी एक निर्लोभ व्यक्ति प्रामाणिक होगा। इसी प्रकार अन्य दोषयुक्त अधिक संख्या में हों तो उनकी अपेक्षा भी निर्लोभी गुणी एक साक्षी पर्याप्त माना जायगा। कुल्लूक भट्ट ने व्यास के वचन का प्रमाण दिया है कि पवित्र क्रिया वाला, धर्म के मर्म को जानने वाला, साक्षात् देख कर कहने वाला एक साक्षी भी प्रमाण माना जायगा, विशेष कर साहस के अभियोग में।[1]

जो व्यक्ति साक्ष्य अंगीकार कर के भी रोग आदि से असमर्थ न होने पर भी साक्ष्य न दे तो उसे तीन पक्ष (डेढ़ मास) की अवधि दी जायगी और यदि उस अवधि में वह साक्ष्य न देगा तो जितना ऋण विवाद का विषय है उस सब का वह देनदार होगा तथा सम्पूर्ण ऋण का दशमांश दण्ड के रूप में राजा को देगा।

साक्षी-परीक्षा पद्धति

सभा भवन के भीतर जब साक्षी उपस्थित हों तब अर्थी और प्रत्यर्थी के समक्ष उन्हें विधिपूर्वक समझाता हुआ प्राड्विवाक उनसे इस प्रकार प्रश्न करे। "इन दोनों के

---

१. शुचिक्रियश्च धर्मज्ञः साक्षी यत्रानुभूतवाक्। प्रमाणमेकोऽपि भवेत् साहसेषु विशेषतः। व्यास कुल्लूक भट्ट द्वारा उद्धृत—
तथा, या० स्मृ० ५, ६९, ७१.

(वादी और प्रतिवादी) इस कार्य के सम्बन्ध में आप इनके आपस के कार्य के विषय में जो जानते हों वह सत्य कहें, क्योंकि इसमें आपकी साक्षिता है।" इसके बाद उन्हें सत्य की महिमा का स्मरण दिलाया जाता है। साक्ष्य में सत्य बोलने में उत्तम कीर्त्ति का भागी होता है। यह सत्यवाणी ब्राह्मण के द्वारा प्रशंसित है। साक्ष्य में मिथ्या भाषण करने वाला जो सौ जन्म तक बार-बार वरुण देवताके पाशों से बाँधा जाता है; अतः साक्ष्य में सत्य ही बोलना चाहिए। सत्य के द्वारा साक्षी पवित्र होता है तथा सत्य से धर्म की वृद्धि होती है। इससे सब वर्णों के साक्षियों को सत्य ही बोलना चाहिए। आत्मा ही आत्मा का साक्षी है तथा आत्मा ही आत्मा की गति है इसलिए मनुष्यों के उत्तम साक्षी आत्मा का हनन न करते हुये सत्य का ही आचरण करना चाहिए। पाप करने वाला यह समझता है कि उसे कोई देख नहीं रहा है। परन्तु उन सब को देवगण तथा उनके अन्तःस्थित पुरुष देखते रहते हैं। आकाश, भूमि, जल, हृदय, चन्द्र, सूर्य, अग्नि, यम, और वायु, तथा रात्रि, दोनों संधिकाल, तथा धर्म सब शरीरधारियों के चरित्र के जानने वाले हैं। अथवा ब्राह्मण को सत्य की शपथ, क्षत्रिय को आयुद्ध की शपथ, वैश्य को गौ, रत्न आदि की शपथ तथा शूद्रों को समस्त पापों की शपथ देकर प्रश्न करना चाहिए।[1] यहाँ आकाश, भूमि आदि जड़ पदार्थों में जो उनके अधिष्ठातृ देवता रहते हैं उनसे तात्पर्य है। कोई भी भूत बिना देवता के स्थित नहीं रहता। इसका उल्लेख अन्यत्र हुआ है। इस प्रकार सान्त्वना पूर्वक सामान्यतः सब वर्णोंको सत्यकी महिमाका स्मरण कराया जाता है। इसके बाद विशेष वर्ग के लिए भिन्न-भिन्न विधान हैं। देव प्रतिमा तथा ब्राह्मणों के सांनिध्य में उत्तर मुख अथवा पूर्व मुख उन्हें खड़ा कर के शुचि (पवित्र) उन ब्राह्मणों से स्वयं पवित्र पृच्छक सत्य बात पूछे। ब्राह्मण साक्षी से "कहो" इतना ही आदेश करे। क्षत्रिय जाति से कहे "सत्य कहो"। गौ, बीज और सुवर्ण की शपथ दिलाकर वैश्य से प्रश्न करे तथा शूद्र से सब प्रकार के पापों का भय दिला कर प्रश्न करे।[2] समाज में ब्राह्मणादि चारों वर्णों के सदाचार में तारतम्य माना गया है, इस दृष्टि से धार्मिक ब्राह्मण साक्षि के लिए अधिक उपदेश देना आवश्यक नहीं था। वह स्वयं गुण-दोषों का अभिज्ञ समझा जाता था। उसकी स्वधर्मनिष्ठा ही उसे असत्य पथ पर चलने से रोकती है। अतः उससे अधिक न कह कर "कहो" इतना ही कहना पर्याप्त है। इसमें ब्राह्मण का पक्षपात नहीं है किन्तु उनकी धर्मनिष्ठा, सदाचार का पक्षपात है। यह इससे भी सिद्ध होता है कि जो ब्राह्मण अपनी परम्परा प्राप्त मर्यादा को छोड़ कर

---

१. मनु० ८-११३.

२. मनु० ८-७९. ८७; नारद स्मृति ३-२१४. २१६.

जघन्य वृत्ति का आश्रय लेता है उस ब्राह्मण साक्षी के साथ उसी प्रकार व्यवहार होगा जैसा शूद्र साक्षी से। आगे मनु स्पष्ट कहते हैं कि गोरक्षण से जीविका चलाने वाले, वाणिज्य व्यवसाय वाले, कारीगर, गायक, दास वृत्ति करने वाले अथवा सूदखोर ब्राह्मणों के साथ शूद्र के समान आचरण करे।[1] इसी नियम के फलस्वरूप इस व्यवसाय वाले क्षत्रिय और वैश्य भी शूद्र के समान माने जायेंगे।

शूद्रों के लिए मनु ने वास्तव में बहुत अधिक भय दिखाया है। उन सब के उल्लेखका यहाँ प्रयोजन नहीं है। एक दो उदाहरण पर्याप्त होंगे। "ब्रह्मघाती, स्त्री-घाती, बालघाती, मित्रद्रोही तथा कृतघ्न को जो नरक प्राप्त होते हैं वे तुम्हें प्राप्त होंगे यदि मिथ्या भाषण करोगे। हे भद्र, तुमने जन्म भर में जो कुछ पुण्य उपार्जन किया है वह कुत्ते का हो जायगा अर्थात् नष्ट हो जायगा," इत्यादि भयावह अवश्य है, परन्तु यहाँ मनु का अभिप्राय उन्हें डराने, धमकाने से नहीं है किन्तु उनकी धर्म बुद्धि को जागृत करने के अभिप्राय से यह प्रयास किया गया है। उनमें धर्म बुद्धि का अभाव मनु नहीं मानते, वे उन्हें भी धर्मभीरु मानते हैं। धर्म का उन्हें ज्ञान न होता, स्वर्ग और नरक का उन्हें विवेक न होता, अन्तरात्मा पुरुष तथा देवों की सत्ता में उनका विश्वास न होता तो हजारों शपथ दिलाने का भी उन पर कोई प्रभाव पड़ना सम्भव न था। अतः मनु की दृष्टि से वे भी धर्म के मर्म को जानते थे। परन्तु ब्राह्मणादि में उनके व्यवसाय के सम्बन्ध से धर्मबुद्धि जागृत रहती थी। शूद्रों को अपने हीन व्यवसाय में इतना व्यस्त रहना पड़ता था कि धर्म की चिन्ता करने का अवसर उन्हें कम मिलता था। इसके अपवाद रूप धर्मव्याध आदि शूद्र अवश्य थे जिनकी कथा महाभारत में उल्लिखित है। परन्तु साधारणतः शूद्रों में धर्म बुद्धि सुप्तप्राय रहती थी इसलिए जगाने के लिए उन्हें झूठ बोलने के दुष्परिणाम का विस्तार के साथ भय दिखाया गया है।

इस सम्बन्ध में जायसवाल जी के मत का निर्देश करते हुए श्रीयुत वरदाचार्य जी लिखते हैं--'जायसवाल जी का कथन है कि गवाहों से जिरह की जाती थी-- वास्तव में यह इतनी कठोर थी कि उसे उत्पीड़न कहा जा सकता है। अभियुक्त तक से जिरह की जाती थी।' अभियुक्त से जो जिरह की जाती थी उसे कठोर भले ही कह लें परन्तु उत्पीड़न कहना स्पष्ट ही अत्युक्ति है—बढ़ा कर कहना है। हिन्दू पद्धति पर दोषारोपण करने के पहले यह स्मरण रखना चाहिए कि उसके अनुसार न्यायालय के पास आजकल के समान पुलिस की प्रारम्भिक छान-बीन की रिपोर्ट नहीं रहती थी।

---

१. गोरक्षकान् वाणिजकान् तथा कारुकुशीलवान्।
प्रेष्यान् वार्धुषिकांश्चैव विप्रान् शूद्रवदाचरेत् ॥ मनु० ८-१०२.

आजकल एविडेंस एक्ट से० २७ में यह विधान है कि पुलिस अभियुक्त से जो जिरह करे उसकी रिपोर्ट लेने का न्यायाधीश को अधिकार है।[1] इनका आशय यह है कि वर्तमान समय में अभियुक्त का उत्पीड़न आदि करने की प्रक्रिया पुलिस की प्रारम्भिक छान-बीन में ही सम्पन्न हो जाती थी; अतः इस सम्बन्ध में जज का कार्य हल्का हो जाता है। परन्तु इसके अभाव में सत्य की तह तक पहुँचने के लिए यदि अभियुक्त से जिरह की जाती थी तो उसमें कठोरता होना कार्य की गुरुता देखते हुए अनुचित नहीं है।

दोबारा साक्ष्य

वादी अथवा प्रतिवादी दोनों पक्षों में जिस पर प्रमाण देने का भार होगा वही प्रमाण उपस्थित कर सकेगा। आजकल की प्रथा के अनुसार भी प्रमाण देने का भार

---

१. Refering to the practice of witnesses being cross-examined by Judges, Mr. Jayaswal observes 'witnesses were cross-examined by Judges'. It was indeed so severe as to be aform of torture; even the accused being cross examined' (M & Y. 133). To speak of the cross-examination of the accused, sever though it be, as a torture, is clearly an exaggeration. Manu 9–228–23 represents a religio-psychological belief in which confession (as in the Roman Church) is an important step. Before condemning the Hindu Procedure it must be remembered that under it the court had not the benefit of a preliminary investigation by the police with provisions like those in Section 27 of the India Evidence Act, enabling to place before the court the results of their cross examination of the accused. Though some texts refer to information collected through spies, it is not possible to say how exactly the Dharmashastras contemplated such information being used. S. Vardachariar, Hindu Judicial System. P. 167.

किस पक्ष पर है यह तो निर्वारित किया जाता है परन्तु दोनों पक्षों को ही अपने-अपने साक्षी उपस्थित करने की व्यवस्था है। परन्तु धर्मशास्त्रीय प्रथा इस प्रकार की न थी। उसके अनुसार जिस पक्ष पर भार रहता था उसी को अपने साक्षियों के द्वारा अपने पक्ष को प्रमाणित करना पड़ता था। यदि उसके साक्षियों से उसका पक्ष पूर्णतया समर्थित होता था तो उसकी विजय होती अन्यथा वह पराजित होता था और दूसरा पक्ष विजयी होता था। इसे याज्ञवल्क्य स्पष्ट करते हैं—वे कहते हैं कि जिस के साक्षी प्रतिज्ञा को सत्य सिद्ध करते हैं वह विजयी होता है तथा जिसके साक्षी अन्यथा वादी होते हैं उसकी निश्चय ही पराजय होती है।[1] परन्तु इसके अपवाद रूप में याज्ञवल्क्य यह विधान करते हैं कि साक्षियों के साक्ष्य देने के बाद भी यदि पूर्वसाक्षियों की अपेक्षा अधिक गुणशील, विद्या, आचार आदि में श्रेष्ठ अन्य साक्षी साक्ष्य दें; अथवा द्विगुण संख्या में पूर्व साक्षियों के कथन का खंडन करें तो दूसरी कोटि के साक्षियों का प्रामाण्य माना जायगा और पहिले वाले साक्षी मिथ्यावादी माने जायेंगे।[2] इस श्लोक की टीका में मिताक्षराकार विज्ञानेश्वर ने बहुत से महत्वपूर्ण विषयों पर प्रकाश डाला है अतः उसका सार यहाँ देना अनुचित न होगा। बार-बार नए साक्षियों के लेने से तो कभी व्यवहार निर्णय ही न हो सकेगा क्योंकि इस प्रकार का कभी अन्त न होगा। अनवस्था हो जायगी। अतः यह उस दशा के लिए निहित किया गया है जहाँ पूर्व साक्षियों पर प्रारम्भ में दोषारोपण नहीं किया गया है परन्तु उनके साक्ष्य से यह विश्वास अर्थी के चित्त में दृढ़ हो जाता है ये सच नहीं बोल रहे हैं और किसी कारण विशेष से विरुद्ध हो गए हैं वहाँ उन्हें मिथ्यावादी सिद्ध करने के लिए दूसरे साक्षी ऊपर लिखी योग्यता के उपस्थित करने का उसे अधिकार दिया गया है और वह इस पर भी पूर्व साक्षियों पर किए गए मिथ्याभाषण को सिद्ध करने में समर्थ नहीं होता तो वह दंडनीय होगा। यह अधिकार भी तभी तक है जब तक व्यवहार का निर्णय नहीं हुआ है। निर्णय हो जाने के बाद सब क्रियाओं का अन्त हो जाता है यह सभी धर्मशास्त्रकारों का मत है। मिताक्षराकार ने इसका बड़ा अच्छा उदाहरण दिया है। जिस प्रकार किसी मनुष्य को यदि पीलिया रोग हो गया है तो उसे सफेद वस्तु भी पीली दिखाई देगी और दूसरे के प्रमाण से यह सिद्ध होने पर कि वह वस्तु वास्तव में सफेद है उसके नेत्रों में विकार होने की कल्पना की जायगी। इसी प्रकार साक्षी के साक्ष्य दे

---

१. यस्योचुः साक्षिणः सत्यां प्रतिज्ञां स जयी भवेत्।
अन्यथा वादिनो यस्य ध्रुवस्तस्य पराजयः॥ या० स्मृति ७९.

२. उक्तेऽपि साक्षिभिः साक्ष्ये यद्यन्ये गुणवत्तमाः।
द्विगुणा वान्यथा ब्रूयुः कूटाः स्युः पूर्वसाक्षिणः॥ या० स्मृति ८०.

चुकने पर उसके वाक्य का शोधन होगा; यदि वाक्य शुद्ध सिद्ध होता तो साक्षि सत्य माना जायगा अन्यथा नहीं। अतः साक्षि के वाक्यों का यथार्थ सत्य के द्वारा शुद्ध होना आवश्यक है।"[1]

परन्तु धर्मशास्त्रों में यह सर्वसम्मत सिद्धान्त है कि साक्षी एक ही पक्ष के होंगे। दोनों पक्षों के साक्षी किसी दशा में न लिए जायेंगे। आजकल के न्याय से यह मौलिक भेद है। जहाँ प्रत्यर्थी को यह विश्वास हो जाता है कि साक्षियों के साक्ष्य के बाद भी उसका पक्ष सत्य है और साक्षियों ने मिथ्या भाषण किया है वहाँ भी उसे दूसरे साक्षी अपनी ओर से देने का अधिकार नहीं है। यदि उसे संतोष न हो तो उसके लिए यह व्यवस्था की गई थी कि व्यवहार निर्णय कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया जाय और एक सप्ताह तक यह देखा जाय कि साक्षियों को मिथ्याभाषण के पाप के फलस्वरूप कोई दैवी दंड मिलता है या नहीं। यदि सप्ताह के भीतर साक्षी को कोई भारी रोग हो जाय, उसके घर में आग लग जाय अथवा उसके किसी समीपी सम्बन्धी का मरण हो जाय तो वह साक्षी मिथ्या सिद्ध होगा और उसे दण्डभागी होना पड़ेगा।[2] यह धार्मिक विश्वास है। पाप का फल कालान्तर में अथवा जन्मान्तर में मिलता है यह मान्यता है तत्रापि अत्यन्त प्रबल पापों का दण्ड, इसी लोक में, थोड़े ही समय में यहाँ तक कि तीन दिन के भीतर ही मिल जाता है।[3] शपथ लेकर साक्षी होकर मिथ्या भाषण करने को अत्युग्र पाप मान कर उस पर दैवी दण्ड का होना माना गया है और उसकी परम अवधि एक सप्ताह की मान ली गई है।

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि साक्षी एक ही पक्ष के होंगे। वह पक्ष भाव-वादी होगा अर्थात् जिस के सिद्ध हो जाने पर दूसरा पक्ष जो अभाववादी होगा वह आप ही असिद्ध हो जायगा। इस प्रकरण में अर्थी और प्रत्यर्थी का प्रयोगवादी और प्रतिवादी के लिए नहीं है प्रत्युत भाववादी और अभाववादी के लिए क्रमशः है। उदाहरण के लिए वादी ने ऋणी से ऋण का द्रव्य माँगने का व्यवहार उपस्थित किया। जब यदि ऋणी उसे अस्वीकार करता है; यह कहता है कि उसने ऋण नहीं लिया तो यहाँ ऋणदाता जो वादी है वह अर्थी समझा जायगा और प्रमाण का भार उस पर होगा और उसे साक्षी आदि उपस्थित करने पड़ेंगे। परन्तु जहाँ ऋणी—प्रतिवादी यह उत्तर देता है कि उसने

---

१. मिताक्षरा, या० स्मृ०, २-८०.
२. मनु० ८-१०८.
३. त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।
अत्युग्र पुण्यपापानामिहैव फलमश्नुते ॥

ऋण लिया तो था किन्तु उसे वह पटा चुका है; इस दशा में ऋणी प्रतिवादी को यह सिद्ध करना पड़ेगा कि वह ऋण अदा कर चुका है। इस दशा में वह अर्थी माना जायगा। उस पर प्रमाण का भार होगा तथा उसके सिद्ध कर देने पर वह जयी होगा और दूसरा पक्ष पराजित। अतः धर्मशास्त्रों के मत में साक्षी के उपन्यास का भार एक ही पक्ष पर समझौता अवलंबित रहता था।

कभी-कभी ऐसे भी विषय उपस्थित होते थे जहाँ दोनों भाव वादी होते थे। जैसे किसी मृत पुरुष की सम्पत्ति के उत्तराधिकार के लिए दो व्यक्ति भाववादी हो सकते हैं और दोनों ही अपने को उत्तराधिकारी सिद्ध करना चाहते हैं। ऐसे स्थल के लिए यह व्यवस्था की गई है कि जहाँ दोनों विवादी भाववादी हों तथा दोनों के साक्षी हों उस दशा में जो पूर्व पक्षी होगा उसके साक्षियों से ही दोनों का निर्णय होगा।[1] हर हालत में प्रमाण का उपन्यास एक ही पक्ष कर सकता था। मनु ने इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है परन्तु ऋणादान के प्रकरण में वे लिखते हैं कि यदि अधर्मण (ऋणी) ऋण लेना स्वीकार न करे तो अभियोक्ता को चाहिए कि वह साक्षी अथवा दूसरे प्रमाण उपस्थित करे। यहाँ केवल अभियोक्ता का प्रमाण उपस्थित करने के लिए आदेश है इससे उनके मत में भी एक ही पक्ष के प्रमाण लाने का विधान माना जायगा।[2]

कूटसाक्ष्य

साक्षियों के द्वारा सत्य के अतिरिक्त वक्तव्य देने पर उसे कूटसाक्ष्य कहते हैं; धर्मशास्त्र, इस प्रसंग में, मनोवैज्ञानिक निरीक्षण पर भी विशेष बल देते हैं ; यदि साक्षि अपना वक्तव्य देते समय उद्विग्न हो जाता है, अपने पैर से भूमि कुरेदता हो, वस्त्रों को हाथ से झिटकता हो, जल्दी करता हुआ, न पूछे जाते हुए भी अधिक बोलता हो तथा जिसका मुख विवर्ण हो जाय उसे कूटसाक्षी कहा जाता है।[3] नारद स्मृति के उक्त वचन स्पष्टरूप से एक ऐसे व्यक्ति का चित्र सामने प्रस्तुत करते हैं जो जानते हुए भी विरुद्ध आचरण कर रहा हो। मनोवैज्ञानिक निरीक्षण का महत्व कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता है; इसके द्वारा मौखिक रूप से कुछ कहे जाने पर भी सत्यासत्य का विनिर्णय

---

१. द्वयोर्विवदतोर्थेषु द्वयोः सत्सु च साक्षिषु।
पूर्वपक्षो भवेद्यस्य भवेयुस्तस्य साक्षिणः॥ नारद
याज्ञ० व्य० १७ की मिताक्षरा में उद्धृत।

२. मनु० ८–५२.

३. ना० स्मृति ३-१९३–१९७.

संभव हो सकता था। मनु आदि ने भी राजा को व्यवहार कार्य करते समय उक्त लक्षणों को दृष्टि में रखकर ही कार्य करने का आदेश दिया है।[1]

मनु का आदेश है कि यदि कूट साक्ष्य का पता व्यवहार के मध्य में निर्णय देने से पूर्व अथवा निर्णय के बाद भी लगे तो सब पद्धति अकृत समझी जायगी, निर्णय ही रद्द हो जायगा और फिर से छान-बीन होगी।[2] इसके बाद लोभ, मोह, भय आदि के कारण झूठी गवाही दी गई हो तो उसके कारण के अनुसार अलग-अलग दंड का विधान किया गया है। दंड विधान जो अर्थ दंड के रूप में है प्रथम अपराध के लिए है। परन्तु जहाँ यह पता चले कि मिथ्यासाक्ष्य देने वाला इस कार्य में अन्यस्त है वहाँ बहुत कठोर दंड का विधान मनु कहते हैं कि क्षत्रिय वैश्य और शूद्र यदि इस प्रकार के अपराधी पाए जाएं तो उन्हें अथ दंड भी दे तथा उन्हें देश से निकाल दे। ब्राह्मण अपराधी के सम्बन्ध में यह सुविधा की गई है कि उसका धन हरण न करके उसे राष्ट्र से निकाल दे। इस सामान्य नियम का यहाँ भी अनुरोध किया गया है। यहाँ ब्राह्मण के दंड के लिए "विवासयेत्" पद का प्रयोग किया गया है। इसके तीन अर्थ माने गए हैं। विगत वासस् अर्थात वस्त्ररहित (नग्न) कर दिया जाय, अथवा वास अर्थात् घर उसका नष्ट कर दिया जाय अथवा देश से निर्वासित कर दिया जाय। याज्ञवल्क्य की टीका में विज्ञानेश्वर इन तीनों अर्थों का उल्लेख करते हैं और यह निर्णय देते हैं कि अपराध की गुरुता के अनुसार तीनों प्रकार के दंड विहित हो सकते हैं। वे यह भी लिखते हैं, कि ब्राह्मण का भी अर्थदंड हो सकता है क्योंकि यदि वह व्यवस्था न मानी जायगी तो यह अड़चन उपस्थित होगी कि छोटे अपराध में अर्थ दंड के अभाव में या तो उसे कठोर दंड—नग्नकरण,गृहभंग या देश निकाला—देना पड़ेगा या तो बिलकुल छोड़ देना पड़ेगा। दोनों ही अनुचित होंगे। इससे स्वल्पापराध में अर्थ दंड होना चाहिए।[3] मिताक्षराकार का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है। वे कहते हैं कि जहाँ उसे अक्षतधन सहित निर्वासन करने का आदेश मनु ने दिये हैं[4] वह प्रथम अपराध के लिए है। शरीर दंड (वध) का सामान्यरूप से निषेध है अतः ब्राह्मण को शरीर दंड नहीं दिया जा सकता था। परन्तु अर्थ दंड का विधान ब्राह्मणों के लिए मनु ही ने कई जगह किया है। प्राड्विवाक ब्राह्मण ही होता था उसका निर्णय यदि दोषयुक्त होता था तो वह भी दण्ड का भागी होता था। अमात्य

---

१. इसका वर्णन पूर्व में किया जा चुका है।

२. मनु० ८–११७–११८.

३. याज्ञ० व्यव० ८१ मिताक्षरा।

४. न जातु ब्राह्मणं हन्यात्। मनु० ८–३८०.

अथवा प्राड्विवाक यदि अन्यथा (न्याय विरुद्ध) करें तो राजा स्वयम् उस कार्य को ठीक कर तथा उन अमात्यादि का एक सहस्र दंड करे।[1] इसी प्रकार फिर वे (मनु) कहते हे कि ब्राह्मण सुरापन करने वाला, चोरी करने वाला तथा गुरुपत्नी-गामी ये पृथक्-पृथक् महापातकी मनुष्य है और यदि ये प्रायश्चित यथाविधि न करें तो राजा को चाहिए कि उनके लिए धर्मयुक्त शरीर और धन दंड का व्यवस्था करे।[2] इस प्रकार इन सब वचनों का समन्वय करने की दृष्टि से मिताक्षराकार की युक्ति सर्वथा समीचीन है। जहाँ ब्राह्मण जान-बूझ कर सब कुछ समझता हुआ भी जघन्य अपराध करता है वहाँ वह वास्तव में ब्राह्मणत्व से च्युत हो जाता है, जाति मात्र से ब्राह्मण समझा जाता है अतः अपराध के उचित दंड के योग्य है। जहाँ उसके साथ रियायत की गई है वहाँ यह भाव है कि वह गुण दोष से अभिज्ञ है अतः प्रमाद से (भूल) ही अपराध कर सकता है अतः वहाँ दंड की अल्पता है।

ब्राह्मण के साथ धर्मशास्त्रों में दंड विधान में पक्षपात किया गया है यह जो आक्षेप करते हैं वे भूल जाते हैं कि मनु ने ही ब्राह्मण को अधिक दंड का भागी बनाया है। राजा स्वयम् अपना दंड करता है यह भी विधान है। वह धन दंड या तो वरुण देवता को अर्पण करने के लिए जल में फेंक दिया जाता है या ब्राह्मणों में वितरण कर दिया जाता है। मनु कहते हैं कि जहाँ सामान्य अपराधी एक कार्षापण दंड का भागी होता है वहाँ राजा एक हजार का भागी होता है। जानकार उत्कृष्ट शूद्र अठगुना दंड चोरी के अपराध में देता है, वैश्य सोलह गुना तथा क्षत्रिय बत्तीस गुना। उसी अवस्था में ब्राह्मण के लिए चौसठ गुना, सौ गुना या १२८ गुना दंड विहित है। जितना ही अधिक योग्यता युक्त ब्राह्मण होगा उतना ही अधिक दंड का भागी होगा।[3] वरदाचार्य जी लिखते हैं कि गौतम ने भी यह विधान किया है कि यदि विद्वान् पुरुष अथवा ऊंचे वर्ण का व्यक्ति अपराध करे तो वह अपेक्षाकृत अधिक कठोर दंड का भागी होगा। यह वर्ण की उच्चता के आधार पर नहीं था। गौतम के भाष्यकार ने यह हेतु दिया है कि जो व्यक्ति निषेध के दोषों को जानता हुआ भी अपराध में प्रवृत्त होता है उसका दोष अधिक हो जाता है।[4]

---

१. मनु० ९–२३४.
२. मनु० ९–२३५, २३६.
३. मनु० ८–३३६, ३३७, ३३८.
४. The Hindu Law, much in advance of other systems, has laid down as early as Gotam (S.B.E. II P. 240) that if a learned Brahman or one of the higer castes offended.

कूटसाक्षी देने वाले के लिए दंड विधान का नियम याज्ञवल्क्य ने भी बतलाया है।[1]

प्राचीन धर्मशास्त्रों में कूटसाक्ष्य की योजना विलक्षण सूझ की द्योतक है जिसके कारण तत्व निर्णय करने के लिए साक्ष्य को इतना अधिक महत्व दिया गया तथा साक्ष्य में असत्य भाषण का यथासम्भव प्रवेश रोकने के लिए बहुत कठोर दंड का विधान किया गया। वर्तमान विधान में भी कूट साक्ष्य का कठोर दंड विहित है, परन्तु पाश्चात्य देशों ने बहुत समय के बाद इस तत्व को समझा है। आपस्तम्ब तथा गौतम सरीखे प्राचीन विधान में यह दिया गया है कि साक्षियों की परीक्षा करने के बाद ही व्यवहार विनिर्णय किया जाय। जो साक्षी मिथ्याभाषण करें अथवा साक्ष्य देने से इन्कार करें उनका कठोर दंड न केवल भविष्य में (जन्मान्तर में), परन्तु राजा के द्वारा उसी समय भी होता था। अर्थशास्त्र में भी मिथ्या साक्ष्य के लिए राजदंड विहित किया गया है (कौ० ३–२)। अनेक स्मृतियों के अनुसार न्यायाधीश साक्षियों को जो सच बोलने के लिये चेतावनी देता है। इस सम्बन्ध में भारतीय नियम का अन्य पाश्चात्य देशों से तुलना करने पर कितना विरोध प्रतीत होता है यह दृष्टव्य है। रोमन ला में कूटसाक्ष्य ईश्वरीय दंड के लिए छोड़ दिया जाता था और कानून कूट साक्षी देने वाले को राजकीय दंड का भय बिल्कुल न देता था। यह चर्च (धार्मिक संस्था) का काम था कि उसने कूटसाक्ष्य को पाप माने। मध्यकालीन इंगलैंड शपथ के सम्बन्ध में निरपेक्ष था। बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी ईसवी में जूरी के समक्ष शपथयुक्त साक्ष्य नहीं रहती थी। होल्डवर्थ कहता है कि कूटसाक्ष्य के सम्बन्ध में सामान्य नियम से केवल जूरियों का दंड हो सकता था अन्य प्रकार की पर्जरी (साक्षी आदि की) धार्मिक न्यायालयों के अधीन

---

he should be liable to more severe punishment. This was not founded on any principle of caste-discrimination. The Bhashya on Gotama gives the reasons as:

"The offence is greater when it is committed by a man who knows that the act has been prohibited."

That Manu has not ignored this principle even in respect of the Brahmans will be seen from Manu 8-337, 338.

S. Vardachariar, Hindu judicial System Page 221

१. या० स्मृ० २–८१–८३.

थी तथा सामान्य नियम और धार्मिक नियमों में जो परस्पर स्पर्धा रहती थी उसका परिणाम यह होता था कि "पर्जरी" का अपराध अदंडनीय हो जाता था।[1]

प्राचीन भारतीय धर्मशास्त्रों ने कूटसाक्ष्य के सम्बन्ध में जो नियम प्रस्तुत किये हैं वे अत्यधिक महत्व के हैं, श्री वरदाचार्य के उक्त वृतान्त से रोमन ला तथा मध्यकालीन इंगलैंड की कूटसाक्ष के विषय में जो विचारधारा थी, यह स्पष्ट हो जाता है। कूटसाक्ष के लिए किसी भी प्रकार का दंड विधान न करना तथा उसे केवल ईश्वरीय न्याय के ही ऊपर छोड़ देना किसी भी प्रकार बुद्धिगम्य नहीं है। जिस प्रकार से कूटसाक्षि के अपराध को ईश्वरीय न्याय पर ही अवलंबित कर दिया गया था ठीक उसी प्रकार अन्य अपराधों को भी ईश्वर के ऊपर ही छोड़ा जा सकता था। परन्तु अन्य अपराधों के विषय में दंड का विधान होना तथा कूटसाक्षि में दंड न होना यह सिद्ध करता है कि उनकी विचार शृंखला में उस तार्किक बुद्धि का अभाव था जिसने प्राचीन धर्मशास्त्रों में इस विषय में नियम निर्धारित किये थे। कूटसाक्ष में दंड विधान के ही द्वारा सत्य भाषण की आशा की जाती थी। साक्षि के लिए ईश्वरीय कोप का विधान तो था ही साथ ही साथ ऐहिक दंड विधान भी था। साक्षि को शपथ दिलाने का केवल एक ही ध्येय था—साक्षि यह समझे कि उसके असत्य बोलने पर दंड प्राप्ति होगा, परन्तु ऐहिक दंड प्राप्ति का भय तथा ईश्वरीय दंड प्राप्ति का भय दोनों ही एक दूसरे के अभाव में अपूर्ण ही रह जाते हैं अतएव प्राचीन धर्मशास्त्रों का उक्त विधान एक उत्कृष्ट विधान कहा जायगा।

लिखित तथा भुक्ति

प्रमाण के तीन भेदों में प्रथम भेद साक्षि था, द्वितीय तथा तृतीय भेद की संज्ञा क्रमशः लिखित तथा भुक्ति है। प्रमाणों में लिखित तथा भुक्ति का विशेष महत्व है। साक्षी की अपेक्षा लिखित तथा भुक्ति अधिक प्रामाणिक मानी जाती है। धर्मशास्त्रों के अनुसार ऋण आदि ग्रहण करने पर उसे लिपिबद्ध करना चाहिए; लेख अथवा इसी प्रकार के अन्य व्यवहारों में लिखा जाने वाला लेख दो प्रकार का होता था। प्रथम अपने हाथ से ऋणी तथा ऋणदाता द्वारा लिखित लेख्य, द्वितीय किसी लेखक के द्वारा लिखित लेख्य। प्रथम प्रकार का लेख्य साक्षी के अभाव में भी वैध समझा जायगा; दूसरे के लिए साक्षि का होना आवश्यक रहता है। स्वहस्त लिखित लेख्य की प्रामाणिकता बल

---

१. वरदाचार्य—हिन्दू जूडीशियल सिस्टम—पृ० १२३, १२४.

अथवा छल के अभाव में ही होती है।[1] परस्पर व्यवहार को लिपिबद्ध करने के विषय में स्मृतियों में अत्यन्त विस्तार के साथ नियम उपलब्ध होते हैं।

ऋणादि के ग्रहण करते समय लेख के पूर्ण हो जाने पर साक्षी, ऋणदाता तथा लेखक अपने हस्ताक्षर करते हैं, हस्ताक्षर के साथ वे उसमें इतना वृतांत लिखते हैं जिससे यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाय कि कौन कौन है तथा किस दिन क्या हुआ अर्थात् अपने वंश, गोत्र तथा स्थान के नाम के अतिरिक्त उक्त कार्य किये जाने की तिथि, मास, वर्ष, आदि का स्पष्ट उल्लेख किया जाता था। लेखक को भी इसी प्रकार से अपना वृत्तांत लिखना पड़ता था। यदि इस प्रकार से लिखा हुआ लेख किसी कारण से नष्ट हो जाता है तो दूसरा लिखना चाहिए ऋण आदि के चुका दिये जाने पर उक्त लेख के ही पृष्ठ पर लिखना चाहिए कि ऋण चुका दिया गया है।[2]

उक्त विधान लिखित प्रमाण की वैधता की पुष्टि करते हैं। जिसके पास इस प्रकार से लिखित प्रमाण होगा वह निःसंदेह विजयी होता है। लेख में भी छल-कपट होता है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति का लेख भिन्न प्रकार का होने के कारण उस छल का पता लग सकता है। इसके अतिरिक्त युक्ति का आश्रय लेकर भी छल का पता लगाया जा सकता है। यदि इतने पर भी कपट व्यवहार का पता नहीं चलता हो तब साक्षी आदि का आश्रय लिया जा सकता है।

लिखित प्रमाण के ही समान भुक्ति का भी महत्व है; किसी भूमि आदि के ऊपर यदि स्वत्व का अधिकार हो तो उसे निर्णीत करने के लिए यह आवश्यक है कि उक्त भूमि के ऊपर किसका स्वामित्व है इसका निर्णय किया जाय। यदि स्वामित्व अन्याय पूर्वक होगा तो स्वयंमेव एक पक्ष की विजय हो जायगी, परन्तु अन्यायपूर्वक प्राप्त स्वामित्व भी यदि तीन पीढ़ियों से आ रहा हो तो उसमें स्वामित्व मान लिया जाता है। भुक्ति तथा लिखित प्रमाण प्रत्येक प्रकार के व्यवहार में प्रयुक्त नहीं हो सकते हैं। इनकी आवश्यकता सम्पति आदि के विनिमय अथवा ऋण आदि के ग्रहण करने पर ही विशेष रूप से रहती थी। साहस आदि के व्यवहार में इनकी कोई संभावना नहीं रहती है। परन्तु साक्षी की आवश्यकता अथवा संभावना प्रायः प्रत्येक प्रकार के व्यवहार में हो सकती है; इसीलिए स्मृतियों ने साक्षी की विशेष प्रकार से विवेचना की है।

प्रमाण के उक्त तीन प्रकार को मानुषी प्रमाण भी कहते हैं। यदि व्यवहार

---

१. ना० स्मृति १–१३५ व्यवहारमयूख पृष्ठ १७। जाली द्वारा अनूदित ना० स्मृति में यह श्लोक अन्यत्र अनूदित है तथा याज्ञवल्क्य स्मृति २–८९.

२. या० स्मृति, २–८५–९४.

का निर्णय इन नियमों से न हो पाता हो तब ईश्वरीय प्रमाण का आधार लिया जाता है। ईश्वरीय प्रमाण में दिव्य अथवा शपथ की प्रथा आदि है। प्रमाण देने का भार जिस पक्ष पर रहता है वह यदि किसी प्रकार का प्रमाण देने में असमर्थ रहता है तब वह दिव्य का आश्रय ले सकता है।

दिव्य-शपथ

प्रमाण के मानुषी और दैवी भेदों में लिखित, भुक्ति तथा साक्षी मानुषी प्रमाण के भेद माने जाते हैं। व्यवहार में सत्यानृत विवेक के लिए इन्हीं को प्राथमिकता प्रदान की गई है। यदि इनसे सत्यानृत विवेक हो सकता हो तब दिव्य का आश्रय लिया जाता था। सत्य की खोज में दिव्य अंतिम साधन है।[1] दिव्य की प्रथा अधिक प्राचीन है। वेदों में स्पष्ट रूप से दिव्य के विषय में तो कुछ नहीं मिलता है परन्तु कुछ ऐसे प्रसंग हैं जिनसे उक्त प्रथा का आभास परिलक्षित होता है।[2] ताण्डव-महाब्राह्मण में वत्स तथा मेघातिथि की वार्ता स्पष्टरूप से दिव्य प्रथा पर प्रकाश डालती है—कण्व के पुत्र वत्स तथा मेघातिथि थे, मेघातिथि ने वत्स को शूद्रापुत्र तथा अब्राह्मण कहा, इस पर वत्स अग्नि में प्रविष्ट करके सिद्ध करता है कि वह ब्राह्मण है।[3] क्योंकि उसका रोम भी नहीं जला। इस प्रसंग का उल्लेख मनु ने भी किया है।[4] छांदोग्य उपनिषद् १६.१ में भी दिव्य का उल्लेख है।

दिव्य उसे कहते हैं जिसमें अग्नि आदि दैवी शक्तियों के द्वारा सत्य का अन्वेषण किया जाय। उदाहरण के लिए अग्नि में प्रवेश करने पर अग्नि यदि जलाती नहीं है तब अग्नि में प्रविष्ट होने वाले का कथन सत्य माना जाता है। दिव्य में दोनों पक्ष वादी तथा प्रतिवादी सम्मिलित रहते हैं। एक पक्ष दिव्य का आश्रय लेता है तथा दूसरा उसके

---

१. प्रमाणं................
एषामन्यतमाभावे दिव्यान्यतममुच्यते ॥ या० स्मृति २, २२.

२. मा मामेधि दशतयश्चितो धाक् प्रयद्वां बद्धस्मनि श्वादति क्षाम ॥
न मा गरन्नद्यो मातृतमा दासा यदीं सुसमब्धमवाधुः ॥१, १५८ ४–५ ऋ;
अथर्व-वेद ११–१२–८.

३. वत्सश्च वै मेधातिथिश्च काण्वावास्तांतं वत्सं मेधातिथिराक्रोशद् ब्राह्मणोसि शूद्रापुत्र इति । सोऽब्रवींदृतेनाग्नि व्ययाववतरो......न लोम च नौषत् ॥
ताण्डय ब्राह्मण १४. ७७.

४. मनु० ८–११६.

निर्णय को मानने का वचन देता है। जो व्यक्ति यह मानता है कि दिव्य का निर्णय उसे मान्य रहेगा उसे शीर्षक कहते हैं। शीर्षक के अभाव में दिव्य एक पक्षीय हो जाता है अतः उसके निर्णय में बन्धन का अभाव रहता है। इसीलिए शीर्षक के अभाव में दिव्य न करने का विधान है।[1] परन्तु यह विधान सभी प्रकार के अपराधों के लिए नहीं है, राजद्रोह तथा पातकों के अपराध में शीर्षक के अभाव में भी दिव्य का आश्रय लिया जा सकता है।[2] राजद्रोह आदि में राजा ही एक पक्ष में रहता है अतः उसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह शीर्षक बने; इस अपराध के निर्णय में जय-पराजय का प्रभाव केवल अपराधी पर ही पड़ता है। परन्तु ऋणादान आदि में जय-पराजय का प्रभाव वादी प्रतिवादी पर एक प्रकार से समान रूप से पड़ता है। दिव्य का आश्रय साधारणतया वही ग्रहण करता है जिस पर प्रमाण देने का भार रहता है तथा अन्य व्यक्ति शीर्षक बनता है। परन्तु यह एक सामान्य नियम मात्र है। यदि वादी प्रतिवादी अपने आप ही यह निर्णय कर लें कि एक दिव्य ले तथा दूसरा शीर्षक बने तब उनकी यह रुचि भी मानी जायगी।[3] अभियुक्त को ही दिव्य ग्रहण करने का विधान नहीं है। परस्पर विचार विनिमय करके कोई भी शीर्षक तथा दिव्य ग्रहण करने वाला बन सकता है। यदि आपस में इस प्रकार का विचार विनिमय न हो सकता हो तब अभियुक्त को ही दिव्य ग्रहण करना पड़ता था।

मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद दिव्यों का अंतिम प्रमाण के रूप में उल्लेख करते हैं। उक्त धर्म शास्त्रों में विषय विस्तार भी क्रमशः ही है। मनु ने केवल दो ही प्रकार के दिव्यों का उल्लेख किया है; प्रथम अग्नि पिंड को हाथ से ले जाना तथा दूसरा जल में डुबाना। परन्तु नारद स्मृति ने एक स्थान पर कहा है कि मनु के अनुसार पाँच प्रकार के दिव्य होते हैं।[4] संभव है मनुस्मृति के कुछ अंश समय की गति में लुप्त हो गये हों। याज्ञवल्क्य स्मृति के अनुसार पाँच प्रकार के दिव्य होते हैं। याज्ञवल्क्य ने मनु के अतिरिक्त तुला, विष तथा कोष को दिव्यों के प्रकार में गिनाया है।[5] जॉली द्वारा अनूदित नारस्मृति में भी पाँच प्रकार के दिव्य मिलते हैं, परन्तु मिताक्षरा में नारद का

---

१. शीर्षकस्थो यदा न स्यात्तदा दिव्यं न दीयते ।। ना० स्मृति ३, २५७.
२. विनापि शीर्षकात्कुर्यान्नृपद्रोहेऽथ पातके । या० स्मृति २, ९६.
३. रुच्या वान्यतः कुर्यादितरो वर्तयेच्छिरः ।। या० स्मृति २, ९६.
४. अग्निं वाहरयेदेनमप्सु चैनं निमज्जयेत् ।। मनु० ८, ११४.
५. तुलाग्नयो विषं कोशो दिव्यानीह विशुद्धये ।। या० स्मृति २, ९५.

एक श्लोक उद्धृत किया गया है जिसके अनुसार तप्तभाष नामका एक और दिव्य नारद ने माना है।[1]

उक्त पाँच प्रकार के दिव्यों के अतिरिक्त अन्य स्मृतियों में तंडुल तथा तप्त भाषा का भी उल्लेख मिलता है। दिव्यों की प्रयोग विधि याज्ञवल्क्य तथा नारद में विस्तार के साथ मिलती है। स्मृतियों में किस प्रकार का दिव्य किसको ग्रहण करना चाहिए तथा ऋतु विशेष में किस प्रकार के दिव्य का आश्रय लेना चाहिए आदि विषय में बहुत ही विस्तार के साथ विवेचना की गई है। क्रिया पाद में दिव्य का आश्रय लेने पर अन्य प्रमाणों की (लिखित भुक्ति तथा साक्षी को) आवश्यकता नहीं रह जाती है; यह ईश्वरीय आश्रय अन्य सभी मानुषी प्रयत्नों के महत्व को निराधार कर देता है। दिव्य के साथ-साथ शपथ को भी ईश्वरीय प्रमाण की कोटि में रख जाता है। मानुषी प्रमाणों में साक्षी की आवश्यकता प्राय: तीनों प्रकार के प्रमाणों में पड़ती है परन्तु ईश्वरीय प्रमाण (दिव्य तथा शपथ में) साक्षी की आवश्यकता नहीं पड़ती है, अथवा वहाँ ईश्वर ही साक्षी के रूप में रहता है तथा उसी का निर्णय का कारण बनता है। मनु लिखते हैं जहाँ दोनों वादी प्रतिवादी के पक्षों के समर्थन के लिए साक्षी न हों और तत्व का निर्णय न होता हो तो शपथ करनी चाहिए। शपथ की प्रामाणिकता बताने के उद्देश्य से मनु इतिहास का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि महर्षियों तथा देवों ने भी कार्य के लिए पुरा काल में शपथ की थी; वशिष्ट ऋषि ने भी यवन पुत्र सुदास राजा के समक्ष शपथ का आश्रय लिया था।[2] इसी प्रसंग में वृथा शपथ करने का निषेध भी किया गया है। बुद्धिमान् पुरुष को चाहिए कि निरर्थक शपथ न करे और न किसी क्षुद्र बात के लिए शपथ करे। वृथा शपथ करने से यह लोक और परलोक नष्ट होता है।[3]

यह पहले कहा जा चुका है कि मनु ने इस प्रसंग में संक्षिप्त निर्देश ही किया है और उसके प्रकार का भी दिग्दर्शन मात्र कराया है; इस प्रकार उन्होंने इस कार्य में अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। पुत्र अथवा पत्नी के सिर को स्पर्श कर के शपथ करने

---

१. सौवर्णीं राजतीं ताम्रीमायसीं वा सुशोभिताम्। मिताक्षरा—२, ११३ में। ....॥ नारद स्मृति, १, ३३४ इस श्लोक को पराशर माधवीय में पितामह का कहा गया है तथा जॉली द्वारा अनूदित नारदस्मृति में यह नहीं है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि नारद के अनुसार तप्तभाष नामका दिव्य भी था।

२. मनु० ८-१०९-११०.

३. मनु० ८-१११.

का मनु ने निर्देश किया है।[1] प्रयोजन सब का एक ही है। जहाँ साक्षी आदि के द्वारा यथार्थ तत्व का निर्णय करना संभव न हो वहाँ दैवी शक्ति का आश्रय लेकर वास्तविकता का निर्णय किया जाता है। धार्मिक विश्वास की प्रबलता के कारण इस आलौकिक शक्ति के प्रभाव से अवश्य ही अन्य बात के पता लगाने में सुविधा होती थी। यह प्रयास इस बात का द्योतक है कि प्राचीन काल के न्यायाधीश छानबीन करने में कोई बात उठा नहीं रखते थे। यह स्मरण रखना आवश्यक है कि अन्य प्रमाणों के अभाव में ही इसका आश्रय लिया जाता था। यह पद्धति अच्छी थी या खराब यह प्रश्न नहीं है; इससे यह पता चलता है प्राचीन काल में सत्य की खोज कितनी उत्सुकता तथा तत्परता से की जाती थी। आज कल तो जिस पर प्रमाण देने का भार है वह यदि प्रमाण नहीं दे सकता तो पराजित हो जाता है। परन्तु पुराने न्यायाचार्य इतने निरपेक्ष न थे तथा सब प्रकार से सत्य बात की छानबीन करते थे। शपथ अथवा दिव्य बहुत सी पुरानी पद्धतियों में न्याय निर्णय के अंग थे; तथा मध्यकाल में यूरोप में अधिकता से प्रचलित थे। दिव्य पहिले तो दंड भी माना जाता था परन्तु बाद में वह प्रमाण में मान लिया गया और उसके आधार पर लौकिक न्यायालय निर्णय देते थे। इस प्रथा का आधार इस विश्वास पर था कि दुष्ट को दंड देने में तथा निरपराध की रक्षा करने में दैव का हस्तक्षेप अधिक निश्चित प्रमाण था। जब आज कल भी सत्य कहलाने वाले राष्ट्र युद्ध में हस्तक्षेप करने के लिए तथा धर्म्य कार्य में विजय देने के लिए ईश्वर से प्रार्थना कर सकते हैं तब यदि सरल प्रकृति में मनुष्य अपने छोटे कार्यों के लिए भी ईश्वर पर निर्भर थे तो इन दोनों में प्रकार भिन्न न था। केवल मात्रा का भेद है।[2]

---

१. मनु० ८–११४

२. S. Vardachariar, Hindu Judicial System. PP. 162–163. If the ancients resorted to the 'Oath' or to the ordeal in such cases, I do'nt see how they can be justly accused of 'Unwillingess to undertake the task of finding out the truth.' Their method might be right or wrong but they were certainly the result of an anxiety to discover the truth.......The oath and the ordeal formed part of many ancient systems of judieial administration and were widely prevalent in Europe during the middle Ages. At one stage the ordeal was

आज कल भी, बेंथम के प्रभाव के एक शताब्दी बाद भी पश्चिम वाले अपने एविडेंस एक्ट में से शपथ को पूरी तरह से हटाना उचित नहीं समझ रहे हैं।[1] शपथ और दिव्य का सम्बन्ध मनोविज्ञान से था। हिन्दू ग्रन्थों में जो पद्धति दी गई है उसके अनुसार देवपूजन आदि उसके पूर्व रूप होते हैं। अतः इन सब का प्रभाव मन पर अवश्य पड़ता है, तथा इन सब उपचारों के द्वारा अपराधी के मन में भय का संचार होने से उसकी साधारण दशा में भी अवश्य अन्तर आ जाता है; इसमें कोई संदेह नहीं। परन्तु मनोविज्ञान के अतिरिक्त भी हिन्दुओं के मत से आध्यात्मिक सिद्धान्त अधिक प्रबल माने गए हैं और शपथ आदि का मुख्य आधार आध्यात्मिक था।

शपथ तथा दिव्य की आध्यात्मिकता

यह अन्यत्र उल्लिखित हो चुका है कि प्रत्येक प्राणी के भौतिक शरीर के भीतर प्राण रूप देवताओं का वास था। ये प्राण देवता बाहरी आधि दैविक देवताओं से सम्बन्ध रखते थे। यथार्थ में भौतिक पदार्थों का संचालन इन्हीं प्राण देवताओं की शक्ति से होता था। भूत सर्वथा जड़ होने से कर्म करने से असमर्थ थे, अतः उनमें जो भी क्रिया दिखाई देती है वह सब प्राण शक्ति का प्रभाव है। प्राणशक्ति का अस्तित्व आधिदैविक स्तर के प्राण देवताओं के अधीन रहता है। वेदों में मिलता है "सत्य संहिता वै देवाः" अर्थात् देव सर्वथा सत्य के आधार पर स्थित रहते हैं। जब कोई अपराधी इस प्रकार शपथ अथवा

---

also the 'punishment' but at a later stage the ordeal afforded the proof, on which the temporal authority pronounced judgement or sentence. The practice rested on belief in the certainty of divine intervention to punish the wicked and to protect the innocent......If today civilised nations can pray to God to intervene in their wars to give victory to the righteous cause, it was a difference only in degree and not in kind if simple people expected providence to take note also of the humble affairs of ordinary man.

१. Even today after a century of Benthamite influence, the nations of the west have not thought fit wholly to discard the oath in the law of evidence. Ibid.

दिव्य के लिये प्रस्तुत होता था तथा अग्नि तुला अथवा विष आदि के प्रयोग के द्वारा अपनी चारित्रय शुद्धि की प्रामाणिकता सिद्ध करना चाहता था वहाँ इन जड़ पदार्थों—अग्नि, तुला आदि का सहारा माध्यम के रूप में लेना पड़ता था। परन्तु वास्तव में वह उनकी अधिष्ठात्री देवता का आह्वान करता था और उनसे यह प्रार्थना करता था कि वे देवता उसकी शुद्धि को प्रमाणित करें। इस अवसर पर उसके मनोबल के द्वारा उसकी प्रार्थना के फलस्वरूप आधिदैविक देव उसके शरीरस्थ प्राणों से विशेष सम्पर्क करके उनके द्वारा उसके भौतिक शरीर को प्रभावित करते थे तथा अदृश्य देवताओं का प्रभाव भौतिक परिवर्तन के द्वारा प्रत्यक्ष हो जाता था और उसके द्वारा जो सत्य का निर्णय होता था वह ध्रुव, प्रमाणान्तर-निरपेक्ष तथा निःसंदिग्ध होता था। वह अंतिम था, उसके बाद किसी दूसरे प्रमाण के लिये अवकाश नहीं रह जाता था। याज्ञवल्क्य आदि ने दिव्य प्रकरण का विस्तृत विवरण दिया है। जहाँ अग्नि परीक्षा होती थी वहाँ अग्नि जड़ के अधिष्ठातृ देव को सम्बोधन करके प्रार्थना की जाती थी कि "अग्नि देव तुम पावक (पवित्र करने वाले) हो; तुम सब भूतों के भीतर में विचरण करने वाले हो, तुम कवि हो। तुम साक्षी के समान पुण्य और पाप में सत्य निर्णय करो"।[1] इसी प्रकार तुला विष आदि में भी उन उन देवताओं को सम्बोधित किया जाता था। जल दिव्य में वरुण का सम्बोधन होता था। इन दिव्यों के प्रारम्भ करने के पूर्व इन्द्र वरुण यम आदि देवों का आवाहन तथा पूजन होता था। प्राड्विवाक को उपवास करके देवताओं का पूजन करना पड़ता था।[2] चारों दिशाओं में वेदपारग ब्राह्मणों के द्वारा होम किया जाता था।[3] इस प्रकार केवल अपराधी को ही उत्पीड़न नहीं सहना पड़ता था, उसके साथ ही जज को भी उससे कहीं अधिक आयास होता था। और यह सब केवल इसलिये किया जाता था कि जिसमें सत्य का यथार्थ निर्णय हो सके और राजा तथा न्यायाधीश पर यह दोष न आ सके कि अनवधानता से भी अदंड्य को दंड दे दिया गया अथवा जो दंड पाने योग्य है वह मुक्त हो गया।[4] इस पाप से बचने के लिये सब प्रकार का कष्ट उठाकर भी सत्य

---

१. याज्ञ० व्यव० १०४—त्वमग्ने सर्वभूतानामन्तश्चरसि पावक।
साक्षिवत्पुण्यपापेभ्यो ब्रूहि सत्यं कवे मम॥

२. याज्ञ० मिताक्षरा प्र० १८५—यथोक्तम्—प्राड्विवाकस्ततो विप्रो वेद-वेदांगपारगः। श्रुतवृत्तोपसंपन्नः शान्तचित्तो विमत्सरः॥ सत्यसंधः शुचिर्दक्षः सर्वप्राणिहिते रतः। उपोषितः शुद्धवासाः कृतदन्तानुधावनः। सर्वासां देवतानां च पूजां कुर्याद्यथा-विधि॥

३. चतुर्दिक्षु तथा होमः कर्तव्यो वेदपारगैः।

४. मनु० ८–१२८

की खोज की जाती थी। वर्तमान समय में आधिदैविक सिद्धान्त के मर्म को न समझने के कारण इस प्रथा का उपहास भले ही किया जाय परन्तु जिनका धार्मिक विश्वास प्रबल था, जो आधिदैविक शक्ति के प्रत्यक्षदर्शी महर्षि थे उनके अपने विश्वास के कारण इतना भार उठाना और सत्य की प्रतिष्ठा करना स्तुत्य है। वर्तमान समय में यथार्थ सत्य तिरोहित हो जाता है, लौकिक प्रमाण उसका विपर्यय कर देता है।

इस प्रकार अनेक प्रकार के आयास अंगीकार करके सत्य का अन्वेषण करना हिन्दू शासन पद्धति की महत्ता का द्योतक है। यदि यह पक्ष जिस पर प्रमाण उपस्थित करने का भार है प्रमाण नहीं दे सकता तो वर्तमान कोर्ट उसे पराजित कर देता है, उसके विरुद्ध निर्णय देता है। परन्तु प्राचीन पद्धति में यह बात न थी। साक्षी आदि के अभाव में—लौकिक प्रमाण उपस्थित न करने से ही पक्ष निर्बल नहीं हो जाता था। ऐसे स्थलों के लिए दैवी सहायता का आश्रय लेना हिन्दू शास्त्रकारों का यह आविष्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मनु ने इस दिव्य के प्रकरण में देवताओं का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु लौकिक साक्षी के प्रकरण में वे यह कह चुके हैं कि पापकर्ता यह समझता है कि उसे कोई नहीं देख रहा है पर उसका अन्तः पुरुष तथा देवगण उसे देखते रहते हैं।[1]

जैसा कि ऊपर लिखा गया है लौकिक प्रमाणों के अभाव में ही दिव्य का आश्रय लिया जाता था। जहाँ अन्य किसी प्रकार के मानुष प्रमाण उपलब्ध नहीं होते थे वहाँ देवताओं को कष्ट दिया जाता था और उसकी क्षमा प्रार्थना के लिए प्रारम्भ में ही देव-पूजन होम आदि से उन्हें संतुष्ट किया जाता था। इस दिव्य प्रमाण में यह विशेषता थी कि इससे अभाववादी भी अपना पक्ष प्रमाणित कर सकता था। लौकिक प्रमाण के उपन्यास का भार भाववादी पर ही रहता था परन्तु दिव्य का आश्रय कोई भी पक्ष ले सकता था। दूसरे पक्ष को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि दिव्य करने वाला यदि सत्य सिद्ध होगा तो वह दंड का बोझ अपने ऊपर लेगा। याज्ञवल्क्य लिखते हैं कि अभियोक्ता शीर्षकस्थ हो अर्थात् दंड का बोझ अंगीकार करे तथा अभियुक्त दिव्य करे। फिर वे यह भी कह देते हैं कि परस्पर रुचि के अनुसार कोई भी पक्ष दिव्य ले सकता है। और दूसरा पक्ष शीर्षक हो सकता है। परन्तु राज्यद्रोह आदि में जहाँ राजा अभियोक्ता समझा जाता है वहाँ शीर्षकस्थ होने की आवश्यकता नहीं है।[2]

यह आत्मशुद्धि का निश्चित प्रकार था और जो लोग अपने चरित्र बल को प्रमाणित करना चाहते थे वे इस दिव्य प्रमाण का आश्रय लेकर जन समाज में अपना

---

१. मनु० ८,८५–८६
२. याज्ञ० व्य० ९५, ९६

मुख उज्ज्वल करते थे। यह तो न्यायालय में अपनी निर्दोषिता सिद्ध करने का प्रकरण है। परन्तु इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ चरित्र शोधन के लिये इस दैवी शक्ति का आश्रय लिया गया है। राम की पत्नी सीता जी ने अपने चरित्र को निर्मलता सिद्ध करने के लिये अग्नि का आश्रय लिया था।[1] रामायण में ही दशरथ की मृत्यु और राम निर्वासन के बाद जब अपने नाना के यहाँ से भरत लौटे हैं उस समय यह सिद्ध करने के लिये कि कैकेयी के षडयंत्र की उन्हें गन्ध तक न थी तथा वे सर्वथा निर्दोष थे, उन्होंने कौशल्या के समक्ष अनेक प्रकार से शपथ ली है।[2]

दूसरी बात यह है कि वर्तमान युग में अपनी शिक्षा दीक्षा तथा विश्वास के अभाव के कारण हम लोग दैवी शक्ति का साहाय्य लेने में असमर्थ हो रहे हैं, परन्तु जिस युग में यह प्रथा प्रचलित थी उस समय के सामाजिक तथा धार्मिक संस्कारों के वह सर्वथा अनुरूप थी और अकाट्य प्रमाणों की कोटि में परिगणित थी।

शपथ का अपवाद

जहाँ मनु ने धर्मशास्त्र के तथा राजशास्त्र के जटिल प्रश्नों पर प्रकाश डाला है वहीं पर वे लौकिक व्यवहार को भी नहीं भूले हैं। साक्षिप्रकरण में सत्य की महत्ता का अनेक प्रकार से प्रतिपादन करने के बाद साक्ष्य में तथा लौकिक व्यवहार में उस सनातन सत्य का अपवाद भी उन्होंने दिया है। वे कहते हैं कि कामिनी से विवाह के सम्बन्ध में, गौ के लिए भक्ष्य प्राप्त करने में, हवन आदि के लिए ईंधन लेने में तथा ब्राह्मण की रक्षा के निमित्त शपथ करने में—मिथ्या भाषण करने में पातक नहीं है।[3] साक्ष्य के सम्बन्ध में भी वे मिथ्या भाषण को हेय नहीं मानते जहाँ उस सत्य भाषण से ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि चारों वर्णों में से किसी का वध होता है।[4] याज्ञवल्क्य ने इसका इसी रूप में समर्थन किया है।[5] परन्तु साक्ष्य में मिथ्या भाषण को सर्वथा दोषरहित नहीं माना है, केवल राज दंड से उसकी रक्षा की है। उसकी शुद्धि के लिए सरस्वती देवता के लिए हवन करने का प्रायश्चित रूप से विधान है। टीकाकार कुल्लूक भट्ट इसका अर्थ यह लेते हैं कि जहाँ प्रमाद से (भूल से) अपराध हो गया हो और सत्य साक्ष्य देने से वध

---

१. रामा० युद्ध अ० ११८–२४ ३४
२. रामा० अयो० अ० ७४५
३. मनु० ८–११२
४. मनु० १०४, १०५, १०६
५. याज्ञ० व्यस० ८३

दंड होता है उसके लिए यह अनुज्ञा है, और गौतम का यह प्रमाण दिया है, "नानृत-वदने दोषो यज्जीवनं चेत्तदधीनं न तु पापीयसो जीवनम्।"

मनु के इस लेख से यह प्रतीत होता है कि सत्य का अपवाद भी हो सकता है और कदाचित् इस ब्राह्मण वचन को उन्होंने लक्ष्य किया है—"सत्यसंहिता वै देवा अनृता वै मनुष्याः"। व्यवहार में विवाहादि अवसर पर झूंठ बोलने की अनुज्ञा कदाचित् लोकमत की रक्षा के लिए हो।[1] रामायण (वाल्मीकि) में मिलता है कि जब शूर्पणखा रामचन्द्र के समीप आई तथा उन्हें पति बनाना चाहा उस समय उन्होंने उसे यह समझाया कि उनके अनुज लक्ष्मण अकृतदार अर्थात् अविवाहित हैं अतः वे उसके अनुरूप पति होंगे।[2] इस उपहास वाक्य को मिथ्या कोटि में नहीं लिया जा सकता है। सुन्दर काण्ड में मिलता है कि सीता जी से भेंट करने के बाद उन्हें अपना परिचय देकर हनुमान् ने अशोक वाटिका का ध्वंस प्रारम्भ किया था और जब सीता जीसे राक्षसियों ने पूछा कि यह कौन है तो उत्तर में वे बोली "काम रूपी राक्षसों की माया जानने की हम में कहाँ सामर्थ्य है? हम भी तो अत्यन्त डरी हुई हैं, हम नहीं जानती कि यह कौन है। तो इसे कामरूपी (इच्छानुसार रूप धारण करने वाला) राक्षस ही समझती हैं।"[3] इसकी टीका में टीकाकार लिखते हैं कि इससे यह ध्वनित होता है कि आत्मरक्षा आदि में मिथ्या भाषण दोष युक्त नहीं होता—"अनेन आत्मत्राणादौ मृषोवादो न दोषाय इति ध्वनितम्।"

इस सत्यभाषण के अपवाद के सम्बन्ध में स्वर्गीय सुप्रसिद्ध देश-भक्त विद्वान् बालगंगाधर तिलक ने गीता रहस्य में जो सुन्दर विवेचन किया है वह द्रष्टव्य है।[4] यही हाल अहिंसा का है। मनु० (१०–६३) लिखते हैं कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शरीर, वाणी और मन की शुद्धता तथा इंद्रिय निग्रह ये पांच नियम सब वर्णों के लिये अवश्य पालनीय है। अहिंसा को मनु ने प्रथम स्थान दिया है। तिलक महोदय लिखते हैं यह तत्व सिर्फ़

---

१. मनु० ८, ११२

२. अनुजस्त्वेष में भ्राता शीलवान् प्रियदर्शनः।
श्रीमानकृतदारश्च लक्ष्मणो नाम वीर्यवान् ॥
अपूर्वा भार्यया चार्थी तरुणः प्रियदर्शनः।
अनुरूपश्च ते भर्ता रूपस्यास्य भविष्यति॥ वा० रा० अ० सर्ग १८.

३. रक्षसां कामरूपाणां विज्ञाने का गतिर्मम।
अहमप्यतिभीतास्मि नैव जानामि को ह्ययम्।
वेद्मि राक्षसमेवैनं कामरूपिणमागतम्। वा० रा०, सु० –सर्ग–४२.

४. गीता रहस्य, हिन्दी अनुवाद पृ० ३३.

हमारे वैदिक धर्म ही में नहीं किंतु अन्य सब धर्मों में भी प्रधान माना गया है। बौद्ध और ईसाई धर्म ग्रन्थों में जो आज्ञा है उनमें अहिंसा को मनु की आज्ञा के समान, पहला स्थान दिया गया है।[१] इस अहिंसा के अपवाद का उदाहरण उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है—"परन्तु अब कल्पना कीजिए कि हमारी जान लेने के लिए, हमारी स्त्री अथवा कन्या पर बलात्कार करने के लिये कोई दुष्ट मनुष्य हाथ में शस्त्र लेकर तैयार हो जाय और उस समय हमारी रक्षा करने वाला हमारे पास कोई न हो तो उस समय हमको क्या करना चाहिए ? क्या "अहिंसा परमो धर्मः" कह कर ऐसे आततायी मनुष्य की उपेक्षा की जाय या यदि वह सीधे तरह से न माने तो यथाशक्ति उसका शासन किया जाय। मनु जी कहते हैं कि ऐसे आततायी या दुष्ट को अवश्य मार डालें। ऐसे समय हत्या करने का पाप हत्या करने वाले को नहीं लगता किन्तु आततायी मनुष्य अपने अधर्म से मारा जाता है। आत्मरक्षा का यह हक़, कुछ मर्यादा के भीतर आधुनिक फ़ौजदारी कानून में भी स्वीकृत है।"[२]

इन अपवादों से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि व्यवहार की सर्वथा उपेक्षा धर्मशास्त्रों में नहीं की गई है। इसी अपवाद के फलस्वरूप राजधर्म में राजा अपराधी को वध दंड देकर भी पाप का भागी नहीं होता। समक्ष युद्ध में शत्रु का वध करने वाला शूर पाप में लिप्त नहीं होता। इसीलिए साक्ष्य प्रकरण में भी अपवाद का समावेश किया गया है और वह अपवाद मुख्यतः व्यक्तित्व की उपेक्षा न करके सब प्राणियों के (अधिक संख्या) हित की दृष्टि से माना गया है।

निर्णय

यह पहिले कहा जा चुका है कि व्यवहार के चार पाद होते हैं। इन चार पादों में भाषावाद ही व्यवहार का प्राण माना गया है। क्योंकि उसी के ऊपर संपूर्ण व्यवहार आधारित रहता है। भाषा अथवा प्रतिज्ञा का ही क्रियात्मक स्वरूप द्वितीय तथा तृतीय पाद रहता है। अत्यधिक क्रियाशील होने के ही कारण उसे क्रियापाद कहा जाता है। क्रियापाद के उपरान्त व्यवहार का चतुर्थ पाद निर्णय पाद आता है; इसमें भाषा की सिद्धि अथवा असिद्धि होती है। जय पराजय का निर्णय होने के कारण ही इसे निर्णयपाद कहा जाता है।

क्रियापाद का निर्णय ही निर्णयपाद का आधार बन जाता है। निर्णय करते समय

---

१. गीता र० पृष्ठ ३०.
२. गीता र० पृ० ३०.

प्रमाण के प्रकारों में जिसका आधार किया गया हो उसी के अनुसार न्याय किया जाता है। निर्णय करने के सामान्य नियमों का उल्लेख (उदाहरण के लिए स्मृतियों में परस्पर विरोधी नियमों का मिलना अथवा स्मृति तथा अर्थ शास्त्र का विरोध तथा इन विरोधों को दूर करने के नियम) प्रारम्भ में किया जा चुका है। नारद स्मृति में निर्णय के चार पादों का उल्लेख मिलता है, इसके अनुसार धर्म, व्यवहार, चरित्र तथा राजशासन ये चार व्यवहार के पाद हैं।[1] इनमें पूर्व की अपेक्षा बाद वाले की मान्यता है।[2] उक्त श्लोक का वास्तविक अर्थ बहुत अधिक विवाद पूर्ण है। नारद के अनुसार, चार पादों में राजशासन की औरों की अपेक्षा मान्यता रहती है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि राजा को धर्मशास्त्रों के विपरीत अपना निर्णय देने की स्वतंत्रता थी और न उसका यही अर्थ उपयुक्त होगा कि व्यवहार को धर्म से अधिक मान्यता मिलती है। "धर्म" को बलाबल की दृष्टि से यहाँ अन्तिम स्थान दिया गया है; इस क्रम के कारण यह भ्रांति होना स्वाभाविक है कि राजशासन अथवा राजाज्ञा धर्म को भी बाधित करती है। परन्तु ऐसा अर्थ युक्तियुक्त न कहा जायगा। यहाँ उक्त चारों शब्द विशेषार्थ में प्रयुक्त हुये हैं, इनके विशेषर्थों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है।

धर्म से यहाँ तात्पर्य सत्य अथवा शपथ, दिव्य आदि से है, तथा व्यवहार का अर्थ प्रमाण आदि (साक्षी) के द्वारा जो निर्णय किया जाय।[3] धर्म और व्यवहार का विरोध होने पर व्यवहार की मान्यता रहेगी। एक उदाहरण से यह स्पष्ट हो जाता है—"अ" किसी भूमि का स्वामी है। यह सत्य है परन्तु "ब" उस भूमि पर तीन पीढ़ी से अधिकार रखता है, सत्य के अनुसार तो वह भूमि "अ" की ही होनी चाहिए परन्तु उक्त विवाद के अवसर पर व्यवहार के द्वारा (साक्षी आदि के द्वारा) यह ज्ञात होता है कि "ब" का अधिकार तीन पीढ़ी से है, ऐसी दशा में निर्णय "ब" के ही पक्ष में होगा न कि "अ" के। तीन पीढ़ी का भोग स्वामित्व प्रदान कर देता है।[4] इसी को स्पष्ट करते हुए बृहस्पति

---

१. यहाँ व्यवहार का अर्थ निर्णय पाद से है।

२. धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्तं राजशासनम्।
चतुष्पाद् व्यवहारोऽप्रमुत्तरः पूर्वबाधकः ॥ ना० स्मृति, १,१०
ऊपर व्यवहार का अर्थ निर्णय पाद, वीरमित्रोदय पृ० ८७–८८ के अनुसार लिया गया है।

३. तत्र सत्ये स्थितो धर्म : बृहस्पति—वीरमित्रोदय पृ० ८७७.
प्रमाणो निश्चियो यस्तु व्यवहारः स उच्यते ॥ वही पृष्ट ८७.

४. पुरुषत्रयागता भुक्तिः। तथा भुक्तिस्त्रैपुरुषी यत्र चतुर्थं संप्रवर्तिता।
तद्भोगः स्थिरता यदि......॥ बृहस्पति। पा० मा० व्य० का० पृ० १४१.

कहते हैं कि केवल शास्त्रों का ही आश्रय लेकर निर्णय नहीं करना चाहिए।[1] धर्म और व्यवहार के बलाबल का औचित्य एक और प्रकार से संभव है। दिव्य के प्रसंग में यह कहा जा चुका है कि मानवीय प्रमाणों के अभाव में ही ईश्वरीय प्रमाणों को (दिव्य शपथ) लेना चाहिए; व्यवहार जो कि मानवीय प्रमाण कहा जाता है, आपसे आप धर्म (शपथ-दिव्य) को बाधित करता है। कात्यायान ने इसी को स्पष्ट किया है—व्यवहार धर्म को वहीं बाधित करता है जहाँ दिव्य वर्जित हो तथा अन्य साधन से कार्य किया जाय।[2] यह स्पष्ट करता है कि धर्म तथा व्यवहार का बलाबल मानवीय प्रमाण तथा ईश्वरीय प्रमाण के प्रसंग में ही किया जायगा अन्यथा नहीं। सामान्य अवसर में धर्म के अनुसार ही व्यवहार रहेगा।

इसी प्रकार से व्यवहार तथा चरित्र के बलाबल में भी औचित्य है। चरित्र अथवा चरित्र की परिभाषा वृहस्पति ने दी है; उनके अनुसार चरित्र दो प्रकार का होता है—एक, जहाँ अनुमान के द्वारा निर्णय किया जाय वह तथा दूसरा, देशस्थिति के अनुसार जहाँ निर्णय हो।"[3] "अनुमान" से यहाँ "भुक्ति" आदि के द्वारा निर्णय किये जाने से है तथा देशस्थिति से लोकाचार का तात्पर्य है। लोकाचार के अंतर्गत श्रेणी जाति जानपद आदि में प्रचलित आचार भी आते हैं। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि मनु आदि ने श्रेणी आदि में पाये जाने वाले नियमों को मान्यता प्रदान की है। यहाँ इसी लोकाचार और व्यवहार में अन्तर आने पर लोकाचार की मान्यता को, व्यवहार की अपेक्षा स्वीकार किया गया है। व्यवहार के अन्तर्गत उन नियमों के अनुसार निर्णय किया जाता है जो कि पूर्व में ही स्वीकृति प्राप्त कर चुके हैं (स्मृतियों आदि के द्वारा) परन्तु लोकाचार उक्त नियमों के विरुद्ध भी पल्लवित हो सकते हैं, ऐसी स्थिति में निर्णय में उनको व्यवहार की अपेक्षा मान्यता प्रदान करने का अभिप्राय उन्हें स्वीकृत करने से है।[4] इसीलिए व्यवहार की अपेक्षा लोकाचार को बली माना है। यहाँ पर व्यवहार

---

१. केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्तव्यो हि निर्णयः ॥ वृ० वा० मि० पृ० ८८.

२. युक्तियुक्तं तु कार्य्यं स्याद्दिव्यं यत्र विवर्जितम्।
धर्मस्तु व्यवहारेण बाध्यते तत्र नान्यथा। कात्यायन, वी० मि० पृ० ८९.

३. अनुमानेन निर्णीतं चरित्रमिति कीर्त्तितम्।
देशस्थित्या द्वितीयं तु शास्त्रविद्भिरुदाहृतम् ॥ वृहस्पति वही ८७.

४. अत्र माधवीये चरित्रं तु स्वीकरणे इति पाठं लिखित्वा
देशाचारश्चरित्रं तत्स्वीकारे तदेव निर्णये हेतुरिति व्याख्यातम्।
वी० मि० व्य० प्र० पृ० ७.

तथा चरित्र के अन्तर को लिखित नियम तथा परम्परागत नियम अथवा अलिखित नियम के रूप में लिया जा सकता है। लिखित नियम कालान्तर में समाज के लिए इतने उपयोगी नहीं रह जाते जितने प्रारम्भ में रहते हैं। लिखित नियम की जटिलता को परम्परायें दूर करती हैं। ये परम्परायें समाज के नये दृष्टिकोण को व्यक्त करती हैं। नारद ने इन्हीं परम्पराओं को स्पष्टरूप से मान्यता प्रदान किया है। मनु तथा याज्ञवल्क्य परम्पराओं को इस प्रकार की मान्यता नहीं देते। मनु का श्रेणी जाति आदि के नियमों के अनुसार निर्णय देने का विधान परम्पराओं का प्रबल समर्थन नहीं कहा जा सकता। नारद का लोकाचार का समर्थन वैधानिक मान्यता प्रदान करता है।

चरित्र की अपेक्षा राजशासन अधिक बली माना गया है। लोकाचार के विरुद्ध यदि राजा किसी प्रकार की आज्ञा प्रसारित करता है तब वह लोकाचार की अपेक्षा मान्य समझी जाती है। राजा को धर्म की संस्थापना करने वाला कहा जाता है। अतएव जिस लोकाचार के विरुद्ध वह जिस धर्म की स्थापना करेगा उसका मान्य होना स्वाभाविक ही है। स्मृतियों के विरुद्ध यदि किसी प्रदेश में कोई परंपरा दिखती है तो उसे हटाकर वह नवीन नियम प्रसारित कर सकता है।[1] राज शासन का अभिप्राय इस प्रसंग में राजा की आज्ञा से है। साधारणरूप से "राजशासन" का धर्म व्यवहार तथा चरित्र की अपेक्षा बली कहे जाने से यह आभास मिलता है कि राजा के पास विधि निर्णय करने का अधिकार था तथा उसके द्वारा बनाये हुए कानून धर्म की अपेक्षा मान्य समझे जायेंगे अथवा वह धर्म के विरुद्ध भी कानून बना सकता था ; यह आभास मात्र ही है। "राजशासन" की मान्यता का ऐसा अर्थ लेना युक्तियुक्त नहीं कहा जायगा। राजा को ऐसा कोई अधिकार नहीं था जिसके अनुसार यह कहा जा सके कि वह धर्म विरुद्ध कानून बना सकता था। नारद के उक्त श्लोक का केवल यही अभिप्राय है कि वह एक निष्पक्ष दर्शक की भांति सामाजिकों के कार्यों को देखता रहे, परन्तु, एक संरक्षक के समान, जब वह देखता है कि औचित्य की अथवा स्मृतियों की सीमा का अतिक्रमण करने वाली परम्परायें सामने आ रही हैं तब अपनी आज्ञा से उनको समाप्त कर दे और यदि यह समझता है कि समाज में स्वस्थ परम्पराओं का विकास हो रहा है तब उसके कुछ न कहने पर वे विकसित होती रहेंगी तथा जब उन परम्पराओं को लेकर न्यायालय में कोई विवाद उपस्थित होता है तब वहाँ भी उनको व्यवहार की अपेक्षा मान्यता प्राप्त होगी। इस प्रकार से मान्यता

---

१. न्यायशास्त्रविरोधेन दोषदृष्टेस्तथैव च ।
यं धर्मं स्थापयेद्राजा न्याय्यं तद्राजशासनम् ॥

कात्यायन, वी० मि० व्य० प्र० पृ० ७.

मिलने पर वे परम्परायें न रह कर स्वीकृत नियम कहलाने लगेंगी। उक्त श्लोक के बलाबल का यही अर्थ समीचीन जान पड़ता है। कात्यायन ने तो स्पष्टरूप से कहा है कि जहाँ यह बलाबल अन्यथा रहता है वहाँ धर्म का हनन होता है।[1]

नारद का उक्त श्लोक निर्णय के कार्य में मार्ग प्रदर्शक कहा जा सकता है। निर्णय दिये जाने पर विजित पक्ष वैवादिक द्रव्य (चल अथवा स्थिर) ग्रहण करता है। विजित पक्ष को जयपत्र दिये जाने का उल्लेख भी नारद ने किया है।[2] जयपत्र आदि के विषय में मनु तथा याज्ञवल्क्य कुछ नहीं कहते। नारद में मनु तथा याज्ञवल्क्य की अपेक्षा अनेक मौलिक विचार है; यह भी उनमें से एक कहा जा सकता है। जब तक जयपत्र नहीं मिल जाता विवाद का द्रव्य लेने का अधिकार विजयी को नहीं रहता। यदि धनवान ऋणी निर्णय के उपरान्त भी धन नहीं देता तब राजा उसे दिलाकर तथा उसमें बीसवाँ भाग दण्ड के रूप में स्वयं ग्रहण करेगा।[3]

पुनर्न्याय

व्यवहार की परिसमाप्ति निर्णय से होती है। परन्तु यह निर्णय, कुछ अवस्थाओं में, अंतिम निर्णय नहीं कहा जा सकता। स्मृतियाँ पुनर्न्याय का विधान भी करती हैं। पुनर्न्याय का आवेदन प्रत्येक निर्णय के लिए नहीं किया जा सकता। तीनों ही स्मृतियों में पुनर्न्याय का विधान है। मनु तथा नारद में दो शब्द "तीरित" तथा "अनुशिष्ट" हैं; निर्णय की ये दो अवस्थायें हैं। इन दोनों अवस्थाओं में भी पुनर्न्याय संभव है। "तीरित" का अर्थ समाप्त करना अथवा निर्णय तक पहुँचना होता है; इसी तरह से "अनुशिष्ट" का अर्थ आदेशित अथवा जयपत्र में उल्लिखित होने से है। यदि धर्मपूर्वक निर्णय ले लिया गया है अथवा निर्णय की उक्त अवस्थायें प्राप्त हो गई हैं तब पुनर्न्याय नहीं होता[4]

---

१. अनेन विधिना युक्तं बाधकं यद्यदुत्तरम्।
अन्यथाबाधनं यत्र तत्र धर्मो विहन्यते।। कात्यायान, वी० मि० व्य० प्र० पृ० १०

२. मध्ये यत् स्थापितं द्रव्यं चलं वा यदि वा स्थिरम्।
पश्चात्तत्सोदयं दाप्यं जीयते पत्रसंयुतम्।। नारद स्मृति पा० मा० व्य० का० पृष्ठ १०० से में उद्धृत।

३. ऋणिकः सधनो यस्तु दौरात्म्यान्न प्रयच्छति।
राज्ञा दापयितव्यः स्याद्गृहीत्वांशं तु विंशकम्।।नारद स्मृति ३, १३२ पा० मा० व्य० का० पृष्ठ २००.

४. तीरितं चानुशिष्टं च यत्र क्वचन यद्भवेत्।
कृतं तद्धर्मतो विद्यान्न तद्भूयो निवर्तयेत्।। मनु० ९, २३३.

चाहे दंड पाने वाला उससे सहमत हो अथवा असहमत हो। यह व्यवस्था स्पष्ट रूप से सभी निर्णयों में पुनर्न्याय को अस्वीकार करती है। परन्तु नारद के अनुसार उक्त अवस्थाओं (तीरित तथा अनुशिष्ट) में यदि कोई यह मानता है कि निर्णय अधर्मपूर्वक हुआ है तब जितना दण्ड विधान निर्णय में हुआ हो उसका दुगना निर्धारित करके पुनः उसे देखना चाहिए। याज्ञवल्क्य भी यही मत रखते हैं।[1]

पुनर्न्याय तभी होता था जब साक्षी, सभ्य, प्राड्विवाक आदि कोई अनुचित रीति से व्यवहार देखते हों। मनु, याज्ञवल्क्य, तथा नारद इन अवस्थाओं में पुनर्न्याय का विधान करते हैं। राजा को यह अधिकार है कि वह सभ्य तथा प्राड्विवाक आदि के अनुचित निर्णय को फिर से देखे तथा अनुचित कार्य के लिए उनको दण्ड दे।[2] इसी प्रकार से कूटसाक्ष का पता लगने पर निर्णय की जो भी स्थिति रहेगी वह सब नहीं के बराबर समझी जाती थी। प्राड्विवाक आदि के अन्यथा कार्य करने पर पुनर्न्याय के अतिरिक्त उनको दण्ड देने का भी विधान है। पुनर्न्याय की केवल एक ही अवस्था थी, केवल नियम विरुद्ध कार्य में ही पुनर्न्याय होता था। नारद स्पष्ट रूप से कहते हैं कि साक्षी तथा सभ्यों आदि के दोष में ही पुनर्न्याय होता है तथा अपने कार्यों से हारने वाले के लिए पुनर्न्याय नहीं कहा गया है।

प्रत्यभियोग

अभियोग लगाने का नियम प्रारम्भ में कहा जा चुका है, आवेदन तथा भाषा में एकरूपता रखकर अभियोग लगाया जाता है, भाषावाद के पश्चात् उत्तरपाद में अभियुक्त को अपनी सफाई देनी होती है। वह (अभियुक्त) अपने ऊपर लगाये गये अभियोग के विरुद्ध वादी को अपराध में सम्मिलित नहीं कर सकता है।[3] सामान्य रूप

---

१. तीरितं चानुशिष्टं च यो मन्येत विधर्मतः।
द्विगुणं दण्डमादाय पुनस्तत्कार्यमुद्धरेत्॥ ना० स्मृति, २,६४ तथा या० स्मृ० २–३

२. अमात्यः प्राड्विवाको वा ये कुर्य्युः कार्यमन्यथा।
तत्स्वयं नृपतिः कुर्यात् तान् सहस्रं तु दण्डयेत्॥
दुष्टांस्तु पुनर्दृष्ट्वा व्यवहारान्नृपेण तु। मनु० ९, २३४
सभ्याः सजयिनो दण्ड्या विवादाद् द्विगुण दमम्॥ या० स्मृति २, ३०५
दुर्दृष्टे व्यवहारे तु सभ्यास्ते दण्डभागिनः॥ ना० स्मृति १,६६

३. अभियोगमनिस्तीर्य नैनं प्रत्यभियोजयेत्।
अभियुक्तं च नान्येन नोक्तं विप्रकृतिं नयेत्॥ या० स्मृति २, ९

से प्रत्यभियोग वर्जित है क्योंकि उत्तरपाद में वह अपनी सफाई में सब कुछ सत्य सत्य कह सकता है। इसलिए प्रत्यभियोग की कोई आवश्यकता ही नहीं रह जाती। इस साधारण नियम के अपवाद हैं, जिनके अनुसार प्रत्यभियोग किया जा सकता है।

यदि प्रतिवादी के ऊपर कलह अथवा साहस का अभियोग है तो वह (अभियुक्त) वादी को प्रत्यभियोग के द्वारा अपराध में सम्मिलित कर सकता है। नारद तथा याज्ञवल्क्य केवल उक्त प्रकार के अपराध में प्रत्यभियोग का आदेश देते हैं। मनु ने प्रत्यभियोग का उल्लेख नहीं किया है। वर्तमान समय में भी मारपीट के अपराध में दोनों ही पक्ष आवेदन दे सकते हैं। नारद तथा याज्ञवल्क्य के अनुसार वाक्पारुष्य तथा साहस के मामले में प्रत्यभियोग किया जाना चाहिए।[1] प्रत्यभियोग में दोनों ही पक्ष अपराधी की कोटि में आ जाते हैं। ऐसी स्थिति में दोष तो दोनों को ही लगता है। परन्तु जिसका पहिले का होता है उसे अधिक दण्ड प्राप्त होता है।[2] उदाहरण लेना अनुपयुक्त न होगा। एक व्यक्ति दूसरे पर यह अभियोग लगाता है कि इसने मुझे मारा, मेरा प्राण लेने का प्रयत्न किया; दूसरा व्यक्ति यह कहता है कि मैंने मारा अवश्य परन्तु पहले उसने मुझे डंडे से मारा तब मैंने मारा। ऐसी स्थिति में प्रत्यभियोग से एक लाभ यह होगा कि उसके अपराध का दण्ड कम मिलेगा तथा पहले मारने वाले को अधिक दंड मिलेगा। परन्तु यदि अभियोग रुपये न देने का है तब अभियुक्त इस आधार पर कि उसने (अभियोक्ता ने) पहिले हमसे रुपये लिए थे और लौटाये नहीं थे, प्रत्यभियोग नहीं कर सकता।

व्यवहार की उक्त पद्धति को देखने से भारतीय न्याय पद्धति की उत्कृष्टता स्वयंमेव स्पष्ट हो जाती है। व्यवहार के प्रारम्भ से अंत तक न्याय का एक ही उद्देश्य रहता है—सत्य की खोज करना, सत्य का असत्य के द्वारा हनन न होने देना। इसी लिए न्याय कार्य करने वालों को यह आदेश दिया जाता है कि जिस प्रकार व्याध घायल के शरीर से गिरने वाले रुधिर के सहारे मृग को जंगल में से खोज निकालता है उसी प्रकार सत्य का पता लगाना चाहिए। सत्यान्वेषण के लिए सभ्य, प्राड्विवाक, साक्षी आदि राजा को सहायता करते थे। राजा इन्हीं के माध्यम से सत्यानृत विवेक करने में समर्थ होता था। वर्तमान समय में सत्यान्वेषण के लिए "वकील" नामक एक नवीन व्यावसायिक भी न्यायालय में प्रविष्ट हो गया है। यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता

---

१. कुर्यात्प्रत्यभियोगं तु कलहे साहसेषु च ।। या० स्मृति २, १०
पारुष्ये साहसे चैव युगपत्सम्प्रवृत्तयोः ।। ना० स्मृति १५, १०

२. पूर्वं नाक्षारयेद्यस्तु नियतं स्यात्स दोषभाक् ।
पश्चात्‌ः सोऽप्यसत्कारी पूर्वं तु विनयो गुरुः ।। ना० स्मृति १५, ९

है कि स्मृतियाँ उक्त व्यावसायिक को मान्यता प्रदान करती थीं अथवा नहीं। श्री के० पी० जायसवाल महोदय मनु० ८, १७३ में प्रयुक्त होने वाले विप्र शब्द को "वकील" के लिए ग्रहण करते हुए कहते हैं कि व्यवसायिक वकील मनु के समय से अथवा कम से कम पहली शताब्दी ईस्वी से रहे होंगे।[1] उक्त श्लोक का अर्थ देखने से यह स्पष्ट नहीं होता है कि वह (विप्र) कोई व्यावसायिक पुरुष होगा। उसके अर्थ का सारांश यह है—"साक्षी, प्रतिभू, तथा कुल, ये तीन दूसरों के लिए कष्ट पाते हैं तथा विप्र, आढ्य, वणिक् तथा नृप, ये लाभ उठाते हैं।" इससे यह अर्थ नहीं निकाला जा सकता कि विप्र शब्द वकील के लिये आया है। टीकाकारों ने इस श्लोक को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि विप्र को निर्णय के उपरान्त किसी के भी विजित होने पर दानादि प्राप्त हो सकता है—यही उसका लाभ है। इसके अतिरिक्त इस श्लोक के पूर्वापर के सम्बन्धों को देखने से भी वकील का अर्थ नहीं निकलता। इसके पूर्व का श्लोक ८,१६२ बल पूर्वक दी गई, बल के द्वारा उपभुक्त (भूमि आदि), बल पूर्वक लिखा गया (ऋण पत्र आदि) आदि में भी सभी क्रियाओं को न की हुई के समान कहते हैं। अतः ८,१६८ तथा १७९ को एक साथ लेने पर भी विप्र का तात्पर्य वकील से नहीं निकलता। इसके अतिरिक्त जहाँ विप्र को लाभ होना लिखा है वहीं बनिये का भी उल्लेख है। अतः यदि विप्र से वकील का आशय हो सकता है तब वणिक् से किसका तात्पर्य लिया जायगा? साधारण अर्थ में बनिया को विजित पक्ष के द्वारा क्रय विक्रय किये जाने की स्वाभाविक प्रवृत्ति से लाभ हो सकता है। इसी तरह से दान के द्वारा विप्र को लाभ हो सकता है।[2]

यथार्थ में देखा जाय तो उस समय वकील नियुक्त करने की प्रथा अत्यन्त अनावश्यक तथा अनुपयोगी थी। वकील की वर्तमान प्रथा का महत्व सत्य की छानबीन करने में सहायता देने में है। आजकल वह एक पक्ष का प्रतिनिधि होकर अपने पक्ष का समर्थन करने लगा है। यह भिन्न बात है; उसका वास्तविक कर्तव्य तो यह है कि वह हर प्रकार से छानबीन करके सत्य की तह तक पहुँचकर यथार्थ निर्णय करने में न्यायाधीश की सहायता करे, अनुचित पक्षपात करके सच को झूठ और झूठ को सच सिद्ध करना न्याय में सहायता करना नहीं है। स्मृतियों के विधान के अनुसार सत्य के अन्तस्तल में पहुँचने के लिए प्राड्विवाक सभ्य साक्षी तथा राजा आदि के लिए जिस प्रकार के नियम उपलब्ध होते हैं। उनके अनुसार उन्हें किसी व्यावसायिक कार्यपटु व्यक्ति की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसके अतिरिक्त यदि वकील का सम्प्रदाय होता तब स्मृतियाँ जहाँ साक्षी

---

१. K. P. Jayaswal, Manu and Yajnavalkya, PP. 288–292.
२. S. Vardachariar, Hindu Judicial System, Page 156.

तथा ऋण पत्र आदि के लेखक के विषय में कहतीं हैं वहाँ इसके लिए भी कुछ न कुछ आदेश अवश्य देतीं। ऋण पत्र के लेखक की तुलना आधुनिक अर्जीनवीस से की जा सकती है, जब अर्जीनवीस के विषय में स्पष्ट उल्लेख मिलता है तब वकील, जो कि अर्जीनवीस से कहीं अधिक महत्व रखता है, के विषय में मौन धारण करना, उस सम्प्रदाय का अभाव सूचित करता है।

दंड विधान (दंड का सिद्धान्त)

न्याय व्यवस्था की योजना उसके द्वारा प्राप्त होने वाले उपचार के लिए ही प्रमुख रूप से होती है। अपराधी का शमन न्यायालयों की औपचारिक शक्ति के ही द्वारा होता है। स्मृतियों की न्याय व्यवस्था भी अपने इस आदर्श को ही दृष्टि में रखकर की गई है। मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद में विस्तार के साथ अपराध तथा उसनके उपचार अथवा दण्ड व्यवस्था का विवेचन किया गया है। उपचार के नियम (विधियाँ) बताने के पूर्व स्मृतियाँ उन विषयों को जिनके अंतर्गत विवाद उत्पन्न हो सकता है, अठारह शीर्षकों में रखती हैं। व्यवहार के अठारह पदों का तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार विवाद अठारह शीर्षकों में से किसी एक के ही अंतर्गत रहेंगे।.यह विधान औपचारिक कहा जायगा। उपचार की अग्रयोजना उक्त अठारह प्रकार के पदों के अनुसार ही दी गई है। इन अठारहों पदों में समस्त विवादों को रखना उन सभी कानूनवेत्ताओं को स्वीकृत था जो प्राचीन भारत की न्याय पद्धति के आधारस्तंभ कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए उक्त स्मृतिकारों के अतिरिक्त बृहस्पति, कौटिल्य आदि ने भी व्यवहार के अठारह पदों का उल्लेख किया है। मनु तथा नारद व्यवहार पदों को एक स्थान पर ही संग्रहीत करके उनका उपचार बतलाते हैं, परन्तु याज्ञवल्क्य ने व्यवहार पदों को एक स्थान पर नहीं गिनाया है, वे सब व्यवहार प्रकरण में विकीर्ण हैं। स्मृतियों के अनुसार विवाद के अठारह पद इस प्रकार हैं :

१—**ऋणदान**—इसमें ऋण के लेने देने से उत्पन्न होने वाले विवाद आते हैं।

२—**निक्षेप**—इसके अंतर्गत अपनी वस्तु को दूसरे के पास धरोहर रखने से उत्पन्न विवाद आते हैं।

३—**अस्वामी विक्रय**—अधिकार न होते हुए दूसरे की वस्तु बेच देना।

४—**संभूय समुत्थान**—अनेक जन मिलकर साझे में व्यवसाय करना।

५—**दत्तस्य अनपाकर्म**—कोई वस्तु देकर फिर क्रोध आदि लोभ के कारण बदल जाना

६—**वेतन का न देना**—किसी से काम लेकर उसका मेहनताना न देना।

७—**संविद् का व्यतिक्रम**—कोई व्यवस्था किसी के साथ करके उसे पूरा न करना।

८—**क्रयविक्रय का अनुशय**–किसी वस्तु के खरीदने या बेचने में बाद में असंतोष होना।

९—**स्वामी और पशुपाल का विवाद**—चरवाहे की असावधानता से जानवरों की मृत्यु आदि के सम्बन्ध में।

१०—**ग्राम आदि के सीमा का विवाद**—मकान आदि की सीमा का विवाद भी इसी में आता है।

११—**वाक्-पारुष्य**—गाली गलौज करना।

१२—**दण्ड-पारुष्य**—मारपीट।

१३—**स्तेय (चोरी)**—यह कृत्य स्वामी से छिप कर होता है।

१४—**साहस-डकैती**—बलपूर्वक स्वामी की उपस्थिति में धन हरण।

१५—**स्त्री संग्रहण**—स्त्रियों के साथ व्यभिचार अथवा बलात्कार।

१६—**स्त्री पुंधर्म**—स्त्री और पुरुष (पति-पत्नी) के आपस में विवाद।

१७—**विभाग—दाय भाग**। पैतृक आदि सम्पत्ति का विभाजन।

१८—**द्यूत और समाह्वय**—दोनों जुआ के अंतर्गत आते हैं। प्राणरहित पदार्थों के द्वारा ताश चौपड़ जुआ द्यूत कहलाता है। प्राणियों के द्वारा तीतर बटेर आदि का युद्ध, घुड़दौड़ आदि समाह्वय है।

उपर्युक्त व्यवहार के अठारह पद मनुस्मृति के अनुसार हैं। नारद के व्यवहार के अठारह पदों की योजना मनु से कुछ अन्तर रखती है। मनु ने क्रय विक्रय (८) को एक ही पद के अंतर्गत रखा है, परन्तु नारद इन दोनों को अलग अलग पदों में रखते हैं; नारद ने स्वामिपाल विवाद (९) स्तेय (१३) स्त्री संग्रहण (१५) का उल्लेख अठारह पदों में नहीं किया है। परन्तु विवाद के अठारह पदों की पूर्ति अन्य प्रकारसे की है। उन्होंने क्रय-विक्रय को दो पदों के अंतर्गत रख कर तथा अभ्युपेत्यशुश्रूषा तथा प्रकीर्णक को व्यवहार पदों में रखकर अठारह की संख्या पूर्ति की है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य भी मनुस्मृति के अठारह पदों से कुछ भिन्नता रखते हैं; उन्होंने व्यवहार के १८ पद बतलाये हैं; उन्होंने भी क्रय विक्रय को दो पदों में रखा है तथा स्त्री पुंधर्म (१६) का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु नारद के समान अभ्युपेत्याशुश्रूषा तथा प्रकीर्णक का उल्लेख करने से संख्या पूर्ति हो जाती है। तीनों स्मृतियों में उक्त अन्तर गौण अन्तर है।[1] व्यवहार के पदों को इस

---

१. तेषामाद्यमृणादानं निक्षेपोऽस्वामिविक्रयः।
संभूय समुत्थानं दत्तस्यानपाकर्म च ॥
वेतनस्यैव चादानं संविदश्च व्यतिक्रमः।
क्रयविक्रयानुशया विवादः स्वामिपालयोः ॥

प्रकार शीर्षकस्थ करने का तात्पर्य यह नहीं था कि इन्हीं शीर्षकों के अंतर्गत यदि विवाद होगा तो उसका निर्णय किया जायगा तथा अन्यथा होने वाले विवादों को स्वीकार नहीं किया जायगा। ये शीर्षक जैसा कि पहिले कहा जा चुका है, सुविधा की दृष्टि से रखे गये थे; इन विवादों के ही भेदोपभेद के रूप में अनेक प्रकार के विवादों का उपचार स्मृतियों में उपलब्ध होता है। नारद ने इन प्रभेदों की संख्या १०८ बतलाई है।१ नारद की यह संख्या अंतिम रूप से ग्रहण नहीं की जा सकती है, परन्तु विवादों के चाहे कितने ही प्रकार हों वह उक्त शीर्षकों में से किसी न किसी के अंतर्गत आ जाता है।

नारद विवादों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बहुत अधिक मौलिक हैं। वे विवादों की उत्पत्ति में मानव मनोविज्ञान का आधार लेकर उनके अंतस्तल में (विवादों की उत्पत्ति के अंतरस्तल में) पहुँच जाते हैं। प्रत्येक विवाद की उत्पत्ति में काम क्रोध, लोभ अथवा मोह कारण रहता है। मनुष्य उक्त तीन भावनाओं से प्रेरित होकर जब किसी प्रकार का अनुचित कार्य करता है तब वह विवाद का रूप धारण कर लेता है। काम, क्रोध, लोभ अथवा मोह का चक्र बहुत विस्तृत है, इसके अंतर्गत मानव के प्रायः प्रत्येक कार्य आ जाते हैं; इनके बलवान् होने पर व्यक्ति आप से आप औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर देता है। यदि यह औचित्य का उल्लंघन विधियों का भी उल्लंघन हो जाता है, तब पीड़ित पद उसे विवाद का कारण बना सकता है। इसी प्रकार उक्त भावनायें विवादों के उद्देश्य को भी निश्चित करती है। अतः विवाद के उक्त तीन कारणों के साथ साथ उनके तीन प्रकार के उद्देश्य भी हो जाते हैं।[१] इन्हीं तीन उद्देश्य में से कोई

सीमाविवादधर्मश्च पारुष्ये दण्डवाचिके ।
स्तेयं च साहसं चैव स्त्रीसंग्रहणमेव च ।
स्त्रीपुंधर्मो विभागश्च द्यूतसमाह्वय एव च ।
पदान्यष्टादशैतानि व्यवहारस्थिताविह ।। मनु ८, ४–७ तथा
नारद स्मृति— १–१७–२०; या० स्मृति व्यवहार प्रकरण।

१. 'Of these again there are one hundred and eight subdivisions; therefore a judicial proceeding is said to have a hundred remifications owing to the diversity of men's claims. Narad Ch. IV. 21 Jolly's Translation. But Virmitroday gives a different reference according to it. Nar. Sam. 1.20.

२. Because it is instituted from one of these three causes; love, anger and cupidity, therefore, it is said to have

एक कानून का आश्रय लेने का कारण बना जाता है। नारद की उक्त विवेचना सार-गर्भित है, तथा यह उनके मानव मनोविज्ञान से कितना निकट का सम्बन्ध है यह बतलाता है। धर्मशास्त्रों में "षड् रिपुओं" का उल्लेख आता है, वस्तुतः काम क्रोध तथा मोह में ही "षड् रिपुओं" का संकलन हो जाता है। ये ही सभी प्रकार की उच्छृंखलता को उत्पन्न करते हैं, इनके बलाबल के द्वारा ही एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से भिन्नता रखता है, इनको अपने वश में रखने पर वही सदाचारी हो जाता है तथा जो उनके वश में हो जाता है वह दुराचारी कुत्सित कर्म करने वाला आदि समझा जाता है। व्यक्ति के कार्यों की सीमा इन्हीं के द्वारा निर्मित होती है, जो व्यक्ति इनको अपने वश में रखता है उसके कार्य सीमित (सीमा के अन्दर) रहते हैं; तथा जो इनके वश में हो जाता है उसके लिए नैतिक धार्मिक अथवा परम्परागत नियम अथवा कानून कोई सीमा नहीं रखते हैं, वह स्वाभाविक रूप से इनका अतिक्रमण कर देता है। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मानव हमेशा ही इन से प्रभावित होकर सीमा का उल्लंघन करता रहता है। इनका (काम, क्रोध, मोह का) वेग होता है। सामान्य रूप से व्यक्ति अपने विवेक से कार्य करता है। परन्तु इनके वेग के सम्मुख व्यक्ति का विवेक कुंठित हो जाता है, और तब वह अपराध कर देता है। यदि व्यक्ति का स्वभाव ही इस प्रकार हो जाता है कि वह इनके आवेग को नियंत्रित नहीं कर सकता तब वह बारम्बार अपराध की ओर प्रवृत्त होता है। दण्ड का विधान मानव विवेक को जागृत करने के लिए ही होता है। विवेक के जागृत रहने पर ही वह अपनी सीमा को पहिचान सकेगा और तब वह अनायास अपराध की ओर प्रवृत नहीं होगा। अपराधों का उपचार देते समय स्मृतियों की विवेक जागृत करने की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। अपराधी को एक बार दण्ड मिलने के बाद यदि वह पुनः इसी प्रकार का अपराध करता है तब उसके पूर्व के अपराध में मिलने वाले दण्ड का कोई महत्व अथवा प्रभाव ही नहीं रह जाता है। अपराधी के स्वभाव में परिवर्तन लाना ही दण्ड का वास्तविक उद्देश्य होना चाहिए। यदि दण्ड विधान उक्त उद्देश्य को पूर्ण नहीं कर पाता तो उसे अपूर्ण विधान अथवा तथ्यहीन विधान कहा जायगा। दण्ड विधान की सफलता उसके उद्देश्य की पूर्ति में ही है और यह तभी संभव हो सकता है जब अपराध, दण्ड विधान तथा मानव मनोविज्ञान में सामंजस्य हो।

दण्ड विधान के सम्बन्ध में उपरोक्त सामंजस्य दण्डदाता की निष्पक्षता की अपेक्षा करता है। यदि दण्ड देने का अधिकार ऐसे व्यक्ति के हाथ में है जो स्वयं अभियुक्त

---

three causes; these are three motives for going to law. Nar. Sam. Jolly's Trans. Chap. I–22.

द्वारा त्रसित है तब दण्डविधान से निष्पक्षता की आशा नहीं की जा सकती, अथवा किसी वर्ग विशेष के ही हाथ में दण्ड देने की शक्ति निविष्ट कर दी जाय तो भी वर्ग-द्वेष की स्वाभाविक प्रवृत्ति से निष्पक्ष न्याय असंभव हो सकता है। पीड़ित व्यक्ति अपराध की गुरुता की अपेक्षा अधिक दण्ड देने की प्रवृत्ति रखता है। इसी प्रकार से वर्गहित की संकुचित भावना अपने वर्ग के अपराधियों को हल्का दण्ड देने की तथा दूसरों को कठोर दण्ड देने की प्रवृत्ति से सर्वथा उन्मुक्त नहीं हो सकती है। इसलिए सर्व प्रथम स्मृतियों के दण्ड विधान में इसका अनुशीलन करना युक्तियुक्त होगा कि वह इन दोषों से युक्त है अथवा रहित है।

स्मृतियों के अनुसार राजा ही दण्डदाता है। राजा के लिए वैवस्वतव्रत (यमव्रत) को पालन करते हुए दण्ड देने का विधान है। यह व्रत राजा को सर्वथा निरपेक्ष बना देता है। जिस प्रकार यम मृत्यु काल के उपस्थित होने पर मित्र-शत्रु प्रियपात्र अथवा अप्रिय पात्र का विचार न करते हुए अपना कार्य करते हैं, ठीक उसी प्रकार राजा के लिए भी इसी प्रकार से कार्य करने का विधान है। राजा न तो अपराध से त्रसित ही है और न वह किसी वर्ग विशेष में संबद्ध है। वहाँ उसके क्षत्रिय होने से उक्त वाक्य में असत्यता का आभास हो सकता है परन्तु तथ्य यही है कि राजा राजा है, वह क्षत्रिय बाद में है। राजा के रूप में वह अपनी प्रजा के लिए पिता है, जब राजा समस्त प्रजा का पिता हो जाता है तब यह कहना अनुचित होगा कि वह क्षत्रिय वर्ग से सम्बंधित है, उसकी संतति चारो वर्णों की प्रजा है। अतएव उसे वर्ग की संकुचित सीमा के अन्दर नहीं रखा जा सकता, राजा को ही दण्ड देने का अधिकार प्रदान करने से दण्ड विधान में निष्पक्षता संभाव्य है

सैद्धान्तिक रूप से दण्ड देने में तीन उद्देश्य रहते हैं। प्रथम के अनुसार दण्ड मे बदले की भावना रहती है अथवा "आँख के बदले में आँख लेने" की प्रवृत्ति रही है। द्वितीय के अनुसार दण्ड के द्वारा समाज में एक उदाहरण रखने की आकांक्षा रहती है अर्थात् अपराधी का दण्ड इस प्रकार का हो जो लोगों के हृदय में भय का संचार करे जिससे अन्य लोग अपराध की ओर प्रवृत्त न हों। तृतीय सिद्धान्त का उद्देश्य सुधारवादी कहा जा सकता है, इसमें अपराधी को सुधारने का प्रयत्न किया जाता है, ताकि वह पुनः उस प्रकार का अपराध न करे। पहिला सिद्धान्त मानव स्वभाव से अनुप्राणित है। मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है कि जिसने उसको पीड़ित किया है उससे वह किसी न किसी रूप में बदला ले। इस प्रकार द्वन्द्व प्रायः वहीं संभव होता है जहाँ दण्डदाता का पीड़ित वर्ग से संबंध हो अथवा वह स्वयं पीड़ित हो। स्मृतियों के अनुसार दण्ड विधान किसी सम्बन्धित पक्ष के हाथ में नहीं था, अतः यह कहना अनुचित होगा कि स्मृतियों के दण्ड विधान बदले की भावना पर आधारित थे।

स्मृतियों में प्राप्त होने वाले दण्ड विधान का सूक्ष्म अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके दो उद्देश्य थे, एक तो अपराधी को पुनः अपराध न कर सकने के लिए उनकी सुप्त चेतना अथवा अंतःचेतना को जागृत करना अथवा अंतःचेतना को उन्मुख करना अर्थात् उसे चैतन्य करना था, दूसरी ओर समाज को अपराधों की ओर से हतोत्साहित करना। पुनः प्रथम प्रकार को उसके व्यावहारिक स्वरूप में देखने पर दो भागों में बाँटा जा सकता है। उसका प्रभाव दोहरा होता है। प्रथम प्रकार का प्रभाव व्यक्ति की आंतरिक इच्छा में परिवर्तन करने का प्रयत्न करता है, इसे अप्रत्यक्ष प्रभाव कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार के प्रभाव को प्रत्यक्ष प्रभाव कहा जा सकता है। व्यक्ति अपराध करता है, परन्तु मनुष्य स्वभावतः अपराध करने वाला प्राणी नहीं है। व्यक्ति अपराध उस समय करता है जब उसकी चेतना तथा अंतश्चेतना में चैतन्य मस्तिष्क (नारद के अनुसार), काम, क्रोध आदि से अभिभूत हो जाता है। यहाँ पर दण्ड का अप्रत्यक्ष प्रभाव व्यक्ति की इच्छा में परिवर्तन करता है। दण्ड का आघात अपराधी में अपनी मूल इच्छा में परिवर्तन करने की प्रेरणा उत्पन्न करता है; अपराधी की इच्छा में परिवर्तन होना उसका आभ्यांतरिक सुधार कहा जायगा, दण्ड के संघात से उत्पन्न प्रेरणा ही उसको आभ्यंतरिक सुधार में प्रवृत कर सकता है,[१] तभी उसकी अपराध की इच्छा में सुधार हो सकता है। दण्ड का दूसरा प्रभाव प्रत्यक्ष कहा जायगा। व्यक्ति समाज का अंग है तथा वह उसका सदस्य भी है, उसकी (व्यक्ति की) यह स्थिति उसे कर्तव्य तथा अधिकारों के मंडल में रखती है, अपने अधिकार से वह अपने व्यक्तित्व का विकास करता है; उसका कर्तव्य समाज के व्यक्तित्व का विकास करना है। यदि व्यक्ति अपनी स्व-इच्छा से प्रेरित होकर अपराध करता है तब वह अपने कर्तव्य से च्युत हो जाता है। कर्तव्य से च्युत होने पर वह अधिकार से भी च्युत हो जाता है, क्योंकि अधिकार कर्तव्यों पर ही आधारित है। पुनः अधिकारों का उपभोक्ता ही बनाना दण्ड का प्रत्यक्ष प्रभाव कहा जा सकता है।

दण्ड का दूसरा प्रभाव समाज पर पड़ता है, समाज में वह दण्ड एक उदाहरण

---

१. Indirectly punishment is and in order to be effectually preventive must be a reformation of the will or rather (for the will can only be reformed within) a check which makes possible the criminals reformation of own will.' Page 50. E. Barker. 'Political Thought in England,' 1848–1914.

बन जाता है; यह उदाहरण सामाजिकों पर उसी प्रकार का प्रभाव रखता है जिसका प्रकार का प्रभाव अपराधी पर दण्ड का रहता है। अपराधी ने अपराध किया है इसलिये उसे उसका दण्ड मिला तथा उसने उसके प्रभाव का अनुभव किया, सभी सामाजिकों ने अपराध नहीं किया है। परन्तु समाज में कुछ अंश ऐसे हो सकते हैं जो अपनी अंतर्बुद्धि में अपराध की भावना रखते हों; उसके लिए वह उदाहरण ही दण्ड बन जाता है तथा वे अपराध की मनोवृति दूर करने के लिए प्रयत्नशील होते हैं। अपराध निरोध का यह सिद्धान्त अपराध अपराधी तथा समाज को दृष्टि में रखकर किया जाता है। स्मृतियों की दण्ड-व्यवस्था कहाँ तक उक्त आदर्श-को संगृहीत करती थी यह उनके दण्ड के सिद्धान्तों के अनुशीलन से ही स्पष्ट हो सकेगा।

दण्ड का प्रथम सिद्धान्त (बदले की भावना से दिया जाना) को सैद्धान्तिक रूप से देखने पर अपराधी को उसी प्रकार का दण्ड मिलता है जैसा उसने अपराध किया हो अर्थात यदि किसी ने किसी का हाथ काट लिया हो तो उसका भी हाथ काट दिया जाना चाहिए। स्मृतियों का विधान अपेक्षाकृत कठोर जान पड़ता है। उसके अनुसार जिस अंग से हिंसा की गई हो उसको देखकर करना चाहिए; उदाहरण के लिए—हाथ से मारने पर हाथ का छेदन पैर से मारने पर पैर का छेदन आदि[1]—इस विधान को देखने से यह आभास मिलता है कि स्मृतियों की दण्ड व्यवस्था (**Retributive**) कही जा सकती है। परन्तु यह कथनपूर्ण सत्य नहीं है। यह ठीक है कि स्मृतियों का उक्त विधान जिस अंग से अपराध किया जाय उसका छेदन करने का आदेश करते हैं, परन्तु यह सिद्धान्त दण्ड की अंतिम अवस्था का है। मनु स्मृति प्रारम्भ में ही परिभाषा के रूप में दण्ड देने के सिद्धान्तों का उल्लेख करती है। किस समय किस प्रकार का दण्ड दिया जायगा इसके आदेश के उपरान्त ही उक्त नियम आते हैं। मनु के अनुसार दण्ड का चार प्रकार हैं (१) वाक्दण्ड (२) धिक्दन्ड (३) धनदंड और (४) वध दण्ड। यदि वध दण्ड से भी अपराधी वश में नहीं आता अर्थात् वह ठीक नहीं होता है तब इन चारों का ही प्रयोग करना चाहिए।[2] यहाँ वध दण्ड का तात्पर्य मृत्यु दण्ड से हीं है, अंग छेदन के अर्थ में

---

१. पाणिमुद्यम्य दंडं वा पाणिच्छेनदमर्हति।
पादेन प्रहरन्कोपात्पाच्छेदनमर्हति॥
येन केनचिदंगेन हिंस्याच्चेच्छ्रेष्ठमन्त्यजः।
छेत्तव्यं तत्तदेवास्य तन्मनोरनुशासनम्॥ मनु० ८, २८०, २७९
तथा या० स्मृति, २, २१५; ना० स्मृति १५ (१६) जाली द्वारा अनूदित।

२. वाग्दंडं प्रथमं कुर्याद्धिग्दण्डं तदनंतरम्।

"वध दण्ड" प्रयुक्त हुआ है क्योंकि वध दण्ड से ठीक न होने पर चारों प्रकार के दण्ड दिये जाने का विधान मृत्यु दण्ड में संभव नहीं हो सकता है। उक्त दण्ड के चारों प्रकारों का अभिप्राय इस प्रकार से है (१) वाक्दण्ड—प्रथम अपराध होने पर अपराधी को मौलिक भर्त्सना देनी चाहिए अर्थात तुमने यह ठीक नहीं किया है, भविष्य में ऐसा मत करना आदि; (२) धिक्-दण्ड—यदि प्रथम प्रकार के दण्ड से व्यक्ति सन्मार्ग पर नहीं आता है तब उसे धिक्कारना चाहिए अर्थात् "तुम्हारे इस पापयुक्त जीवन को तथा तुम्हारे इस कार्य को धिक्कार है," आदि वाक्यों से भर्त्सना करनी चाहिए; (३) धन दण्ड यदि उक्त दोनों प्रकार के दण्डों का अपराधी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तब उसे धन का दण्ड (fines) देना पड़ता है; (४) वध दण्ड—यदि दण्ड के तीनों प्रकार अपराधी को ठीक मार्ग पर नहीं ला पाते हैं तब उसे अंग छेदन आदि का दण्ड दिया जाना चाहिए। मनु के चार प्रकार के दण्डों में शारीरिक दण्ड का अंतिम स्थान दिया गया है। मनु का यह सिद्धान्त दण्ड विधान की आधारशिला है; प्रत्येक अपराध में उक्त नियम की अनुवृत्ति रहती है। यहाँ पर मनु की यह व्यवस्था किसी वर्ण का उल्लेख न किये जाने से सभी वर्णों के लिए हो जाता है। याज्ञवल्क्य तथा नारद इस प्रकार के किसी सिद्धान्त का उल्लेख नहीं करते।

मनु ने अपराधी के अपराध का भली भाँति निरीक्षण किये जाने का विधान किया है। दण्ड के चार प्रकार को क्रमशः दिया जाना इसकी अपेक्षा रखता है कि उसके अपराधों की सूची हो अर्थात अपराध किये जाने पर भली भाँति निरीक्षण किया जाना चाहिए कि इसने पूर्व में अपराध किया है अथवा नहीं, मनु की तर्क संगत योजना में इसका अभाव नहीं है; वे पूर्व के श्लोक में आदेश देते हैं कि अपराध का अनुबंध (उसका अपराध पुनः तो नहीं किया गया है—इसका परिज्ञान), स्थान काल, उसकी सामर्थ्य तथा अपराध की गुरुता लघुता आदि तत्वतः (भलीभाँति) देखकर ही दण्ड देना चाहिए।[1] इस प्रकार निरीक्षण किये जाने पर ही वाक्दण्ड, आदि देने का क्रम बना रह सकता है। मनु के ये नियम ऐच्छिक नियमों की कोटि में नहीं आते हैं; राजा इनको मानने के लिए बाध्य था। राजा यदि उपर्युक्त नियमों के अनुसार दण्ड नहीं देता तो वह अपने यश और कीर्ति

तृतीयं धनदण्डं तु वधदंडमतः परम् ॥
वधेनापि यदा त्वेतान्निग्रहीतुन्न शक्नुयात् ।
तदैषु सर्वमप्येतत्प्रयुंजीत चतुष्टयम् ॥ मनु० ८, १२९-१३०.

१. अनुबंधं परिज्ञाय देशकालौ च तत्वतः ।
सारापराधौ चालोक्य दण्डं दण्ड्येषु पातयेत् ॥ मनु० ८, १२६.

को नाश करने के साथ ही साथ धर्म के द्वारा अर्जित स्वर्ग का भी नाश करता है।[1] राजा के लिए इस प्रकार का आदेश उक्त नियमों के व्यवहार में लाने के लिये हैं, राजा के लिये यश, कीर्ति आदि का नाश उसके दण्ड विधान के रूप में है, जो कि नियमों के पालन न किये जाने पर उसे मिलेंगे।

मनु का उक्त दण्ड विधान अत्यन्त उत्कृष्ट दण्ड विधान कहा जायगा। मनुस्मृति के दण्ड विधान को क्रमहीन अथवा तर्कहीन कहना मनुस्मृति को न समझने के ही कारण संभव है। यहाँ पर मनु ने जिस क्रम को दिखलाया है वह याज्ञवल्क्य तथा नारद में (जो कि मनुस्मृति के बहुत बाद के हैं) नहीं है। यह माना जा सकता है कि नारद और याज्ञ-वल्क्य मनु की अपेक्षा कम कठोर दण्डविधान करते हैं परन्तु मनु का कठोर दण्ड विधान चतुर्थ स्थान में है, उससे पूर्व के तीन दण्ड विधान में धन दण्ड (fines) के सिद्धान्त को नारद तथा याज्ञवल्क्य ने अधिक विकसित किया है; यह विकास मनु के प्रथम दो प्रकार के दण्डों (वाकदण्ड–धिकदण्ड) की उपादेयता के सम्मुख नगण्य है। मनु अपने प्रथम दो प्रकार के दण्डों की तुलना किसी भी काल की तथा किसी भी स्थान की उत्कृष्ट दण्ड व्यवस्था से सफलता पूर्वक कर सकते हैं। मनु का सिद्धान्त मानव मनोविज्ञान पर आधारित है। व्यक्ति ने अपराध किया है; यह अपराध यदि अपराध करने की प्रवृत्ति के द्वारा नहीं किया गया है तब तुमने अच्छा नहीं किया है, पुनः न करना इतना कहना ही पर्याप्त होगा, यह वाक्य उसकी सुप्त चेतना को जागृत कर देगा। चैतन्य होने पर वह अपने विवेक से कार्य करेगा; उक्त वाक्य उसको एक धक्के के समान लगेगा। उस धक्के से ही वह सुधर सकता है। परन्तु यदि वह इतना sensitive (भावुक) नहीं है कि उक्त वाक्य को दण्ड समझ सके, तब उसे साधारण वाक्य के स्थान पर भर्त्सना प्राप्त होगी; किसी को धिक्कारना बहुत बड़ा दण्ड कहा जा सकता है; समस्त सभ्यों के मध्य में उसके जीवन के तथा उसके कार्य की भर्त्सना करना मौखिक दण्ड होते हुए भी विस्तृत प्रभाव रखती है। वह भर्त्सना सामान्य चर्चा का विषय बन सकता है। अपराधी के अंतःकरण में यह भर्त्सना आन्दोलन मचा सकती है; तथा यह विचार कि मुझे धिक्कारा गया है तथा लोग मेरे विषय में क्या धारणा बनाते होंगे आदि उसे सन्मार्ग में लाने के लिए पर्याप्त हैं। यह दण्ड पहिले वाले दण्ड से निर्विवाद रूप से अधिक कठोर कहा जायगा। मनुष्य प्रत्येक समय तथा प्रत्येक कार्य को बुद्धि तथा विवेक के द्वारा नहीं करता, बुद्धि-विवेक के रहते हुए भी बहुत से ऐसे कार्य होते हैं जो यंत्र की भाँति आपसे आप होते रहते हैं, कभी कभी इसी अंतःचेतना के आप से आप होने वाले कार्य चैतन्यावस्था में उसी के

---

१. मनुस्मृति ८, १२७

अनुसार परिणाम उत्पन्न कर सकते हैं। उदाहरण के लिए सावधानी से हम साइकिल चला रहे हैं। अपने आप होने वाली क्रिया के परिणामस्वरूप हम लड़ जाते हैं अथवा गिर पड़ते हैं, हमें चोट लगती है; हम पीड़ित पीड़ा का अनुभव करते हैं, इसका परिणाम यह होता है कि हमारी चेतना भविष्य में उस प्रकार की क्रियाओं में नियंत्रण रहेगी।[1] इसी प्रकार कर्तव्य के जगत में भी हमारे कुछ ऐसे कार्य हो सकते हैं जो हमें दण्ड प्राप्ति तक पहुँचा देते हैं, यहाँ पर दण्ड के रूप में हमें वाक्‌दण्ड मिलता है—यह दण्ड भविष्य की क्रियाओं को उसी भाँति नियंत्रित रखने में सहायक होता है जिस प्रकार साइकिल से गिरने पर लगने वाली चोट; परन्तु यदि साइकिल से गिरने पर हमें बहुत ही हल्की चोट लगी है तब संभव है वह घटना हमें सतर्क न रख सके और पुनः उसी प्रकार की दुर्घटना हो; इसी प्रकार से वाक्‌दण्ड यदि नियंत्रित रहने की आकांक्षा उत्पन्न करके हमें सन्मार्ग में नहीं लगा पाता तब धिक्‌दण्ड साइकिल की दूसरी दुर्घटना के समान प्रभाव दिखलाता है, यदि असावधान रहने का स्वभाव ही बन जाता है तब तीसरी दुर्घटना की भी संभावना रहती है; परन्तु यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामान्य रूप से नहीं कहा जा सकता। कोई व्यक्ति एक बार में ही सुधर सकता है तथा दूसरा व्यक्ति अनेक बार दण्ड पाने के उपरान्त भी अपराधी ही बना रह सकता है। परन्तु समाज अपराधियों का समुदाय नहीं है और न दण्ड विधान समाज के लिए है। अपराधियों में उन अपराधियों की संख्या अधिक रहती है जो काम, क्रोध, लोभ आदि के क्षणिक आवेश में आकर अपराध कर बैठते हैं। मनु ने इन्हीं अपराधियों को सुधारने के लिए मौखिक दण्ड का विधान किया था। वस्तुतः प्रथम अपराध जो कि क्षणिक आवेश वश किया गया हो उसके लिए मौखिक दण्ड ही सुधार का प्रमुख कारण हो सकता है, सुधार की यह योजना अर्वाचीन विचारकों में भी प्राप्त नहीं होती। अतएव दण्ड का सर्वप्रथम उद्देश्य अपराधी से अपराध का उन्मूलन करना था, इस उद्देश्य की पूर्ति मनु ने प्रथम दो प्रकार के दण्डों के विधान द्वारा की है।

दण्ड का केवल एक ही उद्देश्य नहीं होता (अर्थात वह केवल अपराधी में सुधार करने के लिए नहीं होता है)। दण्ड का उद्देश्य समाज को अपराध की ओर आकर्षित होने से बचाने के लिए भी था। मनु इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए द्रव्यदण्ड तथा शरीर दण्ड का विधान करते हैं। यहाँ भी दोनों प्रकार के दण्ड देना अपराधी के अपराध की उद्घोषणा करना है; इस उद्घोषणा का उद्देश्य समाज को अपराध की सूचना देना है, यह सूचना उन्हें (समाज के अन्य सदस्यों को) अपराध से अलग रहने के लिए प्रेरित करेगी। किन्तु यहाँ भी प्रथम उद्देश्य अपराधी के सुधार

---

१. E. Barker, Political Thought in England. PP–76–77.

का ही है। यदि अपराधी हठधर्मिता धारण करके पुनः अपराध करता है तब उसे अपराध के अनुसार ही शरीर दण्ड प्राप्त होता है। प्रारम्भ में कहे गये श्लोक के अनुसार वह जिस शरीर से अपराध करता है उसका वह शरीर अपराध का दण्ड वहन करता है। इसे बदले की भावना से प्रेरित होकर दिया गया दन्ड कहा जा सकता है, परन्तु यहाँ बदले की भावना उतनी नहीं दिखलाई पड़ती है। जितनी कि सुधार की भावना है, यदि यही दण्ड प्रथम दण्ड होता तब यह कहा जा सकता था कि यह बदले की भावना से अनुप्राणित है परन्तु अंतिम दण्ड होने के कारण यह एक आवश्यकता के रूप में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है। यह आवश्यकता दो प्रकार की है। एक तो अपराधी को राह पर लाने के अन्य साधनों के असफल हो जाने के कारण तथा दूसरे समाज को यह बतलाना कि बारंबार अपराध करने का अंतिम परिणाम क्या होता है। इसके कारण यह दण्ड दिया जाता है। याज्ञवल्क्य तथा नारद इन्हीं दो प्रकार के दण्ड विधानों का (धन दण्ड तथा शरीर दण्ड) ही उल्लेख करते हैं। अतएव मनु को इन दोनों ही स्मृति-कारों की अपेक्षा अधिक मनोवैज्ञानिक तथा मानवतावादी कहा जा सकता है।

न्याय व्यवस्था की उपर्युक्त विवेचना मनु, याज्ञवल्क्य तथा नारद स्मृति के ऊपर ही आधारित है। पाराशर स्मृति स्वयं इस विषय में कोई सामग्री प्रस्तुत नहीं करती है परन्तु इस स्मृति के प्रख्यात टीकाकार सायणमाधवाचार्य अपनी व्याख्या में इस त्रुटि की पूर्ति कर देते हैं। सामग्री की दृष्टि से मनु तथा नारद में न्याय पद्धति के ऊपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है; याज्ञवल्क्य स्मृति इस विषय में अपेक्षाकृत कम सामग्री प्रस्तुत करती हैं। इस स्मृति में व्यवहार के पदों की विवेचना अधिक तत्परता से की गई है।

—o—

परिशिष्ट (क)

मनुस्मृति की विषय–विवेचन शैली

मनुस्मृति में अनेक स्थलों में ऐसे वचन मिलते हैं जो या तो, ऊपरी दृष्टि से, परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं अथवा उनका अर्थ असंगत दिखाई देता है। उनके यथार्थ मर्म पर ध्यान न देने के कारण कुछ समालोचकों ने मनुस्मृति पर असम्बद्ध प्रलाप का आक्षेप किया है जिसका परिणाम यह हुआ है कि जो ग्रन्थ आर्य लोगों के लिये सदाचार के लिये परम प्रामाणित माना जाता था उस पर अब साधारण व्यक्तियों को अश्रद्धा का कारण मिल जाता है। उन अंशों की अप्रामाणिकता सिद्ध हो जाने पर अन्य उपयोगी अंशों में भी लोगों की आस्था नहीं होती। परन्तु वेदों की वैज्ञानिक शैली का अनुकरण करके मनुस्मृति में जिस विषय का प्रतिपादन हुआ है उस विशेष शैली के अनुसार समझ लेने पर उसमें विरोध नहीं रह जाता। अतः मुख्य विषय से विशेष रूप से सम्बन्ध न होने पर भी यह आवश्यक प्रतीत होता है कि मनुस्मृति की प्रामाणिकता की रक्षा की दृष्टि से जिनमें विरोध प्रतीत होता है उनमें से कुछ अंशों का यहाँ पर उल्लेख करके यह दिखाया जाय कि वेदों की वैज्ञानिक विवेचन शैली के अनुसार मनुस्मृति के ये अंश भी सर्वथा प्रामाणिक हैं; और उनके सम्बन्ध में जो कुतर्क उपस्थित किया जाता है वह निराधार है। इसके अतिरिक्त पूर्व में मनुस्मृति की रचना के काल-निरूपण के प्रसंग में यह प्रतिपादन किया गया है कि यास्क की अपेक्षा भी मनुस्मृति की प्राचीनता इस लिये सिद्ध होती है कि श्रुति में (वेद और ब्राह्मण) प्रतिपादित वैज्ञानिक सिद्धान्त मनुस्मृति की रचना के समय मनीषियों में सामान्य रूप से प्रचलित थे। अतः मनु ने भी उसी शैली में उन का सिद्धवत् निर्देश किया है। उस का भी दिग्दर्शन इन उदाहरणों से हो जाता है।

१. मनुस्मृति में ही प्रारम्भ में मिलता है कि सबसे पहिले "अप" की सृष्टि हुई और उसी ग्रन्थ में बाद में मिलता है कि अग्नि (तेज) से "अप" उत्पन्न हुआ।

२. वेदों की उत्पत्ति सबसे प्रथम हुई। फिर मिलता है कि अग्नि, वायु और रवि से क्रमशः ऋक्, यजुः और सामवेद निकाले गए।

३. मनुस्मृति में ओंकार को त्र्यक्षर गुह्य वेद माना है और यह लिखा है कि वेदत्रयी (ऋक्, साम और यजुः) उसमें प्रतिष्ठित हैं। यह असंगत सा है।

४. ऋषियों से पितर हुए,, पितरों से देव और दानव हुये और उनसे फिर चर और अचर सम्पूर्ण जगत् उत्पन्न हुआ। यह भी असंगत सा है।

५. मनुस्मृति में ही प्रारम्भ में मनु अपनी उत्पत्ति विराट पुरुष से बताते हैं, परन्तु ग्रन्थ के अन्त में भृगु कहते हैं कि कोई इसे अग्नि कहते हैं, कोई मनु, कोई प्रजापति, कोई इन्द्र और कोई साक्षात् शाश्वत ब्रह्म कहते हैं। इस प्रकार यहाँ भी परस्पर विरोध दिखाई देता है। अतः इस प्रकरण में इस प्रकार के विरोधों के परिहार करने का यथा समय प्रयत्न किया जाता है।

सभी स्मृतियाँ वेदों के अनुकूल होने पर ही प्रमाण मानी जाती हैं। जहाँ प्रत्यक्ष रूप से स्मृतियों के विरुद्ध वचन वेद में मिलते हैं वहाँ स्मृति तिरस्कृत हो जाती है, वेद का ही प्रामाण्य माना जाता है। परन्तु जहाँ पर स्मृति वचन के विरुद्ध वेद वचन उपलब्ध नहीं होते तथा अन्य स्मृतियों से सहारा मिलता हो वहाँ यह मान लिया जायगा के वेदों में कहीं न कहीं इसके लिए आधार अवश्य होगा। क्योंकि यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि इस समय वैदिक साहित्य पर जो उपलब्ध ग्रन्थ हैं वे अपूर्ण हैं। इनके अतिरिक्त भी ग्रन्थ थे जो काल के प्रभाव से नष्ट हो गये। वेद संहिता भाग का संकलन ही व्यास के द्वारा तत्कालीन उपलब्ध मंत्रों के आधार पर हुआ है।

इस प्रकार सभी स्मृतियों की वेद-मूलकता होने पर भी मनुस्मृति को जो विशिष्ट स्थान मिला है उसका मुख्य कारण यह है कि मनु ने अत्यन्त प्रचुरता के साथ वेदों का अनुकरण किया है। कहीं कहीं तो वेद के शब्दों को ही उद्धृत किया है। अनेक स्थलों में वेद वाक्यों का अपने शब्दों में अनुवाद किया है तथा अधिकांश में वेदों के अनुसार ही विज्ञान विषय का विवरण दिया है। अतः जब तक वैदिक विज्ञान का यथाविधि अध्ययन न किया जाय मनुस्मृति के अनेक स्थलों का हृदयंगम अर्थ समझ में नहीं आ सकता। अतः मनुस्मृति के मर्म को समझने के लिये वेदों में जो विज्ञान सम्बन्धी वर्णन है उनका दिग्दर्शन कराना अप्रासंगिक न होगा।

वेदों में कहीं स्तुति वाक्यों में, कहीं यज्ञ प्रकरण में तथा कहीं कहीं इतिहास प्रदर्शन द्वारा अनेक प्रकार के वैज्ञानिक गंभीर तत्वों का उल्लेख मिलता है। दार्शनिक विचार, सृष्टिप्रकरण, सामाजिक, राजनीतिक आदि विविध विषयों पर वेद संहिता ग्रन्थ तथा उनके आधार पर विस्तृत विवेचक ब्राह्मण ग्रन्थों में पर्याप्त सामग्री मिलती है। यहाँ वेदों में वर्णित वैज्ञानिक विषयों में से कुछ पर प्रकाश डालने का प्रयत्न किया जाता है। इन्हें दृष्टि में रखने पर मनुस्मृति के अनेक दुरूह विषयों का भी समाधान होने में सरलता होगी। केवल थोड़े से ही लिए जाते हैं; जिनमें समझने के लिये खींचातानी नहीं करनी पड़ती तथा सरल साधारण अर्थ ही पर्याप्त है। इन अंशों के और भी अर्थ किये गये हैं उस पर यहाँ समीक्षा नहीं की गई है।

ऋग्वेद में मिलता है कि यह सब (सम्मुख दृश्यमान संसार) पहले तम ही था अन्धकार से ढँका हुआ था, उसका कोई चिह्न न था। प्रवाही तथा बिखरा हुआ था। यह जो अविद्यारूपी अंधकार से आवृत था, परम पुरुष की तम की महिमा से उद्भुत हुआ।[1]

इसी का अनुवाद मनुस्मृति में यह मिलता है कि संसार प्रारंभ में तमोभूत था, अप्रज्ञात, अलक्षण इत्यादि था।[2] इसके बाद मनु स्वयंभु प्रजापति के आविर्भाव का वर्णन करने के बाद लिखते हैं कि स्वयंभु ने विविध प्रकार की प्रजा के सृजन की इच्छा से अभियान करके अपने ही शरीर से आदि में "अप" की सृष्टि की और उसमें बीज का आधान किया। वह बीज सुवर्ण का अण्ड हो गया और वह सूर्य के समान प्रभा वाला था। उसमें स्वयं ब्रह्मा उत्पन्न हुये जो समस्त लोक के पितामह हैं।[3]

यही भाव ब्राह्मणों में मिलता है। विशेष कर शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थल ऐसे हैं जहाँ यह मिलता है कि प्रजापति ने त्रयी विद्या में प्रतिष्ठित होकर प्रथम "अप" की सृष्टि की।[4] और भी स्थल हैं जहाँ यह स्पष्ट उल्लेख है कि प्रारम्भ में "अप" ही था। मनुस्मृति में इन्हीं वैदिक प्रमाणों के आधार पर स्वयंभु के द्वारा सर्वप्रथम "अप" की ही सृष्टि कही गई है। यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि श्रुतियों में "अप" शब्द है। वही शब्द मनुस्मृति में भी प्रयुक्त हुआ है। मनु ने अप शब्द की व्याख्या भी आगे के श्लोक में दे दी है और वहाँ पर्यायवाची शब्द भी लिख दिया है। साथ ही व्याख्या भी कर दी है कि "अ.प्" नार कहे गये हैं क्योंकि ये नर के सूनु हैं. . .नर से उत्पन्न हुये हैं। परन्तु इस व्याख्या के रहते हुये भी परवर्ती टीकाकारों ने इसके मार्मिक अर्थ पर प्रकाश नहीं डाला है। अन्तिम टीकाकार कुल्लूक भट्ट हैं। इन्होंने जल (पानी) अर्थ किया है। नारा की व्याख्या में ये लिखते हैं कि ये नर अर्थात् परमात्मा के सुनु हैं इसलिये जल को नार कहा गया है। परन्तु परमात्मा (नर) के सूनु तो आकाश, वायु, तेज आदि सभी हैं। उन्हें क्यों नार नहीं कहा। आप को ही क्यों नार कहा गया, इस पर वे मौन हैं। जल अर्थ करने में एक अड़चन यह पड़ती है कि "ब्राह्मणों" के ही आधार पर मनु ने भी भौतिक जल के प्रकरण में लिखा है कि आकाश से वायु हुआ, वायु से तेज, तेज से जल और जल से पृथ्वी हुई। इस तरह पाँच महाभूतों में जल चौथा है। दोनों में विरोध है। इसे दूर करने की दृष्टि से उन्होंने (कुल्लूक भट्ट) यह मान लिया है कि यह अप् की सृष्टि

---

१. तम आसीत् तमसा गूढमग्रे प्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
   तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाजायतैकम् ॥ ऋ० वे० १०-१२९-३
२. आसीदिदं तमोभूतम्. . . . . .। मनु० १।५
३. सोऽभिध्याय शरीरात्स्वात् . . . . . .मनु० १।८
४. शतपथ—६।१।८

महदादि सृष्टि के बाद की है। परन्तु वास्तव में यह अर्थ समुचित नहीं है। मनु ने लिखा है "प्रारम्भ में अप की ही सृष्टि की गई।" उधर पाँच महाभूतों में जल का चौथा स्थान स्पष्ट रूप से लिखा है। इससे ये दोनों एक नहीं हो सकते। वास्तव में यहाँ अप् से भौतिक जल से तात्पर्य कथमपि नहीं है। पंच भूतों की उत्पत्ति का प्रकरण अलग है और वहाँ जल का चौथा स्थान उचित ही है। परन्तु भौतिक जल यौगिक है, सब जानते हैं। प्रारम्भ में जो अप् और तत्व है वह मौलिक है, वर्तमान विज्ञान के अनुसार उसे हाइड्रोजन कह सकते हैं। इस प्रकार मौलिक, वैज्ञानिक तत्व और भौतिक, यौगिक तत्व में अन्तर है। मनु ने इस वैदिक विज्ञान को उन्हीं वैदिक शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया है, यह स्पष्ट है।

वेद---इस समय जो वेद ग्रन्थ उपलब्ध हैं वे संहिता और ब्राह्मण (उपनिषद् आरण्यक सहित) में विभक्त हैं। संहिता भाग तत्काल उपलब्व मंत्रों का संकलन है, यह सर्वमान्य है। इन मंत्रों के अर्थ पर ध्यान देने से स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है कि कहीं कहीं मंत्र केवल आधिभौतिक अर्थ में (ऐतिहासिक रूप में), कहीं आधिदैविक अर्थ में (देव प्राण शक्ति) तथा कहीं आध्यात्मिक (शारीरिक आत्मा के विवरण में) अर्थ में घटित होता है। अनेक मंत्र ऐसे भी हैं जो इन तीनों अर्थों में, या एक या दो अर्थों में प्रयुक्त हुये हैं। स्वयं वेद शब्द भी जो त्रयी विद्या ऋक् साम यजु आदि तीन भेद से तीन प्रकार का माना गया है अनेक स्थलों में इन ग्रन्थ रूपी मंत्रों के अर्थों में प्रयुक्त नहीं हुआ है। प्रत्युत इन मंत्रों के द्वारा प्रतिपाद्य, इनके द्वारा प्रकाशित अर्थ, अर्थात् विज्ञान के लिये प्रयुक्त हुआ है।[1] उदाहरण के लिये एक मंत्र तै० सं० का है।[2] जिसका अर्थ है कि पदार्थों की सब मूर्तियाँ ऋगवेद से उत्पन्न हुई है। सब प्रकार गति याजुषी है अर्थात् यजुर्वेद से उत्पन्न होती है। प्रत्येक तेज सामवेद का रूप है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि यहाँ शाब्दिक (ग्रन्थ रूप) ऋक् साम यजु से अभिप्राय नहीं है। इसी प्रकार दूसरा उदाहरण इस मंत्र में मिलता है।[3] अग्नि (याजुषाग्नि) जागता था, ऋक् उसकी कामना करते हैं, साम भी उसके पास आते हैं, सोम उससे कहता है कि हम तुम्हारी मित्रता में हैं। यद्यपि तुम से कुछ न्यून हैं। स्पष्ट है कि यह अर्थ शाब्दिक वेद में घटित नहीं होता। इसी प्रकार शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों में यह मिलता है कि प्रजापति ने सृष्टि की कामना से सर्व प्रथम वेदों का सृजन किया फिर उस त्रयी

---

१. विज्ञान और विद्या समानार्थक है इत्यादि।
२. तै० सं० ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः......
३. अग्निर्जागार तमृचः कामयन्ते...ऋ० ५।४४।१५

वेद की प्रतिष्ठा में प्रतिष्ठित हो कर अप् की सृष्टि की।[1] फिर उसी त्रयी विद्या को साथ लेकर अप् में प्रविष्ट हुआ इत्यादि वर्णन स्पष्ट ही शाब्दिक वेदों को कथमपि लक्षित नहीं करता। इसी प्रकार यजुर्वेद का वैज्ञानिक अर्थ शतपथ में इस प्रकार मिलता है।[2] जो यह बह रहा है यही यजुः है। गतिशील होता हुआ ही यह सब कुछ उत्पन्न करता है। उसी की गति के पश्चात सृष्टि होती है। इस लिये वायु ही यजु है। यह आकाश ही जूः है इसलिये वायु और अन्तरिक्ष ही यज्ञ है। यह तो आधिक वर्णन हुआ। इसी यज्ञ का आध्यात्मिक अर्थ भी इसी के साथ मिलता है; प्राण ही यजु है, प्राण ही चलता हुआ यह सब उत्पन्न करता है। यही आकाश जू है जो अन्तरात्मा में आकाश है। अतः प्राण और आकाश यजु है। यह प्रकरण भी स्पष्ट ही यजुः को शाब्दिक वेद के अतिरिक्त रूप में बता रहा है।

इसी प्रकार शतपथ में मिलता है कि सूर्य जो तप रहा है वह त्रयी विद्या है, यह मंडल ऋक् है, अर्चिः (प्रकाश किरण) साम है और इस मंडल में जो पुरुष है वह अग्नि है, वह यजुः है।[3] इस वर्णन से स्पष्ट है कि ये ऋक् यजुः साम, ग्रन्थ रूप में नहीं माना गया है। साथ ही ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जहाँ वेद ग्रन्थों से ही अभिप्राय है। उदाहरण के लिये जहाँ तक यह कहा गया कि वेद का अध्ययन करके जो उसका अर्थ नहीं जानता वह स्थाणु (ठूंठ) के समान है, वह केवल भारवाहक है।[4] इस तरह प्रकरणवश ऋगादि शब्द कहीं ग्रन्थ के अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं और कहीं वैज्ञानिक अर्थ है। मनुस्मृति में भी इसी शैली का अनुकरण मिलता है।

अग्नि वायु रवि से वेदों की उत्पत्ति

शतपथ ब्राह्मण ११।५ में पृथिवी अग्नि आदि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में विस्तार के साथ विचार मिलता है। उसका सार यह है कि प्रजापति पहले अकेले थे। उन्होंने कामना की कि प्रजनन करें। उन्होंने श्रम और तप किया उनसे तीन लोक पृथ्वी, अंतरिक्ष और द्यू उत्पन्न हुए। उन्होंने इन लोकों को तप्त किया। तप्त करने से इनसे तीव वेद उत्पन्न हुए अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद और सूर्य से सामवेद। फिर इन तीनों वेदों से तीन शुक्र उत्पन्न हुए। ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः और सामवेद

---

१. शतपथ ६।१।८.

२. शतपथ १०।२।७.

३. शतपथ ब्रा० १०।४.

४. स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

से स्वः। ठीक यही भाव (प्रायः इन्हीं अक्षरों में) छांदोग्य उपनिषद् में भी मिलता है। इनसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यहाँ ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद शब्द इन वेदों के वर्तमान उपलब्ध संहिता ग्रंथों के लिये प्रयुक्त नहीं हैं। प्रत्युत इन ग्रंथों में प्रतिपादित विज्ञान के द्योतक है। जब तक ऋग्वेद आदि पदों को वैज्ञानिक अर्थ में न लिया जायगा तो ब्राह्मण और उपनिषद् में असम्बद्ध कथन का आरोप हो सकता है। पृथ्वी से अग्नि अथवा अन्तरिक्ष से वायु की उत्पत्ति भले ही समझ में आ जाय। परन्तु अग्नि से, जिसे हम वर्तमान में अग्नि तत्व मानते हैं, ऋगवेद का ग्रन्थ कैसे उत्पन्न हुआ यह मान लेना कठिन है। अतः स्पष्ट है कि यहाँ अग्नि भौतिक अग्नि नहीं है, और न ऋग्वेद ही संहिता ग्रन्थ है। ये दोनों ही वैज्ञानिक पदार्थ हैं। इनके विवेचन का यहाँ स्थल नहीं है। मनुस्मृति में इन्हीं वैदिक वचनों को सामने रख कर १.२३ में कहा गया है कि अग्नि, वायु और रवि से ऋग् यजुः और साम लक्षण तीन ब्रह्म को यज्ञ सिद्धि के लिये दुह कर निकाला। यहाँ मनु में वैदिक वचनों का सिद्धवत् अनुवाद ही मिलता है। मनु का "यज्ञ सिद्धि के लिये" यह कथन भी प्राकृतिक वैज्ञानिक यज्ञ का ही द्योतक है। उसी प्राकृतिक यज्ञ के आधार पर लौकिक यज्ञों का संपादन वेद ग्रन्थों के अनुसार किया जाता है। इसी प्रकार मनु... २...७६ के उत्तरार्थ में यह लिखा है कि तीनों वेदों से क्रमशः भूः भुवः स्वः को निकाला।

वाक् शब्द

वाक्शब्द के सम्बन्ध में भी वेदों में अनेक प्रकार के अर्थ मिलते हैं, जिसके कारण प्रायः असामंजस्य दिखने लगता है। वेदोक्त अव्यय अक्षर और क्षर पुरुष जिनका विशेष रूप से स्पष्टीकरण गीता में हुआ है समस्त सृष्टि के आलंबन निमित्त और उपादान कारण है। अव्यय पुरुष की पाँच कलाएं मानी गई हैं...आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और वाक्। यहाँ मन शब्द से सर्वेन्द्रिय अथवा इन्द्रिय मन से अभिप्राय नहीं है। इन पाँचों कलाओं में मन मध्य में है। वास्तव में वही अव्यय का स्वरूप है। इसे श्वोवसी-यत मन भी कहा गया है। अव्यय पुरुष की ज्ञान और कर्म अथवा विद्या और अविद्या जो दो अवस्थाएँ हैं उनका हेतु भी यही मन है। यह मन जब प्रधानतः विज्ञान और आनन्द की ओर उन्मुख रहता है उस समय प्राण और वाक् भाग अप्रधान रूप से सहकारी मात्र रहते हैं। तब विद्या भाग का प्राबल्य होता है। उसके विपरीत अविद्या भाग में सृष्टि के उपक्रम में इस मन का प्राण और वाक् के साथ प्रधानता से सम्बन्ध रहता है। आनन्द और विज्ञान सहकारी होते हैं। सृष्टि दशा में मन, प्राण और वाक् प्रधान रहते हैं। मन सर्वालंबन ज्ञान रूप रहता है। प्राण क्रिया है, शक्ति पुंज है, इसी के आधार पर अक्षर पुरुष (क्रियामय) विकसित होता है। तथा इसी क्रिया शील अक्षर पुरुष की

प्रेरणा से वाक् भाग के आधार पर क्षर पुरुष का विकास होता है। क्षर ही सृष्टि का उपादान कारण है। मन, प्राण और वाक् एक दूसरे के बिना नहीं रहते। तीनों एक साथ साथ रहते हैं। केवल प्रधानता और अप्रधानता का भेद है। इस प्रकार अव्यय पुरुष की पाँचवीं कला के रूप में जो वाक् है वह नित्य है, परन्तु अविनाशी है। परन्तु उसी नित्य वाक् के आधार जिस क्षर पुरुष का विकास होता है वह भी वाक् ही है परन्तु वह क्षर है, अतः विकृत होती है, वहीं सृष्टि की उपादार बनाती है; वही प्रकृति ब्रह्म के नाम से भी कही जाती है। वह विकृति वाक् भी पाँच प्रकार की है. . .प्राण, आप, वाक् अन्न और अन्नाद। ये पाँचों क्षरवाक के ही भेद हैं। परन्तु अव्यय पुरुष के प्राण के आधार पर विकसित अक्षर पुरुष की प्रेरणा से ही वाक् में संक्षोभ होने से विकृत रूप में आने पर अक्षर के पाँच प्रकार के होने के कारण, वह विकृत वाक् (प्रकृति, उपादान) भी पाँच प्रकार की हो जाती है। यही वाक्, उपादान कारण है। अक्षर पुरुष निमित कारण है तथा अव्यय पुरुष आलम्बन, साक्षी तथा द्रष्टा है। तीनों एक साथ रहते हैं: मन प्राण और वाक् अर्थात अव्यय, अक्षर और क्षर तीनों एक साथ सम्मिलित रूप से रहते हैं। ये तीनों मिल कर ही आत्मा कहलाता है जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में मिलता है" . . .यह आत्मा वाङ्मय, मनोमय, और प्राण मय है।[1] इनमें से मन ज्ञान का, प्राण क्रियाओं का और वाक्अर्थों का उक्थ (प्रभव स्रोत) है इन्हीं मन आदि, से ज्ञान क्रिया और अर्थ का उत्थान है। ये तीनों एक साथ रहते हैं; एक के बिना दूसरे नहीं रह सकते। यहाँ यह और ध्यान देने योग्य है कि यह आत्मा गौण है। यह मन, प्राण और वाक् वाला आत्मा संसार-चक्र का चलाने वाला है। निर्विशेष आत्मा में कोई धर्म नहीं है, वह भूमा है, व्यापक है, अविकारी है; यही मुख्य आत्मा है। उसी के आधार पर यह गौण आत्मा माना गया है। तत्रापि इन तीनों में प्राण ही मुख्य माना जाता है। क्योंकि यह प्रकरण सृष्टि का है। सृष्टि के लिये क्रियाशील, प्राण तत्व की ही प्रधानता है। अव्यय के आधार पर वाक् में विकार उत्पन्न करके सृष्टि करने वाला प्राण ही है। मन और वाक् स्वतः क्रिया रहित है; उनमें जहाँ क्रिया या आरोप होता है जैसे मन में कामना होना बिना क्रिया के सम्भव नहीं है वहा वह कहा जाता है कि तीनों के सम्मिलित होने के कारण प्राण की क्रिया से ही मन क्रियाशील होता है। निष्कर्ष यह है कि अव्यय पुरुष के आधार पर अक्षर पुरुष क्षर वाक् को विकृत करके पदार्थ का निर्माण करता है। जिस प्रकार घट बनाने वाले निमित कारण कुम्हार को घट का निर्माता कहा जाता है उसी प्रकार यहाँ अक्षर पुरुष निमाता है। विशेषता यह है कि यहां उस निर्मित पदार्थ में भी अक्षर की अंश रूप

---

१. स वा अयमात्मा वाङ्मयो मनोमयः प्राणमयः। शतपथ. १०।४.

से सत्ता विद्यमान रहती है। तीनों के साथ एक रहने के कारण वेदांत में यह माना जाता है कि वही एक तत्व अभिन्न रूप से निमित्त और उत्तपादान दोनों है। वाक् के उपादान होने के कारण ही प्रत्येक पदार्थ को वाङमय कहा गया है। यहाँ वाङमय से तात्पर्य शब्द-रूपी वाक् से नहीं है। नित्य वाक् के आधार पर ही वाक् शब्द का व्यवहार वेदों में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। यद्यपि, अव्यय, अक्षर और क्षर पुरुष अविनाभूत हैं, सर्वथा एक दूसरे के साथ ही रहते हैं, इसीलिये इनके गुण एक दूसरे पर भी आरोपित हो जाते हैं। अव्यय पुरुष की प्राणकला के आधार पर अक्षर पुरुष का तथा वाक् के आधार पर क्षर पुरुष का विकास होता है यह कहा जा चुका है। सृष्टि प्रकरण में क्षर की ही प्रधानता है, इसी के लिये प्रायः वाक् को ही सब कुछ मान लिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है कि यह सब कुछ वाक् ही है।[1] शतपथ में मिलता है यदि प्रजापति की सब से उत्कृष्ट कुछ है तो वह वाक् ही है।[2] अग्नि के तीन संस्थान होने से ऋक्, यजुः और सामवेद उद्भूत होते हैं। इस अग्नि की उपनिषद् (रहस्य) वाक् ही है ?।[3] इसी प्रकार आदित्य को त्रयी वेदमय कहा गया है। फलतः वह वाङमय है।[4] इसी प्रकार ऋग्वेद दशम मंडल में आंभृणी नाम की ऋषिका अपने ऊपर नित्या वाक् का आरोप करके कहती है कि मैं ही (वाक् ही) संपूर्ण विश्व का आरम्भ करती हुई वायु के समान बहती हूँ। इस पृथ्वी से भी पर, दिव से भी ऊपर मेरी महिमा है। इसका भाव यही है कि वाक् ही सब कुछ है। यही वाक् तीन प्रकार की होकर ऋग्, यजुष् और साम हो गई है।[5] फलतः वाक् और वेद एक ही है। इस स्थिति में इस नित्य वाक् और उसके विकसित रूप वेदों को आदि और अन्त रहित कहा गया है। उसी दृष्टि से वेदों को अपौरुषेय माना गया है। उसी वाक् और वेद से समस्त सृष्टि होती है, इस वैदिक सिद्धांत को मनुस्मृति में भी मान्यता दी गई है, मनुस्मृति में मिलता है कि पितृदेव और मनुष्यों के लिये सनातन (शाश्वत) नेत्र वेद ही है।[6] यहाँ पितृ और देव आदि भौतिक अर्थ के अतिरिक्त आधि-

---

१. वागेवेदं सर्वम्—ऐतरेय ब्रा०

२. यदि वै प्रजापतेः परमस्ति वागेव तत्। शत० ५।१

३. तस्य वा एतस्याग्नेवगेवोपनिषद्। शत० १।५

४. सा या सा वाक्, असौ स आदित्यः। शत० १०।५

५. ऋग्वेद—. १०।२५
सा वा एषा वाक् त्रेधाविहिता—ऋचो यजूंषि सामानि।
तेन अग्निस्त्रेधा विहितः। शत० १०।५

६. मनु० १२।४९

दविक (प्राकृतिक) अर्थ के द्योतक हैं। उस दशा में वेद शब्द भी ग्रन्थ का द्योतक न होकर तत्प्रतिपादित विज्ञान का वाचक है। आगे मनु में ही मिलता है कि चारों वर्ण, तीन लोक, चार आश्रम, भूत, भविष्य और वर्तमान सब वेद के द्वारा ही सिद्ध होते हैं। शब्द स्पर्श आदि वेद से ही उत्पन्न होते हैं। सनातन वेद शास्त्र सब भूतों को धारण करता है तथा उनका पोषण करता है।[1] इस प्रकार यह प्रत्यक्ष है कि मनुस्मृति में वाक् और वेद के वैज्ञानिक स्वरूप का भी महत्व माना गया है।

अक्षर ओम्

ऊपर यह लिखा जा चुका है कि किस प्रकार वाक् के विकास रूप से वेदों का उद्भव हुआ। वाक् से केवल भाषा या भाषण शक्ति का ही अभिप्राय नहीं है, यह भी कहा गया है। फलतः विकसित रूप से वेदत्रयी भी केवल ग्रन्थों के लिये ही सीमित नहीं है यह स्पष्ट हो जाता है। इसके अतिरिक्त वाक् अक्षर (ओंकार) के आकाश में ऋग्वेद (यह अन्य वेदों को भी लक्षित करता है) रहता है, उसमें सम्पूर्ण देव निवास करते हैं।[2] इसी प्रकार यह भी मिलता है कि वाक् अक्षर ऋक् की प्रथमजा है, वह वेदों की माता तथा अमृत की नाभि है।[3] इसी प्रकार प्रश्नोपनिषद में कवि (ऋषि) ऋक् से इस लोक को, यजु से अंतरिक्ष तथा साम के द्वारा जिस लोक का ज्ञान करते हैं उसे ओंकार के आयतन में प्राप्त करते हैं।[4] और भी अनेक उदाहरण हैं जिनसे स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदों का सार रूप ओंकार है। अवश्य ही यह ओंकार संहिता ग्रन्थों का आश्रय नहीं हो सकता। यहाँ वैज्ञानिक वेदों से अभिप्राय है और ओंकार क्षर विशिष्ट अक्षर पुरुष ईश्वर का वाचक है। जैसा कि योगसूत्र में भी कहा गया है। मनुस्मृति में भी यह मिलता है कि प्रजापति ने तीनों वेदों में से अकार, उकार और मकार को तथा भूः, भुवः और स्वः को निकाला।[5] इतना ही नहीं, मनुस्मृति में यहाँ तक स्पष्ट कर दिया गया है कि सर्व प्रथम त्र्यक्षर ब्रह्म (ओम्) जिस पर वेदत्रयी प्रतिष्ठित है (जिसके आधार पर स्थित है) वह अन्य गुह्य (रहस्यभूत) त्रिवृत् (तिहरा) वेद

---

१. मनु० १२।९७–९९

२. ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधिविश्वे निषेदुः।
वागक्षरं प्रथमजा ऋतस्य वेदानां माता अमृतस्य नाभिः। यास्क द्वारा उद्धृत १३।१०

३. प्रश्नोपनिषद् –५।७

४. तस्य वाचकः प्रणवः। योगसूत्र १।२७

५. मनु० २।७६

है जो उसे जानता है वह वेद का जानने वाला कहा जाता है ।[1] इस प्रकार के और अनेक स्थल मनुस्मृति में है जिनसे सिद्ध होता है कि मनु के मत से जहाँ ग्रन्थ रूप वेदों के पठन पाठन की भूरि भूरि प्रशंसा की गई है वहीं वैज्ञानिक वेदों के महत्व पर भी विशेष रूप से ध्यान आकृष्ट किया गया है ।

ऋषिभ्यः पितरः इत्यादि

वेदों में ऋषि शब्द अनेक अर्थों में मिलता है। क्षर पुरुष द्वारा मनः प्राणमयी वाक् के विकृत होने पर सृष्टि प्रक्रिया का आरंभ होता है। मनः प्राण और वाक् में क्रिया का प्रवर्तक प्राण ही है और वही वाक् को विकृत करके सृष्टि करता है। यह प्राण अव्यय पुरुष की कला वाला प्राण नहीं है परन्तु उस अव्यय की प्राण कला के आधार पर अक्षर पुरुष वाक् में जो विकार उत्पन्न करता है उससे क्षर वाक् पांच प्रकार की हो जाती है और वे प्रकार प्राण, आप्, वाक्, अन्न और अन्नाद रूप में प्रकृति ब्रह्म कहलाते हैं। इस प्रकृति ब्रह्म में जो प्रथम प्राण है वह वाक् का विकार होने से वाक् तो है ही, साथ ही वाक् के साथ सर्वदा रहने वाला उसे विकृत करके उसमें स्थित होने वाला प्राण प्रधान रहता है, इससे उसे प्राण भी कहा गया है। इस मौलिक प्राण को कहते हैं असत् तथा ऋषि कहते हैं,जैसा कि शतपथ ब्राह्मण में मिलता है कि पूर्व में यह सब असत् था, वह असत् क्या था, ऋषि ही वह असत् था। वे ऋषि कौन थे, प्राण ही ऋषि हैं ।[2] इसी प्रकार अध्यात्म में भी ऋषियों को प्राण माना गया है। "प्राण वसिष्ठ ऋषि है, मन भरद्वाज ऋषि है, चक्षु जमदग्नि ऋषि है, श्रोत्र विश्वामित्र ऋषि हैं इत्यादि।"[3] इसी प्रकार तारा मंडल में सप्तर्षि प्रसिद्ध हैं। इसी प्रकार मंत्रद्रष्टा ऋषि या वसिष्ठ, विश्वामित्र, भरद्वाज आदि मनुष्य ऋषि भी प्रसिद्ध हैं। वेद के मंत्रों में मंत्रप्रवक्ता ऋषि कहा जाता है। इस प्रकार अनेक अर्थ होते हुए भी वाक् का प्रवर्तन करने वाला प्राण ही मुख्यतः ऋषि है।

इस प्रकरण में प्राण रूप ऋषि से अभिप्राय है। ये प्राण मौलिक हैं दूसरे प्राणों का योग इनमें नहीं है। ये अनेक प्रकार के हैं।[4] परन्तु इन्हीं प्राणों के द्वारा यौगिक प्राण उत्पन्न होते हैं। वे पितृ प्राण कहलाते हैं, क्योंकि आगे की सृष्टि में इन्हीं पितृ

---

१. मनु० ११।२६५
२. शतपथ० ६।१।१
३. शतपथ० ८
४. विरूपास इहर्षयस्त इद गंभीरवेपसः—ऋ० १०।६२।५

प्राणों की प्रधानतः कारणता रहती है। मौलिक ऋषि प्राण ही स्वयंभू मंडल के सत्यलोक से तपःलोक में उतरने पर तप के द्वारा क्षुब्ध होकर यौगिक रूप में जन-लोक में पितृ प्राण कहलाने लगते हैं। इन्हीं के परस्पर योग से आगे देवासुर...मनु प्राण आदि की सृष्टि होती है। मौलिक (बिना अन्य योग से होने वाले) अमृत प्राण ऋषि कहलाते हैं इनके अनेक भेदों में से प्रायः दस या बारह मरीचि, अत्रि आदि अधिक प्रसिद्ध हैं। इस सृष्टि के मूल कारण ये ही हैं। जिस प्रकार इनके द्वारा आधिदैविक सृष्टि होती है तथा अध्यात्म में शरीर के भीतर इनके प्रभाव होते हैं; इसका वर्णन हो चुका है। इनके अतिरिक्त इन प्राणों के द्रष्टा आदि भौतिक ऋषियों के भी यही नाम मिलते हैं। ये नाम प्रायः व्यक्तिगत न होकर परम्परया गोत्र आदि के द्वारा वंशानुक्रम से या विद्या के द्वारा आगे की संतानों में भी प्रयुक्त होते हैं। वसिष्ठ, अत्रि आदि वैदिक कालीन ऋषि थे। परवर्ती काल में भी इन्हीं नाम के ऋषियों के अस्तित्व का प्रयोग मिलता है। ये उन प्राचीन ऋषियों के वंशधर ही हो सकते हैं। मनु ने भी कुछ प्रमुख ऋषियों के नाम गिनाये हैं और उनके द्वारा विभिन्न प्रकार की सृष्टि करना बताया है।[1] अवश्य ही इस सृष्टि प्रकरण के ऋषि शरीरधारी मनुष्य ऋषि न होकर आधिदैविक ऋषि ही हो सकते हैं। ये ऋषि प्राण असंग थे। एक दूसरे से मिलते न थे, किन्तु स्वयंभू के सत्यलोक से चलित होकर तपोलोक में क्षुब्ध हुए और जनलोक में आकर, यौगिक बनकर आगे की सृष्टि करने के कारण पितर कहलाने लगे। वास्तव में ये पितर ऋषियों के ही विकसित रूप हैं। यद्यपि उक्त ऋषियों को भी कहीं कहीं पितर कहा गया है तथापि भेद दिखाने के लिये पितरों के भिन्न भिन्न प्रकार बतलाये गये हैं। सोमपद, बर्हिषद ये भेद हैं, इन्हीं के फिर अवान्तर भेद करने से पर, मध्यम और अवर ये तीन नाम हैं।[2] प्रेत पितर, मरणोत्तर द्युलोक में जाने पर क्रमशः देवों से मिलते हैं। इस दृष्टि से वसु, रुद्र और आदित्य देवों का सम्बन्ध पिता, पितामह तथा प्रपितामह से बताया गया है तथा श्रद्धा-सूत्र द्वारा प्रदत्त द्रव्य इन्हीं देवों के माध्यम से पितरों को प्राप्त होता है। जिस प्रकार सृष्टि के उत्पादक होने के कारण आधिदैविक पिरों की कल्पना की गई है उसी प्रकार आधिभौतिक पितृ आदि भी माने गए हैं।

इनके फिर परस्पर योग से देवों और असुरों का उद्भव होता है। इनमें प्रकाशशील प्राण देव शब्द से तथा तमःशील (अन्धकारमय) प्राण असुर शब्द से कहे गये हैं। सूर्य के प्रकाशमार्ग में देवों की सत्ता मानी गई है। परन्तु वास्तव में यह सूर्य समस्त प्रकार

---

१. मनु० १–३४ से ४१ तक

२. उदीरतामवर उत्परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः। ऋ० १०।१।१४।

के प्राणों का उद्भव है। इसके लिये कहा गया है कि प्राणों का प्राण यह सूर्य उदित हो रहा है।[1] सूर्य के प्रकाश भाग में देवों का ही निवास है परन्तु चन्द्रमा के प्रकाश भाग में पितृ प्राणों का निवास माना गया है।[2]चन्द्रमा के अप्रकाशित भाग में जो सूर्य से विपरीत दिशा में है, असुर प्राणों की सत्ता है।मध्यम भाग में गंधर्व प्राण है। इसी प्रकार पृथ्वी के प्रकाशित भाग में देवों की तथा अप्रकाशित भाग में (रात्रि में) असुर प्राणों की तथा मध्य भाग में मनु प्राणों की सत्ता रहती है। इस प्रकार सूर्य और पृथ्वी के प्रकाश भाग में देव, चन्द्र और पृथ्वी के अप्रकाशित भाग में असुर चन्द्र के मध्य भाग में गंधर्व तथा पृथ्वी के मध्य भाग में मनु प्राणों की सत्ता से पांच प्रकार के ये प्राण हो जाते हैं। इन्हीं के परस्पर सहयोग से समस्त सृष्टि होती है।[3] ऋषि, पितर और समस्त देवगण (देव और असुर) के संसर्ग से देह में जो आत्मा उत्पन्न होता है वह मानुष आत्मा है तथा मरणोत्तर उत्क्रमण होने पर यातना शरीर में गंधर्व आत्मा रहता है। इन्हीं आधिदैविक प्राणों को लक्ष्य में रखकर मनुस्मृति का यह श्लोक चरितार्थ होता है कि ऋषियों से पितर हुए और पितरों से देव और दानव हुए। तथा देवों से (देव और असुर दोनों से यहाँ अभिप्राय है) समस्त जगत्, भूत, भौतिक प्रपंच उत्पन्न हुआ है।[4]

प्रेत पितरों के अधिष्ठाता होने के कारण वसुओं को पिता, रुद्रों को पितामह तथा आदित्यों को प्रपितामह कहा गया है।[5] इसी दृष्टि से याज्ञवल्क्य कहते हैं कि वसु, रुद्र और आदित्य पूर्व देवता पितर हैं।[6] प्रेत पितरों के साथ योग होने के कारण ही इन पर पितृत्व का आरोप होता है। ऋषियों से पितृगण की उत्पत्ति मनुस्मृति में भी मिलती है; हिरण्यगर्भ की संतान मनु से मरीचि आदि ऋषि जो सुत हुए उन प्रारंभिक ऋषियों के पुत्र पितृगण कहे गये हैं।[7] आगे स्पष्टीकरण और अधिक मिलता है। विराट् के पुत्र सोमसद् साध्यों (इस जाति के देवगण) के पितर हैं। मरीचि ऋषि के पुत्र अग्निष्वात्त नामक पितर जो लोकविश्रुत हैं देवों के उत्पादक हैं तथा अत्रि ऋषि से उत्पन्न बर्हिषद,

---

१. प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ।
२. विधूर्ध्वभागे पितरो वसन्ति ।
३. चंद्र प्रभासां पितरः प्रकाशः...जगद्गुरुवैभव--मधुसू० ओझा पृ० ४९
४. ऋषिभ्यः पितरो जाताः —मनु० ३।२०१.
५. मनु० ३–२८४
६. याज्ञ० १–२६९
७. मनु० ३–१९४

दैत्य, दानव यक्ष गंधर्व सर्प और राक्षस के पितर हैं।[१] इस कथन से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ पर मनु का अभिप्राय प्राण रूप ऋषि पितर आदि से है। जिस प्रकार आधिदैविक में इन प्राणों के द्वारा विभिन्न सृष्टि होती है उसी के अनुसार अध्यात्म में भी होती है। इसीलिये यह कहा गया है कि जैसा यहाँ है वैसा वहाँ (आधिदैव में) है।[२] आधिदैविक के आधार पर ही आदि ब्रह्मा द्वारा आधिभौतिक व्यवस्था हुई थी और तदनुसार पृथ्वी-लोक में मनुष्यों में भी देव पितर आदि विभागों का उल्लेख अवश्य मिलता है, परन्तु मनुस्मृति के श्लोकों का तात्पर्य निश्चय ही प्राणरूपी ऋषि देव को लक्ष्य करता है।

मनु शब्द की विवेचना

मनुस्मृति में प्रारम्भ में ही यह मिलता है कि महर्षियों ने एकाग्र बैठे हुए मनु के पास जाकर आदर पूर्वक उनसे पूछा कि भगवन यथाविधि क्रमशः सब वर्णों के तथा अन्तरप्रभव (संकीर्ण जाति) के धर्म बताइये। इसके उत्तर में मनु सर्व प्रथम धर्म की चर्चा न करके सृष्टि का प्रकरण बताने लगते हैं।[३] धर्म प्रवचन के स्थान में सृष्टि प्रकरण का उल्लेख ऊपरी दृष्टि से देखने से असम्बद्ध दिखता है परन्तु यथार्थ में यह वर्णन इस बात का द्योतक है कि आर्य धर्म और सृष्टि धर्म में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है इसको मनु ने मान्यता दी है। आर्य से इतर प्रायः जितने धर्म अथवा सम्प्रदाय हैं वे मनुष्यकृत हैं, उनकी व्यवस्था, उनका प्रचार उन सम्प्रदाय के प्रवर्तक आचार्यों के द्वारा देश, काल और परिस्थिति के अनुसार समाज के उत्कर्ष की भावना से किया गया है। इसका परिणाम स्वभावतः यहा हुआ है कि उन परिस्थितियों में परिवर्तन हो जाने पर तथा नयी परिस्थिति उत्पन्न होने पर उनकी उपयोगिता कम हो जाती है; और उनमें शिथिलता आ जाती है। पर आर्य धर्म जिसे वैदिक धर्म कहा जाता है, शाश्वत प्रकृति के नियमों के आधार पर स्थिर किया गय था और उसके मूल सिद्धांत प्रकृति से सम्बन्ध बताने वाले वेद-संहिता-ग्रंथ में संकेत रूप से तथा ब्राह्मणादि ग्रंथों में विस्तार के साथ मिलते हैं। उनके आधार पर स्मृति ग्रंथों में उनका अधिक विस्तार के साथ विवेचन हुआ है। साथ ही विशेष परिस्थिति के अनुसार देश काल और पात्र आदि के विचार से मूल सिद्धान्त की रक्षा करते हुए उनमें जहाँ तहाँ भिन्नता भी पाई जाती है, उसमें सन्देह नहीं है। इसी दृष्टि से मनु यह स्पष्ट घोषणा करते हैं कि किसी व्यक्ति का जो कुछ भी धर्म मनु के द्वारा वर्णित है

---

१. मनु० ३-१९५-१९९

२. यदेवेह तदमुत्र—कठोपनिषद् २।१०

३. मनु० १।१ से ५ तक

वह सब वेद में कहा गया है।[1] वेदों में अनेक स्थलों में यह उल्लेख मिलता है कि जिस प्रकार देवों ने किया है उसी प्रकार हम कर रहे हैं ।[2] यहाँ देवों से अभिप्राय प्राकृतिक प्राण देवताओं से ही है।

मनुस्मृति में धर्म के नियम या सिद्धांत का प्रवचन न होकर सर्वप्रथम स्वयंभू भगवान के प्रादुर्भाव का वर्णन मिलता है।[3] उसके बाद उन्हीं स्वयंभू के द्वारा स्वशरीर से ध्यान-पूर्वक अप्तत्व की सृष्टि बताई गई है। यह पूर्व में लिखा जा चुका है कि यह अप्तत्व भौतिक जल पदार्थ न था। इसी समुद्र में स्वयंभू द्वारा बीज वपन होने से सर्वलोक-पितामह ब्रह्मा उत्पन्न हुये। इन्हीं ब्रह्मा को नारायण भी कहा गया है। ब्रह्म से उत्पन्न होने के कारण ब्रह्मा, अपतत्व जिसे नार भी कहा गया है उसमें निवास करने के कारण नारायण और हिरण्यवर्ण के प्रकाशपुँज को गर्भ में धारण करने के कारण हिरण्यगर्भ कहे गये हैं। इस प्रकार ब्रह्मा नारायण और हिरण्यगर्भ तीनों एक ही तत्व के द्योतक हैं। स्वयं ब्रह्मा अपने आप प्रादुर्भूत हुए इसलिये मुख्य रूप से सबसे प्रथम तत्व ब्रह्मा स्वयंभू हुए। स्वयंभू के द्वारा सर्वप्रथम वेदत्रयी का प्रादुर्भाव हुआ; वही स्वयंभू की प्रतिष्ठा हुई और इसी में प्रतिष्ठित होकर स्वयंभू ने अपतत्व की सृष्टि की।[4] मनुस्मृति में इस अंश का उल्लेख नहीं है क्योंकि यहाँ का यह वर्णन अत्यन्त संक्षिप्त है। हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ने ही अपने शरीर को पुरुष और नारी के रूप में परिणत करके उनके द्वारा विराट् पुरुष को उत्पन्न किया।[5] इस प्रकार मनु ने विराट्, हिरण्यगर्भ और स्वयंभू के प्रादुर्भाव का वर्णन करके विराट् पुरुष की मैथुनी सृष्टि द्वारा अपनी उत्पत्ति बतलाई है। इस तरह हिरण्यगर्भ ब्रह्मा मनु के पितमाह सिद्ध होते हैं। आगे मनु के द्वारा ही मरीचि आदि महर्षियों के माध्यम से सम्पूर्ण चर और अचर की सृष्टि हुई। इस समस्त सृष्टि का अपने ऊपर आरोप करके ही मनु ने हिरण्यगर्भ को सर्वलोक पितामह कहा है। मनु के इस वर्णन से दो बातें सिद्ध होती हैं। एक तो मनु अपने पिता आदि का कीर्तन करके आदि पुरुष से अपना इतना सामीप्य बताकर अपनी महत्ता द्योतित करते हैं; जिससे उनके वचनों पर सरलतया श्रद्धा करके श्रोता महर्षिगण लाभान्वित हो सकें। परन्तु दूसरा अत्यन्त

---

१. मनु० २।७
२. ऐत० ब्रा० १—२ तथा ३—५
३. मनु० १।६
४. शतपथ —६।१।८
५. मनु० १।३२

महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि धर्म के प्रश्न पर आदि पुरुष के स्वयं उद्भूत होकर समस्त सृष्टि का सृजन करने का उल्लेख यह द्योतित करता है कि मनु अद्वैत वेदान्त सिद्धान्त को मूल मान कर समस्त जड़ चेतन संसार को एक ही तत्व का विकास घोषित करते हैं इसलिये दार्शनिक दृष्टि से जो अद्वैत तत्व है वही धर्म के मूल में है; वही समस्त सृष्टि के मूल में है। मूल एक है उसी का विस्तार यह विश्व है। ऐसी स्थिति में राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक आदि विषयों में यह सिद्धान्त समान रूप से उपकारक होता है। एक ही तत्व का विकास होने के कारण संपूर्ण मानव जाति परस्पर संवद्ध है। इस प्रकार मनु ने अद्वैद वेदान्त को केवल दार्शनिक व्याख्या में सीमित न करके उसे व्यावहारिक रूप में घोषित किया है, और प्रारम्भ में वर्णित मूल सिद्धान्त आगे कहे जाने वाले सामाजिक, राजनीतिक आदि सम्पूर्ण नियमों के विवेचन की आधारशिला के रूप में माने गये हैं। इसलिये जो लोग मनुस्मृति में वर्णित सिद्धान्तों को उनके प्रकरण से पृथक्-करके पूर्वापर सम्बन्द्ध का विचार न करके देखते हैं वे उसके साथ न्याय नहीं करते हैं। स्वयंभू को कहीं कहीं सर्वज्ञ भी कहा गया है। इस प्रकार स्वयंभू (सर्वज्ञ), हिरण्यगर्भ और विराट् इन तीन रूपों से ईश्वर सृष्टि करता है। ये तीनों ही एक ही परमात्मा (परमेश्वर) के स्वरूप हैं, अतः तीनों की समष्टि ईश्वर है। परन्तु इन तीनों में एक को प्रधान मानकर उसे भी ईश्वर कहा जा सकता है। तीनों ही सर्वदा साथ रहते हैं, इन्हीं तीनों के लिये कहीं ब्रह्मा, विष्णु और इन्द्र अथवा महादेव कहा गया है। स्वयंभू सर्वज्ञ ज्ञानस्वरूप है उसका दूसरा विकास क्रिया रूप हिरण्यगर्भ और उसी का तीसरा स्वरूप विराट् है अर्थरूप। मन प्राण वाक् तीनों एक साथ रहते हैं। इनमें मन और वाक् स्वतः अक्रिय (क्रिया चेष्टा से शून्य) हैं परन्तु प्राण के सर्वदा साथ रहने के कारण उनमें भी क्रिया का आरोप हो जाता है। सृष्टि के प्रकरण में क्रिया की प्रधानता है अतः क्रियाप्रधान हिरण्यगर्भ को सृष्टि में प्रधानता दी गई है। जिसके लिये ऋक् संहिता में मिलता है कि पहले हिरण्यगर्भ हुए जो उत्पन्न होते ही भूत के एक मात्र पति (स्वामी रक्षक) थे।[1] उन्हीं ने पृथ्वी और द्यौ का धारण किया। यह प्रत्यक्ष है कि बिना क्रिया के आकर्षण नहीं हो सकता; आकर्षण होने में क्रिया ही प्रधान कारण है। आकर्षण भी दो पदार्थों का संतुलन स्थिर रख सकता है। आकर्षण शक्ति में विघटन होने से वस्तु अपने स्थान में स्थित नहीं रह सकती। यह आकर्षण विज्ञान वैदिक ऋषियों को ज्ञात था।[2] स्वयंभू ने अपने शरीर से अप की सृष्टि की। हिरण्यगर्भ ने स्वयं जो सृष्टि की उसका भी उल्लेख मनु ने किया है।

---

१. हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। ऋ०

२. तैत० आरण्यक १।८।६५

उन प्रभु 'ने (परमात्मा) प्राणयुक्त देवों का सृजन किया।[1] ऊपर कहा जा चुका है कि देव प्राण रूप (इनरजी) भी माने गये हैं। अतः क्रिया में हिरण्यगर्भ के द्वारा क्रियाशील प्राणवाले कर्मात्मा देवों का सृजन सर्वथा उपयुक्त ही है। इसी के आगे मनु कहते हैं कि अग्नि वायु और रवि से उन्होंने तीनों वेदों को निकाला। उधर ऊपर लिखा जा चुका है कि प्रजापति की सर्व प्रथम सृष्टि वेदत्रयी थी। सबसे पहले प्रजापति के निश्वासरूप स्वाभाविक अपौरुषेय वेदों की सृष्टि हुई। वे वेद प्रथम उत्पन्न होने वाले भी कहे गये हैं। मनु ने उस निःश्वास रूप वेद त्रयी का उल्लेख नहीं किया है, परन्तु उससे कोई विरोध नहीं पड़ता। वास्तव में वेदों की (वेदत्रयी) की यह दूसरी सृष्टि है। अग्नि वायु और रवि से इन वेदों का क्या सम्बन्ध है यह ऊपर लिखा जा चुका है। फिर हिरण्यगर्भ ने अपने आप को पुरुष और नारी के रूप में परिणत करके, दोनों के संयोग से विराट् पुरुष का सृजन किया। यहाँ मनु ने विराट् द्वारा कौन सी विशेष सृष्टि हुई है इसका उल्लेख नहीं किया है। मनु अपनी उत्पत्ति का उत्कर्ष बताते हुए कहते हैं कि तप करके उन्होंने (विराट् पुरुष ने) स्वयं जिसे उत्पन्न किया, वही मैं हूँ, जो इस (दृश्यमान सृष्टि) का स्रष्टा हूँ। महर्षि प्रजापतियों क उत्प दन करके उनके द्वारा समस्त सृष्टि उत्पन्न करने क विस्तृत वर्णन मिलता है।[2] महर्षिकृत वह सारी सृष्टि मनु के द्वारा ही इसलिये मानी जाती है कि मनु स्वयं ऋषियों के रूप में विकसित हुए। इसी दृष्टि से मनु की संपूर्ण सृष्टि भी ब्रह्मा की सृष्टि मानी जाती है। वास्तव में देखा जाय तो आदि ब्रह्म से विकसित होने के कारण ब्रह्मा शब्द परम्पर जिस प्रकार हिरण्यगर्भ विराट् आदि के लिये प्रयुक्त हुआ है उसी दृष्टि से मनु भी ब्रह्मा माने गये हैं। इसी आधार पर अत्रि आदि महर्षि भी अपनी अपनी वैज्ञानिक परिषद् के ब्रह्मा माने गये हैं। वास्तव में परमात्मा ईश्वर को ही सब सृष्टि मानी जाती है; और कहने वाले की विवक्षा के अनुसार कहीं पर सृष्टिकर्ता स्वयं ईश्वर को कहा गया है और कहीं संस्था के क्रम से उल्लेख है, और कहीं पर दोनों का मिश्रण है। उदाहरण के लिये मनुस्मृति के अनुसार मनु एक स्थान में वराट् से उत्पन्न हुए कहे गये हैं और अन्यत्र हिरण्यगर्भ से उत्पन्न माने गये हैं।[3]

इस वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि मनुस्मृति में निर्दिष्ट मनु और उनके द्वारा उत्पन्न किये गये (अथवा उनके विकसित स्वरूप) ऋषिगण के द्वारा स्थावर और जंगम

---

१. मनु० १।२२–२३
२. मनु० १।३३–४०
३. मनु० १।३३ तथा ३।१९४

की सृष्टि जो बताई गई है वह ऐतिहासिक मनुष्य रूप मनु अथवा अत्रिमरीचि आदि महर्षि पुरुषों के पक्ष में घटित नहीं हो सकती। यह आधिदैविक प्राण रूप मनु और महर्षियों के पक्ष में संभव हो सकता है। इस प्राण रूप प्राकृतिक आधिदैविक तत्व को योग से प्रत्यक्ष करके तदनुसार ही भौतिक जगत में भी ऐतिहासिक मनु, महर्षि, देव, असुर आदि की कल्पना की गई है, यह भिन्न बात है। परन्तु इस सृष्टि प्रकरण में निश्चय ही आधिदैविक तत्व का उल्लेख है। यथार्थ में मनुस्मृति की यह वर्णनशैली अक्षरशः वेद (संहिता और ब्राह्मण) की शैली का अनुकरण है। आदि में सृष्टि प्रकरण के रूप में विस्तार पूर्वक आधिदैविक तत्वों का निरूपण करने के बाद बीच बीच में यथासंभव आधिभौतिक और आधिदैविक दोनों का मिश्रण मिलता है। कहीं कहीं विशुद्ध रूप से आधिभौतिक वर्णन है और वह भी अधिकांश में वेदों के ही आधार पर कहा गया है। परन्तु प्रारम्भ में जिस आधिदैविक मार्ग का अनुसरण किया गया है वह आधिभौतिक वर्णनों के द्वारा तिरोहित न हो जाए इसलिए श्रोताओं का ध्यान विशेष रूप से आकृष्ट करने के लिये, प्रथम अध्याय में वर्णित मनु की आधिदैविक उत्पत्ति की पुष्टि करने की दृष्टि से, उपसंहार में अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में भृगु के द्वारा कहा गया है कि सब का प्रशासन करने वाले, अणु से भी अणु, स्वर्ण की कांति वाले, स्वप्न धी के द्वारा जानने योग्य, इनको पर पुरुष जानना चाहिये।[1] इस के आगे के श्लोक में इस पर पुरुष के लिये कहा गया है कि लोग इसे ही अग्नि कहते हैं, कोई मनु, कोई प्रजापति कोई इन्द्र कहते हैं, कुछ लोग प्राण कहते हैं तथा कुछ लोग उसे ही शाश्वत (सनातन) ब्रह्म ही कहते हैं।

इस ऊपर के वर्णन से यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति के अनुसार सृष्टि-प्रकरण में स्वयंभू भगवान् की प्रधानता बताई गई है। सृष्टि में क्रियाशील प्राण के द्वारा ही सृष्टि संभव है, अव्यय पुरुष के आधार पर अक्षर पुरुष के द्वारा क्षर पुरुष साधन से सृष्टि होती है, यह कहा जा चुका है। यह ध्यान देने योग्य है कि मुख्य आत्मा सर्वव्यापी होता हुआ भी स्वतः सृष्टि करने में समर्थ नहीं है। उसके लिये तो अच्छेद्य, अदाह्य, अक्लेद्य कहा गया है। स्वतः यह अविनाशी, शाश्वत, अविकारी है। उसमें न क्रिया है और न विकार है। वह निर्विशेष है। परन्तु उसी के विकसित रूप परात्पर माया बल से परिच्छिन्न अव्यय पुरुष की कलाओं के द्वारा सृष्टि होती है। अतः इसे कार्य संचालक गौण आत्मा कहा जा सकता है। इस सृष्टिकर्ता तत्व को मनुस्मृति में (प्रथम अध्याय में) स्वयंभू, हिरण्यगर्भ, ब्रह्मा, विराट, मनु और ऋषि रूप में बताया गया है।

---

१. मनु० १२।१२२
२. मनु० १२।१२३

मुख्य प्राण के द्वारा ही अधिदैव और अध्यात्म में सृष्टि होती है। इसलिये उसे प्राणरूप कहना सर्वथा समीचीन है।[1] उसी मध्य प्राण (नम्यप्राण) को शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र भी कहा गया है।[2] उस इन्द्र से सप्त पुरुषों की उत्पत्ति बताकर सातों के रूप में अग्नि कहा गया है, उसे ही विराट् और प्रजापति भी कहा गया है।[3]

सूर्य. चन्द्र, पृथ्वी का आत्मा प्राणरूप इन्द्र पूर्ण है अतः उनके रस के चारों ओर समान रूप से प्रसार होने के कारण, वे पिण्ड गोल होते हैं परन्तु इन पिण्डों पर होने वाले पदार्थों में एक ही ओर रस फैलता है। अतः इनमें जो पृथक् आत्मा बनता है वह पूर्ण नहीं होता, वह अर्धेन्द्र होता है। मनुष्य आदि सब प्राणी अर्धेन्द्र हैं। इसी लिये शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है कि पुरुष और स्त्री आधे हैं। जाया पुरुष का दूसरा आधा भाग है।[4] यही अर्धेन्द्र मनु कहा गया है; जैसा कि मनुस्मृति में मनु ने स्वयं अपनी उत्पत्ति के सम्बन्ध में ऋषियों से कहा है।[5] यहाँ हिरण्यगर्भ ने प्रथम अपने शरीर को पति-पत्नी रूप में दो भागों में विभक्त किया उससे विराज को उत्पन्न किया फिर विराज ने मनु को उत्पन्न किया। इस प्रकार मनु वैराज सिद्ध होते हैं। परन्तु विराज हिरण्यगर्भ का ही रूपान्तर था इसलिये इस सूक्ष्म भेद की विवक्षा न होने पर भी उसकी उपेक्षा की जाती है और तब मनु हिरण्यगर्भ से उत्पन्न हुए हिरण्यगर्भ भी कहे जाते हैं। इसी प्रकार मरीचि आदि ऋषि मनु की संतान भी माने गये हैं तथा ब्रह्मा की भी संतान उन्हें कहा गया है। वैज्ञानिक प्राण रूप अर्थ लेने से ही ये सब विरोध दूर हो जाते हैं। प्राणरूप में उन तत्वों का विकास मात्र होता है कोई अन्य तत्व नहीं उत्पन्न होता है। इस प्रकार पूर्वापर देखने से मनु का प्राणरूप होना (मुख्य प्राण होना) और उनके द्वारा समस्त संसार,स्थावर और जंगम का उत्पन्न होना सर्वथा सिद्ध हो जाता है। परन्तु ये मनु, विराट्, हिरण्यगर्भ आदि पृथक् तत्व न होकर परमात्मा के स्वरूप ही थे; अतः परमात्मा से उनकी अभिन्नता बताने के लिये ही अन्त में यह कह दिया गया है कि कुछ लोग उसे ही शाश्वत ब्रह्म कहते हैं। इन्हीं आधिदैविक तत्वों को योग दृष्टि के द्वारा साक्षात्कार करके महर्षियों

---

१. शतपथ ६।१।१

२. शतपथ० ६।१।२–३

३. स एव पुरुषः प्रजापतिरभवत् ।
स योऽयमग्निश्चीयते ॥ शत० ६।१।५

४. शतपथ० ७।७।२३

५. मनु० १।३२–३३

ने इस मनुष्य लोक में भी उन उन तत्वों की जिनमें प्रधानता थी उसके अनुसार तथा उन उन तत्वों के आविष्कार के कारण मनुष्य महर्षियों के भी मनु, मरीचि आदि नाम प्रचलित कर दिये; यह भी एक माननीय प्रसिद्ध विद्वान् मत है।[1] इस प्रकार मनु, मरीचि, का वशिष्ठ आदि ऐतिहासिक वंशप्रवर्तक ऋषि भी मनुष्य थे इसमें संदेह नहीं है।

---

१. जगद्गुरु ० म० ओझा।

परिशिष्ट (ख)

सहायक पुस्तकों की सूची

१. मनुस्मृति—कुल्लूक भट्ट तथा मेधातिथि की टीका के साथ ।
२. याज्ञवल्क्यस्मृति—मिताक्षरा टीका के साथ ।
३. पराशरस्मृति
४. नारदस्मृति—जाली द्वारा अनूदित
५. बाल्मीकि रामायण
६. शुक्रनीतिसार
७. महाभारत—शांतिपर्व
८. अर्थशास्त्र—कौटिल्य
९. ऋग्वेद
१०. शतपथ ब्राह्मण
११. बृहदारण्यकोपनिषद्
१२. संन्यासोपनिषद्
१३. छांदोग्य उपनिषद्
१४. देवासुर ख्याति—पंडित मधुसूदन झा
१५. ऋषिकुल वैभवम्—पंडित मधुसूदन झा
१६. इन्द्रविजय—पंडित मधुसूदन झा
१७. अभिज्ञान शाकुंतल—कालिदास
१८. रघुवंश—कालिदास
१९. किरातार्जुनीय—भारवि
२०. आयुर्वेद प्रकाश—यादवजी त्रिविक्रमजी
२१. पराशर माधवीय—सायणमाधवाचार्य—संपूर्ण
२२. वीरमित्रोदय—व्यवहार प्रकाश—मित्रमिश्र
२३. विवाद रत्नाकर—चंडेश्वर ठाकुर
२४. व्यवहार मयूख—नीलकंठ

२५. भगवद्गीता
२६. स्मृतिप्रकाश
२७. स्मृतिसमुच्चय
२८. हिन्दी गीता विज्ञान भाष्य—मोतीलाल शर्मा (दोनों भाग)
२९. श्रीमगवद्गीता रहस्य अथवा कर्मयोगशास्त्र—बाल गंगाधर तिलक
३०. भारतीय संस्कृति का विकास—मंगलदेव शास्त्री
३१. हिन्दू राजशास्त्र—अंबिकाप्रसाद वाजपेयी
३२. हिन्दू परिवार मीमांसा—हरिदत्त वेदालंकार
३३. कल्याण—संस्कृति अंक

अंग्रेजी

३४. सम एस्पेक्ट्स आफ ऐंश्यंट इंडियन पालिटी—भंडारकर
३५. हिन्दू पालिटी—के० पी० जायसवाल
३६. मनु एंड याज्ञवक्य—के० पी० जायसवाल
३७. पोलिटिकल इंस्टीटयूशन्स इन ऐंश्यंट इंडिया—बी० के० सरकार
३८. नेचर एंड ग्राउंड्स आफ पोलिटिकल आब्लिगेशन्स इन हिन्दू स्टेट
३९. हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज—यू० एन० घोषाल
४०. एस्टेक्ट्स आफ दि सोशल एंड पोलिटिकल सिस्टम आफ मनुस्मृति—के० बी० आर० आयंगर
४१. एस्टेक्ट्स आफ ऐंश्येंट इंडियन पालिटी—एन० एन० ला
४२. ओरिजिन एंड इवोल्यूशन आफ किंगशिप इन इंडिया—के० एम० पणिक्कर
४३. हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र—संपूर्ण—पी० वी० काणे
४४. थ्योरी आफ गवर्नमेण्ट इन एंश्येट इंडिया—बेनी प्रसाद
४५. स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थाट—ए० के० सेन
४६. पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन ऐंश्येंट इंडिया—पी० एन० बनर्जी
४७. हिन्दू ला एंड कस्टम्स—जाली
४८. ऐंश्येंट इंडियन सिविलिजेशन—मेसन एं ओसिल
४९. आरिजिन एंड ग्रोथ आफ कास्ट इन इंडिया—एन० के० दत्त
५०. हिन्दू फिलासोफी आफ ला—इन वैदिक एंड पोस्ट वेदिकपीरियड—आर. पाल
५१. एजूकेशन इन ऐंश्येंट इंडिया—ए० एस० अल्तेकर
५२. पोजीशन आफी वीमेन इन हिन्दू सिविलिजेशन—ए० एस० अल्तेकर
५३. स्टेट इन ऐंश्येंट इंडिया—ए० आर० अल्तेकर

५४. हिन्दू एक्सोगैमी—करंदिकर
५५. मैरिज एंड सोसायटी—ई० ओ० जेम्स
५६. ओरिजिन आफ मैरिज—राधाकमल मुखर्जी
५७. दि फैमिली—मूलर लियर, अनुवाद स्टेल ब्राउन
५८. शार्ट हिस्ट्री आफ मैरिज—वेस्टर मार्क
५९. पोलिटिकल थाट इन इंग्लैंड—ई० बार्कर
६०. पोलिटिकल थाट इन इंग्लैंड—जी० पी० गूच
६१. स्कटैंस आफ पालिटिकल साइंस—आ० ए० [illegible]
६२. हिन्दू ला इन इट्स सोर्सेज—गंगानाथ झा
६३. हिन्दू ला—गोलप चन्द्र शास्त्री
६४. हिन्दू ला—मुल्ला
६५. हिन्दू जूडिशियल सिस्टम—एस० वरदाचारि
६६. सोशल लाइफ इन ऐंश्येंट इंडिया—एच० सी० [illegible]
६७. मैरिज एंड दि फैमिली—वार्कर
६८. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर—मैकडोनेल
६९. दि साइंस आफ सोशल आर्गनाइजेशन—बाबू भगवानदास
७०. कैंब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया—प्रथम भाग—(ऐंश्येंट)
७१. रिलिजन आफ मैन—रवीन्द्रनाथ टैगोर
७२. हिन्दू साइकोलाजी—स्वामी अखिलानंद
७३. हिन्दू सोशल आर्गनाइजेशन—पी० एन० प्रभु
७४. कास्ट इन इंडिया—जे० हटन
७५. इण्ट्रोडक्शन टु बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र—भगवद्दत्त
७६. हिन्दू सिविलिजेशन—आर० के० मुखर्जी
७७. पोलिटिकल हिस्ट्री आफ इंडिया—राय चौधरी
७८. फाउंडेशन आफ इंडियन कल्चर—अरविंद
७९. वीमेन इन ऋग्वेद—भगवतशरण उपाध्याय
८०. सोशल एंड रिलिजस लाइफ इन गृह्यसूत्रास्—वी० एम० आप्टे